वेद-मीमांसा

मूल लेखक : श्री अनिर्वाणः
हिन्दी अनुवादक : छविनाथ मिश्र

I

महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान उज्जैन के द्वारा प्रायोजित ग्रन्थमाला

वेद-मीमांसा

मूल लेखक : श्री अनिर्वाणः

हिन्दी अनुवादक : छविनाथ मिश्र

नाग पब्लिशर्स

महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान उज्जैन के द्वारा प्रायोजित ग्रन्थमाला

वेद-मीमांसा

मूल लेखक : श्री अनिर्वाण:

हिन्दी अनुवादक : छविनाथ मिश्र

नाग पब्लिशर्स

महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन के द्वारा
प्रायोजित ग्रन्थमाला

वेद-मीमांसा

(प्रथम खण्ड)

महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन के द्वारा
प्रायोजित ग्रन्थमाला

वेद-मीमांसा

(प्रथम खण्ड)

मूललेखक:
श्री अनिर्वाण

हिन्दी-अनुवादक:
छविनाथ मिश्र
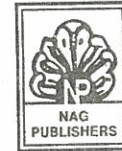
नाग पब्लिशर्स
११ ए/यू० ए०, जवाहर नगर, दिल्ली-११०००७
(भारत)

महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन के वित्तीय सहयोग से प्रकाशित।

नाग पब्लिशर्स

(१) ११ए/यू. ए. जवाहर नगर, दिल्ली-११०००७

(२) जलालपुर माफी (चुनार-मिर्जापुर) उ० प्र०

दूरभाष:- २३९६७९७५, २३९१५८८३, २३९५७४४०

ISBN : ८१-७०८१-५७६-२ (सेट)

ISBS : ८१-७०८१-५७७-० (भाग I)

प्रथम संस्करण : संवत् २०५९ विक्रमाब्द, सन् २००३ ईस्वी.

मूल्य : २२०.०० रूपये

श्री सुरेन्द्र प्रताप द्वारा नाग पब्लिशर्स ११ ए०/यू० ए०, जवाहर नगर, दिल्ली ११०००७ द्वारा प्रकाशित तथा जी. प्रिण्ट प्रोसेस, ३०८/२ शहजादा बाग, दयाबस्ती दिल्ली ११००३५ द्वारा मुद्रित। अक्षरयोजक ए० आर० प्रिण्टर्स, डी-१०२ न्यू सीलमपुर, दिल्ली-११००५३

तस्यै

या

उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।

—ऋक्संहिता, १०/७१/४

प्राक्कथन

'वेदमीमांसा' का मूल प्रकाशन बँगला भाषा में कलकत्ता संस्कृत कॉलेज की शोधग्रन्थमाला (सं०१३) के अन्तर्गत पहली बार सन् १९६१ में हुआ था। सन् १९७५ में इसका द्वितीय संस्करण निकला। उपर्युक्त शोधग्रन्थमाला के सम्पादक-मण्डल में डॉ० श्री राधागोविन्द बसाक, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, प्रो० गोपीनाथ भट्टाचार्य, डॉ० कालीकुमारदत्त, प्राचार्य विष्णुपद भट्टाचार्य और पण्डित ननीगोपाल तर्कतीर्थ जैसे संस्कृत और वैदिक वाङ्मय के लब्धप्रतिष्ठ मनीषी थे।

'वेदमीमांसा' के मूललेखक श्री अनिर्वाण गवर्नमेण्ट संस्कृत कॉलेज, कलकत्ता (अब कोलकाता) के संस्कृत-सेमिनार के सम्मान्य रिसर्च फेलो थे।

'वेदमीमांसा', जैसाकि नाम से स्पष्ट है, में सम्पूर्ण वैदिक-वाङ्मय की अत्यन्त गम्भीर समीक्षा की गई है। इस प्रकार के अन्य अनेक ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं, लेकिन उनसे इसकी विलक्षणता इस अर्थ में है कि इसमें पश्चिमी-विद्वानों के उच्छिष्ट-भोज से बचकर, श्रुतिपरम्परा की परीक्षा तर्क और श्रद्धा के मिश्रित मानदण्ड से की गई है। लेखक पर यूरोपीय दुराग्रह का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है।

इसके अनुवादक श्री छविनाथ मिश्र हिन्दी के यशोधर सुकवि हैं, जिन्होंने अनेक वेद-मन्त्रों के हिन्दी में अत्यन्त प्रीतिकर काव्य-रूपान्तर किये हैं। वैदिक वाङ्मय के गम्भीर अध्ययन ने उन्हें इस कार्य में और भी समर्थ बनाया है। सुदीर्घकाल से बङ्गाल में रहने के कारण हिन्दी और बँगला दोनों ही भाषाओं पर उनका असामान्य अधिकार है। दोनों के ही

मुहावरे से वह सुपरिचित हैं। इसके शीघ्र-प्रकाशन की ओर मुझे पौन: पुन्येन प्रेरित करते रहे हैं श्रद्धेय प्रो० किरीट जोशी जी (माननीय उपाध्यक्ष, म.सां.रा.वे.वि.प्र.) तथा परम आदरणीय प्रो० रमारञ्जन मुखर्जी जी।

प्राप्त अनुवाद की वर्तनी को संस्कृतनिष्ठ रूप में संशोधित करने का दायित्त्व निभाया है आचार्य सदानन्द त्रिपाठी तथा डॉ० जितेन्द्रकुमार तिवारी ने। प्रतिष्ठान के विशेष कार्याधिकारी (वित्त एवं प्रकाशन) श्री शान्तिलाल नीमा जी तथा उनकी टीम ने प्रकाशन की प्रबन्ध-व्यवस्था में उल्लेखनीय योगदान किया है।

आशा है, इस रूप में प्रकाशित होकर यह ग्रन्थ उन पाठकों के लिए भी उपादेय सिद्ध होगा, जिन्हें बँगला-भाषा का ज्ञान नहीं है।

।। ब्रह्म-सत्यं च पातु माम्।।

–प्रो० ओमप्रकाश पाण्डेय
सदस्य-सचिव
म०सां०राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान

उज्जैन

निवेदन

वेद-मीमांसा ऋक्संहिता की मन्त्रव्याख्या की भूमिका है। जिसका प्रथम खण्ड प्रकाशित हुआ। इस प्रथम खण्ड के प्रथम अध्याय में वेदव्याख्या की पद्धति के सम्बन्ध में साधारण आलोचना है और द्वितीय अध्याय में वैदिक साहित्य का सङ्क्षिप्त परिचय है। परवर्ती खण्ड में वैदिक देवता, वैदिक साधना, वैदिक दर्शन, वैदिक जीवन और पुरातत्त्व पर आलोचना की जाएगी। उसके बाद ऋक्संहिता की मन्त्र-व्याख्या आरम्भ करने की इच्छा है।

कलकत्ता संस्कृत कॉलेज के अध्यक्ष डॉ० गौरीनाथ शास्त्री के स्वयं सचेष्ट एवं तत्पर न होने पर यह ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हो पाता। मुद्रण सम्बन्धी समस्त दायित्व कॉलेज के अध्यापक डॉ० गोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय एवं पुस्तक प्रकाशन विभाग के सहायक सम्पादक पण्डित ननीगोपाल तर्कतीर्थ ने अपने ऊपर लेकर मेरे परिश्रम को हल्का कर दिया है। मेरे लिए इन सब का ऋण अपरिशोध्य है। इसके अलावा उन सबका आभारी हूँ जिन्होंने नाना रूप में ग्रन्थ-रचना की दिशा में मुझे सहायता प्रदान की है।

वरदा वेदमाता सब का कल्याण करें।

अनिर्वाण

'हैमवती'
अक्षय तृतीया,
शकाब्द १८८३

सङ्केत-परिचय

अ, अ. सं.	अथर्वसंहिता
आ. श्रौ.	आश्वलायन श्रौतसूत्र
ऋ., ऋ. सं.	ऋक् संहिता
ऋ. भा.	सायणकृत ऋग्वेद भाष्य
ऐ. आ.	ऐतरेय आरण्यक
ऐ. ब्रा.	ऐतरेय ब्राह्मण
क.	कठोपनिषद्
काठ.	काठक संहिता
गी.	गीता
छ. ब्रा.	छन्दोग ब्राह्मण
छ. सू.	छन्दः सूत्र
छा., छा. उ.	छान्दोग्य उपनिषद्
जै. उ. ब्रा.	जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
टी.	टीका
ता. ब्रा.	ताण्ड्य ब्राह्मण
तु.	तुलनीय
तै. आ.	तैत्तिरीय आरण्यक
तै. ब्रा.	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै. सं.	तैत्तिरीय संहिता

द्र.	द्रष्टव्य
नि.	निघण्टु
पा.	पाणिनि सूत्र
पात.	पातञ्जलयोगसूत्र
पु.	पुराण
पू. मी. सू.	पूर्वमीमांसा सूत्र
प्र.	प्रश्नोपनिषद्
प्र. तु.	प्रति तुलनीय
बृ., बृ. उ.	बृहदारण्यक उपनिषद्
ब्र. सू.	ब्रह्मसूत्र
भा.	भागवत पुराण
महा.	महाभारत
माण्डू.	माण्डूक्योपनिषद्
मु.	मुण्डकोपनिषद्
मै.	मैत्र्युपनिषद्
मै. सं.	मैत्रायणी संहिता
या. स्मृ.	याज्ञवल्क्य स्मृति
यो. सू.	योगसूत्र
R.P.V.U.	Keith's Religion & Philosophy of the Vedas and the Upanishads
वा. सं.	वाजसनेय संहिता
श. श. ब्रा.	शतपथ ब्राह्मण
शा. आ.	आरण्यक शाङ्खायन
सा. सं.	सामसंहिता
H. D.	KANE's History of Dharmashastra

अनुक्रम

प्रथम अध्याय

प्राक्कथन

[१]

भारतवर्ष के इतिहास का प्रत्यूषकाल वैदिक युग द्वारा शुरू हुआ। उसके पूर्व की घटनाओं से हम भलीभाँति परिचित नहीं हैं। इससे भी प्राचीन यदि कोई विशिष्ट संस्कृति इस देश में रही भी हो, तो वह वैदिक संस्कृति के अन्तर्गत जीर्ण हो गई। अतएव कहा जा सकता है कि भारतवर्ष, जैसे सर्वप्रथम वेद के अन्तर्गत ही समग्र रूप से आत्म सचेतन हुआ।

यह आत्मसचेतना अध्यात्मभावना में परिवर्तित हो गई। वैदिक युग के इतिहास का पुरातत्त्वीय उपादान विशेष कुछ भी नहीं, किन्तु उससे भी अधिक मूल्यवान् उपादान वैदिक साहित्य में है। साहित्य में जाति का आभ्यन्तर इतिहास एवं उसका सही आत्म-परिचय प्राप्त होता है। इसलिए भारतवर्ष के इतिहास को समझने की दिशा में वैदिक-साहित्य की आलोचना एवं उसकी भावना का अनुशीलन अपरिहार्य है।

वैदिक-साहित्य का आयतन अत्यन्त विशाल है। एक जाति की अनेक सहस्राब्दिव्यापी आध्यात्मिक चिन्तन-धारा को इसके भीतर बाँधे रखने की चेष्टा की गई है। आज भी उस चेष्टा में ठहराव की कोई गुंजाइश नहीं है। कालक्रम में मनुष्य की भाषा एवं आचार-व्यवहार में भी परिवर्तन होता है, किन्तु भाव के अन्तर्निहित सत्य की क्रमिक अभिव्यक्ति की दृष्टि से विचार करने पर किसी भी जाति की अन्तः प्रकृति में कुछ अधिक परिवर्तन नहीं होता। स्वयं के तथा विश्व के बारे में वैदिक ऋषि जिस शैली में चिन्तन-मनन किया करते अथवा रहस्य

को समझने की चेष्टा करते, उस शैली के अनुसरण करने की प्रयोजनीयता आज भी हमारे लिए कम नहीं। किन्तु उन्होंने हृदय की अभीप्सा एवं अभिप्राय को जिस भङ्गिमा के साथ व्यक्त किया है, उसका प्रयोग आज हम हर समय नहीं करते। समय के व्यवधान के साथ यहाँ एक बाहरी व्यवधान की सृष्टि हुई है, जिससे उनकी बहुत बातें आज सम्भवत: दुर्बोध अथवा दुरूह जान पड़ती हैं।

किन्तु यह दुर्बोधता भी समग्र वैदिक साहित्य के सम्बन्ध में समान रूप से प्रयोज्य नहीं। इस साहित्य के मुख्यत: सब मिलाकर चार भाग हैं, जो **मन्त्रसंहिता, ब्राह्मण, आरण्यक** एवं **उपनिषद्** नाम से उपलब्ध और सुपरिचित हैं। **मन्त्र** एवं **ब्राह्मण** अत्यन्त प्राचीन विभाग हैं। इनमें मन्त्र ही मूल है, ब्राह्मण उसका उपव्याख्यान अथवा अनुपूरक व्याख्या है। **आरण्यक** और **उपनिषद्** ब्राह्मण के ही अन्तर्गत हैं। व्यञ्जना शैली की विविधता की दृष्टि से (काल की यथाक्रमता या पूर्वापर सम्बन्ध की दृष्टि से नहीं) देखने पर मन्त्र में जिस साहित्य का आरम्भ है, उपनिषद् में उसका अन्त है। उपनिषद् हमारे निकट अपेक्षाकृत सहज बोध्य है, क्योंकि उपनिषद् में भाव प्रधान है, उसका प्रचार भी अत्यधिक है और उसकी भाषा भी अधिक अस्पष्ट या जटिल नहीं है।

किन्तु मूल समस्या वेद के मन्त्र-भाग से जुड़ी है। एक तो मन्त्र-भाग की भाषा प्राचीन है, उसके बाद जिन ब्राह्मणों या उपव्याख्यानों को वेद की प्राचीनतम व्याख्या के रूप में माना जा सकता है, उनका उद्देश्य धारावाहिक रूप से मन्त्र की व्याख्या करना नहीं है। मुख्यत: ब्राह्मण भाग वेदार्थ-मीमांसा नहीं, बल्कि कर्म-मीमांसा है। वेद के मन्त्रों के साथ कर्मकाण्ड का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। ब्राह्मण का मूल उद्देश्य कर्मकाण्ड के पक्ष को सुव्यवस्थित एवं सुस्पष्ट करना है। जिसके लिए ब्राह्मणकारों को वेद के मन्त्रों का उद्धरण देते हुए मोटे तौर पर एक व्याख्या भी देनी पड़ी है। उस व्याख्या के माध्यम से मन्त्रों में किसी भी रहस्यार्थ को खोजने की विशेष चेष्टा भी नहीं की गई है और ब्राह्मणकारों ने उसकी ज़रूरत भी महसूस नहीं की। अधिकांश क्षेत्रों में उपस्थित

क्रिया के साथ मन्त्र के सम्बन्ध को साधारण रूप से समझाकर ही निवृत्त हो गए, किन्तु उसके बावजूद ब्राह्मण, आरण्यक एवं ब्राह्मण भाग से प्रत्यक्षत: सम्बन्धित उपनिषदों के मुखबन्ध या भूमिका में ऐसे अनेक सङ्केत प्राप्त होते हैं, जो वेद के रहस्यार्थ को समझने की दिशा में अपरिहार्य हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि परवर्ती काल में ज्ञान और कर्म के मध्य जो एक प्राचीर खड़ी कर दी गई थी, वैदिक युग में वह प्राचीर नहीं थी। गीता में कहा गया है कि 'द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। समस्त कर्म ज्ञान में ही परिसमाप्त होते हैं।' वैदिक अनुष्ठान का भी वही लक्ष्य है। आत्मचेतना को एक लोकोत्तर चिन्मय भूमि पर उत्तीर्ण करना ही उसका प्रधान लक्ष्य है। यह चिन्मय भूमि ही स्वर्ग है। जिसकी प्राचीन संज्ञा 'स्व:' अर्थात् एक ज्योतिर्मय अनुभव है। ज्ञानयज्ञ की सहायता से हम जिस प्रकार उस अवस्था में पहुँच सकते हैं, उसी प्रकार द्रव्य-यज्ञ के माध्यम से भी वहाँ पहुँच सकते हैं। स्वर्ग एवं मोक्ष दोनों परस्पर विरोधी मान्यताएँ नहीं हैं - कम से कम वैदिक युग में ऐसा नहीं था। उसका प्रमाण वेद के ब्राह्मण में ही है।

एक बड़ा प्रमाण शुक्लयजुर्वेद में विद्यमान है। इस वेद का अन्तिम अध्याय एक उपनिषद् है। ईशोपनिषद् एक मात्र उपनिषद् है, जो वेद के संहिता भाग के अन्तर्गत है। यजुर्वेद, कर्मवेद है। उसके अन्तिम अध्याय के रूप में इस उपनिषद् को उपस्थापित करना अत्यन्त अर्थपूर्ण है। इस लघु उपनिषद् के अठारह मन्त्रों में जिस उदार दृष्टि और विराट् समन्वय की चेष्टा की गई है, वह समग्र वैदिक साहित्य में अतुलनीय है। जान पड़ता है कि कर्म वेद के अन्त में इस सार्वभौम ज्ञान के प्रदीप को प्रज्ज्वलित करके इस बात को स्पष्टतया प्रमाणित किया गया है कि समस्त कर्मों की परिसमाप्ति तत्त्व-ज्ञान में होती है। यह उपनिषद् उसका ज्वलन्त प्रमाण है। इस प्रसङ्ग में याज्ञवल्क्य का वृत्तान्त भी स्मरणीय है। उन्हें कृष्णयजुर्वेद की धारा को शुक्ल-यजुर्वेद की धारा में प्रवाहित एवं प्रवर्तित करने का गौरव प्राप्त है। यह उनकी प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण कीर्त्ति

है। जिसका तात्पर्य कृष्ण अथवा अविद्या कर्म को शुक्ल अथवा विद्या कर्म में रूपान्तरित करना है। याज्ञवल्क्य में आर्य ज्ञान-साधना और कर्मसाधना दोनों ही जिस चरमोत्कर्ष पर थी, उसका परिचय उपनिषद् के याज्ञवल्क्य और शुक्लयजुर्वेद के प्रवर्तक याज्ञवल्क्य को एक मान लेने से ही प्राप्त होता है। जिन वेद-मन्त्रों को हम केवल कर्मपरक समझने के अभ्यस्त हैं, उनका एक रहस्यार्थ था एवं सम्प्रदाय-परम्परा द्वारा जिसे सुरक्षित भी रखा गया था, उसका अनुमान हम इससे ही कर सकते हैं। वेद स्वयं ही 'निण्या वचांसि' अथवा रहस्योक्ति की बात कहते हैं।

मन्त्र के साथ मीमांसा जुड़ी है। दोनों संज्ञाएँ एक ही धातु से निष्पन्न हैं। मन्त्र, देवाविष्ट मनन का स्वतः विच्छुरण है और अभ्यास द्वारा उसे बुद्धिगत करने की प्रचेष्टा मीमांसा है। मन्त्र के रहस्य को स्वतः सिद्ध मानकर उसके प्रतिपाद्य कर्मप्रेरणा और ज्ञान-प्रेरणा को एक सुव्यवस्थित रूप देने की स्वाभाविक चेष्टा द्वारा ब्राह्मणों अथवा व्याख्याओं का अविर्भाव हुआ। ये ब्राह्मण अथवा उपव्याख्यान ही वेदार्थ की आदिम मीमांसा हैं, जिनमें हमें कर्म-मीमांसा एवं ब्रह्म-मीमांसा दोनों प्राप्त हैं। मीमांसा की धारा के निरन्तर अव्याहत-अबाध रहने पर भी सम्भवतः उसका आरम्भिक रूप गाढ़बद्ध या सुसंहत नहीं था। कालक्रम में तार्किकों द्वारा आहत होने के पश्चात् मीमांसकों ने अपने दार्शनिक एवं वैज्ञानिक सिद्धान्तों को विशिष्ट रूप देने की बाध्यता महसूस की। इसे गहराई में जाकर समझने की आवश्यकता है।

अध्यात्म-साधना का जो रूप हमें वैदिक साहित्य में दिखाई देता है, उसके मूल में देववाद है। देववाद का आधार 'श्रद्धा' है। 'श्रद्धा' मानव चित्त की मौलिक वृत्ति है और किसी एक अतीन्द्रिय तत्त्व का वस्तुपरक दृष्टि से अनुभव करना उसका विशिष्ट रूप है, जिसके मूल में 'आवेश' है। इसके इर्द-गिर्द मानव-चित्त की एक और वृत्ति है, जिसे प्राचीन काल में 'ओह' अथवा 'ऊह' कहा जाता था, फिर उसे तर्क की संज्ञा दी गई। तर्क की दृष्टि अन्तर्मुखी है, जिसके मूल में 'जिज्ञासा' है। साधना की दृष्टि से उसका परिणाम आत्मवाद है। देवता और आत्मा

दोनों ही अतीन्द्रिय हैं। इसलिए देवदर्शन एवं आत्मदर्शन दोनों का ही मार्ग समान रूप से अतिप्राकृत अथवा अलौकिक है। तब भी मनुष्य स्वभावानुसार देववादी अथवा आत्मवादी होता है। आत्मवादी निमित्त रूप में संशय का प्रयोग करके आध्यात्मिक भावना की समस्त अस्पष्टता को दूर करना चाहते हैं। उनके संशय के आघात से भावना का सारा वस्तुनिष्ठ आधार छिन्न-भिन्न हो जाता है, केवल आत्मप्रत्यय रह जाता है। इस आत्मप्रत्यय के मूल में यदि आत्मप्रसारण की प्रेरणा क्रियाशील हो, तो आत्मशक्ति के बल से ही वे एक दिन चेतना के अन्तिम विस्तार तक पहुँचकर कह सकते हैं कि 'यह सत्य है'। देववादी भी उस बृहत् को ही बोधिग्राह्य वस्तु के रूप में हृदय के आवेग द्वारा प्राप्त करते हैं, एवं आत्मवादी उसे अपने ही आत्मरूपायन के रूप में आत्मशक्ति द्वारा प्राप्त करते हैं। वेद की भाषा में एक को आवेगकम्पित 'विप्र' और एक को पौरुषदृप्त 'नर' कहा गया है। एक की प्राप्ति का माध्यम 'श्रद्धा' एवं 'बोधि' या 'परम ज्ञान' है और दूसरे का माध्यम तर्क एवं बुद्धि है।

इन दो मौलिक चित्तवृत्तियों के आधार पर इस देश में साधना की दो धाराएँ अति प्राचीनकाल से प्रवहमान हैं। उनमें एक ऋषि-धारा है और दूसरी मुनि-धारा है। वैदिक ऋषियों ने अनेक स्थलों पर 'अदेव' 'देवनिद' के प्रति व्यङ्ग्य किया है। परवर्तीकाल में इन्हें साधारणतः 'हैतुक' 'वेदनिन्दक' अथवा 'नास्तिक' की संज्ञा दी गई थी। वस्तुतः ये हैतुक हो सकते हैं, किन्तु चार्वाक की तरह वेदनिन्दक अथवा नास्तिक नहीं। ये 'हैतुक' भी सम्प्रदाय प्रवर्तक हैं। भारतवर्ष की दार्शनिक विचारधारा के स्रष्टा यही हैं। इस देश के परम्परागत दर्शनों का प्रायः सब कुछ इनके मनन का परिणाम है। इनके दर्शन का साधारण नाम तर्क-प्रस्थान है। उसके निकट ही मीमांसा-प्रस्थान है। अध्यात्म-दर्शन की भूमि पर व्यापक अर्थ में एक बौद्ध [RATIONALIST] या बुद्धिवादी धारा है और दूसरी ब्राह्मण्य [INTUITIONIST] धारा है। बार-बार तार्किकों के आघात से मीमांसकों का शैथिल्य दूर हुआ है और उन्होंने अपने घर को सँभालने, सुरक्षित रखने की चेष्टा की है। यह भारतवर्ष

के दार्शनिक चिन्तन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। तर्क और मीमांसा के इस सङ्घात से ही ज्ञान और कर्म का विरोध क्रमशः प्रबल हुआ है किन्तु आरम्भ में यह विरोध नहीं था। वेदार्थ-मीमांसा के समय इसे याद रखना होगा।

जिस वाणी के सामञ्जस्य-स्थापन में दो मीमांसाओं की सारी शक्ति नियोजित हुई है, उसका साधारण नाम 'श्रुति', 'वेद' या 'मन्त्र' है, किन्तु ऊपरी तौर पर देखने से कोई भी मीमांसा समग्रवेद की मीमांसा नहीं है। पूर्वमीमांसा का उपजीव्य वेद का ब्राह्मण भाग है और उत्तरमीमांसा का उपजीव्य उपनिषद् है। अर्थात् दोनों दर्शनों के अधिकार या सीमा से वेद के मन्त्रांश अथवा संहिताभाग अलग पड़ गए। हालाँकि समग्रवेद के प्रामाण्य को ही मीमांसकों ने अकुण्ठभाव से स्वीकार किया है। प्रचलित अर्थ में पूर्वमीमांसा, कर्ममीमांसा या कर्मकाण्ड है अर्थात् साधनशास्त्र है। किन्तु साधना का उपकरण यहाँ स्थूल है। साधना का लक्ष्य अवश्य ही स्वर्ग अथवा एक आध्यात्मिक चेतना-भूमि है, किन्तु वहाँ पहुँचने का उपाय द्रव्ययज्ञ है; ज्ञानयज्ञ नहीं। इस क्षेत्र में स्वभावतः साधना के मनस्तत्त्व की दिशा आलोचना की पकड़ से बाहर हो गई है। इसलिए पूर्वमीमांसा से हमें वैदिक ऋषियों के अध्यात्म-दर्शन का सुव्यवस्थित परिचय नहीं प्राप्त होता है।

यह परिचय हमें उत्तरमीमांसा से प्राप्त हो सकता है। उत्तरमीमांसा, ब्रह्ममीमांसा है, प्रचलित अर्थ में ज्ञानकाण्ड है। उसकी भी साधना है एवं उसकी साधना का उपकरण सूक्ष्म, मनोमय है। इस मनोमय साधना की व्याख्या एवं आलोचना द्वारा हम वैदिक ऋषियों के अध्यात्म-दर्शन की एक पूर्णायत छवि या प्रतिमूर्ति गढ़ सकते हैं, किन्तु प्रथम दृष्टि में यह छवि उपनिषद्-भावना की छवि होगी। आधुनिक दृष्टि में उपनिषद् वैदिक-चिन्तन का अन्तिम परिणाम है, उसके भीतर हमें जिस दर्शन का परिचय प्राप्त होता है, वह मन्त्रकृत् ऋषि का दर्शन हो नहीं सकता, क्योंकि परिणाम का आदिपर्व या आरम्भ निस्सन्देह ही अपरिणत या अपरिपक्व तथा अस्पष्ट है; अन्तिम पर्व के अपेक्षाकृत परिणत या

परिपक्व चिन्तन के साथ उसकी समानता कभी हो ही नहीं सकती। इस अद्भुत एवं दुर्दान्त सिद्धान्त की समालोचना अन्यत्र करेंगे।

वेद-व्याख्या की समस्या यहाँ ही है। प्रचलित वेद-मीमांसा की कोई भी व्याख्या प्रत्यक्ष रूप में मन्त्रांश की व्याख्या नहीं है। मन्त्रांश की सर्वप्राचीन व्याख्या हमें ब्राह्मणों में प्राप्त होती है। पहले ही बतलाया गया है कि वह व्याख्या कर्मपरक है, अतएव अनेक क्षेत्रों में एकदेशी या पूर्वाग्रही एवं प्रायः सर्वत्र ही शब्द-व्याख्या मात्र है। पूर्व मीमांसा उसी पर प्रतिष्ठित है। कर्म की सीमा को विकल्पहीन, अपरिवर्तित आकार देना ही उसका उद्देश्य है। अतएव उससे वेदार्थ के गूढ़ रहस्य की आशा कर नहीं सकते। रहस्य का परिचय हमें उपनिषद् में प्राप्त होता है, किन्तु उपनिषद् में ब्राह्मण जैसी ही मन्त्र व्याख्या नहीं है। प्रथम दृष्टि में उपनिषद् जैसे यज्ञवाद से विच्युत हैं। आरण्यक एवं प्राचीन उपनिषदों के आरम्भ में यज्ञ सम्बन्धी कुछ-कुछ आलोचनाएँ हैं, जिन्हें ज्ञान और कर्म के बीच सेतु के रूप में माना जा सकता है। किन्तु सब ओर से विचार करने पर लगता है कि उपनिषद् की चिन्तन-धारा बहुत कुछ स्वाधीन है – स्वाधीन के अर्थ में निश्चित रूप से वैप्लविक नहीं, लेकिन कर्मकाण्ड की तरह वेद के मन्त्रभाग को प्रत्यक्ष रूप में आधार बनाकर उसका उद्भव नहीं हुआ, मात्र यही तात्पर्य है। उपनिषद् और संहिता के बीच के इस अन्तराल ने ही वेद-व्याख्या को जटिल कर रखा है।

कर्मकाण्ड के आचार्यों ने वेद के मन्त्रों को सही साबूत रखने की चेष्टा में उन्हें अपनी पकड़ में सहेज रखा था। इस सम्बन्ध में उनकी स्मृति, निष्ठा, अध्यवसाय एवं सङ्कल्पशीलता विश्व का एक आश्चर्य है। जिस विलक्षण प्रातिभ शक्ति और प्रतिभा सम्पन्नता के साथ हजारों वर्षों की आपदाओं को झेलते हुए यत्नपूर्वक जिसकी रक्षा होती आई है, उसको समझने की चेष्टा उन्होंने नहीं की होगी, ऐसा हो नहीं सकता। पूर्वमीमांसाकार का स्पष्ट कथन है कि वेदार्थ समझने के लिए ही उनकी मीमांसा की अवतारणा हुई है; साङ्ग एवं सरहस्य वेदाध्ययन करना होगा। किन्तु कहा जाए तो वह रहस्य प्रयोग का रहस्य है। अन्य रहस्य भी थे

एवं उनकी शिक्षा की व्यवस्था भी थी, जिसका आभास मात्र मिलता है, लेकिन पूर्ण विवृति उपलब्ध नहीं होती।

अभी जो सामग्री हमारे पास है, उससे कर्मकाण्ड के प्रवक्ताओं ने जिस रूप में वेदव्याख्या करने का प्रयास किया है, उसका मोटे तौर पर हम एक परिचय प्राप्त कर सकते हैं। ब्राह्मण-युग की वेदव्याख्या के पश्चात् ही हमें वेदाङ्ग-युग की व्याख्या प्राप्त होती है, जिसमें नैरुक्तों की व्याख्या ही प्रधान है। हालाँकि अन्यान्य वेदाङ्गयुगीन व्याख्याकारों ने जिस वेद रहस्य को विशेषतः अपनी ओर से व्याख्या करने की चेष्टा की थी, उसे स्मरण करने का सङ्गत कारण है। नैरुक्तों के अन्तिम आचार्य यास्क हैं। उन्होंने भी आनुपूर्विक वेद व्याख्या नहीं की है, तब भी अनेक मन्त्रों की व्याख्या हमें उनके यहाँ प्राप्त होती है। उनकी व्याख्या मोटे तौर पर कर्मपरक है, यद्यपि स्थान-स्थान पर उनके विचार अँधेरे में बिजली की कौंध की तरह कई-कई रहस्यों को आलोकित और उद्घाटित कर देते हैं। उन्होंने वेद-व्याख्या की विभिन्न धाराओं का भी उल्लेख किया है। यास्क के पश्चात् ही यदि कहा जाए, तो लगभग मध्ययुग के अन्त में हम सायणाचार्य को पाते हैं। सायणाचार्य के यहाँ ही प्रथमतः समग्रवेद की आनुपूर्विक या परम्परागत व्याख्या प्राप्त होती है, किन्तु सायणाचार्य का आविर्भाव आकस्मिक नहीं, बल्कि उन्होंने जिस एक प्राचीन सम्प्रदायगत धारा का अनुवर्तन-अनुसरण करते हुए अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है, उसका प्रमाण आधुनिक युग में आविष्कृत हुआ है। सायण की व्याख्या भी कर्मपरक है। यद्यपि उन्होंने सरलतापूर्वक स्वीकार किया है कि वेद की अन्य प्रकार की व्याख्याएँ भी सम्भव हैं और कहीं-कहीं उसप्रकार की व्याख्या भी की है। आदि से अन्त तक विचार करने पर प्रतीत होता है कि वैदिक युग से मध्ययुग तक वेद व्याख्या की एक विशेषधारा अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित थी। बीच-बीच में दीर्घकालीन अन्तराल के बावजूद इस व्याख्या पद्धति की ग्रन्थ-परम्परा आज भी पाई जाती है। ब्राह्मण्य व्याख्या और सायण की व्याख्या में प्रकार या शैली का विशेष अन्तर नहीं है। मन्त्र का कर्म में प्रयोग ही उनका लक्ष्य था

और इसी कारण वे प्रचलित अथवा व्यावहारिक भाषा में मन्त्र का सङ्क्षेप में एक अर्थ देकर ही निवृत्त हो गए। किन्तु उनके द्वारा प्रदत्त अर्थ ही मन्त्र का एकमात्र अर्थ है, ऐसा उन्होंने कहीं भी नहीं कहा। ब्राह्मणकार सरल थे, ऐसी एक सम्भावना का सङ्केत उनके मन में उभरा ही नहीं, बल्कि कर्मपद्धति का निरूपण करते समय उन्होंने जिन सारे उपाख्यानों की अवतारणा की है, अथवा मन्त्र की उपयोगिता दिखाते समय उन्होंने जो सारे विचार प्रकट किए हैं, उससे स्पष्ट ही समझ में आता है कि अभिधा के अतिरिक्त मन्त्र अथवा कर्म की एक व्यञ्जना भी है, जिसके बारे में वे असावधान नहीं थे। आध्यात्मिक अर्थ के सम्बन्ध में यास्क ने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। उनके दैवतकाण्ड के मूल में देवतत्त्व का विवेचन रहस्यमय व्यञ्जनापूर्ण है। इतस्ततः बिखरे उनके अनेक मन्तव्यों से समझ में आता है कि वेद के गूढ़ार्थ के सम्बन्ध में पूर्ण सचेतन रहकर ही उन्होंने शब्द-निरुक्ति की दृष्टि से मन्त्रों का विवेचन किया है। इस क्षेत्र में उनकी वैज्ञानिक बुद्धि ने उन्हें स्वाधिकार प्रमत्त होने से केवल बचाए भर रखा। मध्ययुग के व्याख्याकारों का तो कहना ही क्या? आदि से अन्त तक कर्मपरक व्याख्या करने पर भी यदि कोई उनसे कहता कि इस मन्त्र का एक आध्यात्मिक अर्थ भी है, तो वे उसमें आपत्ति करने जैसा कुछ भी नहीं देखते – क्योंकि उनका विश्वास था कि 'वेद' ऋषियों के अलौकिक अनुभव का परिणाम है। इसलिए उसमें अध्यात्म-व्यञ्जना का होना ही तो स्वाभाविक है।

किन्तु कर्मकाण्ड से जुड़े विद्वान् अब तक वेदमन्त्रों की रक्षा करते आए हैं, और प्रयोजन के अनुसार अपनी शैली में व्याख्या भी करते आए हैं, जिसके कारण हमारे देश में भी धीरे-धीरे एक परम्परागत संस्कार दृढ़ हो गया कि वेद-संहिता कर्मकाण्ड का ग्रन्थ है और वेदमन्त्र कर्मपरक कर्म सकाम हैं आदि-आदि। इस मनोभाव की चरम परिणति हमें अखण्ड मीमांसाशास्त्र को 'पूर्व' एवं 'उत्तर' इन दो भागों में विभाजित करने के बीच दिखाई पड़ती है। पूर्वमीमांसा का प्रतिपाद्य धर्म एवं कर्म है; उत्तरमीमांसा का प्रतिपाद्य ब्रह्म एवं ज्ञान है। ज्ञानवादियों की दृष्टि में

कर्म एवं ज्ञान के मध्य अधिकार, साधना और फल का भेद है। ज्ञान ही लक्ष्य है; कर्म उसके साधन के रूप में माना जा सकता है, लेकिन तब भी वह मुख्य साधन नहीं, बल्कि अवान्तर साधन मात्र है। इसके अतिरिक्त यदि कर्म को एकमात्र वेद-विधि निर्दिष्ट यज्ञादि के रूप में ही समझें, तो फिर उस कर्म को ज्ञान के उपाय के रूप में स्वीकार करने की भी ज़रूरत नहीं होती। लोग द्रव्ययज्ञ न करके भी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। ज्ञानवादियों के इस तर्क से स्वभावत: कर्मवाद लोगों की दृष्टि में तुच्छ हो गया। वेदमन्त्र के रक्षक कर्मवादियों के मार्ग को अप्रशस्त प्रमाणित करने के साथ-साथ वेदमन्त्र की आलोचना एवं उसके अर्थान्वेषण की चेष्टा में भी तो शिथिलता आएगी, यह स्वाभाविक है। इसके मूल में तार्किकों का प्रभाव बतलाना ही ज़्यादती है।

लोगों में अतिरञ्जना के प्रति एक आग्रह है। उनका मन जब जिसको ग्रहण करता है, उसको ही एक मात्र श्रेष्ठ मानकर अन्य सबको ही नगण्य समझता है। इसका एक उदाहरण मन्त्रों के प्रति कर्मवादियों की मानसिकता में देखने को मिलता है - कर्म में मन्त्र का विनियोग करना होगा; उस विनियोग में मन्त्र का अर्थावधारण अनावश्यक है। जिससे धीरे-धीरे यह सिद्धान्त स्थापित हुआ कि वेद के मन्त्रों का कोई अर्थ ही नहीं। इस धारणा का सर्वप्राचीन उल्लेख हमें निरुक्त में प्राप्त होता है। यास्क ने कौत्स के मत को उद्धृत करके खण्डन करने की चेष्टा की है। ध्यातव्य है कि कौत्स ने वेद-मन्त्र को निरर्थक कहा है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वेदमन्त्र बोधगम्य नहीं। कौत्स का मूल वक्तव्य कर्मकाण्ड के विद्वानों के वक्तव्य जैसा ही है। जब कर्म में यथायथ विनियोग के लिए ही मन्त्र है, तब उसका क्या अर्थ? इसे लेकर सर खपाने की कोई ज़रूरत नहीं; यह उनका मूल वक्तव्य है। भाषा की दृष्टि से दुर्बोध वेदमन्त्र भी हैं, किन्तु उनकी सङ्ख्या कम है। कौत्स भी उस तरह के मन्त्रों का उदाहरण नहीं दे पाते थे; किन्तु मन्त्रशास्त्र की दृष्टि से उनके विचार की एक गम्भीर तर्कसङ्गति है। यदि हम मन्त्र को परमव्योम के स्पन्द के रूप में जान लें, तो केवल उस स्पन्द के

सहारे ही चेतना का उदात्तीकरण किया जा सकता है, विशिष्ट अर्थ-भावना की कोई आवश्यकता नहीं होती। यह शब्द ब्रह्मवाद का एक मूल अभ्युपगम अथवा परोक्ष सिद्धान्त है, किन्तु उससे मनुष्य की अतिरञ्जनात्मक बुद्धि ने जिस सिद्धान्त को स्थिर किया है, उसने परवर्तीकाल में वेदार्थ-चिन्तन के पक्ष में बाधा की ही सृष्टि की है।

कर्मकाण्डियों ने एक ओर कर्म के जटिल सूक्ष्म विवरण एवं उसकी प्रयोग शुद्धता के प्रति आसक्त और अभिभूत होकर जिस प्रकार वेदमन्त्र को गम्भीरता से गहराई में पैठकर समझने का प्रयास नहीं किया। उसी प्रकार ज्ञानवादी भी वेद के मन्त्रांश को कर्मकाण्डियों की इजारेदारी या एकाधिपत्य समझकर उसके प्रति तटस्थ रहे। कर्म और ज्ञान के बीच इस कृत्रिम विरोध की सृष्टि के कारण ही अर्थविवेचन की दृष्टि से वेदमन्त्र आरम्भ से इस प्रकार अनादृत, उपेक्षित रह गए।

वस्तुत: वेद के मन्त्रांश में कर्म और ज्ञान का यह विरोध खोजने पर नहीं मिलता। वेद के समस्त मन्त्र ही किसी कर्म को लक्ष्य में रखकर रचे गए हैं, यह सच नहीं। विशेष किसी क्रिया को भी लक्ष्य करके रचित सूक्तों की सङ्ख्या अत्यल्प है। अधिकांश सूक्तों में कर्म उपलक्ष्य मात्र है; लक्ष्य नहीं। कर्म का उल्लेख नहीं, केवल आन्तर आकूति की अभिव्यक्ति है, इस प्रकार के मन्त्रों की सङ्ख्या भी नितान्त कम नहीं। ब्राह्मण में जो क्रिया विशेष की बहुलता देखने को मिलती है, उसका एक प्रारूप केवल वेदमन्त्र से खोजना सम्भव नहीं। यहाँ तक कि जिस यजु: संहिता में क्रिया के मन्त्रों को ही विशेष रूप से सङ्कलित किया गया है, उसमें भी क्रिया को उपलक्ष्य करके मुख्यत: भाव ही विकसित हुआ है। स्मरण रहे कि वैदिक ऋषियों का लक्ष्य चेतना को एक लोकोत्तर भूमि पर उत्तीर्ण करना था, तो फिर उसके लिए उन्होंने जिस प्रकार की भी साधना का आश्रय लिया हो, उसमें क्रिया का अतिक्रमण करके भाव ही प्रधान हो उठेगा। अध्यात्म-साधना में लक्ष्य के प्रति मनुष्य की निष्ठा यदि प्रबल होती है, तो बाह्यसाधना धीरे-धीरे सरल

और आडम्बरहीन हो जाती है, यह एक स्वाभाविक नियम है। ब्राह्मण में हम जिस जटिल क्रिया-विधि का विवरण पाते हैं, वह सामान्य व्यक्ति के पक्ष में आचरणीय नहीं थी, ऐसा कहना ही अर्थहीन है। इन सब जटिल क्रियाओं काअवश्य ही एक मूल सरल रूप था, एवं सर्वसाधारण में उसका ही प्रचलन था – यह अनुमान अप्रामाणिक नहीं। आधुनिक युग में भी क्या हम ठीक ऐसी ही घटनाएँ नहीं देखते? हमारे देश में तिथि विशेष के अवसर पर जिस प्रकार देवताओं की आडम्बरपूर्ण सार्वजनिक-पूजा का प्रचलन है, उसी प्रकार एकान्त गृह-कक्ष में भक्त के सरल-हृदय की पूजा-विधि भी है। आचार के साथ भाव का एक समन्वय यहाँ अपने आप ही हो जाता है। उसका प्रमाण तन्त्र की बाह्य एवं मानस-पूजा की विधि है। जिस किसी भी आचार अथवा संस्कार के पीछे भाव की एक गूढ़ व्यञ्जना न होने पर वह कभी भी दीर्घायु नहीं होता अथवा व्यक्ति के अन्तर की गहरी प्यास को बुझा नहीं सकता। वेद मन्त्रों में हमें जिस क्रियाविधि का उल्लेख प्राप्त होता है, उसका भी ऐसा ही एक बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग पक्ष होना अत्यन्त स्वभाविक है।

उदाहरणस्वरूप सोमयाग की बात कही जा सकती है। ऋग्वेद में यत्र-तत्र सोम का उल्लेख है, उसका एक मण्डल केवल सोममन्त्रों का सङ्कलन है। ब्राह्मणग्रन्थों में सोमयाग का जो वर्णन प्राप्त है, उसमें सोमयाग जिसप्रकार समस्त यज्ञों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार उसका अनुष्ठान भी अत्यन्त जटिल एवं व्यय-साध्य है। सब के लिए सोमयाग का अनुष्ठान सम्भव नहीं; किन्तु कहा जाए तो सोमयाग ही वैदिक कर्म-साधना का चरम लक्ष्य है, - जिसका परिणाम, अमरत्व-प्राप्ति, ज्योति में जीवन का उत्तरण एवं विश्वदेवता के साथ एकात्मता है; किन्तु यह अमृतत्त्व या अमरता तो थोड़े धनी यजमानों के लिए है, यह बात क्या विश्वासयोग्य है? इन दिनों ही क्या हम यह कह सकते हैं कि जो दुर्गोत्सव करता है, वही महाशक्ति को प्राप्त करता है? अतएव जिस प्रकार सोमयाग का एक जटिल कर्मरूप है, उसी प्रकार उसके एक सरल ज्ञानरूप का होना

भी सङ्गत है। एवं वह रूप था, जिसका उल्लेख वेद में ही है। वेद का कथन है कि जिस ओषधि सोम को कूट-छान कर लोग समझते हैं कि हमने सोमपान किया है; किन्तु जिस सोम को ब्रह्मविद्, ब्रह्मविज्ञानी जानते हैं, उसका रस कोई नहीं पी सकता। इस सुस्पष्ट सङ्केत को ध्यान में रखकर यदि हम परवर्ती योग और तन्त्र-साधना में अग्नि-सोम तत्त्व की विवृति एवं प्रयोग का अध्ययन एवं अनुशीलन करें, तो निश्चय ही वैदिक सोमयाग का एक अन्य रहस्य-क्रम था - उसके सम्बन्ध में फिर किसी प्रकार के संशय की गुंजाइश नहीं रहती।

[२]

अब देखना यह है कि प्राचीनकाल से आज तक वेद-व्याख्या की जिन विभिन्न पद्धतियों का आश्रय लिया गया था अथवा लिया गया है उनका मूल स्वीकार्य क्या है? क्योंकि जिस किसी भी व्याख्या के मूल में व्याख्याता के कई मौलिक संस्कार अचीन्हे होने पर भी प्रच्छन्न रहते हैं - यह तो सहज बुद्धि की बात है। प्रथमत: अपने देश की प्राचीन व्याख्या-पद्धति की ही बात करें।

वेदपन्थ के अनुयायियों ने वेद को प्रथमत: श्रुति, फिर आप्तवाक्य की संज्ञा प्रदान की है। आप्तवाक्य से उसका ही बोध होता है, जिसे किसी भी लौकिक प्रमाण द्वारा जानने का उपाय हमारे पास नहीं था। इस प्रकार किसी गुह्यतत्त्व के बारे में जानकारी देने ही नहीं, बल्कि उसे अधिगत या प्राप्त करने के उपाय के सम्बन्ध में भी आप्तजन अपने अनुभव की गहराई से सञ्चित अभिज्ञता की सहायता से उपदेश देते रहते हैं। इससे स्वभावत: उनकी वाणी के दो तात्पर्य स्पष्ट दिखाई देते हैं, जिनमें एक तत्त्व का ज्ञापन है और एक तत्त्व का उपाय है। जिस प्रकार आप्त का प्रतिपाद्य ज्ञान अलौकिक है, उसी प्रकार उसका उपाय भी अलौकिक है। अलौकिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए लौकिक ज्ञान के उपाय को परिमार्जित करने के अलावा रूपान्तरित करना ज़रूरी है। इससे अतिप्राकृत या लोकोत्तर मनोविद्या का सूत्रपात होता है, जिसकी

आधारभूमि चेतना की अन्तरावृत्ति अर्थात् चेतना को भीतर की ओर मोड़ देने में है। अन्तरावृत्ति साधन अथवा अन्तर्मुखता की साधना के अनेक उपाय हैं, एवं उसके गहराव का भी तारतम्य है। इस दृष्टि से आप्त-प्रामाण्य का स्तर-भेद हो सकता है, किन्तु वास्तव में विषय मानव-चित्त की जिस एक मौलिक प्रवृत्ति के ऊपर प्रतिष्ठित है, वह अनस्वीकार्य है। जब अलौकिकतत्त्व के प्रत्यक्षीकरण का उपाय बहिर्मुख या वस्तुनिष्ठ होता है, तब कर्मकाण्ड की उत्पत्ति होती है। कर्मकाण्ड के उपदेश भी आज्ञासिद्ध होते हैं, क्योंकि उसका मूल आप्त की अलौकिक अभिज्ञता में ही निहित है। कर्मकाण्ड के उपदेश केवल साधन से सम्बन्धित, आचार को ही नियन्त्रित नहीं करते, बल्कि धीरे-धीरे व्यक्ति के पूरे जीवन में ही व्याप्त हो जाते हैं। इस प्रकार धर्मानुशासन का सूत्रपात होता है।

आप्त के प्रति श्रद्धा मानवचित्त का स्वाभाविक धर्म है। संसार के समस्त धर्मों के मूल में और केवल धर्म ही क्यों? बल्कि जिस किसी भी विज्ञान साधना के मूल में आप्तवाक्यों का प्रभाव अनस्वीकार्य है, असन्दिग्ध है। आप्तवचन केवल निष्क्रिय श्रद्धा का अवलम्बन नहीं, बल्कि विज्ञान के अभियान को वह प्रेरणा प्रदान करता है। उसे एक सामाजिक प्रेरणा-शक्ति कहा जा सकता है। आप्तवचन की प्रामाणिकता व्यक्ति की स्वाभाविक अनुसन्धित्सा वृत्ति को प्रोत्साहन प्रदान करती है; एवं अज्ञान के अभिसार के लिए प्रेरित करती है, वह चाहे लौकिक विज्ञान अथवा अलौकिक विज्ञान के क्षेत्र में हो। परिणामत: मानव-ज्ञान की सीमा का विस्तार होता है, जिसे हम लौकिक विज्ञान के क्षेत्र में स्पष्ट ही देख पा रहे हैं। अलौकिक विज्ञान के क्षेत्र में आलोक का दिगन्त कुछ और प्रसारित होता है या नहीं, वह विवेच्य है, क्योंकि यहाँ यात्रा की धारा विपरीत दिशा में है, किन्तु अनेक ज्ञानी: तपस्वी महापुरुषों की साधना से समाज का निचला हिस्सा धीरे-धीरे आलोकित हो उठता है, इसे बेहिचक कहा जा सकता है।

अन्यान्य धर्मावलम्बी, आप्तवचन को जिस दृष्टि से देखते हैं उसके साथ शुरू से ही वेदपन्थियों का प्रभेद है। आप्तवचन शाश्वत सत्य के वाहक होते हैं, इस अर्थ में समस्त धर्म ही एकमत हैं। वेदपन्थी भी वेदवाक्य को शाश्वत ही कहते हैं, किन्तु अन्यान्यधर्मियों के साथ उनका यही प्रभेद है कि वे वेदवाक्य को विशेष रूप से अपौरुषेय भी कहा करते हैं। सम्भवत: इस दावे के मूल में उस सनातन नर और विप्र का, तर्क और श्रद्धा का झगड़ा है। वैदिकधर्म एक सामाजिक शक्ति है, एक समूह की शक्ति है। समूह की जड़ता के विरुद्ध व्यक्ति को हमेशा विद्रोह करना पड़ता है; अतएव जो वैदिकधर्म के समालोचक हैं, वे इस देश में किसी न किसी पौरुषेय मत के प्रवर्तक हैं। उनके द्वारा आहत होकर स्वकीय वैशिष्ट्यं को अपौरुषेयता के ऊपर प्रतिष्ठित करने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति वेदपन्थियों में दिखाई देगी, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं, किन्तु गहराई में जाकर देखने पर यह नहीं कहा जा सकता कि वेद का यह अपौरुषेयतावाद केवल तर्क-बुद्धि से उद्भूत हुआ है। इस सिद्धान्त का मूल हमें वेद के ही वाक्तत्त्व में प्राप्त होता है।

'ब्रह्म' अर्थात् चेतना की क्रमिक व्याप्ति एवं 'वाक्' अर्थात् उसका बहिर्मुख विकास दोनों की अभिन्नता वैदिकदर्शन का एक मूल सूत्र है। परवर्तीकाल में वैयाकरणों एवं तान्त्रिकों ने इस मतवाद को नाना प्रकार से पल्लवित करने का प्रयास किया है। वस्तुत: यह प्रश्न भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न के साथ जुड़ा हुआ है। वैदिकमत के अनुसार एक शाश्वत भाव स्वयं को व्यक्त करने की चेष्टा में जिस स्पन्दन को उभारता है, उजागर करता है, उससे ही भाषा की सृष्टि होती है। यह भाषा देवभाषा अर्थात् ज्योति की भाषा है, एवं वही मन्त्र है। यह मन्त्र मनुष्यकृत सङ्केत नहीं, जिसे बच्चे, बड़े-बूढ़ों से सीखते हैं, बल्कि यह स्वत: स्फूर्त अभिव्यक्ति है; भाव के अनुकूल भाषा का स्पन्दन है। वह जब तीन अवस्थाओं को पार कर चतुर्थ अवस्था में पहुँचता है, तब वह पुन: मनुष्यकृत सङ्केत की सहायता ग्रहण करता है, किन्तु तुरीय अवस्था

में उस मूल स्पन्दन की शक्ति पूर्णतया अव्याहत, अप्रतिहत रहती है। इस कारण इस अभिव्यक्त मन्त्र को भी उसी अन्तर्गूढ़ मूल स्पन्दन की मर्यादा देनी पड़ती है। जिसप्रकार मूलस्पन्द अपौरुषेय है, उसी प्रकार यह वैखरी वाक् भी अपौरुषेय है। ऋषिगण मन्त्रस्रष्टा नहीं मन्त्रद्रष्टा मात्र हैं।

वैदिक मन्त्रवाद के इस सङ्क्षिप्त परिचय से इतना समझ में आता है कि आधुनिक विज्ञान जिस प्रकार अपने तत्त्व-सङ्ग्रह के समय पौरुषेयता की उपेक्षा करके चलने की आप्राण चेष्टा करता है। उसी प्रकार वेदपन्थियों ने भी ठीक वही किया है। इसके सम्बन्ध में मीमांसकों का एक तर्क यह है कि सामान्य व्यक्ति में भ्रम, प्रमाद और विप्रलिप्सा या कार्य-क्षमता का अभाव होना असम्भव नहीं, अतएव अध्यात्म-ज्ञान और साधना के आधार का अपौरुषेय होना उचित है। पुरुष प्रवक्ता हो सकते हैं, किन्तु उनकी वाणी में मालिकाना स्वत्व रह नहीं सकता। सत्य की घोषणा या ज्ञापन के समय किसी पुरुष का कर्त्तृत्व स्वीकार्य नहीं। यहाँ तक कि ईश्वर नाम से कल्पित पुरुष भी नहीं, नबी, अवतार, ईशदूत आदि तो दूर की बात है। मन्त्र वाणी मात्र है - ईश्वर की भी वाणी नहीं। उसमें जो स्वाभाविक स्फुरत्ता अथवा क्रियाशक्ति का छितराव है, उसका वेग ही व्यक्ति को ऋद्धि-सिद्धि के मार्ग पर ले जाएगा। वह केवल श्रद्धापूर्वक उसका अनुसरण करता जाएगा। गहराई में पैठकर देखने पर मीमांसकों के इस मनोभाव में अध्यात्मभावना के एक अपूर्व अवदान का परिचय प्राप्त होता है। समग्र वैदिक चिन्तन-धारा के मूल में यह भाव होने के कारण ही वैदिकधर्म कभी प्रोटेस्टैण्ट अथवा मिशनरी धर्म हो नहीं सकता। उसकी शक्ति और अशक्ति दोनों का ही मूल यहाँ है।

वस्तुतः अपौरुषेयवाद का मूल आशय चेतना का स्वोत्तरण है। विना किसी पक्षपात के कह सकते हैं कि सारे धर्मों का ही मूल अपौरुषेय है। भारतवर्ष ने इसको शुरू से ही स्वीकार किया है। जिस समय सत्य का प्रश्न अपने वाङ्मय विकास या अभिव्यक्ति का अतिक्रमण करके तत्त्व-चिन्तन की कोटि में उत्तीर्ण हुआ, उस समय वैदिक और अवैदिक

धारा के बीच कोई अन्तर नहीं रहा, बल्कि परोक्षतः वे अभिन्न आर्यचित्त के अपौरुषेय तत्त्व-साक्षात्कार की साधारण भूमि पर आकर मिल गई हैं। इसलिए हम देखते हैं कि आदिम वैदिक युग की तरह भारतवर्ष के अध्यात्म-चिन्तन के परवर्तीकाल में 'नर' और 'विप्र' की साधन-धारा आपस में मिल गईं। कपिल, कणाद और गौतम तार्किक होने के बावजूद वेदपन्थी समाज में लोकप्रिय थे। बुद्ध अवैदिक होने पर भी वास्तव में वेद एवं ब्राह्मण के प्रति श्रद्धाशील थे। हिन्दू, बौद्ध, जैन सबकी अध्यात्म-साधना की एक साधारण संज्ञा या नाम 'ब्रह्मचर्य' है। इस 'ब्रह्म' शब्द के भीतर प्राचीन वैदिककाल से लेकर आज तक के भारतवर्ष की अध्यात्म-साधना का समग्र इतिहास सहेज कर रखा हुआ है। इस एक शब्द की व्यञ्जना के भीतर यहाँ की साधना के वस्तुनिष्ठ एवं व्यक्तिनिष्ठ दोनों रूपों अथवा धाराओं का सङ्गम हुआ है। चेतना की क्लिष्टता से मुक्ति चाहिए - यह मानवात्मा की चिरन्तन आकूति है। उस मुक्ति का आश्वासन जहाँ कहीं से भी प्राप्त हो, उसे ही उसकी लोकोत्तर व्यञ्जना के प्रति लक्ष्य रखकर समान रूप से आप्तवचन के रूप में मान लेना होगा। आप्तवाणी ईश्वर की हो सकती है, देवमानव की हो सकती है और केवल वाणी भी हो सकती है। किन्तु वह सर्वत्र ही एक अपौरुषेय, लोकोत्तर शाश्वत तत्त्व की ही अभिव्यक्ति है, क्योंकि वह तत्त्व हमारी लौकिक प्रमाण-विधि का अतिक्रमण करके श्रद्धा, तपस्या तथा अन्तर्मुख चित्त के अनुध्यान, अनुचिन्तन द्वारा प्राप्त हुआ है।

भारतवर्ष के हृदय में इस भाव के सदैव जाग्रत रहने के कारण ही उसने प्रत्येक युग में 'वेद' अथवा 'श्रुति' की अर्थव्याप्ति का व्यवस्थापन किया है। एक बात याद रखनी होगी कि भारतवर्ष के समस्त साधनामार्ग बाहर से चाहे जितने ही पृथक् क्यों न हो? किन्तु मानव प्रकृति की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार आन्तर-साधना के एक साधारण क्षेत्र में आकर एक हो गए, यह साधना योग है। बाहरी साधना की दृष्टि से भी तन्त्र में एक समन्वय घटित हुआ। फिर तन्त्र बहुव्यापक होकर योग को भी अपने अन्तर्गत कर लिया। जिसप्रकार वेदवाद ने एक सीमा में पुष्ट

होकर अपने विशिष्ट रूप को सुरक्षित रखने का प्रयास किया है, उसी प्रकार स्वभावत: उसका भाव समाज में सर्वत्र फैला हुआ है। वेदवाद का यह लोकायत, लोकप्रचलित रूप ही तन्त्र है। आज आर्यमानस वेद के प्रति आस्थावान् है, किन्तु तन्त्राचारी है - यह कहकर उसकी साधना का एक अखण्ड परिचय दिया जाता है। वेदवाद के इस विस्तार के साथ-साथ श्रुति संज्ञा की भी अर्थव्याप्ति हुई। 'श्रुति' केवल वैदिक श्रुति ही नहीं है, बल्कि तान्त्रिक श्रुति भी है। इन दोनों की प्रामाणिकता साधारणत: समान रूप से स्वीकृत है। तान्त्रिक श्रुति की व्यञ्जना शैली वैदिक अपौरुषेयवाद से प्रभावित है। यहाँ भी प्रवक्ता मूलत: जो भी रहे हों, उन्होंने स्वयं को वाणी में पूर्णतया लुप्त कर दिया है। वेद में तो ऋषियों का नाम है किन्तु तन्त्र में वह भी नहीं। यह केवल धप्पाबाजी अथवा मिथ्या आश्वासन और उपदेश या वेद का अनुकरण नहीं बल्कि सनातन आर्यचित्त की रीति या चर्या का प्रचार अर्थात् अपौरुषेयता की अकुण्ठता द्वारा तत्त्व को वैज्ञानिक रूप देना है।

वेदपन्थियों की एक और विशेषता एवं विश्वास यह है कि वेद की शब्दराशि नित्य है, शाश्वत है। यह विश्वास अकेले वेदपन्थियों का ही नहीं है, बल्कि संसार के सभी धर्म ही अपनी वाणी को ईश्वर की वाणी के रूप में सनातन मानकर घोषणा करते हैं और जितने धर्म प्रवक्ता में विश्वास करते हैं, उन्होंने प्रवक्ता की वाणी को उत्पन्न मानकर स्वीकार करने के लिए बाध्य होने पर भी यह दृढ़तापूर्वक ही कहा है कि वह वाणी किसी मूल दिव्यवाणी की ही अभिव्यक्ति मात्र है। अपौरुषेयता के साथ नित्यता का एक न्यायसिद्ध सम्बन्ध है। वस्तुत: दोनों भावनाएँ ही मनुष्य की चेतना के स्वोत्तरण के प्रयास से उद्भूत हैं। स्वोत्तरण का प्रवेग मनुष्य के लौकिक जीवन में भी है। हम एक झमेले में फँसे हैं और परिवर्तन की धारा में बहे जा रहे हैं। इसके बीच कहीं भी सत्ता का स्थिर आश्रय चाहिए, नहीं तो हमारा काम नहीं चलेगा। बाहर जिसप्रकार प्रकृति के क्रिया सारूप्य या उसकी क्रिया की समरूपता पर हमारा विश्वास है। उसी प्रकार हम भीतर भी अध्यात्म-क्रिया के सारूप्य की

स्थिर व्यवस्था चाहते हैं। हम चित्त की एक ऐसी भूमि चाहते हैं, जिसे प्राकृत चेतना की समस्त वृत्तियों का आश्रय तथा समस्त कर्म-प्रवृत्तियों का एक विश्वस्त उद्गम कह सकें। इस आध्यात्मिक स्थापना को ही हम वस्तुगत दृष्टि से 'ईश्वर' और व्यक्तिगत दृष्टि से 'आत्मा' कहते हैं। इस गहरे स्रोत से नि:सृत जो वाणी हमारे कर्म एवं भावना को संशय और अनिश्चितता के दौर से उबारकर प्रतिष्ठा की भूमि पर उत्तीर्ण करती है, वही हमारे लिए 'आप्तवाणी'; 'शास्त्र' अथवा 'वेद' है। अतएव यहाँ नित्यता अथवा निरन्तरता का अर्थ कालिक परिणाम का अतीतत्व है अर्थात् नित्यत्व को व्याप्ति द्वारा मापना ठीक नहीं होगा, बल्कि वस्तु की अबाधित अप्रतिहत क्रिया-सामर्थ्य की अन्त:शक्ति को ही नित्यत्व कहना होगा।

स्पष्ट दिखता है कि यह नित्यत्व भावगत सामान्य प्रत्यय का सहवर्ती है। आध्यात्मिक अनुभव के सामान्य धर्म को नित्य या शाश्वत कहने में आपत्ति की कोई गुंजाइश ही नहीं है, किन्तु स्थूल वाणी रूप को यदि हम नित्य कहें, तो अड़चनें सामने आ जाती हैं। मीमांसकों की दृष्टि में वेद और वाणी एक है। इसलिए उनका दावा है कि वेद का अर्थ ही नहीं बल्कि वेद की शब्द-राशि भी नित्य है। तार्किकों ने उनके इस मत को स्वीकार नहीं किया - यह कहना अत्युक्ति है। लगता है मीमांसकों द्वारा तार्किकों की युक्ति का सही रूप में खण्डन नहीं हो पाया है, किन्तु शब्द को नित्य या शाश्वत प्रमाणित करने का जो आग्रह उनमें दिखाई देता है, वह केवल तर्कबुद्धि की सहायता से तार्किकों द्वारा आहत होकर शास्त्र को बचाए रखने की चेष्टा से उत्पन्न नहीं - इसे कुछ विस्तृत विवरण के साथ जानना ज़रूरी है।

हमारे देश के दर्शन में एक अद्‌भुत मतवाद है – 'आकाश का गुण शब्द है।' आधुनिक भौतिक विज्ञान की दृष्टि में यह अयौक्तिक अथवा युक्तिविरुद्ध प्रतीत होगा। प्राचीन तर्कशास्त्र ने भी उसे तर्क-सिद्ध प्रमाणित करने के लिए अन्त में परिशेष-न्याय का आश्रय लिया है। वस्तुत: इस मतवाद का मूल वैदिक वाक्तत्त्व में है, किन्तु वहाँ उसका रूप अन्य

प्रकार का है। 'ऋग्वेद' के अनुसार "अग्निरूपा वाक् की प्रतिष्ठा या अवस्थिति परम व्योम में है, जहाँ विश्वदेवता का शाश्वत आसन स्थापित है। वहाँ एकपदी वाक् सहस्राक्षरा हुई हैं। वे प्राणचञ्चला गौरी हैं; वे ही कारण-सलिल का तक्षण करके रूप की रचना कर रही हैं। उनके चार पाद हैं। इनमें तीन गुहा में निहित हैं। वे अव्यक्त हैं। उनका विकास बाहर नहीं; केवल चतुर्थीवाक् मनुष्य के मुख से फूटती है। वे लोकोत्तर के अगम समुद्र से प्रवाहिता दिव्यचेतना की मुक्त धारा हैं। वहाँ से यहाँ हमारी चेतना में आविष्ट हो रही हैं।" ब्रह्म आकाशवत् है – यह उक्ति हमें उपनिषद् में प्राप्त होती है। ब्रह्म के साथ वाक् अभिन्न रूप से युक्त है अर्थात् ब्रह्म एवं वाक् अभिन्न हैं – यह ऋग्वेद की उक्ति है। आकाश एवं प्राण अथवा आकाश एवं वाक् एक अनादि दिव्य मिथुन है। इस वैदिक भावना अथवा चित् शक्ति की अन्तःशील अनुभव-धारा की ही दार्शनिक विवृति है – "आकाश का गुण शब्द है।"

इस दृष्टि से देखने पर यह बात अयौक्तिक अथवा असङ्गत नहीं जान पड़ती। तब हम दार्शनिक की भाषा में कह सकते हैं कि विसृष्टि या सर्जना के मूल में आकाश अथवा शून्यता है, किन्तु वह शून्यता शक्तिरहित नहीं, शक्तियुक्त है। वह शक्ति अस्पन्द का स्पन्द ही है। चेतना जब ऊपर की ओर ज्वार की तरह उठ जाती है, तब वह अस्पन्द में निथर निस्पन्द हो जाती है, किन्तु भाटा के समय अस्पन्दता को अटूट अखण्ड रखने से ही उसमें स्पन्द-लीला का उदय होता है। यह स्पन्द ही वाक् या स्फोट है। अशब्द का अनाहत गुञ्जन अथवा अरूप का आत्म-रूपायन है। आकाश अथवा महाशून्य से इस वाक् के स्फुरण के चार सोपान हैं। प्रथमतः वाक् मानो अनुत्तर अथवा अशब्द के हृद्य समुद्र में नित्य सामरस्य का आनन्दमय हिल्लोल मात्र है। तत्पश्चात् विचित्र आत्म-आस्वादन के संवेग से उस हिल्लोल में रूप या सौन्दर्य की ललक उभरती है, उस समय वाक् आत्मचेतना के दर्पण में चिन्मयी द्युति की झलक है। तत्पश्चात् वह वाक् भाव के रूप में फूटती है, एवं अन्त में भाषा-झङ्कार में उजागर होती है। कवि की चेतना काव्य में

आकार ग्रहण करती है और अन्तः समाहित चेतना की शून्यता से वाणी के विलास का स्फुटन होता है। प्राकृत जगत् में काव्य-सृष्टि ही यथार्थ सृष्टि है, जहाँ स्रष्टा स्वतन्त्रतापूर्वक स्वयं को उत्सारित करता है अथवा स्वयं को निचोड़कर प्रकट होता है। शेष सब कुछ सृष्टि नहीं निर्माण है, निर्मिति मात्र है। सृष्टि में निमित्त एवं उपादान अभिन्न हैं; वहाँ मैं ही अन्तर्गूढ़ प्राण के संवेग से स्वयं को फूल की तरह प्रस्फुटित करते हुए रचना-रत होता हूँ। यह प्रत्यक्ष रूप से भाव में सम्भव है। वहीं प्रजापति की सृष्टि-लीला का परिचय प्राप्त होता है। सृष्टि या सृजन के आवेश से अन्तर्मुख चेतना में जो स्फुरित होता है, उसकी वैखरी मूर्ति ही मन्त्र है, वह मन्त्र वेद की भाषा में 'कविक्रतु' है अर्थात् दृष्टि और सृजनेच्छा दोनों ही एक साथ है। रचना-कर्म पहले शुरु होता है मन्त्रद्रष्टा की आधारभूमि में, तत्पश्चात् ग्रहणशील एवं ईर्ष्याशून्य सन्तति में, फिर पूरे विश्वजगत् में। काल-क्रम में उसकी शक्ति एवं गति का विकास होता है और सम्प्रदाय की परम्परा दिखाई देती है। अन्त में अनेक युगों की अतन्द्र तपस्या द्वारा जब वह जाति चेतना में संहत होती है, तब वैखरी वाक् भी सिद्ध मन्त्र होती है। सारे मन्त्रों की ही अर्थ नित्यता है, किन्तु उसके अतिरिक्त भी सिद्ध मन्त्र की वर्णानुपूर्विक नित्यता है। इस प्रकार आकाश का ईक्षण अथवा दृष्टि एवं सङ्कल्प ही मन्त्रवीर्य में रूपान्तरित होता है। वह मन्त्र अपौरुषेय एवं नित्य है।

इस विवेचन से यह समझ में आता है कि वेदपन्थी चाहे कर्मी हो अथवा ज्ञानी हो, वेद के प्रति उसकी श्रद्धा का एक दार्शनिक आधार है। वह दर्शन स्वभावतः जड़ोत्तर है, किन्तु ऐसा होने से वह अप्रामाणिक अथवा अवैज्ञानिक भी नहीं है। विज्ञान का सबसे बड़ा दावा है कि अनुभवगम्य तथ्य के आधार के बिना वह किसी तत्त्व को ही प्रामाणिक तत्त्व के रूप में मान्यता नहीं देता। विज्ञान के इस दावे को वेदपन्थी भी स्वीकार कर लेंगे। वे भी कहेंगे कि उनका दर्शन तत्त्व का दर्शन है एवं उस दर्शन की एक क्रियापरक पद्धति है। यास्क की भाषा में "ऋषिसाक्षात् धर्मा" हैं। तर्क के साथ श्रद्धा का कोई विरोध नहीं, बल्कि समय विशेष

में तर्क ही ऋषि है, किन्तु वह तर्क वाक् का अनुगामी है।" वस्तुतः सभी का अन्तिम प्रमाण प्रत्यक्ष अनुभव में है। इससे अनुभव का क्षेत्र सम्भवतः स्वतन्त्र है एवं ऐसा होने के कारण उसकी पद्धति भी स्वतन्त्र है। बुद्धिवादी कहेंगे यह तो केवल भावुकता है, किन्तु आध्यात्मिक साधना का परिणाम भावुकता से अलग और क्या हो सकता है? क्या हम और कोई आशा कर सकते हैं? भाव ही चेतना की परमलब्धि है, उसका अभियान लौकिकता से अलौकिकता की ओर ही है, किन्तु यह अलौकिक लोकोत्तर होते हुए भी लोक से बाहर नहीं है। इस अर्थ में ही वैदिक दर्शन का वैशिष्ट्य है।

शुरू में ही यह बता देना अच्छा होगा कि श्रद्धा एवं भाव-प्रवणता के बिना वेद व्याख्या का प्रयास निष्फल श्रम होगा। वेद व्याख्या की यह श्रद्धा ही इस देश की एकमात्र पूँजी थी, किन्तु तर्कसम्मत उपायों के माध्यम से उसे क्रियान्वित करने का आग्रह ही नहीं था। उसका कारण पहले ही बतलाया गया है कि ज्ञान और कर्म के बीच चिर प्रचलित एक कृत्रिम विरोध था। वेद मन्त्रों का गूढ़ार्थ यदि ऋषियों के तत्त्व साक्षात्कार का परिणाम हो, तो फिर उसका रहस्यार्थ विज्ञानवेत्ता द्वारा ही पकड़ में आएगा। अतएव समस्त कर्मों का पर्यवसान ज्ञान में होगा – यह बात श्रद्धासम्पन्न कर्मवादी भी अस्वीकार नहीं कर सकते। किन्तु मन्त्र को क्रिया के उपलक्ष्य में पर्यवसित करने में उनकी दृष्टि इस ओर नहीं गई, एवं ज्ञानवादियों ने भी कर्म से स्वयं को दूर रखने के कारण मन्त्रशास्त्र के प्रति उपेक्षा का भाव रखा। लोगों की आध्यात्मिक प्रवृत्ति की विभिन्नता के कारण साधन-पद्धति के इस भेदभाव से मन्त्रशास्त्र की सम्प्रदाय-परम्परा के अव्याहत रहने के बावजूद क्रमशः उसका रहस्यार्थ हमारे निकट रहकर दुर्लक्ष्य हो गया।

किन्तु रहस्यार्थ पूर्णतया लुप्त नहीं हुआ। महाभारत का कथन है – "इतिहास पुराणाभ्यां वेदार्थम् उपबृंहयेत्।" यह अत्यन्त स्पष्ट एवं सही कथन है वेदार्थ को जनसाधारण के बीच प्रचारित एवं लोकप्रिय करने की प्रचेष्टा में ही इतिहास-पुराण की रचना की गई। इसलिए इतिहास

और पुराण दोनों को ब्राह्मणग्रन्थों में पञ्चमवेद के रूप में परिगणित किया गया है। आध्यात्मिक दृष्टि से रोचक-रमणीय बनाकर इतिहास को भी दर्शन के पर्याय तक ले जाना इस देश की एक रीति है। हमने पुराणों को अविकृत अथवा अपरिवर्तित रूप में प्राप्त नहीं किया, किन्तु उनकी एक विशेषता सुस्पष्ट है - जाति का बाहरी और भीतरी इतिहास तथा उसके लौकिक एवं अलौकिक दृष्टिकोण, दोनों को ही पुराणों में एक साथ मिलाकर परिव्याप्त कर दिया गया है। देश के बाहरी इतिहास को रचने की दिशा में पुराणों की चाहे जो भी उपयोगिता हो, किन्तु उसके भीतर के इतिहास को समझने की दिशा में उसकी प्रयोजनीयता की कोई सीमा नहीं। वेद के अनेक प्रतीक पुराणों में पल्लवित हुए हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों की तरह पुराण भी आनुपूर्विक अथवा धारावाहिक वेद व्याख्या नहीं है। किन्तु उसी प्रकार ही व्यञ्जनावह है। दोनों में अध्यात्म-भावना का एक ही वायुमण्डल है। इसे बेहिचक खुले मन से कहा जा सकता है कि जिस प्रकार तन्त्र-साधना को न समझ पाने से वैदिक कर्मकाण्ड का अर्थ समझना सम्भव नहीं, उसी प्रकार पुराण की कल्पना के साथ घनिष्ठ परिचय न होने पर वेद की कल्पना को भी नहीं समझा जा सकता। इसके साथ इतना और जोड़ दिया जा सकता है कि योगसाधना की पद्धति एवं उसके मनोविज्ञान के साथ परिचय न होने पर उपनिषद् अथवा वेदान्त को समझने की चेष्टा भी एक दुःसाहस मात्र होगी। वस्तुतः वेदान्त वेदवाद का ही अन्त है और वेदार्थ की 'विज्ञान' समन्वित परिचिति है। अतएव कहा जा सकता है कि मन्त्रार्थ के आविष्कार की दिशा में उपनिषद्-ज्ञान का व्यापक आधार, तन्त्र और पुराण के साथ घनिष्ठ परिचय एवं योग तथा तन्त्र की साधन-पद्धति की साक्षात् अभिज्ञता हमारे लिए ज़रूरी होगी। पता नहीं, कब से हमारे देश के सारे सम्प्रदाय ही अपनी भावना और साधना का मूल वेद में ही बतलाते आए हैं? यहाँ तक कि जो वेद के कर्मकाण्ड को स्वीकार नहीं करते, वे भी वही कहते हैं और यह भी कहते हैं कि वेद के रहस्य को कर्मकाण्डी नहीं जानते, बल्कि वे ही जानते हैं। इस देश में अध्यात्म-साधना की जो अनुवृत्ति निरन्तर होती आई है, उसमें भूल नहीं। आज भावना

और साधना में जो वैचित्र्य देखने में आता है, वह यदि एक आधारभूत आर्यभावना का ही शाखायन हो, तो फिर वेदार्थ के आविष्करण के लिए इनके भाव का अनुसरण करते हुए पुनः स्रोत के प्रतिकूल तैरते जाना ही वैज्ञानिक बुद्धि का परिचय होगा।

[३]

वेद की प्राचीन व्याख्या-पद्धति के मूल सिद्धान्तों की एक सङ्क्षिप्त आलोचना की गई। देखा गया कि जो श्रद्धा लोगों के भीतर अतीन्द्रिय ज्योति का द्वार खोलती है, उसने ही उन्हें प्रेरणा और प्रोत्साहन प्रदान किया है, किन्तु इस श्रद्धा के साथ प्रशस्त एवं सुषम तर्क का मेल न होने के कारण वह अनेक क्षेत्रों में श्रद्धालुता में पर्यवसित हो गई। फलस्वरूप वेदवाक् सुरक्षित तो रही, किन्तु उसका अर्थ हमारे लिए रहस्यमय ही रहा।

आधुनिक युग में वेद-व्याख्या की एक नई पद्धति का उद्भव हुआ। जिसके आधार पर एक सम्प्रदाय भी गठित हो गया। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक यूरोपीय हैं। उनका मुख्य उपजीव्य तर्क है, जिसे वैज्ञानिक बुद्धि के दान के रूप में प्रचारित करते रहते हैं। इस देश के प्राचीन तार्किकों के साथ शुरू से ही इन नये तार्किकों का एक भेदभाव यह है कि इस देश के तार्किक, अतीन्द्रिय के प्रति आस्तिक थे, किन्तु उस देश के तार्किकों की आस्तिकता केवल इन्द्रियग्राह्य जगत् के साथ है।

वेदोक्त 'देवनिद्' अथवा वेदनिन्दकों के मतवाद का स्पष्ट उल्लेख कहीं भी प्राप्त नहीं होता? लेकिन अनुमान किया जा सकता है कि वे ही परवर्ती युग के लोकोत्तर तर्कवाद के अगुवा थे, किन्तु चार्वाक निश्चय ही इस दल के नहीं थे। मुख्य रूप से इन तार्किकों की दो विशेषताएँ थीं, जिनमें एक अतीन्द्रिय सत्य के प्रति श्रद्धा (जिसकी उपमा वैज्ञानिकों की HYPOTHESIS के साथ की जा सकती है) है और एक उस सत्य को प्राप्त करने के लिए विशिष्ट साधन-पद्धति का निर्देश। इस दृष्टि से वेदवादियों के साथ वैज्ञानिकों का कोई भेद नहीं है,

किन्तु चरम सत्य के रूप और उसे पाने के साधना-मार्ग को लेकर दोनों में अन्तर है। ये संसार के अन्यान्य आस्तिकों की तरह ही आप्तवचन में विश्वास रखते हैं, किन्तु वेदवादी वाक् को एवं उसी से मन्त्रवाद रूप विशिष्ट पद्धति के उद्भव को मानते हैं और ये उस वाक् के प्रवक्ता के रूप में महामानव अथवा ईश्वर को मानते हैं। यह इनका वैशिष्ट्य है। साधन-पद्धति की दृष्टि से ये वैदिक कर्मकाण्ड के विरोधी हैं; इनकी दृष्टि आत्मपरक है। वेदवाद के समालोचन की इनकी शैली का एक सुन्दर उदाहरण दीघनिकाय के 'तेविज्ज सुत्त' में प्राप्त होता है। वहाँ वेदवादी वेद को किस रूप में समझते उसकी कोई समालोचना नहीं है, किन्तु उसका लक्ष्य यही है कि त्रैविद्य ब्राह्मणों के साधना-मार्ग द्वारा सत्य को प्राप्त किया जा सकेगा या नहीं।

किन्तु आधुनिक युग के तार्किक व्याख्याता भिन्नमार्गी हैं। प्रथमतः उन्होंने वेद को वैज्ञानिक पद्धति से समझने की चेष्टा में प्राचीन व्याख्याताओं के विचारों को कहीं स्वीकार किया है, कहीं नहीं। द्वितीयतः वेदप्रतिपादित सत्य का एक चरम मूल्य है या नहीं; इसके बारे में उनकी घोर आशङ्का है। इस दृष्टिकोण की समीक्षा करके अब हमें देखना होगा कि वेदार्थ आविष्कार के पक्ष में यह तर्कसङ्गत एवं अनुकूल है या नहीं।

प्राचीन व्याख्याताओं के सिद्धान्त जैसे आधुनिक वेद-व्याख्याताओं के भी कुछ सिद्धान्त हैं। जिनमें प्राकृतिक विकासवाद अथवा प्राकृत परिणामवाद (Theory of natural evolution) उनका मुख्य सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त पहले प्राणविद्या या जीवविज्ञान के क्षेत्र में प्रयुक्त हुआ, फिर धीरे-धीरे जड़विद्या या भौतिकविज्ञान एवं मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रसारित हुआ। इस सिद्धान्त के अनुसार जिस किसी भी प्राण-क्रिया का अस्पष्ट, सरल और किञ्चित् विश्लेषित आदिम रूप, कालान्तर में प्रतिवेश के घात-प्रतिघात एवं क्रिया-प्रतिक्रिया अथवा अन्तर्निहित प्राण के वेग से स्पष्ट, जटिल और विश्लेषित हो उठता है। इस सूत्र का प्रयोग मानव-संस्कृति के क्षेत्र में भी किया जा सकता है। आदिमानव बर्बर,

गँवार था, वह धीरे-धीरे सभ्य हुआ। उसके धर्म-बोध को जीवन की अभिव्यक्ति के नित्य सहचर के रूप में स्वीकार कर लेने पर भी उसकी संस्कृति के परिणाम के साथ धर्म-बोध के परिणाम का एक अनुपात है। बर्बर मानव का धर्म भी बर्बरोचित होगा। धर्म-बोध की दृष्टि से बर्बर-धर्म का विशिष्ट लक्षण ऐनिमिज़्म (ANIMISM या सर्वात्मवाद अर्थात सजीव-निर्जीव समस्त वस्तुओं में ही प्राणात्मा के आवेश का विश्वास) है एवं धर्म-साधना की दृष्टि से मैजिक जादू-टोना अथवा झाड़-फूँक है। आदिमानव की तर्क-बुद्धि परिपक्व न होने के कारण विश्वमूल सार्वभौम एकत्व की धारणा उसके निकट अस्पष्ट थी। जिसके कारण हम धर्म के मूल में 'बहुदेववाद' पाते हैं। अनेक आवर्तनों-परिवर्तनों अथवा बदलाव की स्थितियों से गुज़रते हुए वह धीरे-धीरे 'एकेश्वरवाद' में परिणत हो जाता है। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में देवत्व का आरोपण एवं परिणामतः जो कुछ उज्ज्वल, दीप्तिमान्, शक्तिशाली या भयङ्कर है, उसे ही देवता के रूप में पूजना, अनेक प्रकार के जादू-टोना, तुक-ताक या झाड़-फूँक और तन्त्र की सहायता से या घूस देकर देवता को वश में करने या क्रोध से बचने की चेष्टा करना, दृश्य जगत् के अतिरिक्त भी अनेक भूत-योनियों और देव-योनियों से परिपूर्ण एक अदृश्य लोक के प्रति विश्वास एवं नाना प्रकार के उपायों द्वारा अदृश्य सत्ताओं के आप्यायन का प्रयास, यही कुछ मोटे तौर पर मानव के आदिम धर्म-विश्वास के लक्षण हैं।

सम्प्रति वैदिक धर्म आदिमानव का धर्म भले ही न हो, किन्तु प्राचीनयुग का धर्म निश्चय ही है। अतएव आदिमानव के अविकसित धर्मबोध और कुसंस्कार के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाया। इस धर्म का जो साहित्य उपलब्ध है, उसके भाव एवं भाषा की इतिहाससम्मत समीक्षा करने पर धर्मबोध की क्रमिक अभिव्यक्ति का रूप हमारी दृष्टि के सम्मुख सुस्पष्ट हो उठेगा। वेदमन्त्रों का बर्बरोचित देववाद क्रमशः उपनिषद् के ब्रह्मवाद में परिणत हो गया। मनुष्य के बहिर्मुख चित्त ने बाहर देवता न खोजकर धीरे-धीरे अन्तर्मुख होना सीख लिया। किन्तु

स्वभावतः जीवन के नैतिक आधार की दुर्बलता के कारण उसका धर्मबोध एकेश्वरवाद के निर्धारित लक्ष्य तक न पहुँचकर सर्वेश्वरवाद (PANTHEISM) एवं उसके अनेक विकृत रूपों में बिखर गया। धर्म-साधना की दृष्टि से भी वैदिकयुग, उपनिषद्-युग से अधिक अनुन्नत था। यज्ञ-विधि नितान्त विलक्षण अर्थात् बहुत कुछ जादू-टोने जैसी ही थी। उसका लक्ष्य देवता का सायुज्य नहीं ; अन्तर की किसी दिव्यानुभूति की अभिव्यक्ति नहीं और न चारित्रिक विशुद्धता का था, बल्कि देवता को घूस देकर धन-जन की प्राप्ति, शत्रु-नाश इत्यादि हर प्रकार की सांसारिक सुविधा एवं सुख प्राप्त करना था, अतएव किस भाव और साधना की दृष्टि से मन्त्र-युग उपनिषद्-युग से पीछे रहा - यह कहना अत्युक्ति है। अतएव वेदव्याख्या करते समय इन बातों को याद रखना होगा एवं वैदिक ऋषियों की मानसिक आबोहवा को ठीक-ठीक समझकर उनके द्वारा रचित वाणी के तात्पर्य का निरूपण करना होगा।

किन्तु दुर्भाग्यवशतः वह वाणी भी दुर्बोध है। वेद की जो पूर्णाङ्ग व्याख्या हमें प्राप्त है, वह मन्त्रयुग से हज़ारों वर्ष बाद की रचना है। उसके बहुत पहले से ही वेदमन्त्रों के आक्षरिक अर्थ भी लोगों के मन में अस्पष्ट आकार ले चुके थे। जो प्राचीन व्याख्या उपलब्ध है, वह जिस प्रकार छिन्न-विच्छिन्न है, उसी प्रकार अस्पष्ट एवं अनेक अवान्तर आवर्जनाओं से पूर्ण है। ऐसी स्थिति में वेदार्थ-निरूपण का प्रयास निष्फल होता यदि सौभाग्यवशतः तुलनात्मक भाषाविज्ञान की पद्धति का आविष्कार न हुआ होता। अनेक तत्त्वानुसन्धान के पश्चात् एक सिद्धान्त स्थिर किया गया कि वैदिक आर्यजाति एक मूल 'आर्य' जाति की शाखा मात्र है। सम्भवतः, वैदिक आर्य भारतवर्ष में बाहर से आए थे एवं इस देश के आदिम अधिवासियों को पराजित करके उपनिवेश की स्थापना की थी। उनकी इस विजय-गाथा का निदर्शन वेदमन्त्रों में इतस्ततः बिखरा पड़ा है। उनका आदिम निवास कहाँ था? वह अभी भी निश्चित नहीं हो पाया है, किन्तु यूरोप एवं एशिया के अनेक भू-खण्डों में उनकी जात-बिरादरी वाले अभी भी यत्र-तत्र पाए जाते हैं एवं सम्प्रति उनका

कुछ धार्मिक साहित्य भी हाथ लगा है। इससे तुलनात्मक पद्धति के प्रयोग द्वारा वेदार्थ से सम्बन्धित बहुत कुछ पुनराविष्कृत हो सकता है। कहीं शब्द-सादृश्य, कहीं आख्यान सादृश्य और कहीं आचार-संस्कार सादृश्य इत्यादि के ताल-मेल से वैदिक समाज और धार्मिक विश्वास का एक प्रतिमान पुनः गढ़ा जा सकता है। उससे वैदिकयुग के धर्म-बोध की जो छवि उभरती है, उसे पूर्वोल्लिखित अर्धसभ्य लोगों के धर्म-बोध की अपेक्षा अधिक साफ-सुथरे अक्षरों में अङ्कित करने के किसी भी कारण का होना प्रतीत नहीं होता।

यह यूरोपीय अनुसन्धानकर्त्ताओं का पहला सिद्धान्त चरण है और दूसरे चरण को प्रकृतिवाद [NATURALISM] की संज्ञा दी जा सकती है। वैदिक देवता बाह्य प्रकृति की अनेक विभूतियों के रूपायन हैं – यही उसका तात्पर्य है, किन्तु यह मत आधुनिक नहीं है। वेदमन्त्रों की ऐसी व्याख्या हो सकती है, जिसका उल्लेख यास्क ने भी किया है। मन्त्रों में निसर्ग-वर्णन की प्रचुरता ध्यान देने योग्य है। लगता है, मध्य-युग के वेदव्याख्याकारों ने अनेक क्षेत्रों में ही प्रकृतिवाद को सहज रूप में ही स्वीकार कर लिया है, किन्तु पहले ही बतलाया गया है कि यह ऊपरी व्याख्या ही मन्त्र की एक मात्र व्याख्या है, इस प्रकार उन्होंने कभी भी सोचा नहीं। यूरोपीय पण्डितों ने प्रकृतिवाद को एक वैज्ञानिक रूप देने का प्रयास किया है। उनका कथन है कि धूप एवं वृष्टि के साथ मानव-जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शीतकाल में सूर्य निस्तेज हो जाता है। वसन्त में नया सूरज नये प्राण, नई चेतना को जगाता है, और प्राणी-जगत् में 'प्रजनकन्दर्प' की लीला उद्दाम हो उठती है, यह एक नैसर्गिक छन्द है। किसानों का जीवन फसल पर निर्भर है। वृष्टि के बिना फसल होती नहीं; अतएव वृष्टि के लिए उद्विग्न, उत्कण्ठित होना आदिमानव के पक्ष में स्वाभाविक है। यदि प्राण-पोषण को धर्मबोध की मूल प्रेरणा मान लिया जाए, तो फिर धूप और वृष्टि की स्वाभाविक आकाङ्क्षा को देववाद के साथ जोड़ देना मनुष्य के पक्ष में अत्यन्त ही सहज है। धूप और वृष्टि के ऊपर ही जीवन निर्भर है; किन्तु दोनों ही

आकाश का दान है और अदृश्य देवताओं की इच्छा के अनुकूल मानव के भाग्य में उसका देय है। अतएव समस्त प्राणियों की जिजीविषा [WILL TO LIVE] के आग्रह से ही धूप और वृष्टि के लिए देवताओं की स्तुति-आराधना करनी होगी। इससे सूर्य के मन्त्रों और वृष्टि के मन्त्रों का उद्भव हुआ। वैदिकमन्त्र उसके ही पल्लवित रूप हैं। मनुष्य एवं भूमि दोनों की ही उर्वरता-वृद्धि उसका एक मुख्य लक्ष्य है।

[४]

अतिसङ्क्षेप में यूरोपीय वेद-व्याख्या के मूल अभ्युपगमों अथवा सिद्धान्तों का एक प्रारूप प्रस्तुत किया गया। इनके आधार पर गवेषकों, शोधकर्त्ताओं ने अत्यधिक वाग्-विस्तार किया है और मूलसिद्धान्त से जुड़े अनेक उपसिद्धान्तों की भी अवतारणा की है। मोटे तौर पर सब मिलाकर एक सौ से अधिक वर्षों के वेदालोचन की भूमिका में वहाँ व्याख्या की एक धारा या सम्प्रदाय स्थापित हो गया, जिसने इस देश की आधुनिक वेद-व्याख्या की पद्धति को भी काफी प्रभावित किया है। परिणामतः यूरोपीय शोध के पक्ष में और विपक्ष में अनेक मतवादों का उद्भव भी हुआ। सङ्क्षेप में उनका उल्लेख किया जा रहा है।

सर्वप्रथम यूरोपीय गवेषणा के पक्ष की बातों पर ध्यान देते हुए प्रकृतिवाद के आधार पर वेद की ज्योतिषिक व्याख्या को लें। हमारे देश के पण्डितों को इस धारा ने अधिक प्रभावित किया। इस धारा का प्रतिपाद्य यह है कि वेद के अनेक मन्त्र किसी ज्योतिषिक घटना के सङ्केत हैं। बात बहुत पुरानी है। अतिप्राचीन काल से ज्योतिष एक मुख्य वेदाङ्ग के रूप में स्वीकृत है, किन्तु वेदमन्त्र 'ज्योतिषिक घटना की विवृति हैं' – यह कह देने से ही बात पूरी नहीं होती। मन्त्रकार ने एक विशेष ज्योतिषिक घटना क्यों चुन लिया? इससे उस प्रश्न की कोई मीमांसा या निष्पत्ति नहीं होती। अतएव केवल ज्योतिषिक समीकरण से ही हम मन्त्र के मूल तात्पर्य तक नहीं पहुँच पाते। हमारे देश में प्रकृतिवाद से जुड़ी और दो व्याख्या पद्धतियाँ हैं – जिनमें एक

पर्यावरणतत्त्व और दूसरी भू-तत्त्व के आधार पर स्थापित की गईं, किन्तु वे अधिक टिकाऊ नहीं रहीं। इनकी भी मुख्य त्रुटि वही है। प्रथमतः इनमें विच्छिन्न मन्त्र की व्याख्या मात्र मिलती है, द्वितीयतः मन्त्रकार के घटना-निर्वाचन के कारण के ऊपर ये सब व्याख्याएँ कोई प्रकाश नहीं डालतीं। वस्तुतः हमें वेद की एक ऐसी व्याख्या पद्धति चाहिए, जिसके अधिकार में सारे मन्त्र न सही, अधिकांश मन्त्र ही आ जाएँगे और इससे मन्त्रकार के मन्त्र-रचना का अभिप्राय भी स्पष्ट होगा। ज्योतिष, भूतत्त्व अथवा पर्यावरण-तत्त्व के अनुकूल व्याख्या के माध्यम से इस प्रयोजन को पूरा नहीं किया जा सकता।

अब विपक्ष की बात यह है कि यूरोपीय व्याख्या पद्धति के झटके से हमारे देश के आस्तिकों के मन में एक बार फिर वेद के सम्बन्ध में नये सिरे से कौतूहल जाग्रत हुआ। प्राचीनकाल की तरह ही तर्क के प्रहार से आहत श्रद्धा अपना शैथिल्य त्याग कर एक नयी शैली में वेद-मीमांसा का आन्दोलन आरम्भ करती है। यह आन्दोलन अधिक पुरातन नहीं है, एवं अभी भी वह प्रतिष्ठित नहीं हो पाया है। यद्यपि उसका एक उज्ज्वल भविष्य है, जिसके प्रति कोई सन्देह नहीं। इतने दिनों तक वेदव्याख्या की जो धारा विदेशी सरकार का समर्थन प्राप्त करती आई है, वह यूरोपीय गवेषणा का ही अनुसरण है एवं अनेक क्षेत्रों में ही उसमें मौलिक चिन्तन का विशेष परिचय नहीं प्राप्त होता। किन्तु सरकारी दायरे के बाहर एक दूसरी धारा ने यूरोपीय प्रभाव से मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप में अपना परिचय देने का प्रयास किया है। जिसके मूल में मुख्य रूप से जातीय ममत्व-बोध एवं उससे भी बड़ी बात तो यह है कि श्रद्धा एवं भावप्रवण-दृष्टि द्वारा वेद को नये रूप में समझने की कोशिश जारी है।

इस देश में वेदचर्चा की यह नयी धारा आगे जाकर दो दिशाओं में प्रवाहित हो गई। जिसमें एक का वैशिष्ट्य है मीमांसकों द्वारा प्रवर्तित प्राचीन धारा का सम्पूर्ण अनुवर्तन एव उसका ही परिवर्द्धन। यह प्रचेष्टा बहुत कुछ लोकोन्मुख एवं रक्षणशील भारतवर्ष की समष्टिचेतना की एक कीर्ति है। मुख्यतः इसकी प्रेरणा का उत्स 'सायण का भाष्य' है। सायण

की व्याख्या का अवलम्बन लेकर हमारे देश की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में वेदव्याख्या एवं वेद-प्रचार का एक प्रशंसनीय प्रयास बहुत दिनों से ही जारी रहा है। सायण की कर्मवादी व्याख्या साधारणतया देवता के स्वरूप के सम्बन्ध में नीरव है। नये व्याख्याकारों ने सायण की इस त्रुटि का समाधान करके भक्तिवाद की सहायता से देवता के स्वरूप की व्याख्या करने की चेष्टा की है। जिस देश में देवता के प्रति श्रद्धा एवं तथाकथित बहुदेववाद अब भी आध्यात्मिक प्रेरणा का एक जीवन्त उत्स है, उस देश में सर्वसाधारण के निकट अध्यात्म-विज्ञान के अन्तिम प्रमाण के रूप में स्वीकृत वेद को इस प्रकार समझने का आग्रह स्वाभाविक है। आप्तवाक्य का तात्पर्य समझने के लिए श्रद्धा एक अपरिहार्य साधन एवं उपादान है, इसे अस्वीकार करने का कोई उपाय नहीं। किन्तु जहाँ आप्तवाक्य का गूढ़ार्थ एक अविच्छिन्न सम्प्रदायगत परम्परा के माध्यम से हमें नहीं प्राप्त हुआ। वहाँ केवल श्रद्धा एवं भक्ति के माध्यम से विलुप्त तात्पर्य के पुनराविष्कार की चेष्टा सभी क्षेत्रों में तर्कसङ्गत नहीं भी हो सकती है। अतएव श्रद्धा के साथ तर्क एवं आधुनिक वैज्ञानिक समीक्षण पद्धति का सामञ्जस्य प्रयोजनीय है। वेद को समझने की दिशा में सायण की व्याख्या निश्चित रूप से अपरिहार्य है। उन्हें अपने मुख्य दिग्दर्शक के रूप में मानना ही होगा एवं उनके द्वारा उपस्थापित अर्थ का प्रत्याख्यान करने के पूर्व धैर्यपूर्वक विचार करना ही होगा, किन्तु श्रद्धालुतावश उन्हें सभी क्षेत्रों में मान लेना होगा, यह दावा तो सायण स्वयं भी नहीं करते। उन्होंने भी अनेक स्थानों पर मन्त्र-व्याख्या करते हुए यास्क का अनुसरण किया है, किन्तु ज़रूरत पड़ने पर वे उस प्रकार के प्राचीन प्रामाण्य को भी अस्वीकार करने में भी पीछे नहीं रहे।

आधुनिककाल में सायण की धारा से अलग नई पद्धति द्वारा श्रद्धा और संवेदनशीलता के आधार पर वेदव्याख्या के दो उल्लेखनीय प्रयास आर्यसमाजी सम्प्रदाय द्वारा और पाँण्डिचेरी सम्प्रदाय द्वारा किए गए हैं। दोनों सम्प्रदायों अथवा पद्धतियों का ही उद्देश्य, इस देश के रूढ़िवादी सम्प्रदाय अथवा यूरोप के नव्यसम्प्रदाय के तर्कविरुद्ध प्रभाव से मुक्त

होकर जीवन-दर्शन के साथ वेदार्थ का सामञ्जस्य स्थापित करते हुए व्याख्या करना है। इस प्रचेष्टा की एक गहरी सार्थकता है - यह कहना ही अत्युक्ति है। कर्मकाण्डियों की वेदव्याख्या में जो एक दरार रह गई है, उसे यदि हम भर नहीं सकते, तो वेद के प्रति हमारी श्रद्धा एक अन्धविश्वास का पर्याय हो जाएगी और उसकी कोई प्रामाणिकता भी नहीं ठहरेगी। वेद की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए प्राचीन मीमांसकों को पूर्वपक्ष के जिन सब तार्किकों का सामना करना पड़ा था, उनसे नितान्त भिन्न प्रकृति के आधुनिक वेदवादियों के पूर्वपक्ष के तार्किक हैं। प्राचीन पूर्वपक्ष के तार्किकों ने जड़-जगत् से परे का आधार लेकर वेद को सरासर अप्रामाणिक कहा है; किन्तु स्वयं किसी भी एक स्वकल्पित सिद्धान्त का सहारा लेकर वेद-व्याख्या करने का प्रयास नहीं किया, लेकिन आधुनिक पूर्वपक्ष के तार्किक वही कर रहे हैं। वे वेद को आप्तवाक्य न मानकर प्राचीन मानव के अपरिणत या अपरिपक्व चित्त के साहित्य की हैसियत से मान्यता देते हैं एवं उस दृष्टि से वेद की एक व्याख्या भी प्रस्तुत करवा रहे हैं। यह व्याख्या यदि सही हो, तो फिर वेद अतीत कुसंस्कारों के एक प्राणहीन कूड़े-करकट का स्तूप हो जाएगा, अतएव श्रद्धा योग्य किंवदन्ती की हैसियत के अलावा आध्यात्मिक जीवन में उसका कोई प्रामाणिक प्रभाव भी नहीं रह सकता। किन्तु यह बात स्वीकार करने के लिए पहले इस देश के अज्ञ अल्पज्ञ रूढ़वादियों और यूरोप के सर्वज्ञ मूर्ति-भञ्जकों की जाँच-परख कर लेने का निश्चित रूप से एक प्रयोजन है। उस प्रयोजन से ही इस देश के आस्तिकों की असायणीय वेद-मीमांसा पद्धति का उद्भव हुआ। आर्यसमाजी और पॉण्डिचेरी सम्प्रदाय ही इस कार्य के प्रति सङ्कल्पबद्ध हैं। आर्यसमाज के प्रवर्तक द्वारा रचित वेदभाष्य है, जो सायण के पश्चात् उस प्रकार का वेद पर आधुनिकयुगीन भाष्य है। आर्यसमाजियों की परवर्ती वैदिक गवेषणा का आधार निश्चित रूप से यह भाष्य ही है, किन्तु सम्प्रति उन्होंने यूरोपीय समीक्षा पद्धति के अनुसरण द्वारा वेदार्थ को नये ढङ्ग से आस्तिक्य बुद्धि की - अनुकूलता के साथ जाँचने-परखने के महत् कार्य में हाथ बँटाया है। पॉण्डिचेरी सम्प्रदाय के प्रवर्तक द्वारा रचित धारावाहिक

वेदभाष्य नहीं है। किन्तु उनके कई निबन्ध है एवं दिशा-निर्देशन के रूप में आंशिक मन्त्र-व्याख्या है। जो मर्मज्ञों अथवा रहस्यविदों की दृष्टि के साथ वेदार्थ के ऊपर नया प्रकाश डालने के कारण भविष्य में वैदिक गवेषणा के चैत्यस्तम्भ के रूप में गिने जाने योग्य है। उनके सङ्केतों का अनुसरण करते हुए संस्कृत वेदभाष्य का कार्य भी इस सम्प्रदाय की ओर से शुरू हुआ था। दोनों सम्प्रदायों का प्रयास जारी है। लगता है, इनका प्रभाव धीरे-धीरे इस देश के वैदिक अनुसन्धानकर्त्ताओं को भी प्रभावित करते हुए यूरोपीय व्याख्या के सम्मोहन-मन्त्र को कुछ-कुछ कमज़ोर करता जा रहा है।

[५]

इस देश के आधुनिक वैदिक अनुसन्धानों की विभिन्न धाराओं का एक सङ्क्षिप्त परिचय दिया गया। अब यूरोपीय व्याख्या के मूल सूत्रों की सङ्क्षिप्त विश्लेषणात्मक आलोचना करके देखना है कि उसके कल्पित मानदण्ड का प्रयोग वेद-व्याख्या के लिए बग़ैर जाँचे-परखे किया जा सकता है या नहीं।

अधिकार के सम्बन्ध में यास्क ने पहले ही अपने निरुक्त की अनुक्रमणिका में एक श्लोक का उद्धरण देते हुए स्पष्ट किया है कि "विद्या ने ब्राह्मण से आकर कहा - जो असूयक या परनिन्दक, छिद्रान्वेषी, अनृजु-कुटिल एवं अयति-असाधु हैं, उनके निकट मेरी बात मत करना।" यह सावधानता केवल विद्या के प्रति नहीं, बल्कि जो कुछ प्राण या मन से सम्बन्धित है तथा जो कुछ देश या जाति की संस्कृति से जुड़ा है; उसके सम्बन्ध में भी लागू होती है। जिस प्रकार मनुष्य के पक्ष में उसी प्रकार सामाजिक प्रतिष्ठानों के पक्ष में विशेष रूप से उसके अत्यन्त अन्तरङ्ग धर्मबोध के पक्ष में उन्हें समझने के पूर्व हृदय से हृदय का सामञ्जस्य चाहिए। जिसे हम समझना चाहेंगे, उसके साथ आत्मविनिमय द्वारा तद्गत अथवा एकात्म, अभिन्न न होने से उसके अन्तरङ्ग रहस्य का सन्धान नहीं पा सकेंगे। अनेक दृष्टियों से भारतवर्ष के साथ यूरोप का

पार्थक्य इतना अधिक है कि यूरोप के पक्ष में भारत को समझ पाने जैसी बात असम्भव-सी लगती है। विशेषतया भारतवर्ष की भावना एवं साधना का अधिकांश यवनिका के अन्तराल में या परदे के पीछे ही रह गया है। अतएव उसका जितना कुछ यूरोप की दृष्टि में आ पाया है, वह उसके लिए अद्‌भुत और रहस्यमय लगता है।

इसके अतिरिक्त धर्म के प्रति मनुष्य की एक प्रगाढ़ आत्मकेन्द्रिकता है। यदि वह धर्म चारों ओर से आचार-संस्कार से घिरा हो, तब भी मेरा धर्म स्वयं के लिए सहज और स्वभाविक प्रतीत होने के बावजूद दूसरे के लिए या दूसरे का धर्म मेरे लिए दुर्बोध जान पड़ता है। यह भी एक अद्‌भुत घटना है कि मनुष्य ने अपने धर्म को जितनी प्रगाढ़ता के साथ जकड़ रखा है, उतना गहरा विद्वेष और अवज्ञा का भाव भी दूसरों के धर्म के प्रति प्रदर्शित किया है। और इस विद्वेष या अवज्ञा ने विशेषरूप से सेमिटिक अथवा प्रोटेस्टैण्ट मानस में घर कर लिया, जिसके मूल में धर्म की स्वाभाविक, सार्वजनीन अभिव्यक्ति के विरुद्ध व्यक्ति का विद्रोह रहा है। पहले सम्भवतः सङ्गत कारणों से ही यह विद्रोह दिखाई पड़ता है, किन्तु बाद में अपनी तीव्रता के कारण ही असहिष्णु उन्माद में परिणत होकर जिस पर आघात करता है, उस पर मूढ़ता के साथ अन्धों की तरह आघात करता है। देश, काल, आचार और जीवन यात्रा का पार्थक्य, अल्पकाल में भौतिकविज्ञान की आश्चर्यजनक उन्नति-प्रगति से सभ्यता के मानदण्ड के बारे में उन्नासिक या दम्भपूर्ण आभिजात्य का बोध, राजनीतिक-अर्थनीतिक श्रेष्ठता का गर्व और केवल ऊपर-ऊपर देखकर ही तुरन्त सिद्धान्त गढ़ लेने की सभी असंस्कृत एवं अशिक्षित सामान्य जन सुलभ दुर्बलता - इन तमाम बातों ने मानो शुरू से ही भारत के सभी कुछ को तुच्छरूप में देखने के लिए यूरोपीय मन को तैयार कर रखा है। भारत-विद्या के इतिहास का जिन्होंने मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया है। वे ही जानते हैं कि भारतवर्ष को उसके कृतित्व का उचित सम्मान देने में यूरोप ने कितना ही अप्रत्याशित लम्बा समय गँवाया है। भारतवर्ष के सम्बन्ध में बहुत दिनों से यूरोप के मन के चारों ओर जो

एक स्वरचित कुहासे की कुण्डली रची-सिरजी हुई है, उसके भीतर उसकी अधिकांश गवेषणा ही इस तरह की अद्‌भुत जल्पना या वाचालता में प्रत्यावर्तित होती जा रही है। जिसके साथ भारतवर्ष के वास्तविक जीवन का विशेष रूप से उसकी अन्तर्गूढ़ चेतना का कोई सम्बन्ध ही नहीं।

भारतवर्ष की सामाजिक चेतना के सम्बन्ध में यूरोप की विचारधारा में जो हठवाद अथवा दुराग्रह देखने में आता है, वह और भी अधिक रूढ़ होकर भारतीय धर्म के उनके मूल्याङ्कन में स्वतः स्पष्ट होता है। धर्मबोध की चरम परिणति अतीन्द्रिय अनुभव में होती है। अतीन्द्रिय अनुभव की क्षमता व्यक्तिविशेष में एक पूर्वसिद्ध स्वाभाविक धर्म है। इस अनुभव की प्रवणता जिसमें नहीं है, उसके पक्ष में अपने धर्म को ही समझना मुश्किल है, फिर दूसरे के धर्म को समझना तो दूर की बात है। धर्म का सत्य यदि अपरोक्ष साक्षात्कार का विषय हो, तो फिर कोई भी जानकारी प्राप्त किए बग़ैर ही उसके सम्बन्ध में मत व्यक्त करना वैज्ञानिक बुद्धि का परिचय नहीं कहा जा सकता। किन्तु वेद-व्याख्या के साथ ठीक ऐसा ही हो रहा है। यह एक अद्‌भुत बात है कि जो रहस्यविद् या मर्मज्ञ नहीं हैं, उन्होंने ही वेद के मर्मोद्धार के लिए स्वयं को सर्वाधिक योग्य माना है।

इसके अतिरिक्त यूरोपीय मानस में एकेश्वरवाद के प्रति एक मोह है। वह अनेक देवताओं की आराधना से एक देवता की आराधना तक पहुँचने की प्रक्रिया को धर्म-जगत् में एक अभ्युदय या सम्यक् उत्थान की घटना के रूप में महसूस करता है। एक से अधिक देवता को जो मानता है, उसका धर्म एकेश्वरवादियों के धर्म की अपेक्षा हीन, अधम और निन्दनीय है - यह उसका एक पूर्वसिद्ध सिद्धान्त है। शुरू से ही निराकरण की यह मानसिकता मन में जिस अश्रद्धा, अनास्था का सञ्चार करती है, वह भारतीय धर्म-विश्वास के मर्म को ग्रहण करने की दिशा में एक अलङ्घ्य बाधा है। धर्म अनुभव की वस्तु है और श्रद्धा उस

अनुभव की आधार-भूमि है। और जहाँ श्रद्धा नहीं, वहाँ दूसरे के अन्तर के गहनतम सत्य को कोई स्पर्श कर पाया है – उसका यह दावा मूढ़ता मात्र है। कुछ हो या न हो, किन्तु केवल इस अश्रद्धा के लिए ही यूरोपीय वेद-व्याख्या की धारा को संशय की दृष्टि से देखे बिना नहीं रहा जा सकता।

वैदिक देववाद, यूरोपीय मन के निकट एक रहस्य है, केवल रहस्य ही नहीं अवज्ञा का विषय है। किन्तु एक देवता को बहुदेवता में परिणत करने की एक स्वाभाविक प्रवणता लोगों के भीतर है। जो देवता को नहीं मानते, वे अलौकिक शक्ति के आधार रूप में अतिमानव को मानते हैं और अतिमानव के पार्षदों के रूप में पीरों को मानते हैं एवं देवता के स्थान पर ANGEL अथवा देवदूतों – फ़रिश्तों से अपने PANTHEON को पूर्ण करते हैं। तार्किक मन एक एवं अनेक के मध्य विरोध की कल्पना करता है। किन्तु वास्तविक जीवन की दैनिक अभिज्ञता के बीच सामान्य और विशेष का जो अङ्गाङ्गिभाव या अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, वह मानव-चित्त की एक मौलिक वृत्ति है। यदि हम पहले से ही उसके विरुद्ध एक मदान्ध एवं मतान्ध बुद्धि को सतर्क करके न रखें, तो इस वृत्ति को अतीन्द्रिय जगत् में भी नज़र अन्दाज़ नहीं किया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति में बहु या अनेक की एक अन्योन्य व्यावर्तकता है, एक परस्पर पराङ्मुखता है – यह जड़ासक्त, मोहाक्रान्त बुद्धि की तथा इन्द्रिय जगत् की बात है। थोड़ा ऊपर उठने पर हम इसमें सामान्य ज्ञान के आभास का प्रस्फुटन देखते हैं, उस समय मन की विक्षिप्त एवं विविक्त या असम्पृक्त वृत्ति के मध्य एक अन्तरङ्ग योग-सूत्र का सन्धान किए बिना हम नहीं रह पाते। थोड़ा और ऊपर उठने पर इस सामञ्जस्य के भीतर एक अन्योन्यसङ्गम अथवा परस्परमिलन का सूत्र आविष्कृत होता है, जिसमें एकत्व की बहुधा विसृष्टि, या अनेकरूपता एक स्वाभाविक सत्य के रूप में ही उजागर होती है। यह जो स्वाभाविक एवं सर्वग्राही एकत्व बोध है, अनेकता के साथ उसका कोई विरोध ही नहीं हो सकता; क्योंकि बुद्धि और इन्द्रियज्ञान की सहायता से जगत् को समझने का

मानव सुलभ दृष्टिकोण अथवा इस युग्मबोध की सृष्टि आदिम द्वैताद्वैत से ही हुई है। इन्द्रियग्राह्य जगत् के पक्ष में विशेष और सामान्य का तथा एक और अनेक का भावगत परस्पर आदान-प्रदान हमारे भीतर प्रतिक्षण हो रहा है एवं अनुभव के इन दो ध्रुवों को पकड़े एक अखण्ड अभङ्ग समग्रता का बोध जागता रहता है। यह बोध मानव-मन का स्वाभाविक धर्म है। वह मन जब अन्तश्चेतना के विस्तार की प्रेरणा से इन्द्रिय जगत् छोड़कर नहीं जाता है, न जा सकता है। उस समय एक को अनेक रूप में विवर्तित देखना, फिर अनेक को एक में मिल जाते हुए देखना, आध्यात्मिक अनुभूति के एक सहज छन्द में परिणत हो जाता है। यदि किसी प्रकार की रूढ़िवादिता द्वारा हम इस सहज छन्द को खण्डित न करें, तो एकदेववाद एवं बहुदेववाद को एक ही साथ स्वीकार करना, अध्यात्म-चेतना की एक अत्यन्त स्वाभाविक भङ्गिमा के रूप में उभरता है। यह अतिमानस स्वभाववाद या प्रकृतवाद जैसा कुछ है – ठीक इस जगत् में जिस प्रकार हम एक अभङ्गता के भीतर एक और अनेक का अन्योन्याश्रित किन्तु अनाहत अटल आलोक देख पा रहे हैं। उसी प्रकार अतीन्द्रिय जगत् की जाग्रत दृष्टि के सम्मुख भी वहाँ मन के देखने की भङ्गिमा के विपर्यस्त न होने के कारण ठीक वही दिखेगा। जिस किसी भी रहस्यविद् के आध्यात्मिक अनुभव के इतिहास का अनुसरण करके देखने पर ही यह बात पकड़ में आती है। यद्यपि धार्मिक कट्टरता, अनुभव के इस मौलिक सत्य को बलपूर्वक दमन करने की चेष्टा करेगी ही।

एकदेववाद और बहुदेववाद में विरोध, आर्यमानस की दृष्टि नहीं है। विशेषतया यह सेमिटिक मानस की देन है। सेमिटिक मानस ने ईश्वर की पौरुषेय सत्ता को स्वीकार करके भी उसे निर्गुण रूप में प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है। यही उसके देववाद का चरम उत्कर्ष है। "इस एक देवता के अतिरिक्त दूसरा कोई देवता नहीं" – इस प्रकार के आध्यात्मिक मायावाद की कट्टरता को यदि वह जकड़े नहीं होता, तो उसके इस मत के सम्बन्ध में आपत्ति करने की कोई गुंजाइश ही नहीं

होती। किन्तु आर्यमानस ईश्वरत्व से पौरुषेय धर्म को अलग कर देने पर भी, यहाँ तक कि ईश्वर-भावना को अध्यात्म-साधना के पक्ष में निष्प्रयोजनीय मानकर प्रत्याख्यान करने के बावजूद अध्यात्म-चेतना की एक भूमि पर बहुदेवों की मण्डली को स्वीकार करने में कुण्ठाग्रस्त नहीं हुआ। इसी बिन्दु पर दो मानस का अन्तर स्पष्ट है। एक मन खण्डदर्शी है और एक मन अखण्डदर्शी है। एक मन अखण्ड सत्ता में भेद-रेखा खींचकर ईश्वर और जगत् में विरोध के आभास को उभारता है और जगत् को ईश्वर की कृति मानता है और एक मन अभेद दर्शन की अखण्डता में स्वच्छन्तापूर्वक अनेक को स्थान देकर जगत् को एक अखण्ड चैतन्य की विविध आयामी आत्मविसृष्टि के रूप में देखता है। भारतवर्ष में बौद्ध-जैन प्रभृति प्रज्ञावादियों का दर्शन ईश्वर को उड़ा देने पर भी किस प्रकार बहुदेवता की एक मण्डली को स्वीकार कर सकता है, वह यूरोपीय मन के निकट कल्पनातीत है। यही कारण है कि आधुनिककाल में भी यूरोपीय पण्डितों को हम देववाद वर्जित आदिम बौद्धधर्म के रूप को खोजने की चेष्टा में पसीने-पसीने होते देखते हैं। वस्तुत: तुरीय और सुषुप्त चेतना से विच्छुरित स्वप्न एवं जाग्रत की क्रीड़ा को उपनिषद् के जिन ऋषियों ने चतुष्पाद् ब्रह्म की ही लीला के रूप में उपलब्ध किया था, उनके निकट निरीश्वरवाद और देववाद के मध्य कहीं कोई भी विरोध उपस्थित होने की तनिक भी सम्भावना नहीं थी। अद्वैतवादी शङ्कर और बहुदेवों की स्तुति में मुखर शङ्कर इस देश के अध्यात्मबोध में किसी भी असामञ्जस्य की सृष्टि नहीं करते। इस देश के रामकृष्णदेव निर्विकल्प समाधि में महीनों रहकर भी पुन: अनेक देवी-देवताओं के चरणों में सर टेक सकते हैं – यह यूरोपीय मन के निकट रहस्य होने पर भी भारतीय मन के निकट किसी तरह का कोई रहस्य ही नहीं।

एकदेववाद और बहुदेववाद निर्विवाद रूप से केवल एक दूसरे के निकट ही नहीं, बल्कि एकाकार होकर इस देश के ऋषियों के मन में प्राचीन वैदिकयुग से स्थान पाते आए हैं। दोनों में आज तक किसी

PROTEST की सृष्टि न करके भी इस देश के रहस्यविदों के पक्ष में आध्यात्मिकता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचना कैसे सम्भव हुआ है? इसकी वास्तविक अभिज्ञता को गहराई में पैठकर समझे बिना हम यह मान ही नहीं सकते कि किसी को भी वेद-व्याख्या का अधिकार है। वस्तुत: देववाद के सत्य को समझे बिना वेद समझाने का दावा अज्ञ का एक औद्धत्य मात्र है।

देववाद को यथार्थ परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने के पक्ष में उन्नीसवीं शताब्दी का कल्पित परिणामवाद या विकासवाद एक और बाधा है। इस वाद की दृष्टि में आदिमानव के पक्ष में एक सर्वव्यापी ईश्वर-पुरुष की धारणा असम्भव है। आरम्भ में अनेक देवताओं की उपासना तत्पश्चात् धीरे-धीरे तर्क-बुद्धि के विकास के साथ-साथ एक ईश्वर की धारणा – इस प्रकार धर्म-बोध का विकास होता रहता है। धर्म-बोध के क्षेत्र में विकासवाद का प्रयोग करके धर्म के आदिरूप को खोजने की चेष्टा बहुत दिनों से जारी है। इस उपलक्ष्य में जितने ISM या वाद की सृष्टि हुई है, उनमें से अनेक वैदिक धर्म के सम्बन्ध में प्रयुक्त ही नहीं होते – इसके बारे में उस देश के जानकार भारत-विद्याविदों में अनेक ही एकमत हैं। तब भी देखने में आता है कि मानव-मन, समाज और संस्कृति के सम्बन्ध में जो लोग एक ऐतिहासिक आलोचना करते हुए उसके उत्स तक पहुँचना चाहते हैं, उनके लेखों में अनेक समय अपने मत की पुष्टि के लिए वैदिक साहित्य से उद्धरण उपस्थित करके अपव्याख्या करने की एक रीति को विद्वत्-मण्डली में अत्यधिक प्रचार-प्रसार की सुविधा प्राप्त हुई है। प्रकरण से विच्छिन्न इस प्रकार की व्याख्या में तर्क-सङ्गति का अभाव सुस्पष्ट है। इससे कुछ हो या न हो, किन्तु जिन सब प्राक् कल्पनाओं से वेद की अपव्याख्या होने की सम्भावना है, उन्हें लोगों के मन में स्थिर कर देने से एक भ्रान्त सम्प्रदाय बुद्धि की सृष्टि होती है। उस देश के भारतविद्याविदों ने भी बाध्य होकर सत्य के पक्ष में इसका प्रतिवाद किया है, किन्तु ऐसा होते हुए भी वैदिक धर्म का बहुदेववाद, धर्मबोध के अपरिणत या अपरिपक्व रूप का

सूचक है। इसके सम्बन्ध में सभी एकमत हैं, किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में ही नृतत्त्वविदों के विशेषज्ञ समुदाय में धर्म के सम्बन्ध में इस प्रकार के मतवाद का पूर्णतया परित्याग हुआ है। एकेश्वरवाद ही आदिमानव का स्वाभाविक धर्म था – यह मत वैज्ञानिक ढङ्ग से तथ्य के परीक्षण और समीक्षण के आधार पर अब दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित है, यद्यपि विकासवाद को पराजित करके स्वयं को सुप्रतिष्ठित करने में उसे अनेक प्रयत्न करने पड़े हैं। तब भी भारतविद्याविदों में अब तक प्राचीन परिणामवाद से चिपके रहने की पद्धति सचमुच विस्मयकर है।

किन्तु इस बात को भी स्वीकार करना होगा कि एकेश्वरवाद की आदिमता वैदिक धर्म के स्वरूप-निर्णय के पक्ष में प्रत्यक्ष रूप से कोई सहायता नहीं करती। इससे केवल यही प्रमाणित होता है कि बहुदेवता का उल्लेख देखकर ही वैदिक धर्म को धर्म का बर्बरोचित आदिरूप मान लेना अज्ञता का परिचायक मात्र है। आदिमानव भी यदि एकेश्वरवादी हो, तो फिर एकेश्वरवाद के माध्यम से किसी भी धर्म की कुलीनता निरूपित नहीं होती। यही परिणामवाद पर ऐतिहासिक पद्धति की विजय है। भारतविद्याविद् यदि यह बात याद रखें, तो उनकी गवेषणा विपथगामी होने की आशङ्का से मुक्त रहेगी।

वस्तुतः इस प्रश्न का समाधान धर्मबोध के निरपेक्ष मनोविज्ञान सम्मत विश्लेषण द्वारा हो सकता है। परिणामवाद और ऐतिहासिक पद्धति दोनों ही क्षेत्रविशेष में सही हैं अर्थात् वे रूप-सत्य हैं, भाव-सत्य नहीं। धर्म के सम्बन्ध में विचार करते समय रूप की ओर नहीं, भाव की ओर दृष्टि देनी होगी। जैसा कि पहले बतलाया गया है कि उसके लिए ममत्वबोध अर्थात् गहरे में पैठने की कुशलता आवश्यक है और यह भी बतलाया गया है कि इस देश के मन में एक अथवा अनेक का गणितीय प्रश्न मुख्यरूप में नहीं उभरा, किन्तु ऐतिहासिककाल के भीतर ही हमने इसको सेमिटिक मन में कम से कम दो बार विप्लव की सृष्टि करते देखा है, किन्तु वह मन जब गहराई में जाकर धर्म-बोध को समझने की

चेष्टा करता है, तब स्वभावतः गणितीय अपसंस्कार का अतिक्रमण नहीं कर पाता। इसलिए मन में यह आरम्भ की बाधा पहले से ही उसके समस्त विचारों को दिग्भ्रमित कर देती है। परिणामतः हम वैदिक धर्म के सम्बन्ध में भारतविद्याविदों के मुँह से ऐसी सारी बातें सुनते रहते हैं। जो इस देश के संस्कार और इतिहास दोनों के ही विरुद्ध हैं; और सच कहा जाए तो धर्म के सम्बन्ध में अत्याधुनिक युग की वास्तविक जानकारी के भी विरुद्ध हैं।

सारे विषयों पर सूक्ष्म दृष्टि से पुनः प्रकाश डाला जाएगा। अभी केवल एक बात कहना चाहता हूँ कि वैदिक धर्म का मूल लक्ष्य चेतना का स्वोत्तरण है, देवता उसका उपलक्ष्य मात्र है। वही सारे धर्मों में है, किन्तु वैदिक धर्म ने इस साधना को एक विशेष प्रणाली में प्रवाहित किया है। जिसका प्रतिरूप मुख्य रूप से अन्यत्र विकसित नहीं हुआ। जीव, विश्व और विश्वातीत का तादात्म्य वेदान्त का चरम सिद्धान्त है एवं वही वैदिक धर्म का मूल वक्तव्य और लक्ष्य है। इस तादात्म्य को अनुभव में रखकर यदि हम उत्स की ओर उठ सकें, तभी वेदार्थ के यथार्थरूप का आविष्कार कर सकेंगे। आरम्भ में एक अखण्ड बोध, उसके बाद कालक्रम में उसका विचित्र परिणाम – ऐसे ही आध्यात्मिक अनुभव का विवर्तन होता है। यहाँ मूलभाव को पूर्वसिद्ध रूप में स्वीकार करना ही होगा। यह भाव-बीज जैसा है। उसके आत्मरूपायन का संवेग परिणाम के प्रत्येक मिलन-बिन्दु पर क्रियाशील है, किन्तु इस क्रिया को अस्फुट का स्फोटन कहना गलत होगा। स्मरण रहे, अध्यात्म-साधना प्रवृत्तिपर (PROGRESSIVE) नहीं, निवृत्तिपर है। (REGRESSIVE) है। परिणामवाद, रूप का विवर्तन अस्फुट से स्फुट की ओर होते देखता है, किन्तु अध्यात्म-साधना स्फुटव्यक्त से आदिअव्यक्त की ओर लौटने की यात्रा है। यह अव्यक्त बोध मनोविवर्तन के जिस किसी भी सन्धि-स्थल पर अकारण आविर्भूत हो सकता है। वही रहस्यवाद (MYSTICISM) की रहस्य-कथा है। एक सहज की बोधि या अन्तर्दृष्टि एवं उसके सुस्पष्ट वाणी रूप को यदि हम कहीं प्राप्त करें,

तो उसे निःसंशय धर्म-बोध की उच्चता के सूचक के रूप में ग्रहण करेंगे। यह लक्षण वेद-मन्त्रों में यत्र-तत्र सुस्पष्ट है। अतएव इस सूत्र को पकड़कर ही वेदार्थ का विवेचन करना होगा।

वैदिक धर्म के प्रति विचार-विमर्श करने की दिशा में उसके बाहरी क्रियाविशेष का बाहुल्य एक और बहुत बड़ी बाधा है। यह बाधा यूरोपीय मन की नहीं है, बल्कि हमारे देश में भी इसके बारे में एक विपरीत मनोभाव है। इसका उल्लेख पहले ही किया गया है। इस देश में ज्ञानवादियों ने भोग एवं ऐश्वर्य के लक्ष्य के रूप में क्रिया-काण्ड की निन्दा की है, किन्तु उसकी फलोत्पादकता के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं व्यक्त किया। यज्ञवादी स्वर्गकामी होने के कारण स्वर्ग को ही अमृतलोक मानते हैं, किन्तु यथार्थ अमृतत्व मोक्ष है, जो तत्त्वज्ञानलभ्य कोई कर्मफल नहीं है; यह ज्ञानवादियों का मत है। मगर यूरोपीय मन का कटाक्ष कर्मकाण्ड के मूल में अविद्या के प्रति है। क्रिया-काण्ड, मैजिक, मन्त्रशक्ति एवं झाड़-फूँक, टोने-टोटके द्वारा जड़ को वश में करने की चेष्टा है, अतएव हास्यास्पद है – यही समालोचक का अभिप्राय है।

चित्तशक्ति द्वारा जड़शक्ति को वश में करने की प्रचेष्टा को हम पूरी तरह ख़ारिज नहीं कर सकते। जड़ को जड़ की भूमि पर ही रखकर उसके धर्म और प्रवृत्ति का विश्लेषण करते हुए विज्ञान ने भी वही किया है। उसका फल प्रत्यक्ष दृष्ट और लोक-प्रचलित है, इसलिए वह अधिक प्रामाणिक है, किन्तु जड़ के अनुभव को यदि हम सूक्ष्म चैतन्य की भूमि पर उत्तीर्ण करें और उसके साथ कर्त्ता की चेतना का साम्य अनुभव करते हुए उसे वश में लाने की चेष्टा करें, तो इसे पूरी तरह तर्कहीन नहीं कह सकते। किन्तु इस क्षेत्र में यह तर्क जड़ोत्तर होने के कारण कुतर्क नहीं है। प्राकृत इच्छाशक्ति मन के ऊपरी हिस्से को लेकर जड़ के ऊपरी हिस्से पर क्रिया करती है। किन्तु यह एक शोध का विषय है कि इच्छाशक्ति को और भी गहरे ले जाकर चित्त की सूक्ष्म शक्ति की सहायता से हम जड़ की सूक्ष्म-शक्ति को प्रवाहित और सञ्चारित कर

सकते हैं या नहीं। यहीं रहस्य-विद्या का उद्भव होता है। मानव-चित्त की यह एक स्वाभाविक प्रचेष्टा है। मगर यह कह पाना मुश्किल है कि चेष्टा पूरी तरह व्यर्थ हुई है। अध्यात्म-चेतना की व्याप्ति के एक विशेष मोड़ पर व्यक्ति के भीतर अलौकिक शक्ति का आविर्भाव होता है – इस बात को सभी धर्म मानते हैं। आज भी विच्छिन्न रूप में यत्र-तत्र इस शक्ति का आविर्भाव होते हुए दिखाई पड़ जाता है। अतएव हम इसे असम्भव घटना कह कर पूरी तरह ख़ारिज न करके कम से कम सम्भावना के दायरे में रख सकते हैं। शुरू से ही इस देश में अतिप्राकृत या अलौकिक के प्रति एक विज्ञान गढ़ लेने की चेष्टा बराबर होती आई है और ऐसा भी है कि आज तक उसमें ठहराव नहीं आया। वैदिक क्रिया-काण्ड के साथ उसकी अनुवृत्ति या अनुवर्तन का जो सम्बन्ध है, उसे हम अस्वीकार नहीं कर सकते एवं वैज्ञानिक की मांनसिकता के साथ विवेचन करते समय उस पर पहले से ही पसन्द-नापसन्द का ख्याल ज़ाहिर कर बैठें, यह सम्भव नहीं। तत्त्वानुसन्धान के लिए पूर्वसिद्ध किसी भी सिद्धान्त के द्वारा स्वयं को प्रभावित किए बिना हमें सहज भाव से ही तथ्य को मान लेना उचित है – यह सहज बुद्धि या सामान्य ज्ञान की बात है।

किन्तु पहले ही सङ्केत किया गया है कि वैदिक धर्म केवल कर्मकाण्ड है – यह सोचना भूल है। जिस प्रकार बाह्य क्रिया है, उसी प्रकार उसकी गहराई में अर्थ की एक व्यञ्जना भी है। क्रिया का लक्ष्य केवल प्रकृति को वश में करना ही नहीं, बल्कि आत्मचेतना का उन्मेष भी है। दार्शनिक परिभाषा में इन दोनों को अभ्युदय एवं निःश्रेयस की सञ्ज्ञा दी गई है। इन दोनों का प्रभेद अति प्राचीन है। एक ही क्रिया का एक रूप अभ्युदय को और एक रूप निःश्रेयस को लक्ष्य करता है। ऐसा विधान जिस प्रकार तन्त्र में है, उसी प्रकार वेद के ब्राह्मण में है। क्रिया-काण्ड इच्छाशक्ति के उद्बोधन का सहायक मात्र है। इच्छा, सिद्ध चेतना का अस्फुट बोध है। उसे क्रियाशील करने के लिए जहाँ इन्द्रियग्राह्य उपकरण की सहायता ली जाती है, वहाँ ही क्रिया-काण्ड

की उत्पत्ति होती है। उपकरण यदि अपना शरीर (जिसे साधारणतः हम प्रत्यक्ष दृष्ट वस्तु के अन्तर्गत समझकर मान लेते हैं) हो तो योग; शरीर से बाहर की वस्तु हो, तो तन्त्र पाते हैं। वैदिक कर्मकाण्ड में दोनों एकाकार हो गए हैं। एक ही मन्त्र आध्यात्मिक अर्थ में योग का सङ्केत है और आधिभौतिक अर्थ में तन्त्र का। प्रथम, मन्त्र की उपनिषत् (MYSTIC SENSE) और दूसरा, रहस्य (OCCULT POWER)। वैदिक धर्म में दोनों के सम्मिश्रण उपनिषत् एवं रहस्य समेत वेदार्थ को प्राप्त करना होगा - यह विधान ब्राह्मणग्रन्थों का है।

भारतवर्ष की अध्यात्म-साधना में उपनिषद् और रहस्य का सम्मिश्रण आज तक अव्याहत है। विज्ञान अथवा चेतना का उत्तरायण एवं अन्त में पुरुष के स्वरूप में अवस्थान, उपनिषद् का लक्ष्य है और सिद्ध चेतना में आत्मा से शक्ति का विच्छुरण रहस्य का लक्ष्य है। ज्ञान और शक्ति अभिन्न हैं - इस दार्शनिक सिद्धान्त के ऊपर उपनिषद् और रहस्य के सम्मिश्रण की भित्ति स्थापित है। इस अभिन्नता का अनुभव पहले आत्म चेतना में होता है। अपने विज्ञान या चेतना के परिणामस्वरूप हम अपनी प्रकृति की अवरुद्ध शक्ति का उन्मेष देखते हैं, यह कोई असाधारण घटना नहीं; बल्कि कहा जाए तो यह चित् शक्ति की एक मौलिक वृत्ति है। अव्यवस्थित, बिखरी चेतना एक केन्द्र में सिमटकर हमारे भीतर व्यक्तित्व की सृष्टि करती है। यह व्यक्तित्व अथवा संहत आत्मचेतना हमारे भीतर चेतना के जिस ऐश्वर्य को विकसित करती है, उसका प्रभाव बाहर भी विशेष रूप से हमारे अनुधर्मियों के बीच फैल जाता है। आत्मशक्ति के इस विच्छुरण को हम प्रचलित भाषा में सम्मोहन (HYPNOTISM) कह सकते हैं। सम्मोहन, सिद्धव्यक्तित्व का एक वैशिष्ट्य है। परिवार, समाज और राष्ट्र में नाना प्रकार से सम्मोहन का प्रभाव फैला हुआ है। सम्मोहन के मूल में जो शक्ति कार्य कर रही है, उसे एक नृतत्त्ववेत्ता ने एक सुन्दर नाम दिया है – अतीन्द्रिय सायुज्यबोध (MYSTIC PARTICIPATION)। मेरी चेतना का कुछ प्रभाव जब तुम्हारे भीतर सञ्चारित होता है, तब तुममें और मुझमें एकात्मता का बोध

उभरता है और तुम मेरे यन्त्र के रूप में कार्य करने लगते हो। चेतना का प्रभाव इस क्षेत्र में चेतना के ऊपर पड़ता है। फिर यह प्रभाव शरीर के ऊपर पड़ सकता है। यह तो स्वतः सिद्ध घटना है कि अपनी चेतना का प्रभाव अपने शरीर के ऊपर पड़ता है। किन्तु सम्मोहन के द्वारा दूसरे के शरीर पर भी प्रभाव पड़ सकता है - यह भी प्रत्यक्ष सिद्ध है। दूसरे के ऊपर प्रभाव-सञ्चार के लिए हम किसी न किसी रूप में भाषा का प्रयोग किया करते हैं। भाषा वहाँ इच्छाशक्ति का वाहन है। यदि इच्छाशक्ति दुर्निवार हो, तो फिर भाषा मन्त्र हो जाती है। इस प्रकार हम इच्छाशक्ति के वाहन के रूप में किसी बाह्य वस्तु को भी व्यवहार में ला सकते हैं। शक्ति जितनी प्रबल होती है, वाहन की प्रयोजनीयता उतनी ही कम होती जाती है। अन्त में इच्छा करने से ही दूसरों के भीतर प्रत्यक्षरूप में शक्ति-सञ्चार करना असम्भव नहीं होता। सम्प्रति, पाश्चात्य मनोविज्ञान ने उसे समझना शुरू किया है। संहत आत्मचैतन्य की तीव्रता में यह इच्छाशक्ति अपराजेय एवं अनिवार्य महसूस होती है। प्राचीनकाल के अनुभव का एक सुन्दर मन्त्र-चित्र हमें ऋग्वेद के वाक्सूक्त में प्राप्त होता है, जहाँ अम्भृण-कन्या अपने भीतर भुवनेश्वरी की महिमा को अनुपम भाषा में व्यक्त करती है।

प्रत्यक् चेतना की दृष्टि से विश्लेषण करने पर हम मन्त्रशक्ति का यह परिचय प्राप्त करते हैं। इसमें कुछ भी असङ्गत नहीं, क्योंकि संहत, घनीभूत चेतना के विस्तार से ये सारे अनुभव अत्यन्त स्वाभाविक रूप में ही जिस किसी भी साधक के भीतर आ सकते हैं। किन्तु प्रश्न यह उभरता है कि किसी भी माध्यम की सहायता लिए बिना हम अपनी इच्छाशक्ति को जड़ में भी सङ्क्रामित-सञ्चारित कर सकते हैं या नहीं? यदि ऐसा कर पाएँ, तो रहस्य-विद्या का एक बहुत बड़ा आधार प्राप्त हो जाएगा। अनुसन्धान करने पर वैदिक भावना के भीतर इस दिशा का भी एक सङ्केत प्राप्त हो सकता है।

ऋग्वेद के अनुक्रमणिकाकार कात्यायन ने कहा था कि वैदिकों के एकमात्र देवता सूर्य हैं। इस सूर्य के साथ सायुज्य-प्राप्ति अथवा एकात्म

होना वैदिक ऋषियों का लक्ष्य है। यह कहना ही अत्युक्ति है कि अधिकांश वैदिक यज्ञ सूर्य की सायुज्य-भावना से ही उद्भूत हुए हैं। सायुज्य-प्राप्ति की यह आकूति वाजसनेय संहिता के एक उद्दीप्त मन्त्र में विस्मयजनक रूप में व्यक्त हुई है, जिसके अन्तिम चरण में यह उदात्त ब्रह्मघोष है– 'यो असावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।' यह एक ही घोषणा उपनिषद् के जीव-ब्रह्म के ऐक्यसूचक महावाक्यों में मिलती है। तब भी दोनों में कुछ सूक्ष्म अन्तर है। उपनिषद् की दृष्टि अन्तर्मुखी है और संहिता की दृष्टि बहिर्मुखी है। उपनिषद् अतीन्द्रिय अनुभव को व्यक्त करती है और संहिता में इन्द्रियग्राह्य दर्शन का उल्लेख है। इसके लिए थोड़ा विस्तार जरूरी है।

सेमिटिक भावना में ईश्वर जड़ोत्तर है, वह केवल चित् स्वरूप है, किन्तु आर्यभावना में देवता जड़ात्मक एवं जड़ोत्तर दोनों ही है। वस्तुतः आर्यभावना जड़ एवं चेतन में कोई विरोध नहीं देखती। दृष्टिकोण का यह पार्थक्य दोनों दर्शनों के सृष्टिवाद में स्पष्ट है। सेमिटिक ईश्वर विश्व का निर्माता है। वह बाहर स्थित रहकर जगत् को रच रहा है और वैदिक देवता स्वयं ही जगत् हो रहे हैं, किन्तु होकर समाप्त नहीं होते जा रहे हैं। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त की भाषा में – "वे इस भूमि को सभी दिशाओं से आवृत करके भी दश अङ्गुल ऊपर हैं। उनका एकपाद यह सर्वभूत है अर्थात् जो सब कुछ अस्तित्व में है, वह उनका एकपाद या चतुर्थांश है। त्रिपाद द्युलोक में अमृतरूप है।" 'वे ही सब कुछ हुए हैं, – इस मतवाद या परिकल्पना को यूरोपीय पण्डितों ने PANTHEISM अथवा सर्वेश्वरवाद का नाम दिया है। यह उनकी आँख की किरकिरी है, किन्तु इस वाद को समझे बिना वैदिक अध्यात्म-रहस्य के बारे में कुछ भी समझ में नहीं आएगा। यह बतला देना अच्छा होगा कि देववाद PANTHEISM नहीं है, बल्कि उससे ऊपर और भी कुछ है। वे ही सब कुछ हुए हैं, किन्तु होकर समाप्त नहीं हुए। वे जिस प्रकार विश्व की प्रतिष्ठा हैं, उसी प्रकार इन्द्रियातीत और लोकातीत भी हैं। वे लोकात्मक एवं विश्वातीत दोनों ही हैं। सेमिटिक धर्म विश्वात्मक को

नहीं, विश्वातीत को स्वीकार करता है। परिणामतः उसकी भावना में जगत् सम्बन्धी कितनी ही समस्याओं की सृष्टि होती है तथा अध्यात्म साधना और सिद्धि की धारा में भी कुछ वैशिष्ट्य दिखाई पड़ता है। उसकी आलोचना यहाँ अनावश्यक है।

वे ही यदि सब कुछ हैं, तो फिर उन्हें केवल आन्तर-अनुभव द्वारा नहीं, बल्कि बहिरिन्द्रिय द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है। बाह्य-इन्द्रियों के निकट जो सर्वापेक्षा स्पष्ट एवं सर्वाधिक उज्ज्वल है, वह उनकी ही विभूति है, स्वयं वे ही हैं। माध्यन्दिन अथवा मध्याह्नकालीन सूर्य हमारे इन्द्रियग्राह्य जगत् में उनकी सर्वोत्तम विभूति है। वे ही सूर्य हुए हैं, अतएव हमारी दृष्टि में वे ही सूर्य हैं। ऋषि कुत्स की भाषा में 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम, अथवा जड़-चेतन, चर-अचर हैं, उसका आत्मा सूर्य ही है। जब हम सूर्य को देख रहे होते हैं, तब उन्हें ही देख रहे होते हैं। सूर्य जड़ नहीं, चिन्मय है, चित् शक्ति का क्रमशः स्पष्टतर स्फुटन है। वे विष्णु हैं। सूर्य पुरुष हैं। वह पुरुष मैं ही हूँ। इस भावना एवं साधना का विवरण उपनिषदों में है।

इस प्रकार इन्द्रिय द्वारा जो कुछ देख रहे हैं उसमें उन्हें ही देख रहे हैं। सब कुछ के भीतर उस एक के प्राण-स्पन्द को, बृहत् को देख रहे हैं। यह पृथिवी, वायु और वह आकाश सब कुछ बृहत् एवं ज्योतिर्मय है। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक वे सब ही देवता हैं, सभी चिन्मय हैं। इस इन्द्रिय द्वारा ही उन्हें प्रत्यक्षतः देख रहे हैं। यह चिन्मय प्रत्यक्षवाद ही वैदिक धर्म की रहस्य-कथा है।

यूरोपियों ने ANIMISM के अर्थ में जो समझा है, यह बिल्कुल ही वह नहीं। इसके अतिरिक्त ANIMISM भी उन्नासिकों – ऊँची नाक वालों की अवज्ञा का विषय नहीं। बल्कि उसमें अतीन्द्रिय सायुज्य-बोध का जो गहन सत्य निहित है, वैदिक चिन्मय प्रत्यक्षवाद में उसकी ही सुष्ठुतम व्यञ्जना है। भौतिक सूर्य केवल जड़ नहीं, बल्कि वह मेरी चेतना को भी उद्दीप्त करता है, जिससे मैं उसका सायुज्य अथवा तादात्म्य अनुभव करता हूँ। कार्यतः या कुछ कारणों से जड़वाद

आधुनिक विज्ञान में परित्यक्त है। वस्तुत: वह शक्तिवाद को मानता है। विश्वजगत् एक अतीन्द्रिय शक्ति का खेल है, जड़ उसकी एक विभूतिमात्र है। बाह्यदृष्टि से जिसे शक्ति कहता हूँ, आभ्यन्तरदृष्टि से उसे ही प्राण कहता हूँ। "मैं हो रहा हूँ, बढ़ रहा हूँ" – यह शक्ति का साक्षात् अन्तरङ्ग परिचय है। मेरा यह बृहत् होना, बढ़ना शक्ति का चिन्मय रूप है। बाहर जिस निमित्त का आश्रय लेकर शक्ति अन्तर में चिन्मयी रूप में विकसित हो रही है, उसे उसका मृण्मय रूप कह सकता हूँ। किन्तु चिन्मयी और मृण्मयी में भेद करने की ज़रूरत क्या? क्यों न कहूँ कि दोनों ही अदिति अर्थात् अखण्डिता, अबन्धना, अनन्ता, अन्तहीना एक महाशक्ति है? वेद के समस्त देवता ही इस अदिति के पुत्र हैं, वे आदित्य हैं। सूर्य प्रत्यक्ष आदित्य है, वह प्रत्यक्ष जैसे बाहर, वैसे अन्तर में है। बाहर जो आलोक है, अन्तर में वही चेतना है। किन्तु मेरी अन्तश्चेतना निष्प्रभ है। वह उस बाहर के प्रत्यक्ष आदित्य की द्युति जैसी भास्वर हो उठे, यह मेरी आकूति है, आन्तर अभिलाषा है, यह मेरे बृहत् होने की साधना है। अतएव मैं सूर्य का उपासक हूँ। सूर्य मेरे चिन्मय आत्मविच्छुरण का आदर्श है। सूर्य से ही प्राण का स्पन्दन और चेतना का उन्मेष होता है। वे केवल ताप नहीं देते, चेतना को भी जगाते हैं। शक्ति का जब ताप के रूप में स्फुटन होता है, तब वह जड़ होती है। किन्तु जब वह प्राण और चेतना के रूप में प्रस्फुटित होती है, उस समय वह जड़ नहीं। ताप, प्राण और चेतना तीनों ही तो सावित्री शक्ति की विभूति हैं। तो फिर जड़ एवं चैतन्य में भेद क्यों किया जाए?

एक सूर्य, एक ब्रह्माण्ड का केन्द्र है। यदि उस केन्द्र के साथ एक हो पाऊँ, तादात्म्य स्थापित कर सकूँ, तो फिर मैं भी ब्रह्माण्ड का ईश्वर हो सकता हूँ। स्वयं को सौरशक्ति के विद्युत्-कूट में रूपान्तरित करना वैदिक रहस्य-विद्या का मूल सूत्र है। इसका ही नाम सूर्यविज्ञान है। उसका मूल सूत्र है, सूर्य के भीतर गुहाहित अधिदैवत पुरुष का सन्धान करके अध्यात्म-चेतना के साथ उसके सायुज्य के अनुभव द्वारा आत्मचैतन्य का प्रसारण एवं आत्मशक्ति का विस्फोटन। यह शक्तियोग ही रहस्यविद्या

है, अथर्ववेद उसका आकर है। ऋग्वेद में देखते हैं कि अथर्वाङ्गिरस के प्रवक्ता ऋषि सिद्धविद्या के धारणकर्त्ता, पोषणकर्त्ता के रूप में परिगणित हैं। वे ही सोमयाग में यज्ञाधिष्ठाता ब्राह्मण होते हैं। ऋग्वेद एवं अथर्ववेद के अनेक स्थलों पर 'ब्रह्म' संज्ञा केवल बृहत् की चेतना का ही नहीं, बल्कि शक्ति का भी सूचक है। इस शक्तियोग का युक्तिसिद्ध रूप क्या हो सकता है? उसकी विवृति हम पातञ्जल योगसूत्र के विभूतिपाद में, भूतजय, इन्द्रियजय एवं प्रधानजय से सम्बन्धित अनुशासन में पाते हैं। अर्वाचीन योगमार्ग में भी उसका प्रचुर उल्लेख है।

अतएव रहस्य-विद्या को अविश्वसनीय, अद्भुत कहकर खारिज कर देना वैज्ञानिक बुद्धि का परिचय नहीं होगा। वैदिक रहस्य-विद्या सूर्य विज्ञान के साथ घनिष्ठ रूप में जुड़ी है। सूर्यविज्ञान के साथ थोड़ा परिचय न होने से वेदव्याख्या की प्रचेष्टा सफल नहीं होगी, यह कहना ही अत्युक्ति है।

उपनिषत् और रहस्य के मेल से वैदिक प्रतीकवाद (SYMBOLISM) की उत्पत्ति हुई है। ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों में हम उसका विस्तार देखते हैं। इसे यास्क आदि प्राचीन आचार्यों ने अकुण्ठभाव से स्वीकार किया है, किन्तु यूरोपीय पण्डितों ने पूरी तरह इसकी उपेक्षा की है। जिसके कारण उनके द्वारा की गई मन्त्र-व्याख्या एक प्रकार के ऐसे यथार्थवाद पर आधारित है, जो इन्द्रियों की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकता। निश्चित रूप से वे अकेले ही दोषी नहीं हैं। यहाँ के ज्ञानवादियों में भी इस प्रकार की एक धारणा प्रचलित है कि वैदिक साधना एक सकाम साधना है, जो इहलोक की धन-दौलत के बाहर और कुछ भी नहीं चाहती। किसी-किसी वैदिक मन्त्र के आक्षरिक अर्थ से तो वही जान पड़ता है। किन्तु सारे वेदमन्त्रों का तात्पर्य वही है, यह कहना केवल अज्ञान का परिचय है। इस विशृङ्खलता की सृष्टि निघण्टुकार के वैदिक अभिधान से शुरू हुई है। निघण्टुकार ने कितने बहुप्रचलित वैदिक शब्दों का जो अर्थ निर्धारित कर दिया है, यास्क ने मन्त्र-व्याख्या के लिए उसका ही अनुसरण किया है।

माधव, सायण आदि आचार्यों ने भी प्राय: वही किया है। किन्तु यूरोपीय पण्डितों ने आक्षरिक अर्थ की गहराई में पैठकर देखने की कोई ज़रूरत ही महसूस नहीं की। क्योंकि वैदिक धर्म के प्रति उनकी श्रद्धा नहीं, बल्कि अवज्ञा ही कारण है। मज़ेदार बात तो यह है कि उन लोगों ने सायण की व्याख्या के प्रति कोई विशेष महत्त्व न देकर भी सन्दिग्ध स्थलों पर सायण की आक्षरिक व्याख्या को अनेक क्षेत्रों में आत्मसात् करने में ज़रा भी हिचकिचाहट महसूस नहीं की। परिणामत: वेदमन्त्र उनके निकट बड़ी आसानी से ही SUN. SPELL और RAIN. SPELL में परिणत हो गए।

निश्चय ही हम यह नहीं कहना चाहते कि वेदमन्त्रों का तात्पर्य ही नि:श्रेयसमुखी है, बल्कि विनियोक्ता के प्रयोजन के अनुसार अनेक मन्त्रों का लक्ष्य श्रेय एवं प्रेय दोनों हो सकता है। शौनक के 'ऋग्विधान' में प्रेयोमुखी विनियोग के अनेक उदाहरण हैं, किन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि प्रेय ही समस्त वेदमन्त्रों का अभीष्ट अर्थ है - यह वेद को सरसरी दृष्टि से पढ़ने पर भी महसूस नहीं होगा। वस्तुत: सारे मन्त्र साधारणत: प्रतीकी भाषा में रचित हैं। ऋषियों ने स्वयं ही अनेक स्थानों पर ऐसा कहा है। विद्यागुप्ति की यह एक प्राचीन रीति है। तन्त्र में भी इसी पद्धति का अनुसरण किया गया है। उसका एक उद्देश्य केवल विद्यागुप्ति यानी विद्या को गुप्त रखना ही नहीं, बल्कि अधिकार-भेद से मन्त्र-विनियोग की व्यवस्था भी है। मन्त्रकृत ऋषि एक मूल सत्य को लक्ष्य में रखकर ही नित्य व्यवहारयोग्य भाषा में मन्त्रों की रचना कर गए हैं। अब उसका विनियोग साधक के संस्कार, बुद्धि एवं इच्छा के अधीन है।

यह अवश्य ही एक स्थूल नियम है। वस्तुत: मन्त्र की भाषा में प्रतीकधर्मिता चिन्मय-प्रत्यक्षवाद के कारण दिखाई पड़ी है। वह कैसे? उसकी एक झलक प्रस्तुत की जा रही है।

किसी भी एक विषय का ज्ञान तीन भूमियों पर हो सकता है। प्रथम भूमि अधिभूत (PHENOMENAL अथवा MATERIAL) है। जिस

प्रकार आँख खोलते ही प्रकाश देखता हूँ। प्रकाश यहाँ भूतगुण हैं, किन्तु प्रकाश से मेरे चित्त में जिस स्वच्छता एवं प्रसन्नता का उदय हुआ, वह भी ज्ञान की एक दिशा है, इसलिए कह सकता हूँ, मानो बाहर का प्रकाश मेरे भीतर फूटा। यह जो भीतर के प्रकाश का ज्ञान हुआ, यह अध्यात्म (PSYCHICAL) भूमि है। अधिभूत एवं अध्यात्म-ज्ञान में एक सायुज्य है। बाहर-भीतर के तत्त्व का समन्वय न होने पर ज्ञान ही नहीं हो सकता। इसलिए वेदान्ती कहते हैं कि विषयि-चैतन्य और विषय-चैतन्य की एकात्मता ही ज्ञान है अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय की एकात्मता ही ज्ञान है। सांख्यविद् भी इस प्रकार की ही बातें कहते हैं। यदि अध्यात्म-ज्ञान के ऊपर ज़ोर दिया जाए अर्थात् विषय के संयोग से जिस चेतना का उन्मेष होता है, यदि चित्त को अन्तर्मुख करके उसका ही अनुसरण किया जाए, तो फिर चेतना का उत्तेजन और प्रसारण होता है। इस प्रसारण में विषयी एवं विषय दोनों को कुक्षिगत करके तृतीय एक व्याप्ति-चैतन्य का आविर्भाव होता है। यह व्याप्ति-चैतन्य ही देवता है एवं उनका ज्ञान अधिदैवत (SPIRITUAL) भूमि है। बाहर के अधिभूत आलोक को देखकर अन्तर में जो अध्यात्म-आलोक फूटा, यदि चित्त को उसमें निविष्ट करूँ, तो फिर एक अधिदैवत-आलोक में दोनों का समाहार कर सकता हूँ। यह घटना अत्यन्त सामान्य अभिज्ञता का विषय है। बाह्य प्रकृति के संस्पर्श से प्रत्येक कवि मानस में ही इसप्रकार का एक उद्दीपन-विभाव जागता है। जिसका सुष्ठु एवं स्वस्थ परिचय रवीन्द्रनाथ की रचनाओं में प्राप्त होता है, जो विश्व-साहित्य में दुर्लभ है। वैदिक ऋषि स्वयं को भी और देवता को भी कवि कहा करते थे। इस 'कवि' संज्ञा के भीतर से वेद-मन्त्रों का गूढ़ रहस्य जितना उद्घाटित हुआ है, मैं समझता हूँ उतना अन्य किसी से नहीं।

समग्र वैदिक साहित्य इस कवि-चेतना की वाङ्मयमूर्ति है। वहाँ अध्यात्म-चेतना अधिदैवत में उत्तीर्ण हुई है एवं उसे अधिभूत की भाषा में रूप दिया गया है। प्रात:काल देख रहा हूँ कि सूर्य ऊपर उठ रहे हैं; दिव्य ज्योति की एक अपूर्व अद्भुत व्यञ्जना -- "चित्रं देवानामुदगादनीकम्।"

वे मेरी ओर ताक रहे हैं। यह किसकी आँख है? "चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्ने:" यह उस विश्वभावन मित्र की आँख है, उस विश्वातीत वरुण की आँख है, यह अन्तर्यामी चिदग्नि की आँख है। देखते-देखते उस अनिमेष दृष्टि की दीप्ति, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में छितरा गई – "आ प्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षम्"। एक परम अनुभूति से मेरा अन्तर स्तब्ध हो गया। अनुभव हुआ, "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" जो कुछ स्थावर-जङ्गम है, यह सूर्य ही उसका आत्मा है।

यह एक सहज वेदमन्त्र की सहज विवृति है। ऐसे हजार-हजार मन्त्रों में देवता के चिन्मय प्रत्यक्ष की उदात्त और ललित प्रशस्ति की व्यञ्जना है। भूमा को इस चक्षु के द्वारा देख रहा हूँ, इस कान के द्वारा सुन रहा हूँ, इस प्राण के द्वारा स्पर्श कर रहा हूँ, इस मन के द्वारा मनन कर रहा हूँ एवं इस वाक् के माध्यम से व्यक्त कर रहा हूँ। मेरी वाक्, चक्षु, श्रोत्र, प्राण और मन उस भूमा या विराट् की चैतन्यस्वरूप रहस्यपुरी के द्वारपाल हैं। इस प्रत्यक्ष-अनुभव के आनन्द-हिल्लोल के साथ वैदिक सरस्वती का 'महोअर्ण:' अर्थात् विपुल ज्योति का समुद्र लहरा रहा है। यह यदि ANIMISM हो, NATURALISM हो, तो उसे शिरोधार्य करुँगा।

लोकोत्तर अनुभव का यह बीज ही उपनिषद् में पूर्णाद्वैतवाद के रूप में अङ्कुरित और पल्लवित हुआ है, जिसे आर्य-भावना का ही एकमात्र वैशिष्ट्य कहा जा सकता है। उपनिषद् के अनेक स्थलों पर हम देखते हैं कि किसी भी एक तत्त्व के अधिभूत या आधिभौतिक प्रतीक को पार्श्ववर्ती दो पद्धतियों में व्याख्या करते हुए कहा जा रहा है – 'इति अध्यात्मम्', 'इति अधिदैवतम्'। इसका सरल अर्थ यह है कि जो बाहर है, वह भीतर भी है। इन्द्रिय द्वारा जिसे बाहर वस्तु रूप में अनुभव कर रहा हूँ, उसे ही बोधि या अन्तर्दृष्टि द्वारा चिद्वृत्ति अर्थात् चित्त की क्रिया एवं उसके परिणाम के रूप में अपने भीतर अनुभव कर रहा हूँ। इस प्रकार बाहर का आकाश अन्तर्हृदय में प्रशान्त सर्वव्यापी आनन्द, बाहर का सूर्य अन्तर का चिद्घन प्रत्यय अर्थात् बीज की तरह संहत चित्शक्ति

का स्फुरणोन्मुख बोध, बाहर का वायु प्राण संवेग, बाहर की उषा अन्तर के प्रातिभ संवित् इत्यादि हो जाते हैं। उपनिषदों में इस प्रकार के प्रतीकों की विवृति का अन्त नहीं। प्रतीकोपासना उपनिषद्-साधना का एक प्रधान अङ्ग है। इस उपासना का चरम परिणाम पूर्णाद्वैत-बोध है, उसका सूत्ररूप यह है – जीव, जगत् और ब्रह्म एक हैं, अभिन्न हैं। मेरी ही आत्म-चेतना का प्रसारण, ब्रह्मचेतना में होता है और यह जगत् उस चेतना की ही विसृष्टि या सर्जना है। यदि अपने आत्मानुभव के केन्द्र से मान लूँ, तो फिर कह सकता हूँ कि यह चेतना ही जिस प्रकार लोकोत्तर ब्रह्मचेतना में प्रसारित होती है, उसी प्रकार वह लोकात्मक विश्वचेतना में विकीर्ण होती है। उपनिषद् की भाषा में जिसप्रकार 'अयमात्मा ब्रह्म', उसी प्रकार 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' – यह आत्मा ही जिस प्रकार ब्रह्म है, उसी प्रकार यह जो सब कुछ है, यह आत्मा है। अर्थात् मैं, जगत् और ब्रह्म तीन में एक, एक में तीन हैं।

उपनिषद् में जो अनुभव विश्लेषणात्मक दृष्टि से व्यक्त हुआ है, वही वेदमन्त्रों में संश्लेषणात्मक दृष्टि से व्यक्त देखते हैं। उपनिषद् का तत्त्व बुद्धिग्राह्य है और संहिता का तत्त्व बोधिलब्ध है। बुद्धि द्वारा बोधि के अनुभव को विवृत करने पर ही प्राकृत मन के पक्ष में उसे पकड़ पाना सहज होता है। इसके कारण उपनिषद् यद्यपि हमारे निकट सुबोध्य है, तथापि वेद दुर्बोध, दुर्ज्ञेय है। क्योंकि हमारी चेतना तो आरम्भ से ही चिन्मय प्रत्यक्ष के लिए प्रस्तुत नहीं। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' – यह औपनिषद बोध हमारे मन की असहज भङ्गिमाओं या अनेक आँके - बाँके रूपों को सरल सीधे करने पर सहज होता है। किन्तु वेदमन्त्र पूर्णतया इस प्रत्यक्ष अनुभव के ही काव्य रूप हैं। समस्त इन्द्रियों के माध्यम से समस्त सत्ता के भीतर उस एक का अनुभव कर रहा हूँ – इस सहज बोध से ही वेदमन्त्र निःसृत हुए हैं। उपनिषद् में आध्यात्मिक अनुभव की तीन भूमियों का उल्लेख है, जिन्हें ज्ञान, बाल्य एवं मौन के नाम से परिभाषित किया गया है। पहले जब हम बौद्धिक प्रयास द्वारा तत्त्व को 'जानते' हैं, तब हम प्राज्ञ हैं। तत्पश्चात् वह जानना जब सहज

बोध में परिणत होता है, तब चेतना शिशुओं की सी हो जाती है, हमारे भीतर 'बाल्य' का विकास होता है। फिर और भी गहरे उतर जाने पर सब चुप हो जाता है, तब 'मौन' की संज्ञा प्राप्त होती है। वेदमन्त्रों में इस 'बाल्य' की व्यञ्जना है। अनुभव का आदिम सारल्य वहाँ प्रज्ञा के भावबीज का द्योतक है। उसका ही विस्तार उपनिषदों में है। सर्वोत्तम अनुभव की सहज अभिव्यक्ति तो अकारण चित्परिणाम अथवा अन्तर्निहित चित्शक्ति के क्रमिक स्फुरण के बिल्कुल मूल की ओर ही हो सकती है। प्राकृत परिणामवाद का नियम तो यहाँ लागू नहीं होता, जिसका सङ्केत पहले ही दिया जा चुका है।

चिन्मय प्रत्यक्षवाद से ही हम समझ सकते हैं कि यूरोपीय पण्डितों द्वारा परिकल्पित RAIN-SPELL और SUN SPELL THEORY कितनी नगण्य, सारहीन है। प्रागैतिहासिक काल में जो भी रहा हो, किन्तु हम जिस काल के साहित्य के सम्बन्ध में आलोचना कर रहे हैं; वह इतिहास की सीमा में ही आता है। उसे किसी भी तरह अपरिणत मन की सृष्टि कहना सङ्गत नहीं। उस युग के चित्त की आकूति के मूल में जैव-प्रेरणा नहीं, बल्कि अध्यात्म-प्रेरणा और आत्मविस्तार की प्रेरणा कार्यरत रही। जिसका निःसन्दिग्ध प्रमाण उपस्थित किया जा सकता है। कोई व्यक्ति जब आध्यात्मिक पिपासा को तृप्त करने जाये, तब वह प्राण को तृप्त करना भुलाए रखे; ऐसा नहीं होता; यह बात विशेष रूप से वैदिक ऋषियों के पक्ष में विशेष रूप से सत्य है। वे तान्त्रिकों की तरह ही **भुक्ति** एवं **मुक्ति** में कोई विरोध नहीं देखते थे। जो देखा करते थे, वे 'अदेवा:' 'अयज्ञा:' 'अनिन्द्रा:' अर्थात् वे अवैदिक मुनिपन्थी आर्य थे। किन्तु भुक्ति या भोग को जीवन में एक मर्यादा देने पर भी वैदिक ऋषि की मन्त्र-चेतना की प्रेरणा वस्तुत: मुक्ति की आकाङ्क्षा से ही उभरती है। उनका प्राण जिसके लिए क्रन्दन करता है, वह 'उरुरनिबाध:' 'अमृतमभयम्', 'बृहज्ज्योति:', 'ऋतं बृहत्' है।

प्राणों का यह क्रन्दन ही वेदमन्त्रों में दो प्रतीकों, वर्षण और सूर्योदय में व्यक्त हुआ है। एक लम्बे समय से अवर्षण या अनावृष्टि के कारण

पृथिवी सूखी पड़ी है, आसमान में बादल छाए हैं तब भी वृष्टि का आभास नहीं, जीवन मरुभूमि हो गया। यह सर्वशोषी अनावृष्टि 'शुष्ण' है। यह कृपण मेघों का आवरण 'वृत्र' है। विद्युत् के आलोक में देवता ने आकर वज्र-प्रहार किया, मेघ जल बनकर गिर पड़ा, शुष्क प्राण सञ्जीवित हुआ। साधना के प्रथम क्रम में अन्तरिक्षलोक में आघात-प्रत्याघात का यह एक चित्र है। यहाँ देवता इन्द्र हैं। दूसरा चित्र इससे ऊपर द्युलोक का है। इस बार आघात-प्रत्याघात नहीं, बल्कि प्रातिभ संवित के उन्मेष से चेतना का प्रसारण होता है। यह भी 'वृत्र-संहार' की लीला है। वृत्र यहाँ अँधेरे का आवरण है। मध्यरात्रि की प्रगाढ़ता से अश्विद्वय का अभियान शुरु हुआ, उषा के कूल पर आलोक के छिटकने की सूचना मिली। फिर नेपथ्य से सविता की किरण-दीप्ति के पश्चात् क्रमशः भग, सूर्य और पूषा की श्रीवृद्धि, अन्त में माध्यन्दिन आकाश में विष्णु की प्रभास्वर महिमा की व्यञ्जना' – "विष्णोः परमे पदे मध्व उत्सः" अर्थात् विष्णु के इस परम पद में अमृत का उत्स है; यह चेतना के उत्तरायण की एक और छवि है। देवता यहाँ विष्णु हैं। इन्द्र और विष्णु दो देवता पास-पास हैं। साधन के क्रम में इन्द्रविजय के बाद ही विष्णुचेतना का आविर्भाव होता है। इसलिए विष्णु, पुराण में उपेन्द्र हैं। भारतवर्ष की प्रकृति की संरचना ही ऐसी है कि इन्द्र द्वारा वृत्र-वध अथवा वर्षा की सूचना और विष्णु का मध्यगगन में उत्तरायण के चरम बिन्दु पर आरोहण दोनों एक ही समय में होते हैं। यह समय आषाढ़ मास में पड़ता है। वह समय ही संवत्सरव्यापी वैदिक यज्ञभावना का मध्य दिन, बौद्धों के धर्मचक्र-प्रवर्तन की तिथि, हिन्दुओं की व्यासपूर्णिमा और अम्बुबाची का है। उस समय जिस प्रकार द्युलोक में चेतना का सर्वाधिक प्रकाश व्याप्त रहता है, उसी प्रकार अन्तरिक्ष में वर्षा का प्राणोच्छल समारोह चलता रहता है। दिव्य जीवन में जिस प्रकार प्राण और जीवन का अशेष, अफुरन्त दाक्षिण्य प्राप्त होता है, पार्थिव जीवन में उसी प्रकार अन्न-सम्पदा की सूचना प्राप्त होती है। अन्तरिक्ष और द्युलोक की दो आधिभौतिक घटनाओं को लेकर वैदिक ऋषि ने एक अद्भुत, अपरूप और अति रमणीय आध्यात्मिक प्रतीक की सृष्टि की है। इसे जो केवल जैव

प्रयोजन द्वारा रचित RAIN-SPELL और SUN SPELL की संज्ञा देते हैं, उनके पाण्डित्य को क्या विशेषण दूँ? सोच नहीं पाता।

सङ्क्षेप में यूरोपीय वेदव्याख्या के मूल सिद्धान्तों की आलोचना के पश्चात् अब पूर्वपक्ष से सम्बन्धित एकाध और अनुसिद्धान्तों की सङ्क्षिप्त आलोचना करके इस प्रसङ्ग को समाप्त करना है।

यह पूर्णतः अयौक्तिक धारणा है कि वैदिक धर्म बर्बर आदिमानव का धर्म है। इस बात को आजकल यूरोपीय पण्डित भी ज़ोर देकर कहना नहीं चाहते। उनसे प्रभावित इस देश के पण्डितों में भी अब आहिस्ता-आहिस्ता बदलाव आना शुरू हुआ है। वैदिक धर्म निस्सन्देह 'आदिम' है, किन्तु इस देश के वेदपन्थियों की भाषा में सनातन है, जबकि दोनों संज्ञाओं में अनेक अन्तर है। आदिम धर्म का लक्षण बतलाते हुए यूरोपीय पण्डितों का कथन है कि उसका मूल लक्षण भय है – यह अर्द्धसत्य है। वास्तव में समस्त धर्मों के मूल में ही एक लोकोत्तर बृहत् सत्ता का बोध रहा है। इस बृहत् से कुछ लोग डरते हैं एवं कुछ लोग प्यार भी करते हैं। भय, प्यार के द्वारा शोधित होकर प्रपन्न अथवा शरणागत के महिमबोध [AWE] या श्रद्धायुक्त विस्मय के रूप में दिखाई देता है। अद्भुत रस भी उसके अन्तर्गत है। ये अध्यात्म-बोध के मूल उपादान चिरन्तन हैं। आधुनिक सभ्य समाज के लोग भी देवता से पहले की तरह ही डरते हैं, उनके निकट बच्चों की तरह प्रार्थना भी करते हैं। इसके सम्बन्ध में आदिमानव और उनमें कोई अन्तर नहीं। आदिमानव भी देवता के सम्बन्ध में केवल डर ही पालता रहा, उसके भीतर भक्ति, विस्मय और महिमबोध तो बिलकुल ही नहीं था – यह बात विश्वास के योग्य नहीं। कोई भी लोकोत्तर अनुभव अज्ञात के प्रति एक सम्मोहन की सृष्टि करता है जिससे चित्त में आवेश [AFFLATUS] या उत्प्रेरणा का उदय होता है। इस आविष्ट चेतना का पर्याप्त परिचय आदिमानव के धर्म में भी प्राप्त होता है। सभी समाजों में ही देवाविष्ट लोग ही धर्मगुरु होते हैं। आवेश का एक फल, देवता के साथ सायुज्यानुभवजनित आत्मगौरव का बोध है। यह बोध हमेशा रहा है और आज भी है।

SHAMAN, MEDICINE MAN, RAIN. DOCTOR, WIZARD से लेकर PROPHET, SON OF GOD और DIVINEMAN तक सब एक पर्याय के हैं, सब में यह महिमबोध है। जैसे प्रथम श्रेणी के देवाविष्ट जनों में शक्ति का प्रदर्शन अधिक होता है, वैसे ही द्वितीय श्रेणीवालों में ज्ञान का। वैदिक देवाविष्ट जनों में दोनों का समन्वय है, जिसके परिणामस्वरूप वैदिक धर्म में रहस्य और उपनिषत् का सम्मिश्रण हुआ। देवाविष्ट जन स्वयं निर्भीक होते हैं, किन्तु साधारण लोग उनसे भयग्रस्त रहते हैं। दीर्घकाल से आध्यात्मिक समाज-चेतना अभय और भय का मिला-जुला रूप है। वैदिक समाज के अध्यात्म-बोध को जिन्होंने वाणी का रूप दिया था, उन्होंने अभय का ही उद्घोष किया था, जिसका चरम परिणाम "अहम् ब्रह्मास्मिवाद" में स्पष्ट है। जो चट से सिद्धान्त गढ़ लेते हैं कि वैदिक धर्म भीत-त्रस्त आदिमानव की प्रकृति-पूजा मात्र है। क्या उन्होंने एक बार हिसाब करके देखा है कि वैदिक साहित्य में कितने भय के मन्त्र हैं और कितने अन्धकार के मन्त्र हैं? जब कि वहाँ, यत्र-तत्र प्रसन्न, पारदर्शी, उदार आलोक की महिमा से उद्दीपित, उज्ज्वलित चेतना के स्वोत्तरण, उदात्तीकरण के मन्त्र ही दिखाई देते हैं। यह क्या तथाकथित आदिमानव का धर्म है?

वैदिक धर्म में निश्चित रूप से आदिमता है, किन्तु बर्बरता एवं मोह नहीं है। इस धर्म ने अति प्राचीनकाल में ही एक सुसम्बद्ध, सार्थक साहित्य की रचना की है। साहित्य-रचना मूढ़ बर्बर मानस का परिचय नहीं है। बल्कि इस साहित्य का जो रूप हमें उपलब्ध है, वह असम्बद्ध या असङ्गत एवं अपरिणत गण-साहित्य भी नहीं, वह वाक् की दीर्घकालीन विधिवत् साधना के परिणामस्वरूप रचित, सुसङ्गत और समृद्ध अभिजात साहित्य है। वेदों के पुनरुक्त मन्त्रों की आलोचना करने पर हम समझ सकते हैं कि अति प्राचीनकाल में ही इस साहित्य-प्रचेष्टा ने एक निश्चित आकार ग्रहण करके एक सुनिरूपित सम्प्रदाय की परम्परा का निर्माण किया है। पारिभाषिक शब्दों का प्राचुर्य इस साहित्य का एक विशिष्ट लक्ष्य है और वह परिभाषा भी आत्मबोध के सूक्ष्म से

सूक्ष्म विश्लेषण की परिचायक है। कहा जाए तो यह साहित्य वाक् की सुमिति या सुडौलपन में और व्यञ्जनाशक्ति में अतुलनीय है। दार्शनिक कविकृति के अतिरिक्त लौकिक (SECULAR) विषयों और लोक-जीवन से सम्बन्धित जो कई सूक्त ऋग्वेद में हैं, उनका भी रचनानैपुण्य आश्चर्यजनक है, वे आधुनिक जिस किसी भी कविता के समकक्ष रखे जा सकते हैं। क्या यह अमार्जित, असंस्कृत बर्बर मन की पहचान है, न कि सुसंस्कृत विदग्ध मानस की?

पहले ही बतलाया जा चुका है कि यूरोपीय पण्डितों ने वेद-व्याख्या करने की दिशा में तुलनात्मक पद्धति का आश्रय लिया है। इस पद्धति के दोष और गुण दोनों ही हैं। कई बार ऐसा होता है कि जो दुर्बोध है वह तुलनात्मक विवेचन के कारण बोधगम्य हो जाता है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है, किन्तु देखना यह होगा कि हम किसके साथ किसकी तुलना कर रहे हैं। प्रकरण (CONTEXT) साम्य न रहने पर तुलना में विचार तर्कविरुद्ध हो जाता है – जिस प्रकार तथाकथित आदिमधर्म अथवा सेमिटिक धर्म के साथ वैदिक धर्म की तुलना के समय हुआ। यूरोपीय पण्डितों ने वेदव्याख्या करने के लिए 'इण्डोयूरोपीय' संस्कृति के साथ वैदिक-संस्कृति की तुलना करना आरम्भ कर दिया। दोनों में एक मौलिक ऐक्य होना असम्भव नहीं, क्योंकि व्यापक दृष्टि से देखने पर सारे मनुष्य ही मूलतः एक जाति के हैं, एक श्रेणी के हैं, किन्तु जाति-जाति में जिस प्रकार ऐक्य है, उसी प्रकार भेद भी है। देश और काल के व्यवधान के कारण जिस भेद की सृष्टि होती है। उसमें सजातीयता की अपेक्षा विजातीयता का परिमाण ही अधिक होता है। इस क्षेत्र में तुलना हमेशा निरापद नहीं। विशेष रूप से वैदिक-संस्कृति के साथ जिन सब संस्कृतियों की तुलना की जा रही है, वे सभी वैदिक संस्कृति से अर्वाचीन हैं। तुलना यदि करनी ही है, तो फिर इस देश की वेदोत्तर संस्कृति के साथ क्यों नहीं की जाती? वैदिक-संस्कृति एवं साधना की निरन्तरता के सम्बन्ध में यूरोपीय विद्वानों में भी किसी प्रकार के संशय की गुंजाइश नहीं; वे भी मानते हैं कि इसमें कहीं कोई विराम

नहीं रहा। जिस संस्कृति का बीज इस देश की मिट्टी में अङ्कुरित और पल्लवित हुआ, उसके मर्मसत्य का परिचय तो इस देश की संस्कृति के इतिहास में ही प्राप्त होना चाहिए। प्राचीन आचार्य भी यही कहा करते थे – 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्।' केवल इतिहासपुराण ही क्यों? इसके लिए अवैदिक आर्य एवं लौकिक अनार्य संस्कृति की भी सहायता हम ले सकते हैं। मीमांसकों का कथन है कि वेद स्व-प्रमाण है, उसका तात्पर्य उसके मध्य ही निहित है। यह नितान्त सत्य है। प्रथमतः वेद के रहस्य को वेद में ही खोजना होगा – तुलनात्मक पद्धति का प्रथम प्रयोग वहाँ ही होगा – इस देश के मीमांसक बहुत पहले से ही जिसकी सीमारेखा, रूपरेखा निर्धारित कर गए हैं। फिर उसका प्रयोग वेद के देश में एवं सबसे अन्त में विदेश में होगा। विदेश के विद्वान् इस देश की संस्कृति से परिचित नहीं हैं। आर्यजाति के एकत्व के सिद्धान्त पर निर्भर रहकर यदि वे शोध की सामग्री के लिए अपना देश टटोलें, तो वह क्षम्य है; किन्तु इस देश के विद्वान् भी मुक्तकच्छ होकर विदेश की ओर किसलिए भागते हैं?

तुलनात्मक भाषाशास्त्र [COMPARATIVE PHILOLOGY] किसी समय वेदव्याख्या के लिए अपरिहार्य माध्यम के रूप में माना जाता रहा है। आजकल कुछ परिवर्तन के लक्षण दिखाई पड़े हैं, किन्तु इस क्षेत्र में तुलनामूलक पद्धति की भूलें अत्यधिक स्पष्ट हैं। परिवेश के प्रभाव से शब्द का अर्थ कितनी जल्दी बदल जाता है और एक ही शब्द के अर्थ में व्यञ्जनाशक्ति की कितनी विचित्र लीला के दर्शन होते हैं, वह शब्दविदों से छिपा नहीं है। तुलना के क्षेत्र में केवल शब्द के आक्षरिक साम्य को देखकर एक देश के एक अर्थ को दूसरे देश के कन्धे पर लादना कितना तर्क विरुद्ध है। वह भी क्या आँख में उँगली डालकर दिखा देना होगा? प्रकरण से विच्छिन्न तुलना शायद सर्वाधिक साङ्घातिक दृष्टान्त है।

वैदिक आर्य भारत में विदेश से आए थे अथवा भारत से विदेश की ओर गए थे, या फिर मोहनजोदड़ो की सभ्यता वैदिक सभ्यता से पहले

सूक्ष्म विश्लेषण की परिचायक है। कहा जाए तो यह साहित्य वाक् की सुमिति या सुडौलपन में और व्यञ्जनाशक्ति में अतुलनीय है। दार्शनिक कविकृति के अतिरिक्त लौकिक (SECULAR) विषयों और लोक-जीवन से सम्बन्धित जो कई सूक्त ऋग्वेद में हैं, उनका भी रचनानैपुण्य आश्चर्यजनक है, वे आधुनिक जिस किसी भी कविता के समकक्ष रखे जा सकते हैं। क्या यह अमार्जित, असंस्कृत बर्बर मन की पहचान है, न कि सुसंस्कृत विदग्ध मानस की?

पहले ही बतलाया जा चुका है कि यूरोपीय पण्डितों ने वेद-व्याख्या करने की दिशा में तुलनात्मक पद्धति का आश्रय लिया है। इस पद्धति के दोष और गुण दोनों ही हैं। कई बार ऐसा होता है कि जो दुर्बोध है वह तुलनात्मक विवेचन के कारण बोधगम्य हो जाता है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है, किन्तु देखना यह होगा कि हम किसके साथ किसकी तुलना कर रहे हैं। प्रकरण (CONTEXT) साम्य न रहने पर तुलना में विचार तर्कविरुद्ध हो जाता है – जिस प्रकार तथाकथित आदिमधर्म अथवा सेमिटिक धर्म के साथ वैदिक धर्म की तुलना के समय हुआ। यूरोपीय पण्डितों ने वेदव्याख्या करने के लिए 'इण्डोयूरोपीय' संस्कृति के साथ वैदिक-संस्कृति की तुलना करना आरम्भ कर दिया। दोनों में एक मौलिक ऐक्य होना असम्भव नहीं, क्योंकि व्यापक दृष्टि से देखने पर सारे मनुष्य ही मूलतः एक जाति के हैं, एक श्रेणी के हैं, किन्तु जाति-जाति में जिस प्रकार ऐक्य है, उसी प्रकार भेद भी है। देश और काल के व्यवधान के कारण जिस भेद की सृष्टि होती है। उसमें सजातीयता की अपेक्षा विजातीयता का परिमाण ही अधिक होता है। इस क्षेत्र में तुलना हमेशा निरापद नहीं। विशेष रूप से वैदिक-संस्कृति के साथ जिन सब संस्कृतियों की तुलना की जा रही है, वे सभी वैदिक संस्कृति से अर्वाचीन हैं। तुलना यदि करनी ही है, तो फिर इस देश की वेदोत्तर संस्कृति के साथ क्यों नहीं की जाती? वैदिक-संस्कृति एवं साधना की निरन्तरता के सम्बन्ध में यूरोपीय विद्वानों में भी किसी प्रकार के संशय की गुंजाइश नहीं; वे भी मानते हैं कि इसमें कहीं कोई विराम

नहीं रहा। जिस संस्कृति का बीज इस देश की मिट्टी में अङ्कुरित और पल्लवित हुआ, उसके मर्मसत्य का परिचय तो इस देश की संस्कृति के इतिहास में ही प्राप्त होना चाहिए। प्राचीन आचार्य भी यही कहा करते थे – 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्।' केवल इतिहासपुराण ही क्यों? इसके लिए अवैदिक आर्य एवं लौकिक अनार्य संस्कृति की भी सहायता हम ले सकते हैं। मीमांसकों का कथन है कि वेद स्व-प्रमाण है, उसका तात्पर्य उसके मध्य ही निहित है। यह नितान्त सत्य है। प्रथमतः वेद के रहस्य को वेद में ही खोजना होगा – तुलनात्मक पद्धति का प्रथम प्रयोग वहाँ ही होगा – इस देश के मीमांसक बहुत पहले से ही जिसकी सीमारेखा, रूपरेखा निर्धारित कर गए हैं। फिर उसका प्रयोग वेद के देश में एवं सबसे अन्त में विदेश में होगा। विदेश के विद्वान् इस देश की संस्कृति से परिचित नहीं हैं। आर्यजाति के एकत्व के सिद्धान्त पर निर्भर रहकर यदि वे शोध की सामग्री के लिए अपना देश टटोलें, तो वह क्षम्य है; किन्तु इस देश के विद्वान् भी मुक्तकच्छ होकर विदेश की ओर किसलिए भागते हैं?

तुलनात्मक भाषाशास्त्र [COMPARATIVE PHILOLOGY] किसी समय वेदव्याख्या के लिए अपरिहार्य माध्यम के रूप में माना जाता रहा है। आजकल कुछ परिवर्तन के लक्षण दिखाई पड़े हैं, किन्तु इस क्षेत्र में तुलनामूलक पद्धति की भूलें अत्यधिक स्पष्ट हैं। परिवेश के प्रभाव से शब्द का अर्थ कितनी जल्दी बदल जाता है और एक ही शब्द के अर्थ में व्यञ्जनाशक्ति की कितनी विचित्र लीला के दर्शन होते हैं, वह शब्दविदों से छिपा नहीं है। तुलना के क्षेत्र में केवल शब्द के आक्षरिक साम्य को देखकर एक देश के एक अर्थ को दूसरे देश के कन्धे पर लादना कितना तर्क विरुद्ध है। वह भी क्या आँख में उँगली डालकर दिखा देना होगा? प्रकरण से विच्छिन्न तुलना शायद सर्वाधिक साङ्घातिक दृष्टान्त है।

वैदिक आर्य भारत में विदेश से आए थे अथवा भारत से विदेश की ओर गए थे, या फिर मोहनजोदड़ो की सभ्यता वैदिक सभ्यता से पहले

की है या पीछे की है अथवा वैदिक सभ्यता का निर्दिष्टकाल क्या है? इस प्रकार के तमाम लौकिक प्रश्न और प्रसङ्ग विद्वानों के वैदिक शोध के अङ्गीभूत हैं; किन्तु वेदार्थ-निरूपण की दिशा में इन सारे प्रश्नों एवं प्रसङ्गों की भूमिका मुख्य नहीं, गौण है।

[६]

वेदव्याख्या की आधुनिक मान्यताओं का एक सङ्क्षिप्त परिचय दिया गया। अब देखना है कि वेद-व्याख्या की यथार्थ पद्धति क्या होनी चाहिए?

आधुनिक मन स्वयं को वैज्ञानिक मान लेने के कारण अहङ्कारग्रस्त है, इसलिए प्राचीन धर्म को कुछ अवज्ञा की दृष्टि से देखता है। जड़ और चेतन के मध्य भेद की सृष्टि करना वैज्ञानिक बुद्धि का एक कुसंस्कार है। धर्म के जिस किसी भी प्राचीन रूप में यह कृत्रिम अन्तर नहीं है। वैदिक धर्म में भी नहीं है। वहाँ जड़ और चेतन दोनों को मिलाकर चेतना में एक अखण्ड अनुभव की ही भूमिका स्पष्ट है। इस अनुभव का प्रागैतिहासिक रूप चाहे जो भी रहा हो, किन्तु यह वैदिक ऋषियों के अपरिणत मानस की अन्ध-कल्पना नहीं, बल्कि सत्य तो यह है कि इस भावना के ही अनुवर्तन एवं क्रमिक विकास के साथ भारतवर्ष की अध्यात्म-साधना का समग्र इतिहास जुड़ा हुआ है। वैदिक साधना की प्रौढ़तर अभिव्यक्ति योग एवं तन्त्र में है। दोनों में मनुष्य की आन्तर आकूति ने जो रूप प्राप्त किया है, उसे यदि हम ठीक-ठीक समझ सकें, तो वैदिक अध्यात्म-साधना के मूल अभिप्राय को भी समझ सकेंगे। दर्शन की भाषा में आदिभावना का रूप कुछ इस प्रकार होगा—चैतन्य ही विश्व का मूल है। अभिव्यक्ति के मध्यक्रम में मेरे आत्मचैतन्य का विकास होता है। मेरे आधार (प्राचीनों की भाषा में आत्मा या तनु) पर जड़ और चेतन का मिलन हुआ है। यदि मैं अपनी आधारगत चित्शक्ति अथवा चेतना को उद्बुद्ध कर सकूँ, तो फिर मैं जड़ोत्तर होकर जड़ को प्रशासित भी कर सकता हूँ। इस भावना में स्पष्टतः साधना के

दो पक्ष दिखाई देते हैं, जिसमें एक पक्ष उत्तरण का है और दूसरा पक्ष अवतरण का है। अध्यात्म-साधना में साधारणतः उत्तरण का पक्ष ही प्रबल होता है। जड़ के स्पर्श से चेतना को किस प्रकार मुक्त किया जाए? यही साधक का लक्ष्य होता है। परिणामतः अध्यात्म-बोध में बुद्धि का प्रभाव ही प्रबल होता है। इस देश में भी वही हुआ। किन्तु साधकों ने अवतरण के पक्ष की उपेक्षा नहीं की। वैदिक साधना में उत्तरण और अवतरण में एक परिपूर्ण सामञ्जस्य था। द्युलोक एवं पृथिवी दोनों ही देवता हैं। देवता केवल बुद्धिग्राह्य अतीन्द्रिय तत्त्व नहीं है, बल्कि वह मेरे चिन्मय प्रत्यक्ष की उपलब्धि है। अपनी आत्मचेतना की व्याप्ति में ही मैं देवता के साथ सायुज्य या तादात्म्य का अनुभव करता हूँ और मैं ही देवता हो जाता हूँ। यह व्याप्ति केवल प्रकाशधर्मी नहीं, बल्कि क्रियाशील भी है – ये वैदिक भावना के मूल सूत्र हैं। इन सूत्रों का अनुचिन्तन करते हुए चेतना को यदि वैदिक ऋषियों के चैतन्य-लोक में उत्तीर्ण न किया जा सके, तो फिर वेद को समझने की चेष्टा व्यर्थ होगी। वैदिक ऋषियों ने भी वही कहा है कि समझने के लिए साधना भी प्रयोजनीय है। वेद का एक और नाम 'ब्रह्म' है। आधुनिक भाषा में अनुवाद करने पर ज्ञान (वेद) आत्मचैतन्य का विस्तार (ब्रह्म) है। इस ब्रह्म को समझने के लिए ही 'ब्रह्मचर्य' की साधना है। आधार को शुद्ध किए बिना (प्राचीनों की भाषा में धातु के प्रसन्न अथवा स्वच्छ न रहने पर) बृहत् की चेतना का बोध सम्भव नहीं। अतएव केवल बुद्धि द्वारा वेदार्थ समझने की चेष्टा करना निष्फल होने के लिए बाध्य है। सायण की व्याख्या को सुनकर भी बुद्धि जो समझेगी, वही यूरोपीय व्याख्या को सुनकर भी समझेगी। वेद का रहस्यार्थ दोनों के लिए ही अगोचर है। अन्तर केवल इतना है कि सायण ऐसा दावा नहीं करते हैं कि वे रहस्यार्थ प्रकट करने बैठे हैं, किन्तु यूरोपियों का दावा है कि वे रहस्यार्थ ही प्रकट कर रहे हैं।

यास्क ने निघण्टु की व्याख्या के आरम्भ में ही एक प्राचीन उक्ति का उद्धरण देते हुए बतलाया था कि "विद्या उसे ही दोगे, जो तपस्वी,

अनसूयक, ऋजु, संयत, शुचि अप्रमत्त, ब्रह्मचर्योपपन्न एवं मेधावी हो।" ये लक्षण बोधि अथवा अन्तःप्रज्ञा के अधिकार में हैं, किन्तु यास्क ने बुद्धि की उपेक्षा बिलकुल नहीं की। उन्होंने निरुक्त के परिशिष्ट में तर्क को ऋषि की मर्यादा दी है, किन्तु ध्यान में रखना होगा कि अध्यात्म चिन्तन में बुद्धि यदि बोधि का अनुगमन न करे, तो फिर उसके द्वारा रहस्योद्घाटन की चेष्टा एक असफल प्रयत्न मात्र होगा।

आधुनिक विद्वानों ने वेद-व्याख्या करने में जिस असाधारण परिश्रम का परिचय दिया है और बुद्धि को जिस रूप में व्यापृत, नियोजित किया है, उसकी प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जा सकता। किन्तु इस बौद्धिक व्यायाम के मूल में बोधि या अन्तर्दृष्टि के प्रकाश के अभाव में उनकी प्रचेष्टा केवल व्यर्थ ही नहीं, बल्कि प्रमादपूर्ण एवं अनिष्टकर हो गई। बुद्धि की क्रिया यान्त्रिक है, वह जिस किसी भी को आधार बनाकर कोई एक सिद्धान्त स्थापित कर सकती है। इसलिए पहले यह देखना ज़रूरी है कि बुद्धि किस मान्यता के आधार पर निर्णय या विवेचन करती है।

बोधि, जिस वाणी का उत्स है। उसके बारे में बोधि पर आधारित बुद्धि के द्वारा ही विचार करना उचित है। अन्तर्दृष्टि एवं प्रज्ञा के वैशारद्य के अभाव में वेद को समझाने की चेष्टा विडम्बना है। फिर व्याख्या यदि तर्कसम्मत न होने की अपेक्षा केवल श्रद्धालुता का उच्छ्वास मात्र हो, तो भी वह अश्रद्धेय होगी। अतएव बोधि एवं बुद्धि का समन्वय वेदव्याख्या का वास्तविक आधार होगा। उसके साथ ऐतिहासिक ज्ञान को युक्त करना होगा। वेद की अधिकांश भावनाएँ ही हमें बीज के आकार में प्राप्त हुईं, जिनका अङ्कुरण एवं पल्लवन परवर्ती युग में हुआ। व्याख्या करते समय यदि हम परवर्ती युग और पूर्ववर्ती युग को एक कर लें या दोनों युगों को एक दूसरे के विरोधी के रूप में कल्पना कर लें, तो इस प्रकार के दोनों ही प्रयास त्रुटिपूर्ण होंगे। वस्तुतः यहाँ बीज-भावना की एक धारावाहिकता है। बीज संहत है, किन्तु वह व्यञ्जना में समृद्ध है। आदि

युग की वह व्यञ्जना ही परवर्ती युग में विचित्र रूप में दिखाई पड़ी। 'वेद में सब कुछ है' इस लोकोक्ति का अर्थ ही वही है। बीज-भाव के विकास में अनेक द्वन्द्व एवं टकराव की उपस्थिति के साथ बाहर का बहुत कुछ आहरण करते हुए उसकी सिसृक्षा, सृजनेच्छा भी पुष्ट हुई। इन सारी बातों को हमें स्वीकार करना होगा। किन्तु वास्तव में वह एक ही मूल भाव का विस्तार है, इसे याद रखना होगा। वेदव्याख्या में विकासवाद का प्रयोग यदि किया जाए, तो इस रूप में ही करना उचित है।

अन्ततः, बोधि का प्रकाश, बुद्धि का मीमांसा-नैपुण्य एवं ऐतिहासिक परिणाम-ज्ञान, यही वेदव्याख्या का वास्तविक आधार होगा। इसके अतिरिक्त आरम्भ में ही इस संस्कार का वर्जन करना होगा कि वेदमन्त्र केवल कर्म के उपलक्ष्य में उच्चारित इने-गिने कुछ निरर्थक शब्दों की परम्परा हैं, अथवा मन्त्रप्रतिपाद्य कर्म का कोई भी गहरा लक्ष्य नहीं। वस्तुतः कर्म एक उपलक्ष्य मात्र है; भाव एवं विस्तार उसका लक्ष्य है। ज्ञानयज्ञ ही साध्य है, द्रव्ययज्ञ उसका सहायक मात्र है - यह तत्त्व वैदिक ऋषियों के लिए अपरिज्ञात नहीं था। उसके अनेक प्रमाण उसी संहिता और ब्राह्मण में ही खोजे जा सकते हैं। यह भाव जातिचेतना का एक वैशिष्ट्य है, उसका एक संवेग है, स्फुरण की एक धारा है। जिस महासागर की ओर उस धारा की यात्रा जारी है वह आज भी सम्भवतः उसके तट तक नहीं पहुँच पाई है, किन्तु दीर्घकाल से संवाहित तट-भूमि के अपने परिचय को यत्र-तत्र अक्षुण्ण, अटूट रख गई है। जाति-मानस की एक गम्भीर आकूति प्रत्येक युग में जिस साधना वैचित्र्य की सृष्टि कर गई है, उसमें बाह्यदृष्टि से अनेक विषमताओं के बावजूद आन्तरदृष्टि से वे सगोत्र हैं। यहाँ तक कि जो भेद है, वह भी कई क्षेत्रों में अधिक गहरा नहीं। भारतवर्ष के आदियुग से लेकर आज तक की उसकी आध्यात्मिक प्रगति के इतिहास को एक अखण्ड दृष्टि से न देखने पर उसके आरम्भ की घटनाओं को हम बिलकुल ही नहीं समझ पाएँगे।

इसलिए वेदमन्त्रों को समझने के लिए अतीत के कुहासा-ढँके अल्प प्रकाश में आँख मूँदकर टटोलते रहना ही पर्याप्त नहीं। उसके लिए भारतवर्ष के किञ्चित् विस्मृत अतीत तथा वर्तमान को भी समझना होगा। क्योंकि इन मन्त्रों के मूल में जो प्रवेग एक जाति के उदयकाल में उसकी गम्भीरतम आकाङ्क्षा से उत्सारित हुआ, वह आज भी स्तिमित नहीं हुआ एवं उसका एक ऐसा वैशिष्ट्य है, जिसने कालप्रवाह के मध्य भी अपनी अनन्यता को अक्षुण्ण रखा है। वैदिक युग को समझने के लिए भारतवर्ष के समग्र इतिहास को उसके वर्तमान युग तक गहराई में पैठकर समझना होगा।

द्वितीय अध्याय

वैदिक साहित्य

भूमिका

वर्तमान भारतवर्ष की संस्कृति में मुख्यतः हिन्दू-भावना का ही प्राधान्य है, यह बात निःसंशय कही जा सकती है। आचार्य रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी ने हिन्दू समाज को 'त्रेदपन्थी' समाज की संज्ञा प्रदान की थी, क्योंकि 'यह समाज वेदानुशासन अथवा वेद-विधि को मानता है, एवं वेद का आनुगत्य स्वीकार करता है, उसका अनुसरण करता है।[१]" इस नामकरण में हिन्दू-भावना के एकमात्र उत्समुख अथवा उद्गम-स्रोत का सन्धानसङ्केत प्राप्त होता है। वस्तुतः हिन्दू-संस्कृति एक मिश्र संस्कृति है और समस्त प्राणवन्त संस्कृतियाँ ही मिश्र, मिली-जुली, सामासिक संस्कृतियाँ हैं, किन्तु दीर्घकालीन इतिहास की धारावाहिकता की साक्षी हिन्दू-संस्कृति में वैदिक भावना की प्रमुखता ही महासागरसङ्गम की ओर अग्रसर है - यह एक निर्विवाद तथ्य है।

वेद हिन्दू-शास्त्रों में सर्वश्रेष्ठ हैं, वेद ब्राह्मणों का धर्मशास्त्र है, एवं वेद आर्यजाति की रचना है – इन सारी उक्तियों से हम सुपरिचित हैं। एक ही साँस में हम वेद के साथ हिन्दू, ब्राह्मण अथवा आर्य को लपेट लेते हैं; किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि के आलोक में देखने पर इन संज्ञाओं की उत्पत्ति एक ही समय में नहीं हुई, अथवा उनकी व्यञ्जना भी एक जैसी नहीं थी। इनमें 'हिन्दू' संज्ञा विदेशियों द्वारा दी गई

---

१. यज्ञकथा: पृष्ठ ३

है, जिसके मूल में संस्कृत का 'सिन्धु' शब्द है।[१] जिन्होंने वेदों की रचना की, वे निश्चय ही स्वयं को 'हिन्दू' नहीं कहते थे। विभिन्न वैदिक जनों के भिन्न-भिन्न नाम थे। उन सब नामों से ही वे अपना परिचय दिया करते।[२] किन्तु ऋक्संहिता में ही देखने में आता है कि मन्त्रकृत या मन्त्रद्रष्टा ऋषिगण स्वयं को ब्राह्मण के रूप में अभिहित कर रहे हैं।[३] फिर स्वयं को 'आर्य' भी कह रहे हैं।[४]

१. वैदिक 'सिन्धु' शब्द नद की सामान्य एवं विशेष दोनों की संज्ञा है। उससे फ़ारसी : हिन्द (Pers, HIND) GREEK INDIA, LATIN INDIA। सिन्धुधौत देश। DARIUS निम्न सिन्धु देश का नाम, hi (n) dus (ELAMITE 'hi-in-du-is') HERODOTUS सिन्धुतीरवासियों को Indoi बतलाते हैं। HIUANTSANG (ह्वेनसाङ्ग) पूरे देश को In-tou नाम दे रहे हैं एवं उनके पूर्वपुरुषों ने chen. tou अथवा Tien-tehou बतलाया है।

२. वैदिक जनों में सबसे अग्रणी भारत जन थे। वे सरस्वती और यमुना के मध्यवर्ती भाग में निवास करते थे। कालान्तर में भरत जनों के नाम पर ही समस्त देश का नाम '**भारत**' हुआ। '**भरतर्षभ**' विश्वामित्र ऋषि सुविख्यात सावित्रमन्त्र के द्रष्टा थे, जिसे आज भी द्विजातियों के नित्य पाठ्य स्वाध्याय के रूप में मान्यता प्राप्त है।

३. ऋ.सं. 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदु**र्ब्राह्मणा** ये मनीषिण:' १।१६४।४५; **ब्राह्मणास**: पितर: सोम्यास: '६।७५।१०'; **ब्राह्मणा** व्रतचारिण:, ७।१०३।१; ७,८; ८।५८।१; १०।१६।६; ७१।८,९, ८८।१९; **ब्राह्मणो**ऽस्य मुखमासीत् ९०।१२ (यहीं वर्ण-विभाजन की सूचना); ९७।२२। अनुरूप 'ब्रह्म' शब्द के अनेक प्रयोग प्राप्त होते हैं।

४. तुलनीय ऋ. सं. यथावशं नयति दासमार्य: (इन्द्र:) ५।३४।६; यस्यायं विश्व '**आर्यो**' दास: शेवधिपा अरि: ८।५१।९; **विशेष प्रणिधान योग्य** – यो नो दास आर्यो वा 'पुरुष्टुताऽदेव' इन्द्र युधये चिकेतति १०।३८।३; विदद् दासाय प्रतिमानमार्य: (इन्द्र) १०।१३८।३; दस्यवे हेतिमस्यार्यं स हो वर्धया द्युम्नमिन्द्र १।१०३।३; **विशेष रूप से ध्यातव्य** – इन्द्र: समत्सु यजमानम् 'आर्यं' प्रावत् . . . .मनवे 'शासद् व्रतान' त्वचं कृष्णामरन्धयत् १।१३०।८; वेधा (विष्णु:) . . .आर्यम् ऋतस्य भागे यजमानमाभजत् १।१५६।५; **विशेष रूप से ध्यातव्य**-हत्वी 'दस्यून' प्रार्द वर्णमावत् (इन्द्र) ३।३४।९ इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुर : (सोमा:) कृण्वन्तो विश्वमार्यम् ९।६३।५; विदत् स्वर्मनवे ज्योतिरार्यम् (इन्द्र:) १०।४३।४; न यो (इन्द्र:) रर आर्यं नाम दस्यवे १०।४९।३; **विशेष ध्यातव्य** – साह्याम् दासमार्यं त्वया युजा १०।८३।१ अयमेमि (इन्द्र:) विचाकशद् विचिन्वन् दासम् आर्यम् १०।८६।९; दासा

आर्य, ब्राह्मण एवं हिन्दू, ये तीनों संज्ञाएँ भारतीय-संस्कृति के इतिहास के तीन अध्यायों के द्योतक के रूप में मानी जा सकती हैं।

च वृत्रा हत**मार्याणि** च ७।८३।१; (इन्द्र:) सधमा '**आर्यस्य**' (सुदास:) ७।१८।७; **आर्यस्य** वर्धनमग्नि ८।१०३।१ **विशेष रूप से ध्यातव्य** – दासस्य वा मघवन्+**आर्यस्य** वा....यवया वधम् १०।१०२।३; ४।३०।१८; त्वं ताँ इन्द्रोभयाँ अमित्रान् दासा वृत्राणि+**आर्या** च वधी: ६।३३।३; हतो वृत्राणि+**आर्यो** हतो दासानि ६।६०।६; धामानि+**आर्या** शुक्रा ९।६३।१४; **आर्याव्रता** १०।६५।११, १०।६९।६; तिस्र : प्रजा **आर्या** (:) ज्योतिरग्रा: ७।३३।७ (तुलनीय ८।१०१।१४; विशो....**आर्या** १०।११।४; ६।२२।१०; २।२४।२७; १।५१।८; वैश्वानर ज्योतिर्विद् 'आर्याय' १।५९।२। **विशेष रूप से ध्यातव्य** – अभिदस्युं वकुरेण धमन्तोरु ज्योतिश्चक्रथुर **आर्याय** (अश्विनौ) १।११७।२१: अपावृणोर ज्योतिर **आर्याय** नि सव्यत: सादिदस्युरिन्द्र २।११।१८, ४।२६।२; दस्यूँरक : कृष्टीरवनो**रार्याय** ६।१८।३; ६।२५।२; त्वं दस्यूँ रोकसो अग्र आज उरु ज्योतिर्जनयन्**नार्याय** ७।५।६; तरन्तो विश्वा: स्पृध **आर्येण**दस्यून् २।११।१९। **लक्ष्य करने पर दिखाई देगा कि प्राय: सर्वत्र ही आर्य 'प्रजा' अथवा विश का बोधक है; वहाँ यह संज्ञा स्पष्टतया जनवाची है, जिससे सामान्य जन का बोध होता है** (७।३३।७, १०।११।४; 'तिस्र:प्रजा:' **अवश्य ही ब्रह्म, क्षत्र एवं विश का सूचक है**; द्रष्टव्य ८।३५।१६-१८। **आर्यों के साथ दस्यु एवं दास का विरोध आधिभौतिक दृष्टि से दो जन-वर्णों का है**, (तुलनीय २।१२।४, ३।३४।९) **अथवा इससे संस्कृति के सङ्घर्ष की सूचना मिलती है, जिसके कारण बड़ी आसानी के साथ ही यह विरोध आध्यात्मिक क्षेत्र में भी उपचरित हुआ। दास की त्वचा काली (१।१३०।८) होने के कारण वह तम: शक्ति का प्रतीक है; आर्य ज्योति के उपासक हैं, दस्यु एवं दास को पराजित करके उनके भीतर देवता ज्योति प्रकट करते हैं (१।११७।२१, २।११।१८, ७।५।६; तुलनीय 'दासीर्विश: सूर्येण सह्या:' १०।१४८।२)। किन्तु दिखाई पड़ता है कि आर्य भी आर्यों के 'वृत्र' या शत्रु हैं (६।२२।१०,३३।३, ६०।६, ७।८३।१, १०।६९।६, १०२।३)।** आर्यों के साथ आर्यों का विरोध केवल भौतिक-सम्पदा को लेकर ही नहीं था, बल्कि अध्यात्म-मार्ग को लेकर भी उनमें एक विरोध था। अनेक आर्य थे, जो 'अदेव' थे, (६।१७।८, ८।५९।२) 'अनिन्द्र' थे (२।१२।५), ५।२।३, १०।४८।७)। **आर्यभावना के इतिहास में यह विरोध स्थायी रूप में है, एवं द्वन्द्व के भीतर से ही एक उदात्त समन्वय की प्रेरणा सँजोता आया है। आर्य शब्द कही-कहीं 'अभिजात' या समुन्नत अर्थ में व्यवहृत हुआ है – जैसे, 'आर्य ज्योति:' 'आर्य धाम' 'आर्य व्रत'।**

उनमें आर्य-संस्कृति ही मूल है, जिससे कालान्तर में अन्य दो संस्कृतियों का उद्भव हुआ।

आर्य-संस्कृति निश्चय ही एक अखण्ड अथवा विशुद्ध भावना का वाहन या माध्यम नहीं थी। उसमें भी भीतर-बाहर का द्वन्द्व था एवं उससे ही उसकी प्राणशक्ति की सम्पूर्ति हुई है। आर्यों में जिन्होंने एक सुविन्यस्त साहित्य के रूप में अपनी संस्कृति का परिचय दिया है, वे वेदपन्थी थे। किन्तु वैदिक-भावना के अतिरिक्त आर्यसमुदाय में अवैदिक-भावना का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान था, जिसका प्रमाण वैदिक साहित्य में ही प्राप्त होता है। जो कुछ आर्य है, वही वैदिक नहीं, इसे ध्यान में रखना चाहिए; क्योंकि इसके सम्बन्ध में चिन्तन की शिथिलता अनेक क्षेत्रों में ही हमारी ऐतिहासिक दृष्टि को धुँधला कर देती है। इसके अतिरिक्त अनार्य-संस्कृति का भी प्रभाव था।

प्राचीन आर्य-संस्कृति में वैदिक, अवैदिक एवं अनार्य--इन तीन भावनाओं का सङ्घात या निविड़ संयोग था। इस घनिष्ठ मिलन को स्वीकार करके एवं अवैदिक भावना को प्रचुर मात्रा में आत्मसात् करके कालक्रम में ब्राह्मण्य-संस्कृति का उद्भव हुआ - जो मुख्यत: वेदपन्थी है। अनेक अनार्य एवं वैदेशिक भावनाओं को संशोधित, परिष्कृत करके तथा अपना बनाकर बहुत पीछे हिन्दू-संस्कृति का उद्भव हुआ। वह भी वेदपन्थी के रूप में ही अपना परिचय देती है। यद्यपि वह आज प्राचीन वैदिक-भावना से बहुत दूर सरक कर आ गई है। तब भी यह सरक आना गङ्गा की धारा का गङ्गोत्री से गङ्गासागर की ओर सरक आना है। लगता है, एक ही अविच्छिन्न धारा अनेक शाखाओं, उपशाखाओं की ज़लराशि से पुष्ट होकर आज 'महामानव के सागर-तट' पर आ पहुँची है।

भारतवर्ष की संस्कृति के इतिहास में यही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि मूल धारा वेद की है। वैदिक-भावना का यह आधिपत्य-बल पराये को अपना बना लेने में निहित है। यह औदार्य ही भारतवर्ष की

जातीय या राष्ट्रीय प्रगति-साधना का वैशिष्ट्य है एवं वह आर्यों का अवदान है। वैदिक-भावना के भीतर इस औदार्य का बीज कहाँ निहित था? यदि हम उसकी खोज कर पाएँ; तभी हमारे निकट भारतीय-संस्कृति के अतीत का इतिहास और भविष्य की नियति का मर्मरहस्य उद्घाटित होगा। वेदार्थ के मनन की इस दिशा-दृष्टि का एक विशेष मूल्य है।

साधारण परिचय

[१]

वैदिक आर्य अपनी संस्कृति का परिचय वेद में सुरक्षित छोड़ गए हैं। हम उनकी साहित्य-कीर्त्ति को वेद कहते हैं, किन्तु शुरु में वे यह नहीं कहा करते थे। वस्तुत: 'वेद' शब्द ऋक्संहिता में एक स्थल पर पाया जाता है।[१] वहाँ उसका उल्लेख सामान्य अर्थ में ही अन्यान्य साधनाङ्गों के साथ किया गया है।[२] इस साहित्य कीर्ति के मूल में वैदिक ऋषि जिस दिव्यशक्ति की प्रेरणा के अस्तित्व का अनुभव किया करते थे, उसे वे 'वाक्' कहा करते थे। उन्होंने 'वाक्' को मर्मज्ञों अथवा रहस्यविदों की दृष्टि से देखा था। इस देवी को लेकर उनके चित्त में

---

१. य: समिधाय आहुती यो वेदेन ददाश मर्तो अग्नये, यो नमसा स्वध्वर : ८।१९।५। तुलनीय; वेदेन रूपे व्यपिबत सुता सुतौ प्रजापति : वा. सं. १९।७८। वेद < √ विद् (जानना : तुलनीय : LAT. Videre, 'to see'। GK. oida 'Know'; O.SLAV. Videti 'to see' ; GOTH. Waitan 'to know' ; पाना : तुलनीय, 'वेद :' धन) अर्थ - 'ज्ञान'। अनुरूप 'वेद्या' (ऋ. १।१७१।१, ३।५६।१, ६।९।१, ७।२१।५, १०।७१।८।) 'विद्या' (ब्राह्मणग्रन्थों एवं उपनिषदों में अन्त के शब्द का ही अधिक प्रयोग है, हालाँकि ऋक्संहिता में ही एक जगह उसका उल्लेख है (ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम् १०।७१।११); अथर्वसंहिता में इस शब्द का प्रयोग अधिक मिलता है (६।११६।१, ११।७।१०, ११।८।२३ ध्यातव्य।

२. अथर्वसंहिता में इस शब्द के जो कई प्रयोग हैं (४।३५।६, १०।८।१७, १९।९।१२, १९।३८।१, १९।७२।१ वे भी सामान्यत: ज्ञानवाची हैं। एक जगह 'वरदा वेदमाता, का उल्लेख प्राप्त होता है (१९।७१।१)।

सुमधुर रहस्यगम्भीर उद्वेलन का जैसे कहीं अन्त ही नहीं था। वाग्देवी के सम्बन्ध में अन्यत्र विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला जाएगा। क्योंकि उसे भली भाँति न जानने पर वैदिक-साहित्य के उत्स अथवा प्रस्थान बिन्दु का परिचय हमें नहीं प्राप्त होगा।

'वाक्' की प्रेरणा द्वारा ऋषि के हृदय से जो उत्सारित होता है, वेद में उसके अनेक नाम हैं – उनमें ऋक्, मन्त्र, गिर्, उक्थ एवं ब्रह्म; इन कई नामों को प्रमुख माना जा सकता है। इनमें गिर् एवं उक्थ से हमारा वैसा परिचय नहीं है, जैसा होना चाहिए; यद्यपि ऋक्संहिता में वे बहुप्रयुक्त संज्ञाएँ हैं। 'ऋक्' कभी-कभी मन्त्र के समानार्थी के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[१] हालाँकि अब हम ऋक् के अर्थ में मन्त्रमाला अथवा मन्त्र-समूह ही समझते हैं। 'मन्त्र' संज्ञा से हम सुपरिचित हैं। इसके आधार पर आर्य-भावना एवं साधना की एक परम्परागत अथवा सञ्जीयमान धारा आधुनिक काल तक प्रवाहित होती आई है। 'ब्रह्म' संज्ञा ऋक् संहिता में बहुप्रयुक्त है। उसकी व्यञ्जना का फैलाव एवं गहराव उपनिषद् में जिस विशिष्ट भाव के द्योतक के रूप में प्रस्तुत है। उसे हम अच्छी तरह ही जानते हैं। इसके अर्थ के इस विवर्तन एवं स्पष्टीकरण के बारे में बहुत कुछ कहना है; क्योंकि इसके भीतर हमें आर्य अध्यात्म-भावना के एक मूलसूत्र का सन्धान प्राप्त होगा।

वैदिक-साहित्य को हम 'श्रुति' कहते हैं। यह रूप ऋक्संहिता में नहीं है, बल्कि 'श्रुतम्' है।[२] 'श्लोक' (ध्यातव्य-शोक) एवं 'श्रवस्' शब्द भी हैं। ये संज्ञाएँ प्रणिधान योग्य हैं; क्योंकि इनके साथ आध्यात्मिक साधना एवं दार्शनिक भावना की अनेक घटनाएँ जुड़ी रही हैं। 'छन्दस'

---

१. द्रष्टव्य: ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ऋ. १।१६४।३९; तुलनीय, नि. १।१, दुर्ग की टीका।

२. इन्द्रावरुणा यदृषिभ्यो मनीषां वाचोमतिं श्रुतमदत्तमग्रे, यानि स्थानान्यसृजन्त धीरा यज्ञं तन्वानास्तपसाभ्यपश्यम् ८।५९।६। अथर्वसंहिता में है : मय्ये वास्तु मयि श्रुतम. ....सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन वि राधिषि (१।१।२,४)।

एक और संज्ञा है। यह शब्द ऋक्संहिता में काव्यबद्ध अर्थ में ही व्यवहृत अथवा प्रयुक्त हुआ है। किन्तु पाणिनि ने अपने व्याकरण में वैदिक भाषा के अर्थ में सर्वत्र ही इस संज्ञा का प्रयोग किया है।[१] प्राचीन नाम या संज्ञा जो भी हो, किन्तु जो वाक् या शब्दराशि वेद अथवा ज्ञान का वाहन है, उसे ही इस समय हम 'वेद' के रूप में जानते हैं। इसके प्राचीनतम अंश मन्त्रमय हैं। मन्त्र छन्दबद्ध हैं। अधिकांश ही पद्यच्छन्द हैं, किन्तु इसके अतिरिक्त गद्यच्छन्द भी हैं।

मन्त्रों के द्रष्टा विभिन्न ऋषि हैं। उनके द्वारा ही ये मन्त्र 'दृष्ट' हैं। वेदपन्थियों का विश्वास है कि ऋषिगण मन्त्रकर्त्ता नहीं। वेदमन्त्र शब्दराशि है; जो नित्य, शाश्वत एवं अपौरुषेय है। इस मतवाद को लेकर वैदिक एवं अवैदिक आर्यों में दीर्घकाल तक समय-समय पर वाक्युद्ध अथवा विवाद की सृष्टि हुई है। किन्तु ऋग्वेद के ऋषियों ने स्वयं को 'मन्त्रकृत' कहने में द्विधा नहीं की; हालाँकि वे वाक् के लोकोत्तर महत्त्व के सम्बन्ध में अत्यन्त सचेतन थे।[२]

जो वाक्, अध्यात्म-प्रेरणा का उत्स है, उसे प्रत्येक धर्म ही दिव्य एवं अलौकिक रूप में महसूस करता है। श्रद्धालु अथवा आस्थाशील

---

१. 'मन्त्र' एवं 'निगम' पाणिनि द्वारा व्यवहृत दो और संज्ञाएं हैं। एक जगह 'ब्राह्मण' संज्ञा है (२।३।६०)। जिसका प्रयोग करने से जान पड़ता है कि वे मन्त्र की भाषा एवं ब्राह्मण की भाषा में अन्तर दिखा रहे हैं। निरुक्तकार यास्क वैदिक-भाषा को 'छन्दस' कहते हैं (नि. १।१।४)। बौद्धशास्त्रों में भी वैदिक-भाषा को 'छन्दस' कहा गया है, जो लौकिक अथवा लोकभाषा से पृथक् है (विनयपिटक, चुल्लवग्ग ५।६।१)।

२. द्रष्टव्य : मन्त्रकृतां स्तोमै : ९।११४।२ ; धीरा मनसा वाचमक्रत १०।७१।२; इन्द्रं नरः स्तुवन्तो ब्रह्मकारा : ६।२९।४; इमे हिते ब्रह्मकृतः सुते स चा ७।३२।२ (८।६६।६, १०।५०।७, १०।५४।६) यो अर्चतो ब्रह्मकृतिमविष्ठः ७।२८।५ (२९।५, ३०।५) ; ब्रह्मकृतिं जुषाणः ७।२९।२।, किन्तु देवगण भी 'ब्रह्मकृत' (३।३२।२, ७।९।५, १०।६६।५); इसलिए ऋषि की मन्त्रकृति देवता की ही प्रेरणा से है (तुलनीय ८।५९।६)।

लोगों की दृष्टि में अवेस्ता, त्रिपिटक, बाइबिल, कुरान – इनमें कोई भी प्राकृत मनुष्य का कथन नहीं। ये सभी ईश्वर अथवा ईश्वराविष्ट पुरुष के वाक् हैं। ये सब वाक् जिस भाव के संवाहक हैं, उसे लोकोत्तर एवं अप्राकृत अथवा अलौकिक कहने में कोई आपत्ति नहीं; किन्तु इसके साथ भाववाचक वाक् भी तो स्थूल अर्थ में ही लोकोत्तर है – वेदपन्थियों के इस विश्वास का मूलाधार मन्त्र-विद्या है। एक लम्बे समय से इस विश्वास को नाना प्रकार के तर्कों द्वारा प्रमाणित एवं साधना द्वारा फलित करने की चेष्टा की गई है। वेदार्थ-आलोचना के समय दीर्घकाल से सम्प्रेषित इस प्रयास के इतिहास को नज़र अन्दाज़ करने से काम नहीं चलेगा; क्योंकि जिस परिवेश में मन्त्रों का आविर्भाव हुआ है, उसके साथ घनिष्ठ परिचय न होने पर उसके मर्म को उद्‌घाटित करना सम्भव नहीं है।

[२]

आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र का कथन है कि मन्त्र एवं ब्राह्मण, इन दोनों का नाम 'वेद' है।[१] मन्त्र में तत्त्व एवं साधना की व्यञ्जना को ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रस्फुटित किया गया है। ऐसी प्रसिद्धि है कि एक वेद को ही कृष्ण द्वैपायन ने चार भागों में विभाजित किया था। जिससे ऋक्, यजुः, साम एवं अथर्व, चार वेद सङ्कलित किए गए।[२] उस समय वेद के मन्त्रांश को संहिता का नाम दिया गया। उसके ही अनुसार प्रत्येक संहिता के साथ

१. 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र २४।१।३१; द्रष्टव्य, सत्याषाढ़ श्रौतसूत्र १।१।७, शाबरभाष्य २।१।३३ 'मन्त्राश्च ब्राह्मणं च वेदः'।

२. 'विव्यासैकं चतुर्धा यो वेदं वेदविदां वरः' महा. १।६०।५; द्रष्टव्य : अग्निपुराण १५०,२१७; विष्णु पु. ३।३-७; वायु पु. १।६०। इसके कारण ही वे 'वेदव्यास' अथवा केवल 'व्यास' हैं। वेद को विभाजित करके उन्होंने अपने चार शिष्य पैल, वैशम्पायन, जैमिनि, एवं सुमन्त को क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद पढ़ाकर वेद-विस्तार या प्रसार का भार सौंपा। ब्राह्मण आदि **चारों वर्णों को ही वेद-विद्या सुनाने का विधान** देकर व्यास ने अपनी 'विशाल बुद्धि' का परिचय दिया है। (द्र. महा. १२।३२७।३३-५२ 'सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु, श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः)।

'**ब्राह्मण**' भाग जुड़ा हुआ है। 'ब्राह्मण' के अर्थ में 'ब्रह्म' से सम्बन्धित विचार का बोध होता है।[१] इस विचार की प्राचीन संज्ञा या नाम 'ब्रह्मोद्य' अथवा 'ब्रह्मवाद' है। जो इसमें आत्मनियोग करते थे, उनको 'ब्रह्मवादी' अथवा 'ब्रह्मवादिनी' कहा जाता था।[२]

मीमांसकों ने ब्राह्मण का कोई स्वतन्त्र लक्षण नहीं दिया। उनका कथन है कि 'जो वेदवाक्य इष्टार्थ का प्रचोदक या उत्प्रेरक है, वही 'मन्त्र' है, उसके अतिरिक्त सभी 'ब्राह्मण' है।[३]

'मन्त्र' ही वेद का मूल ढाँचा है। इसलिए संहिता के आकार में सङ्‌गृहीत मन्त्रों को शुरू से ही एक संहत एवं स्थाणु या स्थिर रूप प्राप्त

१. 'ब्राह्मण' शब्द की व्युत्पत्ति क्लीबलिङ्ग 'ब्रह्मन्' से। इस शब्द से क्लीबलिङ्ग में 'मन्त्र या 'विद्या' पुंल्लिङ्ग में 'ब्रह्मवित्' का बोध होता है। संहिता में ब्रह्म 'मन्त्र' अथवा 'मन्त्रशक्ति' और उपनिषद् में 'परमतत्त्व' है। स्वभावतः भावना की इन दो श्रेणियों में एक निगूढ़ संयोग है, उस पर अन्यत्र प्रकाश डाला जाएगा।

२. ब्रह्मोद्य का एक दृष्टान्त, ऐतरेय ब्राह्मण ५।२५। वहाँ अग्नि, वायु अथवा आदित्य में कौन गृहपति है? उसी को लेकर ब्राह्मणों का वाद-विवाद या तर्क-वितर्क चलता है एवं अन्त में मीमांसा हुई कि आदित्य ही गृहपति है। इस प्रकार के ब्रह्मोद्य के अनेक उदाहरण उपनिषद् में प्राप्त हैं। ब्रह्मोद्य का एक सुन्दर नमूना वाजसनेय संहिता २३।४५-६२; द्रष्टव्य २३।९-१२। ऋ.सं. १।१६४ सूक्त ब्रह्मोद्य का प्राचीनतम उदाहरण है ; अनुक्रमणिकाकार का मन्तव्य है 'अल्पस्तवं तु एतत् संशयोत्थापन प्रश्न प्रतिवाक्यान्यत्र प्रायेण, ज्ञान मोक्षाक्षर प्रशंसा च।' इसके अतिरिक्त भी ऋक्संहिता में यत्र-तत्र कुछ ब्रह्मोद्य बिखरे पड़े हैं। कात्यायन के श्रौतसूत्र में 'प्रजापतेर गुणाख्यानम्' को ब्रह्मोद्य कहा गया है, यह भी लक्षणीय है (१२।४।१९,२०; 'अगुण' = निर्गुण, लोकोत्तर)। इस ब्रह्मोद्य का परिनिष्ठित एवं न्यायसिद्ध रूप 'मीमांसा' है। मीमांसा की उत्पत्ति 'मन्त्र' से है। दोनो संज्ञाओं के मूल में एक ही धातु है।

३. द्र. मीमांसा सूत्र २।१।३२, ३३। मन्त्र का अविकृत एकनिष्ठ लक्षण निर्धारित करना कठिन है, इसे मीमांसकों ने भी स्वीकार किया है। अन्त में निरुपाय होकर वे कहते हैं कि सम्प्रदाय-परम्परा के अनुसार मन्त्र के रूप में जिसे मान्यता प्राप्त होती आई है, वही 'मन्त्र' है, इसके अतिरिक्त सब 'ब्राह्मण' अथवा व्याख्या है।

है। सिद्धक्रिया एवं भाव का संवाहक होने के कारण 'मन्त्र' की एक असाधारण मर्यादा है। यही कारण है कि वह दीर्घकाल से ज्यों का त्यों रह गया। विशेष रूप से मन्त्र के शब्दों का भी एक अलौकिक सामर्थ्य है ; यह धारणा यदि शुरू से ही रहे, तो मन्त्र को अविकृत रखने की चेष्टा स्वाभाविक रूप में ही प्रबल होगी। किन्तु मन्त्राश्रित ब्राह्मण या व्याख्या के सम्बन्ध में ऐसे स्थाणुत्व अथवा स्थिरता की बात उठती नहीं। क्योंकि ब्राह्मण का काम मन्त्र के प्रयोग एवं तात्पर्य के सम्बन्ध में विचार करना एवं विवरण देना है। जिस समय मन्त्र की उत्पत्ति हुई, उस समय से ही उसके बारे में ब्रह्मवादियों की मीमांसा प्रवर्तित हुई एवं वह कर्म-मीमांसा और ब्रह्म-मीमांसा दोनों ही हुई। भाषा की दृष्टि से मन्त्र-साहित्य और ब्राह्मण-साहित्य दोनों में अन्तर दिखाई देता है। इसलिए दोनों में कालिक पूर्वापरता का अनुमान करना अयौक्तिक नहीं। किन्तु इसके कारण एक समय में केवल मन्त्र ही रचे गए और ब्राह्मण की रचना नहीं हुई - यह सच नहीं हो सकता। व्याख्याधर्मी होने के कारण ही ब्राह्मण परिवर्तित और परिवर्द्धित होकर अन्त में एक स्थायी रूप धारण करता है। इस चरिष्णुता के कारण ही हम अत्यन्त प्राचीन ब्राह्मणों को नहीं पाते। तथाकथित ब्राह्मणयुग के भी अनेक ब्राह्मण खो जाने के पश्चात् अब फिर कुछ-कुछ प्राप्त हो रहे हैं।

वेद के प्राचीन भाग की तरह मन्त्र-भाग की भी एक चरिष्णुता थी, ऋक्, यजुः एवं अथर्व इन तीन संहिताओं की भाषा की तुलना से बोध होता है। ऋक्संहिता की भाषा सर्वाधिक प्राचीन है, किन्तु उस युग में भी यजुः- मन्त्र एवं अथर्व-मन्त्र नहीं थे, यह कहना सङ्गत नहीं होगा।[१]

१. ऋक्संहिता के मन्त्रों के केन्द्र में सोमयाग है। यजुः याग का मन्त्र है। ऋक्संहिता में कहा गया है कि यजुः आदिम वेदयज्ञ से उत्पन्न (१०।९०।९), अथवा ऋषियों के मानसध्यान द्वारा प्राप्त हुआ है (१०।१८१।३) पुनः वहाँ ही देखते हैं कि अथर्वा यज्ञ के अथवा अग्निविद्या के आदिप्रवर्तक हैं (१।८३।५), ६।१५।१७, ६।१६।१३, ९।११।२, १०।२१।५, १०।९२।१०)। अथर्ववेद का एक और नाम अङ्गिरोवेद है (द्र. श. ब्रा. १३।४।३।८। अथर्वा एवं अङ्गिरा दोनों ही ऋक्-

इसलिए मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद को आज हम जिस प्रकार देख रहे हैं, प्राचीनकाल में भी वैसा ही था, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। क्रिया-बाहुल्य एवं विवर्तन के कारण यजुःमन्त्रों और अथर्व-मन्त्रों का परिवर्द्धन और परिवर्तन हुआ है। अथर्वसंहिता का जो अंश ब्रह्मविद्या का प्रतिपादक है, उसके साथ उपनिषद्-भावना का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस भावना के क्रियापरक न होने के कारण जो भाषा उसका वाहन है, उसका परिवर्तन युग-विवर्तन के साथ और भी सहजता के साथ हुआ है। इन्हीं सारे कारणों से यजुः एवं अथर्व-मन्त्र की भाषा की अर्वाचीनता के लक्षण दिखाई पड़े हैं। अतः भाषा के विवर्तन को देखते हुए जब हम वैदिक-साहित्य में युग-विभाजन की कल्पना करेंगे, तब उसके अनुसार भाव का भी विवर्तन हुआ, यह कहना सङ्गत नहीं होगा। भाषा का विवर्तन और भाव का पल्लवन ठीक एक प्रकार का परिणाम नहीं। भाषा का स्रोत विपरीत दिशा में प्रवाहित नहीं होता। आधुनिक भाषा से हम प्राचीन भाषा में लौटकर नहीं जा सकते, किन्तु भावधारा विपरीत दिशा में प्रवाहित हो सकती है, विशेष रूप से अध्यात्म-साधना के समय। 'वाग्वैखरी शब्दझरी' से पश्यन्ती-वाक् में लौट जाना ही अध्यात्म-चेतना के उत्कर्ष का परिचय है। इसलिए भाव की दृष्टि से जो मन्त्र साहित्य वैदिक भावना की गङ्गोत्री है, उसे ही सागर-सङ्गामी मीमांसा साहित्य की अपेक्षा अधिक मर्यादा देनी होगी। अधुना प्रचलित छोटी- बड़ी विचारधाराएँ यहाँ उलट जाएँगी – इस बात को ध्यान में रखना होगा।

संहिता में अतिप्राचीन पितृपुरुष के रूप में परिगणित हैं (१०।१४।६); तुलनीय अथर्वा मनुष्पिता १।८०।१६)। अथर्ववेद को 'ब्रह्मवेद' कहा जाता है (तु. तमृचः सामानि यजूंषि ब्रह्म चानुव्यचलन् अ. १५।६।८)। यह सार्थक नाम है, क्योंकि ब्रह्म के ज्ञान और शक्ति इन दोनों पक्षों का ही परिचय हमें अथर्ववेद में प्राप्त होता है। ऋकसंहिता में रक्षोहा अग्नि की तुलना अथर्वा के साथ की गई है, जो अन्ध, सत्य को विकृत करता है, उसे वे दोनों जलाकर मार डालते हैं (१०।८७।१२)। ऋक्संहिता के कुछ मन्त्रों में अथर्वा की इस शक्ति का परिचय है। विस्तृत आलोचना यथास्थान की जाएगी।

संहिता के रूप में वेद के मन्त्रों को चार भागों में विभाजित किया गया है, अतएव हम 'चतुर्वेद' कहते हैं, किन्तु वेद को 'त्रयी' भी कहा जाता है। उस समय मन्त्र को क्रिया की दृष्टि से ऋक्, यजुः एवं साम इन तीन भागों में विभाजित किया जाता है। यह विभाजन अति प्राचीन है।[1] मीमांसकों का कथन है कि मन्त्र पादबद्ध एवं छन्दोबद्ध होने से ऋक् तथा गीत होने से साम कहलाता है। इसके अतिरिक्त अन्य सब मन्त्र यजुः हैं।[2] मोटे तौर पर ऋक् पद्य है, यजुः गद्य है और साम, गान या गीत है। ऋक् में ही सुर देकर साम की रचना हुआ करती है, अतएव ऋक्संहिता में हमें गीतिकाव्य का प्राचीनतम रूप मिलता है।[3]

१. ऋ.सं. के पुरुषसूक्त में हमें उसका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है : तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत १०।९०।९; द्र. ऋ. सं. १०।७१।११ तु. अहं बुध्मिय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रयीविदो विदुः ऋचः सामानि यजूंषि (तै.ब्रा. १।२।१।२६, द्र. अ. सं. १०।७।२०)

२. मीमांसा सूत्र २।१।३५-३७।

३. ऋक् के साथ ज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है (तु. ऋ. ५।४४।१४-१५, वहाँ ऋक् और साम सहचरित हैं)। जो ऋक् की रचना किया करते थे, वे केवल कवि नहीं बल्कि 'स्तोता' अथवा जरिता अर्थात् गायक होते थे। निघण्टु में 'अर्चति' के निकट ही 'गायति' है (३।१४)। 'अर्क' (ऋक्) ऋक्संहिता में 'गान' का बोध होता है। देवता के प्रति प्रशस्ति गान के सुर में की जाती है, यह सूचना ऋक्संहिता के अनेक स्थलों में है (द्र. १।४।१०, १।५।१, ५।६८।१, ६।४५।४, ७।३१।१, ८।१५।१, ९।११।१.....)। इस गीति कविता का अत्यन्त प्राचीन नाम 'गाथा' या 'गाथ' है (१।१६७।६, ८।३२।१, गाथया पुराण्या ९।९९।४, सोमाय 'गाथमर्चत' ९।११।४, यहाँ गाथा एवं ऋक् एक साथ प्राप्त होते हैं)। रुद्र 'गाथपति'। ऋक्संहिता में जो छन्द आदिम है और जिसका प्रयोग अधिक किया गया है, उसका नाम 'गायत्र' है। संहिता में अष्टम मण्डल का नाम 'प्रगाथ' मण्डल है। अतएव ऋक्संहिता मूलतः गीति-कविता का सङ्ग्रह है। सामसंहिता में जो समस्त ऋक् साम की 'योनि' की दृष्टि से सङ्गृहीत हुए हैं। उनमें 'गायत्र-छन्द' के मन्त्र ही अधिक हैं। किन्तु अन्यान्य छन्दों के मन्त्र भी कुछ कम नहीं हैं। सामसंहिता का सङ्कलन याज्ञिकों के प्रयोजन के अनुसार किया गया, इसलिए स्वाभाविक रूप से ही उन्होंने ऋक् में साम का प्रयोग सीमित रूप में किया है। किन्तु सामवेद 'सहस्रशाख' है, इस किंवदन्ती से सभी ऋचाओं की गेयता का सङ्केत प्राप्त होता है। यह गाथा अथवा

अथर्वसंहिता में हम जिन मन्त्रों को पाते हैं, उनमें अधिकांश ही पादबद्ध और छन्दोबद्ध हैं। मीमांसकों के लक्षण के अनुसार वे भी सामान्यतः ऋक् हैं। ऐसी सामान्यवाची ऋक् संज्ञा का प्रयोग ऋक् संहिता में भी दुर्लभ नहीं।[1] वस्तुतः अथर्ववेद ऋग्वेद का परिपूरक है। ये दोनों वेद ही वेद-विद्या के उत्स हैं, अतएव उन्हें एक साधारण वर्ग के अन्तर्गत मान लेना ही सङ्गत हैं।

इस प्रकार संहिता अथवा सङ्ग्रह की दृष्टि से वेद चार हैं, किन्तु मन्त्रों की विविधता या प्रकार के विचार से तीन हैं।

गीति-कविता दोनों ओर ही संहिता-युग का अतिक्रमण कर गई है। ब्राह्मण में अनेक प्राचीन 'गाथा' का उल्लेख प्राप्त है, जो संहिता के अन्तर्गत नहीं (द्र.श. ब्रा. १३।५।४।२....)। शतपथ ब्राह्मण गाथा को स्वाध्याय के अन्तर्गत बतलाता है – 'तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः तस्मादपि ऋचं वा यजुर्वा साम वा गाथां वा कुम्व्यां (आचार-शिक्षारूपा ऋक्. ऐ. आ. भाष्य २।३।६) वाभिव्याहरेत् व्रतस्याविच्छेदाय (११।५।७।१०)। यहाँ त्रयी के अतिरिक्त गाथा का उल्लेख लक्षणीय या द्रष्टव्य है। ऐतरेयब्राह्मण भी ऋक् एवं गाथा में भेद करते हुए बतलाता है कि ऋक् दिव्य अथवा अलौकिक है, और गाथा लौकिक है (७।१८); किन्तु ऋक्संहिता में देखते हैं कि ऋक् और गाथा समानार्थक हैं। इसलिए कह सकते हैं कि गाथा ही सामान्यतः ऋक् का उत्स है, किन्तु उसका अधिकार-क्षेत्र 'पञ्चमवेद' इतिहास-पुराण तक परिव्याप्त है। गाथा के अर्थ में सायण समझते हैं कि 'सुभाषितत्त्वेन सर्वैर्गीयमाना गाथा' (ऐ.ब्रा. भाष्य ५।३०)। तु. प्राकृत 'गाथासप्तशती' मध्ययुग की, 'गाथाभाषा', हिन्दी 'शब्द' बाङ्गला 'पद'। अति प्राचीनकाल से ही गाथा कवि-हृदय से उत्सारित हुई है। गाथा ही संसार की आदिम साहित्यकीर्ति है। उसका अध्यात्म, अनुभव और प्रवचन के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है।

१. तुलनीय, ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः, यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते १।१६४।३९; यहाँ ऋक् स्पष्टतया सामान्यवाची हैं। फिर एक स्थान पर है – 'मतयो वाचो....ऋचो गिरः सुष्टुतयः' (१०।९१।१२)। यहाँ मति से स्तुति तक मन्त्र की धारावाहिक अभिव्यक्ति की एक विवृति प्राप्त होती है। जो कवि के 'मन' में जागता है एवं उद्दीप्त 'वाणी' में स्फुरित होता है, वही ऋक् है, उसे ही सुर में गाया जाता है। निघण्टु में ऋक् और वाक् समानार्थक हैं (१।११)।

पुनः, मन्त्रसंहिता के साथ जुड़े ब्राह्मण के तीन भाग – प्रथमतः शुद्ध **ब्राह्मण** तत्पश्चात् उससे संयुक्त **आरण्यक** एवं अन्त में **उपनिषत्** किए जा सकते हैं। तीनों, ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्ममीमांसा हैं। ब्रह्म मन्त्र है अर्थात् ऋषियों के हृदय में स्फुरित दिव्या वाक् है। मन्त्र का तात्पर्य या मर्म-ज्ञान में भी हो सकता है और कर्म में भी। ऋक्संहिता का हिरण्यगर्भसूक्त उसका एक सुन्दर उदाहरण है।[1] सूक्त की ध्रुवा या टेक में है 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' – अर्थात् आहुति द्वारा किस देवता के प्रति हमारा अभियान होगा? प्रत्येक मन्त्र के प्रथम तीन चरणों में उस उद्दिष्ट अथवा अभीष्ट देवता की परिचिति है। यहाँ आहुति सहित अभियान कर्म है और देवता का परिचय प्राप्त करना ज्ञान है। कर्म ज्ञान के लिए ही किया जाता है। जिस प्रकार कर्म के साथ विचार प्रयोजनीय है, उसी प्रकार ज्ञान के साथ भी। इसलिए ब्राह्मण अथवा ब्रह्मोद्य कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड इन दो भागों में विभाजित हो गए। शुद्ध ब्राह्मण कर्मकाण्ड का धारण कर्त्ता है और उपनिषत् ज्ञानकाण्ड का। आरण्यक दोनों के मध्य में है।

स्वभावतः कर्म और ज्ञान सहचरित हैं। ज्ञान, कर्म का प्रवर्तक है और फिर कर्म के परिणाम में ज्ञान सुस्पष्ट होता है। ब्राह्मण से उपनिषत् तक कर्म की इस ज्ञानाभिमुखीनता का परिचय प्राप्त होता है। उपनिषत् ब्राह्मण का ही अङ्ग है, उसका विरोधी नहीं। स्पष्ट रूप में जहाँ विरोध दिखाई देता है, वहाँ भी उसके मूल में ऐतिहासिक एवं तर्कसङ्गत कारण है, जिसके सम्बन्ध में यथास्थान आलोचना की जाएगी। भाषा की दृष्टि से ब्राह्मण और उपनिषद् के बीच कालिक पूर्वापर सम्बन्ध का अनुमान किया जा सकता है। किन्तु पहले बतला चुका हूँ कि उनमें भाव के विरोध की कल्पना करने का कोई औचित्य नहीं। भाषा जहाँ क्रिया की द्योतक होती है, वहाँ वह कुछ हद तक स्थाणु होती है। हज़ारों वर्ष पहले के विवाह-मन्त्रों का आज भी अविकृत रह जाना कोई आश्चर्य नहीं।

१. ऋ. सं. १०।१२१

किन्तु भाषा यदि ज्ञान का वाहक होती है, तो फिर वह मनन-चिन्तन की त्वरा के साथ गतिशील होती है। औपनिषद् भावना की गतिशीलता अति प्राचीनकाल से आधुनिक काल तक अविच्छिन्न रही है। उसमें विरोध की नहीं, बल्कि परिणति की बात ही मुख्य है।

[३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मन्त्र और ब्राह्मण अथवा मन्त्र-ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषत् को लेकर 'वेद' अथवा 'श्रुति' है। किन्तु वेदपन्थी आर्यों का साहित्य केवल श्रुति को लेकर ही नहीं रचा गया था, बल्कि श्रुति से बाहर भी एक साहित्य प्राचीनकाल से ही था। परवर्ती काल में उसे 'स्मृति' की साधारण संज्ञा प्रदान की गई। श्रुति अपौरुषेय है, किन्तु स्मृति वह नहीं। तब भी उसकी मर्यादा श्रुति की अपेक्षा कुछ कम नहीं। इस स्मृति में वेदपन्थियों की आध्यात्मिक एवं वैषयिक अथवा भोग्यवस्तु सम्बन्धी सभी भावनाओं को स्थान प्राप्त है।

'शतपथ-ब्राह्मण' में ब्रह्मयज्ञ का एक विवरण है।[1] जिसमें ब्रह्मवादी के 'स्वाध्याय' अथवा दैनन्दिन अध्येतव्य विषय की तालिका प्राप्त होती है – ऋक्, यजुः, साम, अथर्वाङ्गिरस, अनुशासन, विद्या, वाकोवाक्य, इतिहास-पुराण, गाथा एवं नाराशंसी। और ये सभी वैदिक-साहित्य के अन्तर्गत हैं। इनमें अनुशासन से ब्राह्मण एवं वेदाङ्ग का बोध होता है। विद्याओं में शतपथ-ब्राह्मण में ही अन्यत्र सर्पविद्या, देवजनविद्या एवं माया का उल्लेख है।[2] छान्दोग्योपनिषद् में विद्या की एक विस्तृत तालिका प्राप्त होती है – पित्र्य, राशि, दैवनिधि, एकायन देवविद्या, ब्रह्मविद्या, क्षत्रविद्या, सर्पविद्या, देवजनविद्या।[3] वाकोवाक्य अथवा ब्रह्मोद्य से मीमांसा एवं तर्क की उत्पत्ति हुई। छान्दोग्योपनिषद् में इतिहास एवं

१. श. ब्रा. ११।५।६

२. श. ब्रा. १३।४।३

३. छा. ७।१।२,४; ७।७।१। इनमें कौन संज्ञा किस अर्थ में है? इसे लेकर मतभेद है।

पुराण को पञ्चमवेद कहा गया है।[१] गाथा के भीतर से मन्त्र-रचना की धारा बहुत दिनों तक अव्याहत थी, ऐसा माना जा सकता है। नाराशंसी वीर-प्रशस्ति है।[२] इन सबको लेकर प्राचीन 'स्वाध्याय' की मान्यता प्राप्त है। श्रुति एवं स्मृति दोनों ही उसके अन्तर्गत हैं। बोधि अथवा अन्तःप्रज्ञा दोनों का उत्स है। तत्पश्चात् बुद्धि का अधिकार है, जिससे मीमांसा और न्याय का उद्भव हुआ। इस प्रकार एक ही वेद अथवा ब्रह्मविद्या, श्रुतिप्रस्थान, स्मृतिप्रस्थान एवं न्यायप्रस्थान— इन तीन प्रस्थानों में विभाजित है। यह विभाजन स्वाभाविक होने के कारण ही अतिप्राचीन है।

श्रुति पर अधिकार प्राप्त करने का साधन वेदाङ्ग है। शिक्षा, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष एवं कल्प ये छह वेदाङ्ग हैं। **शिक्षा** वेदमन्त्रों के उच्चारण का विज्ञान है। **व्याकरण** के द्वारा मन्त्र के अन्तर्गत पदों का विश्लेषण किया जाता है। **निरुक्त** में पद की व्युत्पत्ति से अर्थ-निरूपण किया जाता है। **कल्प** में वैदिक-अनुष्ठान एवं आचार की विवृति है।

छन्द और **ज्योतिष** का विषय-वस्तु के नाम से ही बोध होता है। वेदाङ्ग सूत्राकार थे।[३] यद्यपि सारे सूत्र सम्प्रति प्राप्त नहीं होते। सूत्र का

---

१. द्र. महा. आदि १।२६७। इतिहास-पुराण के साथ वेद के सम्बन्ध को लेकर अन्यत्र आलोचना की जाएगी।

२. नाराशंसी का उल्लेख ऋक्संहिता में है (१०।८५।६)। वहाँ एक साथ 'रैभी' एवं 'गाथा' का भी उल्लेख है। 'सायण' के विचार से नाराशंसी मनुष्यस्तुति है। नाराशंसी और रैभी कुन्तापसूक्त के अन्तर्गत है (द्र. अ. सं. २०।१२७ ; ऐतरेय ब्रा. ६।३२)। मिताक्षरा के अनुसार 'नाराशंसीश्च रुद्रदैवत्यानि मन्त्रान्। गाथा यज्ञगाथेन्द्र गाथाद्याः' याज्ञ. १।४५।

३. सूत्र का प्रथम उल्लेख पहले बृहदारण्यक उपनिषद् में प्राप्त होता है : ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः 'सूत्राण्य'नुव्याख्यानानि व्याख्यानानि (२।४।१०, ४।१।२, ४।५।११)। ये सब ही स्वाध्याय के अन्तर्गत हैं।

लक्षण है कि अतिस्वल्प-अक्षरों के माध्यम से एक सार-सत्य को इस प्रकार व्यक्त करना होगा, जिसमें संशय की कोई भी गुंजाइश नहीं होगी, बल्कि अर्थ की व्यञ्जना सर्वतोमुखी होगी। सूत्र-साहित्य में आर्यों की वैज्ञानिक-मनीषा का आश्चर्यजनक परिचय प्राप्त होता है। सारे वेदाङ्ग स्मृति के अन्तर्गत हैं, इसलिए वे अपौरुषेय नहीं। दोनों मीमांसासूत्रों[१] अर्थात् पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा को भी वेदाङ्ग के अन्तर्गत मान लेना ही उचित होगा। इसके अतिरिक्त कुछ **वैदिक-परिशिष्ट** और **अनुक्रमणिका** हैं। परिशिष्ट में वैदिक-अनुष्ठानों का कुछ अतिरिक्त विवरण है और अनुक्रमणिका में वेदमन्त्रों के ऋषि, देवता, छन्द इत्यादि का विवरण है।[२] वेदानुशीलन में सहायक के रूप में इनको भी वेदाङ्ग के अन्तर्गत बतलाया जा सकता है।

मन्त्र और ब्राह्मण इनको लेकर जिस प्रकार वेद, उसी प्रकार वेद और वेदाङ्ग को लेकर वैदिक-साहित्य है। वेद, बोधि अथवा अन्तर्दृष्टि का परिणाम है एवं वेदाङ्ग मनन का। अतएव वेद श्रुति है; वेदाङ्ग स्मृति है। वेद को समझने के लिए उसके द्वारा प्रतिपादित विद्या को आयत्त करने के लिए वेदाङ्ग साधनशास्त्र है। छह वेदाङ्ग, मन्त्रविद्या की छह

---

१. बारह अध्यायों में जैमिनि का धर्मसूत्र एवं चार अध्यायों में सङ्कलित बादरायण का ब्रह्मसूत्र। एक का आधार ब्राह्मण एवं कल्पसूत्र और दूसरे का आधार उपनिषद् है। दोनों को मिलाकर एक अखण्ड मीमांसाशास्त्र है। दोनों मीमांसासूत्रों की अध्याय सङ्ख्या कुल सोलह है। यह आकस्मिक नहीं भी हो सकता है। स्मरण रहे कि वेद का पुरुष षोडशकल है। इसलिए ऋक्संहिता के पुरुषसूक्त में सोलह ऋक् हैं। पन्द्रह एक प्रकार के छन्द में है, अन्तिम भिन्न छन्द में है। चन्द्र की पन्द्रह क्षयिष्णु कलाओं से ऊर्ध्व नित्याषोड़शी कला है।

२. परिशिष्ट के भी परिशिष्ट नाना 'प्रयोग' 'पद्धति' एवं 'कारिका' ग्रन्थ हैं। निश्चित रूप से ये परवर्तीयुग की रचनाएँ हैं। शौनक का 'बृहद्देवता' अतिप्राचीन ग्रन्थ है। उसमें ऋक्संहिता की देवतासूची एवं देवताख्यान है। इसकी रचना सूत्राकार न होने पर भी इसे अनुक्रमणिका के अन्तर्गत मान लिया जा सकता है। शौनक के ही 'ऋग्विधानम्' में ऋक्मन्त्रों के लौकिक विनियोग की सूची प्राप्त होती है।

साधनाओं का सङ्केत वहन करते हैं – ऐसा मानने का कारण है, जिसकी आलोचना यथास्थान की जाएगी।

[४]

पुनः, इस वैदिक-साहित्य के शाखाभेद थे। शाखा के अर्थ में अंश या खण्ड नहीं, बल्कि समग्र का ही बोध है। जिस किसी भी वेद की जिस किसी भी शाखा में उस वेद की समग्र भावना और साधना का ही धारावाहिक परिचय प्राप्त होता है। प्रत्येक शाखा में मन्त्र एवं ब्राह्मण का जो भेद है, वह प्रायशः पाठ-विन्यास इत्यादि का अवान्तर भेदमात्र है।

शौनक का 'चरणव्यूहसूत्रम्' एक परिशिष्ट-ग्रन्थ है, जिसमें वेद के शाखाभेद का विवरण है। शौनक के मतानुसार ऋग्वेद की पाँच, यजुर्वेद की छियासी, सामवेद की एक हज़ार एवं अथर्ववेद की नौ शाखाएँ हैं।[१] सब शाखाओं के वेद अब उपलब्ध नहीं। प्रत्येक शाखा की निजी संहिता, ब्राह्मण, एवं कल्पसूत्र होना उचित है, किन्तु आजकल इस नियम में व्यतिक्रम दिखाई देता है। संहिता एक शाखा की है, तो ब्राह्मण किसी दूसरी शाखा का है, एवं कल्पसूत्र एक तीसरी शाखा का है –

१. आधुनिक पण्डितवर्ग 'चरणव्यूहसूत्रम्' को अर्वाचीन ग्रन्थ के रूप में मानता है। पतञ्जलि ने (ई. पू. द्वितीय शताब्दी) अपने महाभाष्य में शाखाओं की जो सङ्ख्या दी है, उसमें ऋग्वेद की नौ और यजुर्वेद की एक सौ शाखाओं का उल्लेख है। शौनक के समय की अपेक्षा पतञ्जलि के समय में शाखाओं की सङ्ख्या में वृद्धि हुई है, यह द्रष्टव्य है। पतञ्जलि ने 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' के अर्थ में शाखा नहीं, बल्कि सामगान की एक हज़ार पद्धति की बात ही बतलाना चाहा है – यह सत्यव्रत सामश्रमी का विचार है। सामतर्पण-विधि में सामवेद की तेरह शाखाओं की चर्चा है। भागवत पुराण में (१२।६-७) वेद के शाखा-भेद का एक चित्ताकर्षक विवरण है। आचार्य के एक-एक शिष्य एक-एक शाखा के प्रवर्तक थे। इस प्रकार शिष्य-प्रशिष्य के क्रम से प्रचार के फलस्वरूप एक वेद की ही अनेक शाखाओं की उत्पत्ति हुई है। (भा. १।४।२३)। भागवत के अनुसार ऋग्वेद की शाखा सङ्ख्या तेरह एवं यजुर्वेद की पन्द्रह। तु. विष्णुपुराण ३।३-७; ब्रह्माण्ड पु. १।३३-५।

ऐसा दृष्टान्त भी है। महाराष्ट्र में ऋग्वेद की आश्वलायन-शाखा के अध्येता पाए जाते हैं, किन्तु उनकी संहिता आश्वलायन-शाखा की नहीं, बल्कि शाकल-शाखा की है, तथा ब्राह्मण ऐतरेय-शाखा का है; केवल कल्पसूत्र (श्रौत एवं गृह्य) आश्वलायन-शाखा का है। और ऐसा भी है कि किसी शाखा की संहिता पाई जाती है, किन्तु उसके अध्येता नहीं मिलते – जैसे यजुर्वेद की काठक-शाखा की संहिता तो उपलब्ध है, किन्तु उसके अध्येता नहीं मिलते। आजकल किस वेद की किस शाखा की संहिता प्राप्त है? एवं उसका प्रचार कहाँ हैं? यहाँ उसका एक सङ्क्षिप्त परिचय एवं विवरण दिया गया है।

ऋक्संहिता की तीन शाखाएँ – **शाकल, शाङ्खायन**[१] और **वाष्कल** उपलब्ध हैं। शाकलसंहिता में मन्त्रों को मण्डल एवं सूक्त में विभाजित किया गया है; वाष्कलसंहिता में अष्टक अध्याय एवं वर्ग में विभाजित किया गया है। इसके अतिरिक्त मन्त्र-विन्यास की भी सामान्य कुछ अदला-बदली की गई है। शाकलसंहिता में बालखिल्यसंहिता एक अतिरिक्त संयोजन है; किन्तु शाङ्खायन-शाखा में वह संहिता के ही अन्तर्गत है। संज्ञानसूक्त शाकल-शाखा के परिशिष्ट में है, किन्तु शाङ्खायन-शाखा में उसे संहिता के अन्तर्गत ही सङ्कलित किया गया है। वाष्कलसंहिता में बालखिल्यसंहिता के कई मन्त्र[२] छूट गए हैं। ऋग्वेद की शाकलसंहिता ही आजकल प्रचलित है। आश्वलायन-शाखा के महाराष्ट्रीय-ब्राह्मणों में इस शाखा का ही अध्ययन-अध्यापन होता है, यह पहले ही बतलाया गया है। एक प्राचीन श्लोक के अनुसार आश्वलायन, शाकल के ही शिष्य[३] थे।

१. यह अनुमान ग़लत हैं कि शाङ्खायन और कौषीतकी एक ही शाखा का नाम है। कौषीतकी-शाखा का एक गृह्यसूत्र सम्प्रति प्रकाशित हुआ है, वह शाङ्खायन गृह्य-सूत्र से पृथक् है। द्र. ऋ. सं. ४।८९१ (पूणा तिलक मन्दिर संस्करण)।
२. शाकल संहिता ८।५६-५७, ८।५८।३; ८।२९; द्रष्टव्यः औंध संस्करण।
३. 'शिशिरो वाष्कलः साङ्ख्यो वात्स्यश्चैवाश्वलायनः। पञ्चैते शाकलाः शिष्याः शाखाभेद प्रवर्तकाः। वर्तमान शाकलसंहिता को शैशिरीयसंहिता भी कहा जाता है।

यजु:संहिता के दो भेद हैं – कृष्णयजु: एवं शुक्लयजु:। कृष्ण-यजु:संहिता की **कठ एवं कठकपिष्ठल**–इन दो शाखाओं की संहिता उपलब्ध है, किन्तु ब्राह्मण-सम्प्रदाय का पता नहीं। एक और शाखा **मैत्रायणी** अथवा **कलाप** शाखा है। इस शाखा के अध्येता गुजरात एवं दाक्षिणात्य जनपदों में कहीं-कहीं मिल जाते हैं। यजु:संहिता की तैत्तिरीय-शाखा का प्रचार सबसे अधिक है। इस शाखा का प्रचलन दक्षिण में ही अधिक है।[1]

शुक्लयजु:संहिता की दो शाखाएँ हैं – **काण्व** एवं **माध्यन्दिन।** माध्यन्दिन-शाखा के ब्राह्मणों का अधिकतर भाग उत्तरभारत का है।[2] कुछ-कुछ दाक्षिणात्य ब्राह्मण काण्व-शाखाध्यायी हैं।

सामसंहिता की तीन शाखाएँ, **कौथुम, राणायणीय** एवं **जैमिनीय** उपलब्ध हैं। कौथुम-शाखा का ब्राह्मण-सम्प्रदाय गुजरात एवं बङ्गाल में पाया जाता है। किन्तु बङ्गाली ब्राह्मण वर्तमान में गृह्यपद्धति के अतिरिक्त सामवेद की विशेष कोई खबर नहीं रखते अथवा चर्चा नहीं करते। राणायणीय-शाखा के ब्राह्मण प्रधानत: महाराष्ट्र में पाए जाते हैं। वे कौथुम-शाखा की संहिता एवं ब्राह्मण को ही मानते आए हैं; किन्तु उनका कल्पसूत्र अपना है। जैमिनीय-शाखाध्यायी कुछ-कुछ कर्नाटक में पाए जाते हैं। इस शाखा की संहिता, ब्राह्मण एवं कल्पसूत्र सभी हैं।

किसी समय कुछ अथर्ववेदी ब्राह्मण महाराष्ट्र एवं गुजरात में थे, किन्तु इस समय उन्हें खोज पाना मुश्किल है। अथर्वसंहिता की दो

---

१. पतञ्जलि ने कठ, कलाप, एवं चरक इन तीन शाखाओं का उल्लेख किया है। और यह भी बतलाते हैं कि "चरक-शाखा का अध्ययन-अध्यापन गाँव-गाँव में होता है।" शौनक ने भी 'चरक-शाखा' को सर्वापेक्षा विशिष्ट शाखा बतलाया है। सम्प्रति इस शाखा का कोई पता ही नहीं।

२. तैत्तिरीय और माध्यन्दिन शाखा में 'ष' का उच्चारण 'ख' है। बाङ्गला में भी 'क्ष' = क्ख हैं।

शाखाएँ – **पिप्पलाद** एवं **शौनक** हैं। जिसमें आजकल शौनकसंहिता ही विशेष प्रचारित है।[1]

वेद की अनेक शाखाओं के लुप्त होने के बावजूद अभी जो अवशिष्ट हैं, उससे ही वैदिक-भावना एवं साधना का सुष्ठु परिचय प्राप्त करना असम्भव नहीं; क्योंकि पहले ही बतलाया गया है कि शाखाभेद प्राय: अवान्तरभेद मात्र है, उसमें मूलविषय में कुछ अधिक प्रभेद परिवर्तन नहीं हुआ है।

वेद-संहिता

[१]

सर्वप्रथम ऋक्संहिता, संहिताओं में एक ऐसी संहिता है, जो भाषातत्त्व की दृष्टि से सर्वाधिक प्राचीन है। ऋक्संहिता कुछेक सूक्तों का सङ्कलन है। सूक्त का अर्थ है प्रशस्ति और आक्षरिक अर्थ है 'शोभन वचन।'[2] एक-एक सूक्त में कई-कई ऋक् सङ्कलित हैं। ग्यारह बालखिल्य-सूक्तों को लेकर शाकलसंहिता में कुल १०२८ सूक्तों में १०५५२ ऋक् हैं। शाकलसंहिता के सूक्तों को दश 'मण्डलों' में और वाष्कलसंहिता को आठ 'अष्टकों' में विभाजित किया गया है। शाकलसंहिता का विभाजन ही अधिक प्रचलित एवं युक्तिपूर्ण है, क्योंकि उसमें मन्त्र-सङ्ग्रह का एक नियम पाया जाता है।[3]

---

१. महिदास ने अपने चरणव्यूहसूत्र-भाष्य में कई प्राचीन श्लोकों का उद्धरण दिया है, जिसमें देश-भेद से शाखा-भेद का एक विवरण प्राप्त होता है (चौखम्बा सं, पृष्ठ ३३।३४)

२. अन्यतम प्राचीन संज्ञा सूक्तवाक्' (ऋ. ५।४१।५) अथवा 'सूक्तवाक'। ऋक्संहिता के अनुसार सूक्तवाक का उच्चारण करके ही अग्नि में आहुति दी जाती है। सूक्तवाक विश्वेदेवगण की आदिसृष्टि एवं हवि: है (१०।८८।७-८)। अतएव सूक्तवाक ऋषियों के अनुसार दिव्य आवेश का फल है। उसकी ही प्रेरणा से अग्नि में आहुति दी जाती है। पहले भाव, फिर कर्म। मीमांसकों ने भी यही क्रम स्वीकार किया है। उनके अनुसार मन्त्र ही कर्म का अनुस्मारक है।

३. निरुक्तकार यास्क भी ऋक्संहिता की शाखाओं को 'दशतयी' कहते हैं (७।८)।

मण्डल का उपविभाग 'अनुवाक' एवं अष्टक का 'अध्याय' है। वाष्कलसंहिता के आठ अष्टकों में आठ-आठ के ६४ अध्याय हैं। शाकलसंहिता में अनुवाकों की सङ्ख्या ८५ है। प्रत्येक अध्याय की सूक्त सङ्ख्या प्रायः समान है, किन्तु अनुवाकों की सूक्त सङ्ख्या कुछ अनियमित है। अनुवाक एवं अध्याय दोनों का ही अर्थ 'पाठ' (LESSON) है।[१] पुनः प्रत्येक अध्याय कुछेक वर्गों में विभक्त है। ऋक्संहिता के किसी मन्त्र की सूचना देने के लिए मण्डल एवं सूक्त के अनुसार अथवा अष्टक, अध्याय और वर्ग के अनुसार मन्त्र-सङ्ख्या का उल्लेख करना ही यथार्थ पद्धति है।

ऋक्संहिता के मन्त्रों के विन्यास पर ध्यान देने से कई बातें सामने आती हैं। प्रथमतः संहिता के प्रथम एवं दशम मण्डल में विभिन्न वंशीय ऋषियों के मन्त्रों का सङ्ग्रह किया गया है, एवं दोनों मण्डलों में ही सूक्त-सङ्ख्या समान है (१९१)। द्वितीय से सप्तम तक प्रत्येक मण्डल में एक-एक वंश के ऋषियों के मन्त्र हैं, अतएव इन छह मण्डलों को **आर्षमण्डल** कह सकते हैं। अष्टम मण्डल विभिन्न ऋषियों द्वारा रचित प्रगाथ का सङ्ग्रह है, इसलिए प्रथम एवं दशम मण्डल की तरह यह प्रगाथमण्डल भी एक प्रकीर्ण मण्डल है। नवम मण्डल केवल सोममन्त्रों का सङ्ग्रह है एवं वह भी विभिन्न ऋषियों की रचना है। अतएव यह **सोममण्डल** भी एक और प्रकीर्ण मण्डल है। आधुनिक पण्डितों की दृष्टि में छह आर्षमण्डल ही संहिता का प्राचीनतम भाग है तथा प्रकीर्ण मण्डलों में प्रगाथमण्डल एवं सोममण्डल परिशिष्ट है और प्रथम एवं दशम मण्डल परवर्तीकाल का संयोजन है। इन दो मण्डलों की सूक्त-सङ्ख्या बराबर क्यों है? वह एक रहस्य है।

---

१. पाणिनि के एक सूत्र में 'अध्यायानुवाकयोर्लुक्' है (५।२।६०)। अतएव अनुवाक अथवा अध्याय के अनुसार पाठ - दोनों ही प्राचीन। परवर्ती दो सूत्रों में दो गणों का उल्लेख है। उससे प्राचीनपाठ-विभाग का एक आभास प्राप्त होता हैं।

संयोजन की बात भाषा की दृष्टि से अवश्य समर्थित होती है, क्योंकि प्रथम और दशम मण्डल की भाषा में क्रमिक-विकास के कई लक्षण प्राप्त होते हैं। पण्डितों ने भाव की दृष्टि से भी क्रमिक-विकास की बात उठाई है। किन्तु वह तर्कसङ्गत प्रतीत नहीं होता। समस्त ऋक् संहिता में भाव का एक ही परिमण्डल है। दशम मण्डल के कई सूक्तों में जिस दार्शनिक भावना का परिचय प्राप्त होता है, उसका आभास आर्षमण्डलों में नहीं है, वह सच नहीं। इसके सम्बन्ध में अन्यत्र आलोचना की जाएगी।

आर्षमण्डल के ऋषि क्रमशः गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज एवं वसिष्ठ हैं। उनका प्रत्येक मण्डल अग्निसूक्त से आरम्भ हुआ है। सोममण्डल का आरम्भ सोमसूक्त से हुआ है, एवं प्रगाथमण्डल के आरम्भ में भी अग्निसूक्त नहीं है। फिर प्रथम एवं दशम मण्डल के आरम्भ में अग्निसूक्त है। अर्थात् ये दोनों मण्डल आर्षमण्डल के ही आदर्श के अनुरूप सङ्कलित हैं।

आर्षमण्डल में देवता-विन्यास का एक नियम है। प्रत्येक मण्डल के आरम्भ में हमें अग्निसूक्त तत्पश्चात् इन्द्रसूक्त फिर अन्यान्य देवताओं के सूक्तों का सङ्ग्रह प्राप्त होता है। अनुष्ठान एवं साधना की दृष्टि से अग्नि, इन्द्र एवं सोम ऋग्वेद के तीन प्रधानदेवता हैं। इसलिए ऋक् संहिता में उनकी निर्धारित मन्त्र-सङ्ख्या भी सर्वापेक्षा अधिक है।[१] अतएव प्रत्येक आर्षमण्डल में भी अग्नि और इन्द्र के सूक्त ही सङ्ख्या में अधिक हैं। सोममण्डल में सोमसूक्तों को अलग सङ्कलित किया गया है।

---

१. इस देवत्रयी की अनुवृत्ति तन्त्र-साधना में अग्नि, सूर्य और सोम के रूप में पाई जाती है। हम साधारणतः इन्द्र को वर्षण के देवता के रूप में जानते हैं; किन्तु वर्षण उनकी एक विभूति मात्र है। वस्तुतः वे आदित्य हैं। इस देश में जब वर्षा आरम्भ होती है, तब सूर्य उत्तरायण के शीर्षबिन्दु पर होता है, इसे ध्यान में रखना होगा। विस्तृत आलोचना 'इन्द्र' प्रसङ्ग में द्रष्टव्य।

अग्नि और इन्द्र को छोड़कर अन्यान्य देवताओं को सूक्त-सङ्ख्या के अनुसार आर्षमण्डल में संजाया गया है। जिस देवता के सूक्त सङ्ख्या में सबसे अधिक हैं, उन्हें सबसे पहले स्थान दिया गया है। जहाँ सूक्त सङ्ख्या समान है, वहाँ जिस देवता के प्रथम सूक्त में मन्त्रसङ्ख्या सब से अधिक है, उसे पहले रखा गया है। फिर प्रत्येक देवता के सूक्तों को छन्द के क्रम के अनुसार सजाया गया है - जैसे जगती छन्द के सूक्तों को सबसे पहले रखा गया है एवं गायत्री छन्द के सूक्तों को सबके अन्त में। फिर उनमें भी बड़े सूक्तों को क्रमशः छोटे सूक्तों के पश्चात् रखा गया है। इस नियम में व्यतिक्रम बहुत कम है। जिसके कारण प्रत्येक आर्षमण्डल में प्रत्येक सूक्त का स्थान मोटे तौर पर निर्धारित होने से संहिता के ढाँचे में विशेष परिवर्तन नहीं हो पाया है।[१]

प्रगाथ मण्डल का अन्य नाम **उद्गातृ मण्डल** है, क्योंकि सोमयाग में उद्गाता के काम में जिन सब मन्त्रों की ज़रूरत पड़ती है, यह उन्हीं मन्त्रों का सङ्ग्रह है। इसमें प्रगाथ की सङ्ख्या ही अधिक है, यद्यपि अन्यान्य मण्डलों में कुछ प्रगाथ हैं।[२] इस मण्डल के अधिकांश ऋषि ही कण्ववंशी हैं, अतएव यह भी एक प्रकार का आर्षमण्डल है। इसमें सूक्तों को मुख्यतः ऋषियों के अनुसार सजाया गया है। प्रायः प्रथम सूक्त की मन्त्र-सङ्ख्या के क्रम-ह्रास के अनुसार जिसमें देवताओं का विन्यास किया गया है।

सोममण्डल छन्द के अनुसार सजाया गया है। आरम्भ में गायत्री तत्पश्चात् जगती, तत्पश्चात् त्रिष्टुप् एवं सबसे अन्त में अन्यान्य छन्दों के सूक्त हैं। यहाँ भी प्रत्येक छन्द के पक्ष में सूक्तों को मोटे-तौरपर उसी क्रमह्रस्वता के नियम के अनुसार सजाया गया है।

---

१. विन्यास के इस नियम के आविष्कारक BERGAIGNE।

२. 'बृहती' अथवा 'ककुभ्' छन्द के एक मन्त्र के साथ सतोबृहती छन्द के एक मन्त्र को मिलाने से 'प्रगाथ' होता है। प्रगाथ में 'साम' अथवा सुर देकर गाया जाता है।

जान पड़ता है, आर्षमण्डल, प्रगाथमण्डल और सोममण्डल का सङ्कलन त्रयीविद्या के सङ्केत का द्योतक है। देवता का आवाहन और प्रशस्ति, उनके प्रति गान एवं उन्हें सोमपान कराना, यह यज्ञ की मूल रीति है। इन कार्यों को क्रमशः होता, उद्गाता एवं अध्वर्यु किया करते हैं।[१]

आर्षमण्डलों का अधिक भाग प्रशस्ति-मन्त्रों का सङ्ग्रह है एवं प्रगाथमण्डल में ऋक्-मन्त्रों की सामयोनि है। फिर सोममण्डल का देवता केवल सोम नहीं, बल्कि 'पवमानगुणविशिष्ट' सोम है।[२] पार्थिव सोमलता जब संस्कृत एवं 'पूत' (पवित्र) होकर अमृतरस-प्रवाहिणी होती है, तब उसका देवता पवमान सोम होता है। सोम का यह पावन या शोधन अध्वर्युगणों का कार्य है। अतएव सोममण्डल के साथ उनका सम्बन्ध सुस्पष्ट है।[३] इस प्रकार द्वितीय से नवम मण्डल तक मन्त्र-सङ्कलन के अन्तर्गत सोमयाग के आधार पर ऋक्संहिता के एक सुसंहत, सुव्यवस्थित ढाँचे का चित्र भलीभाँति स्पष्ट हो उठता है।[४]

---

१. सोमयाग के सोलह ऋत्विकों के चार गण – होतृगण, उद्गातृगण, अध्वर्युगण एवं ब्रह्मगण। ऋक्संहिता में प्रधान चार ऋत्विकों के ही नाम अनेक स्थानों पर पाए जाते हैं। एक साथ उनके कार्यों की विवृति १०।७१।११ वें ऋक् में मिलती है।

२. सायण, ऋक् ९।१।१; 'नवमं मण्डलं पावमानं सौम्यम्' (सर्वानुक्रमणी)।

३. अध्वर्युगणों का सारा कार्य ही यजुर्मन्त्रों द्वारा होता है। जब सोमयाग के माध्यन्दिन सवन में (दोपहर में लता को कूट-पीसकर रस निकालने के समय) लता को फैलाकर 'ग्रावा' अथवा सोम को कूटने-पीसने के पत्थर की स्तुति की जाती है, तब सोममण्डल के विकल्प में आवपन होता है (आ. श्रौ. ५।१२)। सोममण्डल के प्रायः आधे मन्त्र ही सामयोनि हैं, यहाँ तक कि इस दृष्टि से प्रगाथमण्डल की अपेक्षा भी सामयोनि मन्त्रों का अनुपात इस मण्डल में ही अधिक है। सामसंहिता के आधे से अधिक मन्त्र इन दोनों मण्डलों के ही हैं।

४. सोमयाग ही समस्त यागों में श्रेष्ठ है, यही वैदिक-साधना का चरम बिन्दु है। बाहर सोमयाग लुप्त हो चुका है, किन्तु उसके भाव को लेकर साधना की अनुवृत्ति अब भी जारी है। सोमविद्या अथवा मधुविद्या ही तन्त्र की श्रीविद्या में रूपान्तरित हुई, जो तान्त्रिकसाधना का चरम लक्ष्य है एवं जिसका व्यापक प्रचार आज भी पूरे भारतवर्ष में है।

इन आठ मण्डलों की ऋषि-सूची देखने पर एक और बात स्पष्ट होती है। यदि सोमयाग ही वैदिक यज्ञ-साधना का चरम है, तो फिर सोममण्डल में आर्ष-मण्डल के प्रत्येक ऋषि-वंश द्वारा रचित सूक्त होंगे, एवं ऐसा है भी।; किन्तु कश्यप एवं अङ्गिरावंश के ऋषियों के सूक्त उन सब सूक्तों की सङ्ख्या को पार कर गए हैं। उसके पश्चात् ही भृगुवंशी ऋषियों का स्थान है। फिर आर्षमण्डल के अन्यान्य ऋषियों द्वारा रचित सूक्त-सङ्ख्या से कण्ववंशी ऋषियों की सूक्त-सङ्ख्या अधिक है। हम जानते हैं कि प्रगाथमण्डल का अधिकांश ही इस वंश के ऋषियों द्वारा ही रचित है।

इससे स्पष्ट है कि आर्षमण्डल के बाहर जो दो मण्डल विशेष रूप से सोमयाग से जुड़े हैं, उनमें कश्यप, अङ्गिरा एवं कण्ववंशी ऋषियों का ही प्राधान्य है। इनमें अग्निविद्या के प्रवर्तक अङ्गिरा अत्यन्त प्राचीन ऋषि हैं। ऋक्संहिता में उनका अनेक बार उल्लेख है। वे अथर्ववेद के भी प्रवर्तक हैं। हम यह भी जानते हैं कि कण्ववंशी ऋषिगण यजुर्वेद की एक शाखा के प्रवर्तक हैं। कश्यप, सप्तर्षियों में अन्यतम हैं।[1]

सभी ओर से विचार करने पर आर्षमण्डल के ऋषियों के साथ कश्यप, अङ्गिरा एवं कण्ववंशी ऋषियों को भी जोड़ लेना उचित है। तो फिर इस प्रकार ऋक्संहिता के प्राचीन ढाँचे की परिधि नवम मण्डल

१. ऋक्संहिता में सप्तर्षि का उल्लेख इस प्रकार है – सप्तऋषयस्तपसे ये निषेदुः १०।१०९।४; तुः ८२।२३; ऋषयः सप्त दैव्याः १३०।७। सोममण्डल का एक प्रगाथ सूक्त (१०७) सप्तर्षिगण द्वारा रचित। वहाँ सप्तर्षियों के नाम भरद्वाज [1]**बार्हस्पत्य, कश्यप [2]मारीच, गौतम [3]राहूगण, भौम [4]अत्रि, विश्वामित्र [5]गाथिन, जमदग्नि [6]भार्गव एवं मैत्रावरुणि[7]** वसिष्ठ हैं। इनमें कश्यप के अतिरिक्त छह ऋषियों को हम आर्षमण्डल के ऋषियों के साथ युक्त या जुड़ा देखते हैं। फिर कश्यपवंशी ऋषियों को सोममण्डल के सर्वाधिक सूक्तों (प्रायः एक तृतीयांश) के रचयिता के रूप में पाते हैं। सामवेद के वंशब्राह्मण के अनुसार ऋषि कश्यप ही सामवेद के आदि प्रवर्तक हैं। उन्होंने अग्नि से सामविद्या प्राप्त की थी।

तक विस्तृत होती है। संहिता को यदि यज्ञकर्म के आग्रह की भूमिका में सङ्कलित किया गया है, तो यह दृष्टि ही समीचीन है।

मन्त्रद्रष्टा प्राचीन ऋषिवंश के प्रवर्तक के रूप में हमें कई नाम मिलते हैं – जैसे भृगु, विश्वामित्र, गोतम, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ, कण्व, कश्यप एवं अङ्गिरा। प्रथम सात वंश के ऋषि क्रमशः ऋक्संहिता के द्वितीय से अष्टम मण्डल के द्रष्टा हैं, एवं अन्तिम दोनों वंश के ऋषि सोममण्डल के आधे से भी अधिक मन्त्रों के द्रष्टा हैं। ऋक्संहिता में इन सब का नामोल्लेख है। इसके अलावा वहाँ 'अथर्वा' भी एक प्रधान ऋषि के रूप में गण्य हैं।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋक्संहिता के द्वितीय से नवम मण्डल तक मन्त्र-सङ्ग्रह के अन्तर्गत यज्ञभावना का एक अनुषङ्ग या प्रसङ्ग है। यह अंश ही संहिता का प्राचीन ढाँचा है, जिसके आदि और अन्त में प्रथम और दशम मण्डल उपक्रम एवं उपसंहार जैसे दो संयोजन हैं। उनमें उपक्रम ही प्राक्तन है, एवं उपसंहार प्रकीर्ण अथवा छिटपुट मन्त्रों का अन्तिम संयोजन है। इसके कारण भी प्रथम मण्डल एवं दशम मण्डल की सूक्त-सङ्ख्या समान हो सकती है।

वस्तुतः, प्रथम मण्डल छोटे-छोटे कई आर्षमण्डलों का सङ्ग्रह है। भृगु, अत्रि एवं भरद्वाजवंशी ऋषियों के अतिरिक्त प्राचीन ऋषि-वंश के

१. अङ्गिरा जिस प्रकार अग्निविद्या के प्रवर्तक हैं, उसी प्रकार अथर्वा ने भी प्रथम अग्निमन्थन का प्रवर्तन किया। द्रष्टव्यः त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः (यहाँ मूर्द्धन्य कमल का मन्थन करके अग्नि-समिन्धन का उल्लेख पाते हैं) ६।१६।१३ तमु त्वा दध्यङ्ऋषिः पुत्र ईधे अथर्वणः १६।१४; 'इममु'त्यमथर्ववदग्निं मन्थन्ति वेधसः १५।१७ ...अथर्वा मनुष्पिता.....धियमत्नत १।८०।१६; यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ८३।५; अग्निर्जातो अथर्वणा १०।२१।५, ८७।१२; यज्ञैरथर्वा प्रथमो विधारयत् ९२।१०; १४।६।

सभी यहाँ हैं। उसमें फिर अङ्गिरावंशी ऋषियों की सूक्त-सङ्ख्या ही सर्वापेक्षा अधिक है।[१]

आर्षमण्डलों की तरह प्रायः प्रत्येक उपमण्डल का आरम्भ एक अग्निसूक्त द्वारा हुआ है।[२] वैसे देवताओं में अग्नि एवं इन्द्र की प्रधानता है; यद्यपि सारे उपमण्डलों में ही ठीक अग्नि के बाद ही इन्द्र को नहीं रखा गया है।

इस मण्डल का प्रारम्भिक अनुवाक विशेष अर्थपूर्ण है। पहले ही दिखाई देता है कि विश्वामित्रवंशी ऋषि के मन्त्र द्वारा संहिता का आरम्भ किया गया है। इन्हीं विश्वामित्र का ही सावित्र-मन्त्र आजतक इस देश के द्विजातियों का नित्य जप्य-स्वाध्याय मन्त्र है। एक बार विश्वामित्र ने सुदास की यज्ञसभा में घोषणा की थी कि 'विश्वामित्र की ब्रह्मशक्ति ही भारतजनों की रक्षा करती है' (ऋ. ३।५३।१२)। उनकी वह उदात्त घोषणा सत्य प्रमाणित हुई। तो क्या उनके प्रभाव के फलस्वरूप ही ऋक्संहिता की सूचना उनके पुत्र मधुच्छन्दा के अग्निमन्त्र द्वारा हुई?

उसके बाद इस अनुवाक के तीन सूक्तों का आरम्भ क्रमशः अग्नि, वायु एवं अश्विद्वय के मन्त्रों द्वारा किया गया है। वेद में पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौः का उल्लेख है। निरुक्तकार यास्क का कथन है कि

१. अङ्गिरावंशी ऋषियों की सूक्त सङ्ख्या ७०, गोतमवंशियों की २७, कण्ववंशियों की २७, अगस्त्य मैत्रावरुणि की २६ (इनके द्वारा रचित मन्त्र अन्यत्र कहीं नहीं), विश्वामित्रवंशियों की १८, परुच्छेप दैवोदासि की १३ (इनके मन्त्र भी और कहीं नहीं, केवल सोममण्डल में एक सूक्त इनके पुत्र का है; उनके सभी सूक्त ही दीर्घछन्द के रूप में ऋक्संहिता में विशेष स्थान प्राप्त है), वसिष्ठवंशियों की ९ और कश्यप की सूक्तसंख्या मात्र १। गोतम के पिता रहूगण एक अङ्गिरस हैं (९।३७, ३८)। अस्तु, गोतम के सूक्तों को लेकर अङ्गिरावंश की सूक्त-सङ्ख्या प्रथममण्डल में प्रायः आधी है।

२. केवल, सव्य आङ्गिरस, कक्षीवान् दैर्घतमस एवं अगस्त्य मैत्रावरुण के उपमण्डलों के आरम्भ में अग्निसूक्त नहीं है।

तीनों लोकों में ही देवताओं का अवस्थान है (७।५)। उनमें अग्नि पृथिवीस्थान देवताओं में प्रथम, अन्तरिक्षस्थान देवताओं में वायु (अथवा इन्द्र) प्रथम एवं अश्विद्वय, द्युस्थान देवताओं में प्रथम हैं। इस विन्यास के साथ अध्यात्म-साधना का सम्बन्ध है, इस पर अन्यत्र प्रकाश डाला जाएगा। निश्चित रूप से इस क्रम को लक्ष्य रखकर ही सूक्तों की रचना हुई है, एवं संहिता के शुरू में ही विन्यस्त किया गया है।

तीनों सूक्तों के विनियोग का भी वैशिष्ट्य है। अग्निष्टोम एक सोमयाग है, जो पाँच दिन तक चलता है। असली याग अन्तिम दिन ही होता है। उस दिन का नाम 'सुत्या दिवस' है; क्योंकि इसी दिन सोमलता को कूट-छानकर उसके रस की आहुति दी जाती है। प्रातः, मध्याह्न एवं सायङ्काल तीन बार आहुति के लिए 'सवन' अथवा रस निचोड़ना होता है। उस दिन प्रातःकाल से ही सूर्योदय के पहले **'होता'** कई प्रशस्ति-मन्त्रों का पाठ करता है, इस अनुवाक का प्रथम अग्निसूक्त उसके अन्तर्गत है। इस प्रातः सवन में अग्नि के प्रति स्तोत्र[१] गायन के पश्चात् **होता** एक 'शस्त्र' अथवा देवता की प्रशस्ति का पाठ करता है, जिसका नाम 'प्रउग शस्त्र' है। यह 'शस्त्र' ऋक्संहिता के प्रथम मण्डल के प्रथम अनुवाक के द्वितीय एवं तृतीय सूक्त को लेकर रचा गया है। शस्त्र के देवता क्रमशः वायु, इन्द्र-वायु, मित्र-वरुण (मित्रावरुणौ), अश्विद्वय, इन्द्र, विश्वेदेव और सरस्वती हैं। ऐतरेय-ब्राह्मण का कथन है कि यह शस्त्र **"यजमानस्याध्यात्ममिवोक्थम्'**। यज्ञ के फलस्वरूप यजमान का देवजन्म होता है, उसे दिव्य देह प्राप्त होती है। इसके पूर्व 'आज्य शस्त्र' का पाठ करके **होता** ने यजमान के जिस नूतन शरीर को उत्पन्न किया है, उसे वह इस शस्त्रपाठ के द्वारा संस्कृत करता है - यजमान के मुख्य प्राण प्राणापान, चक्षु, श्रोत्र, अङ्ग-प्रत्यङ्ग और वाक् क्रमशः प्रउग शस्त्र के देवताओं के आवेश से दिव्यगुणसम्पन्न होते हैं।[२]

१. अग्न आयाहि वीतये. सा. सं. १ (६६०)

२. द्रष्टव्य : ऐ. ब्रा. ३।१-३। होता शस्त्र को चाहे, तो अभिचार-रूप में भी प्रयोग कर सकता है।

अतएव इस दृष्टि से शस्त्र का महत्त्व अत्यधिक है, और यह कहा जा सकता है कि यज्ञ-विधि का चरम तात्पर्य इस शस्त्र में ही निहित है। इसलिए ऋक्संहिता के आरम्भ में ही इस शस्त्र को स्थापित करने का एक विशेष अर्थ है।[१]

इस प्रकार प्रथम मण्डल द्वारा ऋक्संहिता का उपक्रम आरम्भ हुआ। तत्पश्चात् आठ मण्डलों में त्रयीविद्या से सम्बन्धित मन्त्र-सङ्कलन के पश्चात् दशम मण्डल द्वारा संहिता का उपसंहार किया गया।

दशम मण्डल का आरम्भ त्रित आप्त्य के एक उपमण्डल से हुआ है।[२] जिसका देवता अग्नि है। ऐसे और भी कई उपमण्डल हैं, जो त्रिशिरा, त्वाष्ट्र[४], हविर्धान आङ्गिरस, विमद इन्द्र[५], वत्सप्रि भालन्दन[६], सुमित्र वाध्र्यश्व[७] के हैं। जिनका आरम्भ अग्निसूक्त द्वारा किया गया है। वसुक्र इन्द्र[८], कृष्ण आङ्गिरस[९], इन्द्र वैकुण्ठ[१०], वृहदुक्थ वामदेव्य[११] एवं गौरीवीति[१२] के कई उपमण्डलों का आरम्भ इन्द्रसूक्त से किया गया है।

---

१. प्रउग शस्त्र के देवता-विन्यास के साथ तुलनीय १।२३ (अश्विद्वय एवं सरस्वती) २।४१ (यहाँ देवता-विन्यास हूबहू एक है)। इस विन्यास का निश्चय ही एक साम्प्रदायिक परम्परागत तात्पर्य है। द्र. 'सरस्वती' ३।४।८। 'प्रउग' संज्ञा ऋक्संहिता में ही है (१०।१३०।३) वहाँ 'प्रउग' देवयज्ञ का उपादान है।

२. अन्यान्य मण्डल में इनके कई सूक्त हैं : १।१०५, ८।४७, ९।३३-३८,१०२; १०।१-७।

३. ८।९

४. ११।१३।

५. २०।२६।

६. ४५।४६।

७. ६९।७०; अन्त का आप्रीसूक्त। उसके बाद सप्ति वाजम्भर का ७९।८९

८. २७।२९।

९. ४२-४४

१०. ४८।५०

११. ५४-५६।

१२. ७३।७४।

द्रष्टव्य है कि उपमण्डलों का आयतन लघु है, एवं वे अष्टम अष्टक के तृतीय अध्याय[१] का अतिक्रमण नहीं कर पाए हैं। इसके पश्चात् मण्डल के समापन तक एक-एक ऋषि के केवल एक सूक्त का सङ्ग्रह किया गया है।[२]

इस प्रकार स्वभावत: यह मण्डल दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग की सङ्कलन-पद्धति कुछ-कुछ प्रथम मण्डल जैसी ही है।[३] द्वितीय भाग प्रकीर्ण सूक्तों का सङ्कलन है। अन्तिम भाग में कई एक विख्यात दार्शनिक सूक्त सङ्कलित हैं।[४] इसके अतिरिक्त इस भाग में कुछ आथर्वण-

---

१. १०।८५ सूक्त तक।

२. १११ से ११४ तक विरूपवंशी चार ऋषियों के चार सूक्त हैं। इसे एक उपमण्डल के रूप में गिना जा सकता है। आरम्भ इन्द्र-सूक्त से।

३. इसमें मात्र एक सूक्त की रचना जिन ऋषियों ने की है, वे हैं - अभितपा: सौर्य (३७), इन्द्र मुष्कवान् (३८), सप्तगु आङ्गिरस (४७), सिन्धुक्षित् प्रैयमेध (७५), जरत्कर्ण सर्प ऐरावत (७६)। और सभी एक से अधिक सूक्तों के रचयिता हैं। अग्नि अथवा इन्द्र के अतिरिक्त अन्य देवताओं द्वारा जिन उपमण्डलों का आरम्भ हुआ है, उनके ऋषि हैं - कवष ऐलूष (३०-३४) लुश धानाक (३५-३६), घोषा काक्षीवती एवं उनके पुत्र (३९-४१), बन्धु, श्रुतबन्धु, विप्रबन्धु तीन भाई (५७-६०); ये सभी अगस्त्य के भागिनेय हैं; नाभानेदिष्ठ मानव (६१-६२), गय प्लात (६३-६४), वसुकर्ण वासुक्र (६५-६६), अयास्य आङ्गिरस (६७-६८), बृहस्पति आङ्गिरस (७१-७२) स्यूमरश्मि भार्गव (७७-७८), विश्वकर्मा भौवन (८१-८२) मन्यु तापस (८३-८४)।

४. जैसे - पुरुषसूक्त (९०), विश्वेदेव सूक्त (११४), हिरण्यगर्भ सूक्त (१२१), वेन सूक्त (१२३), **(देवी सूक्त) वाक् सूक्त** (१२५), रात्रि-सूक्त (१२७), नासदीय सूक्त (१२९) यज्ञ-सूक्त (१३०) श्रद्धा-सूक्त (१५१), यमी-सूक्त (१५४), मायाभेद सूक्त (१७७) सार्पराज्ञी सूक्त (१८९), अघमर्षण सूक्त (१९०, यह द्विजाति का नित्य पाठ्य ; ऋषि, विश्वामित्रवंशी) एवं सबके अन्त में संज्ञान सूक्त (१९१)। किन्तु बृहस्पति के दो प्रसिद्ध सूक्त जिनमें वाक् एवं सृष्टि-रहस्य का वर्णन किया गया है, वे प्रथम भाग में हैं (७१-७२), इसी भाग में ही दो विश्वकर्मा-सूक्त भी हैं (८१-८२)। जिस मुनि सूक्त (१३६) में आर्ष-धारा के सन्निकट आर्य-संस्कृति की और एक धारा का परिचय मिलता है, वह द्वितीय भाग में सङ्गृहीत हुआ है (तुलनीय, अथर्वसंहिता का व्रात्य-सूक्त, पञ्चदशकाण्ड)

सूक्त भी है।[1] यहाँ ही प्रसिद्ध संवाद-सूक्त भी प्राप्त होते हैं।[2] एक ओर उच्चकोटि के दार्शनिक-तत्त्व और दूसरी ओर लौकिक-भावना के समावेश से इस द्वितीय भाग के साथ अथर्व-संहिता का अधिक साम्य है।

मोटे तौर पर हम दशम मण्डल में देखते हैं कि ऋक्संहिता के मूल अंश में जिन ऋषियों के सूक्त छूटे हैं, उनके कुछ सूक्तों का एवं उसके अतिरिक्त कुछ प्रकीर्ण सूक्तों का सङ्ग्रह किया गया है। फिर उनमें देवताओं के प्रति रचित सूक्तों के अलावा भी दार्शनिक एवं लौकिक-भावना के आधार पर रचे गए अनेक सूक्त हैं, जिनमें आर्यमानस की विचित्र सृष्टि का परिचय प्राप्त होता है।[3] प्रकीर्ण सूक्तों के किसी-किसी ऋषि का नाम अथवा गोत्रनाम देवताओं के नाम से भिन्न नहीं है।[4] वहाँ ऋषि सम्भवतः अज्ञातनामा हैं। सायुज्य-भावना में देवता के भीतर स्वयं को विलीन कर देने के फलस्वरूप देवता के नाम से उनका नामकरण हुआ है, किन्तु इस नामकरण में वैदिक-साधना के एक मौलिक विभाव की सूचना प्राप्त होती है, जिसका परिचय हमें उपनिषद् के जीव-ब्रह्म की ऐक्य-भावना में प्राप्त होता है।

---

१. ओषधि-प्रयोग (९७) सपत्नीबाधन (१४५), अलक्ष्मीनाशन (१५५), यक्ष्मनाशन (१६३), दुःस्वप्ननाशन (१६४) स्वस्त्ययन, (१६५), सपत्ननाशन (१६६), कुछ-कुछ आथर्वण-मन्त्र अन्यान्य मण्डलों में भी हैं : - १।१९१; २।४२-४३, ३।५३।१७-२४, ६।७५।२-८, ७।१०४....।

२. इन्द्र-इन्द्राणी वृषाकपि संवाद (८६) उर्वशी-पुरुरवा-संवाद (९५) पणिसरमा... संवाद (१०८) किन्तु यम-यमी संवाद प्रथम भाग में (१०) यमगोत्रीय ऋषियों के उपमण्डल के निकट है। अनेक विद्वान् इन कथोपकथनों को परवर्ती-युग के नाट्य-साहित्य के बीज के रूप में मानते हैं, लेकिन संवादसूक्त अन्यत्र भी मिलते हैं।

३. अक्षसूक्त (३४) में जुआरी का आत्म-विलाप एवं अरण्यानीसूक्त में अरण्यरहस्य का वर्णन वास्तवधर्मी अथवा यथार्थवादी कविता का विस्मयजनक निदर्शन है।

४. जिस प्रकार यम वैवस्वत (१४), अभितपा सौर्य (३७), इन्द्र मुष्कवान् (३८), विश्वकर्मा भौवन (८१-८२), मन्यु तापस (८३-८४), वाक् आम्भृणी (१२५), अनिल वातायन (१६८), विभ्राट् सौर्य (१७०)।

दशम मण्डल में सूक्त सन्निवेश अथवा विन्यास का एक वैशिष्ट्य है। प्रथम भाग के आरम्भ में एवं अन्त में छोटे-छोटे सूक्तों को स्थान देकर मध्य में बड़े सूक्तों को रखा गया है। मोटे तौर पर यही नियम है, किन्तु इस नियम का अनुसरण आर्षमण्डलों में नहीं किया गया है। फिर द्वितीय भाग में देखा जाता है कि बड़े सूक्तों को पहले स्थान देकर छोटे सूक्तों को क्रमशः रखा गया है।

दशम मण्डल में छन्दों के प्रयोग का भी वैशिष्ट्य है। यहाँ यह दिखाई पड़ता है कि गायत्री-छन्द का प्रयोग कम होता जा रहा है, किन्तु उसकी तुलना में अनुष्टुप्-छन्द का प्रयोग बढ़ा है। परवर्ती काल में अनुष्टुप् अथवा श्लोक ही संस्कृत-साहित्य के प्रधान छन्द के रूप में स्थापित हुआ।[1] किन्तु ऋक्संहिता का सर्वप्रधान छन्द त्रिष्टुप् है, जिसका प्रयोग इस मण्डल में ही सबसे अधिक है। अतएव छन्द की दृष्टि से भी दशम मण्डल प्राचीन एवं अर्वाचीन प्रभाव के बीचों बीच स्थिर-सा लगता है।

अनेक क्षेत्रों में भाषागत अर्वाचीनता के लक्षण इस मण्डल में अधिक स्पष्ट हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है। कि इसका सब कुछ ही अर्वाचीन है - यह कहना सङ्गत नहीं होगा। विशेषतया भाव की वयःसीमा का लेखा-जोखा भाषा के प्रमाण में हर समय पकड़ में नहीं आता। दशम मण्डल के वातावरण में ऐसा कुछ नहीं है, जो अन्य मण्डलों में न पाया जाए। इसमें आथर्वण-भावना का समावेश भी कोई नयी बात नहीं, बल्कि वैदिक-संस्कृति की दार्शनिक और लौकिक दृष्टि की स्वीकृति मात्र है। दशम मण्डल के द्वितीय भाग में हमें जिसका आभास मिलता है, अथर्वसंहिता में उसका ही विस्तार है।

---

१. किन्तु यह भी लक्षणीय है कि अत्रिमण्डल में अनुष्टुप् का प्रयोग दशम मण्डल की अपेक्षा भी अनुपात में अधिक है।

स्पष्ट है कि ऋक्संहिता के सम्पादन के मूल में एक सुष्ठु परिकल्पना कार्यरत रही है। प्रथम मण्डल से लेकर दशम मण्डल के प्रथम भाग तक सब मिलाकर भावों की एक संहति है, सघनता है। दशम मण्डल का द्वितीय भाग ही संहिता का यथार्थ उपसंहार एवं संयोजन है। प्रथम भाग के बाद प्रथम मण्डल के साथ सूक्त-सङ्ख्या को समान रखते हुए संहिता का समापन, लगता है जान-बूझकर ही किया गया है।

किन्तु याज्ञिकों की दृष्टि में, यह उपसंहार भी सप्रयोजन है। सोम याग के तीन ऋत्विक् गणों की चर्चा पहले ही की गई है। जो त्रयीविद्या के प्रयोग में निपुण होते हैं, किन्तु चतुर्थ गण के नेता ब्रह्मा का दायित्व ही यज्ञ में सबसे अधिक होता है। ऋक्संहिता में ही चारों प्रधान ऋत्विकों के कार्य का उल्लेख है।[१] उनमें 'ब्रह्मा वदति जातविद्याम्' अर्थात् ब्रह्मा समग्र वेदविद्या के धारक और प्रचारक हैं।[२] उनके समक्ष, उनके निर्देशन में यज्ञ अनुष्ठित होता है। कहीं भी यज्ञ की अङ्ग-हानि होने पर वे आत्मशक्ति द्वारा उसकी पूर्ति करते हैं। अतएव ब्रह्मा के ज्ञान के समान शक्ति भी होनी चाहिए।[३] यह ज्ञान और शक्ति अङ्गिरा एवं

---

१. ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् (होता), गायत्रं त्वो गायतिशक्वरीषु (उद्गाता), 'ब्रह्मा' त्वो वदति जातविद्याम्, यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः (अध्वर्युः) १०।७१।११।

२. आपस्तम्ब का कथन है, ब्रह्मा 'ब्रह्मिष्ठ' अथवा ब्रह्मवित्तम होंगे (श्रौतसूत्र ३।१८।१), यजमान ब्रह्मा को वरण कर लेने पर जप करते हैं - 'अहं भूपतिः, अहं भुवनपतिः, अहं महतो भूतस्य पति........बृहस्पतिर्देवानां ब्रह्मा,........अहं मनुष्याणां' (तै. ब्रा. ३।७।६।१-३)। ऐतरेयब्राह्मण में है - यद् ऋचैव होत्रं क्रियते यजुषाध्वयर्वं साम्नो उद्गीथं व्यारब्धा त्रयी विद्या भवति, अथ केन ब्रह्मत्वं होत्रं क्रियते इति त्र्यय्या विद्ययेति ब्रूयात्......मनसैव ब्रह्मा संस्करोति (५।३३)।

३. तु०. ऋ. ब्रह्मा चकार वर्धनम् १।८०।१; अपामर्शं यतीनां ब्रह्मा भवति सारथिः १५८।६; ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम १६४।३५; ब्रह्माणं ब्रह्मवाहसं (इन्द्र की उपमा) ६।४५।७। कहीं-कहीं अग्नि एवं ब्रह्म का साम्य दिखाया गया है (२।१।२, ४।९।४, ७।७।५ : बाङ्गलादेश के ग्रामाञ्चलों में आग लगने को 'ब्रह्मा का कोप' कहते हैं)। अतएव अग्नि की तरह ब्रह्मा भी यज्ञ के मुख्य साधन हैं।

अथर्वा में थी; जो अग्निविद्या और यज्ञविधि के प्रवर्तक एवं प्रवक्ता थे। इसलिए ब्रह्मा को कभी-कभी अथर्ववेदविद् कहा जाता है। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि ऋक्संहिता में तीन ऋत्विक् गण के साथ संश्लिष्ट मन्त्रों का ही सङ्ग्रह किया गया है। दशम मण्डल के द्वितीय भाग में जो आथर्वण-मन्त्र सङ्कलित हैं, वे विशेष रूप से ब्रह्मा की 'जातविद्या' अथवा 'सर्वविद्या' के सूचक हैं। यहाँ ही संहिता के उपसंहार की सार्थकता है। होतृगण का वेद होने पर भी चार ऋत्विक् गण के साथ संश्लिष्ट है। अर्थात् समग्र यज्ञ-विधि के एक आदर्श को सामने रखकर ऋक्संहिता का सङ्कलन किया गया है।

ऋक्संहिता में सारे ऋक् ही सङ्कलित हैं - ऐसा नहीं है। शाकलसंहिता के मन्त्रों का एक 'पदपाठ' है, जिसमें प्रत्येक मन्त्र का पदविश्लेषण किया गया है। शाकल्य उसके प्रणेता हैं। उन्होंने संहिता के छह मन्त्रों का पदपाठ नहीं दिया है।[१] अनुमान किया जा सकता है कि उन्होंने इनकी गिनती संहिता के अन्तर्गत संयोजन के रूप में की है।[२] पहले ही कहा गया है कि ऋक् ही साम की योनि है। इसलिए सामसंहिता के सारे मन्त्रों का ही ऋक्संहिता में होना उचित है, किन्तु सामसंहिता के मन्त्र ऋक्संहिता में नहीं मिलते। शाकल-शाखा में बालखिल्य-संहिता की गणना एक संयोजन के रूप में की जाती है, तथापि शाङ्खायन-शाखा वह संहिता के अन्तर्गत है, और वाष्कल-शाखा में भी उसे पूरा ही रखा गया है। ब्राह्मणग्रन्थों में कुछ ऐसे मन्त्रों का उल्लेख है, जो संहिता में नहीं हैं। अतएव शाकलसंहिता में मन्त्र-सङ्कलन आंशिक है, उसके बाहर भी अनेक ऋक् थे, उसका आसानी से बोध होता है।

---

१. ७।५९।१२, १०।२०।१, १२१।१०, १९०।१-३।

२. प्रथम ऋक्; सूक्त के उपसंहार में अनुपयुक्त ढङ्ग से रखा गया है। द्वितीय ऋक् एक एकपदी ऋक् है, जैसे सूक्त की भूमिका हो। तृतीय ऋक् सूक्त का उपसंहार जैसा है, बहुत कुछ विवृति जैसा। शेष तीन ऋक् अघमर्षण-सूक्त है जिसमें सृष्टि-क्रम का वर्णन है।

साधारणत: इस प्रकार के ऋक् का एक सङ्ग्रह 'खिलसूक्तानि' नाम से ऋक्संहिता के परिशिष्ट के रूप में संयोजित रहता है। खिलसूक्त के अर्थ में उन सूक्तों का बोध होता है, जो शाकलसंहिता के बाहर हैं, और जिन्हें अनुक्रमणिका में स्थान प्राप्त नहीं है, तथापि सम्प्रदाय-क्रम में संहिता के विशेष-विशेष अंश में जिनका स्थान निर्धारित किया गया है।

आरम्भ में यह मान्यता थी कि खिलसूक्त अर्वाचीन-युग की रचना है, किन्तु गवेषणा के फलस्वरूप अब स्पष्ट हो चुका है कि अनेक खिल-सूक्त तो अतिप्राचीन हैं। केवल शाखा से बाहर होने के कारण उन्हें 'खिल' या 'परिशिष्ट' के रूप में गिना गया है। खिल संहिता के अन्तर्गत पुरोरुच् एवं प्रैषमन्त्र निस्सन्देह प्राचीनतम-युग के मन्त्र हैं, निविद् तो निश्चय ही हैं।[१] महानाम्नी बालखिल्य एवं कुन्ताप-सूक्त अति प्राचीन हैं। अधिकांश खिलसूक्त ही तथाकथित संहिता-युग के हैं। ब्राह्मणयुग के सूक्त कम हैं। प्राचीन वैदिक-साहित्य में अनेक खिलमन्त्रों का उल्लेख है, किन्तु वे सर्वत्र ही 'ऋक्' अथवा नियम के रूप में ही परिगणित हुए हैं; और उनके साथ 'खिल' विशेषण- कहीं भी नहीं जुड़ा है। वस्तुत: यह विशेषण ही अर्वाचीन है।[२]

---

१. निविद् का उल्लेख ऋक्संहिता में ही है – तान् पूर्वया 'निविदा' हूमहे वयम् १।८९।३; स **पूर्वया 'निविदा'** कव्यतायो रिमा: प्रजा अजनयन्मनूनाम् ९६।२; तामनु त्वा **निविदं** जो हवीमि; १७५।६; १७६।६; सत्तो होता **निविद:** पूर्व्या अनु २।३६।६ किमु ष्विदस्मै **निविदो** भनन्त ४।१८।७ शंसन्ति के **चिन्निविदो** मनाना: ६।६७।१०। तभी निवित् पूर्व्या अथवा प्राचीन, यह लक्षणीय है। खिल संहिता में जो **निवित्** मन्त्र प्राप्त होते हैं, उनमें अर्वाचीनता का कोई लक्षण ही नहीं। **निविद्** के भीतर देवतत्त्व का संहत रूप है। सूक्त में उसका विस्तार है।

२. खिलसंहिता PREFACE 905. 906 तिलक विद्यापीठ संस्करण, खण्ड ४। BUHLER द्वारा आविष्कृत ऋक्संहिता की काश्मीर पाण्डुलिपि से SCHEFTELOWITZ ने खिलसंहिता का एक प्रामाणिक एवं सटिप्पण संस्करण प्रस्तुत किया है। तिलक विद्यापीठ की खिलसंहिता उसके ही आधार पर सङ्कलित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋषियों ने भाव के आवेश में देवों की जिस प्रशस्ति की रचना की है[१], उसका ही यज्ञ के आदर्श को ध्यान में रखकर ऋक्संहिता में सङ्कलन किया गया है। सारी प्रशस्तियाँ एक समय में नहीं रची गईं[२] अथवा ऐसी बात भी नहीं कि रचना का उपलक्ष्य केवल कर्मकाण्ड ही है। अधिकांश सूक्तों में देवता के प्रति कवि-हृदय की केवल एक उद्दीपना अथवा उत्तेजना अभिव्यक्त हुई है। अनेक सूक्तों का केवल प्रातरनुवाक में विनियोग होने से समझ में आता है कि उनका उद्देश्य यज्ञ की भूमिका के रूप में एक चिन्मय परिवेश की सृष्टि करना है। जप में विनियोग की साधारण-विधि का भी उद्देश्य वही है। ऋक् को साम में परिणत करने में भी हम कवि-हृदय की ही प्रेरणा देखते हैं। सङ्क्षेप में कर्म को दृष्टि में रखकर जो मन्त्र रचे गए हैं, वे यजु: हैं। ऋक् अथवा साम के पक्ष में कर्म, उपलक्ष्य मात्र है। इस अन्तर के सम्बन्ध में शुरू से ही सतर्क रहना उचित है, नहीं तो हम ऋषि-हृदय की मूल प्रेरणा अथवा प्रवर्तन को गलत समझकर वैदिक भावना के इतिहास को विकृत कर सकते हैं। ऋक् की रचना कवि हृदय की मुक्त प्रेरणा द्वारा हुई है, किन्तु उसका सङ्कलन याज्ञिकों के प्रयोजन के अनुकूल किया गया है। इसलिए सारे ऋक् एक शाखा में सङ्कलित नहीं किए गए, अथवा सम्प्रदाय-भेद के चलते उनमें शाखा-भेद भी हुआ। इसे हम पहले ही बतला चुके हैं। किन्तु एक बार सङ्कलित होने के

---

१. ऋग्वेद की भाषा में 'धीरा मनसा वाचमक्रत' (१०।७१।२), अर्थात् सूक्तवाक् के मूल में 'धी' अथवा ध्यानचित्त की प्रेरणा है एवं प्रबुद्ध मन उसका माध्यम है। इस वाक् का आविर्भाव होता है – 'हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु' (१०।७१।८) अर्थात् जब मन अग्निशिखा की तरह (स्मरणीय मुण्डकोपनिषद् में अग्नि की तृतीय शिखा का नाम 'मनोजवा' [१।२।४] अर्थात् चेतना के अन्धेपन एवं विक्षोभ को दूर करता हुआ ऊर्ध्वमुखी अभीप्सा का दीप्त प्रकाश) द्युलोक की ओर भागता है, एवं उसके साथ उसका आवेग तब हृदय के माध्यम से शिल्प रूप प्राप्त करता है।

२. ऋषियों ने अनेक स्थलों पर ही नवीनतर प्रशस्ति-रचना करने की बात का उल्लेख किया है।

पश्चात् उसे अविकृत रखने का दायित्व याज्ञिकों ने लिया, और इस दायित्व का निर्वाह उन्होंने किस प्रकार निष्ठापूर्वक किया, उसका परिचय हमें तब मिलता है; जब हम देखते हैं कि हज़ारों वर्षों से लेकर आज़ तक ऋक्संहिता के ढाँचे में तनिक भी परिवर्तन नहीं हुआ अथवा उसके पाठ में विशेष कुछ हेर-फेर नहीं हुआ। किन्तु यह असम्भव-प्राय कार्य केवल स्मृति की सहायता से हुआ। और आजतक समग्र वेदसंहिता ही आचार्य-शिष्य परम्परा द्वारा कण्ठस्थ मौखिक रूप में प्रचारित होती आ रही है। अधिक समय नहीं हुआ, जब वे लिपिबद्ध की गईं।[1]

संहिता के ढाँचे को अविकृत रखने के लिए अनेक प्रकार के पाठों का प्रवर्तन किया गया था। उनमें **संहितापाठ** मूल पाठ है। दो वर्णों की सन्निकटता को 'संहिता' कहते हैं। संहिता के कारण वर्ण एवं स्वर (ACCENT) के विकार होते हैं, जिनको व्याकरण में सन्धि के नियम में निर्धारित किया गया है। इस प्रकार ऋक् के पदों को सन्धि के नियमानुसार जोड़कर पढ़ने की संज्ञा 'संहिता-पाठ' है। सन्धि तोड़कर पदों को विश्लिष्ट या अलग करके पढ़ने की संज्ञा **'पदपाठ'** है। पहले ही बतलाया गया है कि शाकलसंहिता के पदपाठ की रचना शाकल्य ने की थी।[2] पदों को तोड़ देने से पदपाठ मन्त्र का अर्थ समझने की दिशा में अधिक सहायक होता है। संहिता-पाठ और पदपाठ दोनों के मिलने

१. ग्यारहवीं शताब्दी में अलबेरुनी ने भारत में आकर काश्मीर में एक संहिता को प्रथम लिपिबद्ध होते हुए देखा था। अभी कुछ समय पहले भी एक वैदिक ब्राह्मण ने ऋक्संहिता का पाठ केवल अनुलोम-विलोम क्रम सहित जिस किसी स्थान से करके ही नहीं, बल्कि कोई भी पद कहाँ-कहाँ है? उसका उल्लेख स्थान सूची के साथ करते हुए अपनी अद्भुत स्मरण-शक्ति का परिचय दिया।

२. शाकल्य 'निरुक्त'-प्रणेता यास्क एवं 'ऋक्प्रातिशाख्य' प्रणेता शौनक से प्राचीन हैं। पदपाठ का उल्लेख ऐतरेय आरण्यक में प्राप्त होता है; वहाँ संहिता-पाठ को निर्भुज' एवं पदपाठ को 'प्रतृण्ण' (३।१।३) कहा गया है। शाकल्य का उल्लेख भी यहीं प्राप्त होता है। (३।१।२, ३।२।६); उनका पूरा नाम 'स्थविरः शाकल्यः'।

से **क्रमपाठ** होता है। उसमें मन्त्र के पाठों को दो-दो बार किन्तु जोड़-जोड़ कर पढ़ना पड़ता है। परिणामतः प्रथम पद को छोड़कर प्रत्येक पद ही दो बार एक संहिता-पाठ के अनुसार और एक पदपाठ के अनुसार पढ़ना पड़ता है।[1] क्रमपाठ से और भी आठ पाठों की रचना हुई है – जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ एवं घन। प्रत्येक पाठ में नाना जटिल पद्धतियों से पद का विन्यास किया गया है, और वह जटिलता घनपाठ में पराकाष्ठा पर है।[2] इस प्रकार पाठों के विचित्र प्रयोग द्वारा अत्यन्त प्राचीनकाल से ही मन्त्रों को अविकृत, ज्यों का त्यों रखने की चेष्टा की गई थी।

[२]

यह ऋक्संहिता की रूपरेखा का सङ्क्षिप्त परिचय है। इसके बाद साम-संहिता पर चर्चा करें, क्योंकि ऋक्संहिता के साथ उसका सर्वापेक्षा घनिष्ठ सम्बन्ध है।

पहले ही बतलाया जा चुका है कि सम्प्रति, सामसंहिता की तीन शाखाएँ उपलब्ध हैं। उनमें राणायणीय एवं कौथुम शाखा[3] में मन्त्र-भेद नहीं है, केवल मन्त्र-गणना की पद्धति में भेद है। राणायणीय-शाखा में मन्त्रगणना-प्रपाठक, अर्धप्रपाठक, दशति के अनुसार और कौथुम-शाखा में अध्याय एवं खण्ड के अनुसार की जाती है। दोनों शाखाओं में कुछ स्वर-भेद एवं पाठ-भेद भी है। जैमिनीय (तलवकार) संहिता में मन्त्रों की सङ्ख्या कुछ कम है। किन्तु गान की सङ्ख्या अधिक है और मन्त्र-विन्यास की धारा भी अलग है।

१. यह पाठ भी प्राचीन है, जिसका उल्लेख ऐतरेय आरण्यक के उपरियुक्त अध्याय में है। कात्यायन कहते हैं – 'क्रमः स्मृतिप्रयोजनः' अर्थात मन्त्र को अविकृत रूप में स्मरण रखने के लिए क्रम-पाठ की ज़रूरत है (पा. सू. ४।१८)।

२. मुद्रित पुस्तकों में संहितापाठ एवं पदपाठ ही दिया जाता है, किन्तु घनपाठी ब्राह्मण अभी भी कम नहीं हैं।

३. कई-कई विद्वानों का मत है कि शाखा का नाम कौथुमी नहीं, कौसुमी है; क्योंकि साम-प्रातिशाख्य का नाम 'पुष्पसूत्रम्' 'कुसुमसूत्रम्' अथवा 'कौसुमसूत्रम्' है।

आर्चिक एवं **गान** इन दो भागों में कौथुमसंहिता को विभाजित किया जा सकता है। पहले ही बतलाया गया है कि ऋक्-मन्त्र में सुर बिठाकर गान किया जाता है, उस सुर को **साम** कहा जाता है। तब ऋक् की पारिभाषिक संज्ञा 'सामयोनि' अथवा 'योनि' होती है। आर्चिक सामयोनि ऋक्-मन्त्रों का सङ्ग्रह है, और गान उसकी स्वरलिपि है।

आर्चिक के प्रायः सारे मन्त्र ही शाकलसंहिता से लिए गए हैं। पुनरुक्तियों को छोड़कर कौथुमसंहिता के कुल १६०३ मन्त्रों में ९९ मन्त्र शाकलसंहिता में नहीं पाए जाते।[1] वे सम्भवतः अन्य शाखा से सङ्गृहीत हैं। दोनों संहिताओं के मन्त्रों में कुछ पाठ-भेद भी है, किन्तु वह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं।

ऋक्संहिता के सभी मण्डलों से ही सामसंहिता के मन्त्रों का चयन किया गया है, किन्तु उसमें अष्टम एवं नवम मण्डल के मन्त्र ही अधिक हैं। फिर छन्दों में गायत्री का प्रयोग सबसे अधिक है।

संहिता का आर्चिक अंश **पूर्वार्चिक** और **उत्तरार्चिक** दो भागों में विभाजित है। पूर्वार्चिक में स्वतन्त्र रूप से एक-एक करके मन्त्रों का सङ्कलन किया गया है। उसके एक-एक मन्त्र से एक-एक साम उत्पन्न होता है। इन मन्त्रों को ही साम की योनि कहा जाता है। विशेष रूप से योनिमन्त्रों के सङ्ग्रह के रूप में आर्चिक की एक और संज्ञा 'योनिग्रन्थ' अथवा 'छन्दोग्रन्थ' है। किन्तु यज्ञ में साधारणतः तीन ऋक् अथवा एक तृच में एक साम गाया जाता है। योनि के अतिरिक्त शेष दो ऋकों की संज्ञा 'उत्तरा' है। उत्तरार्चिक में हम उत्तरा सहित **पुवा** तृच पाते हैं।

पूर्वार्चिक में मन्त्रों को देवता और छन्द के अनुसार सजाया गया है। यह आर्चिक - आग्नेय, ऐन्द्रेय, पावमान एवं आरण्य-इन चार काण्डों में विभक्त है। प्रथम तीन काण्डों में ऋग्वेद के तीन प्रधान देवता अग्नि, इन्द्र एवं पवमान सोम के मन्त्रों का सङ्ग्रह है और आरण्यकाण्ड में

१. औंध संस्करण के अनुसार

अनेक देवताओं के मन्त्र हैं। फिर यह काण्ड अर्क, द्वन्द्व और व्रत इन तीन पर्वों में विभक्त है। सबसे अन्त में 'महानाम्नी आर्चिक' नामक एक लघु-परिशिष्ट है। प्रथम तीन काण्डों में गायत्री, बृहती, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्, जगती, उष्णिक्, तत्पश्चात् अन्यान्य छन्द हैं - साधारणतः इस क्रम के अनुसार मन्त्रों का विन्यास किया गया है।

उत्तरार्चिक के मन्त्रों को याग-विधि के अनुसार सजाया गया है। पूर्वार्चिक का प्रत्येक मन्त्र स्वतन्त्र है, किन्तु उत्तरार्चिक के मन्त्र सूक्ताकार हैं। मोटे तौर पर १२२५ मन्त्रों में ४०० सूक्त हैं - उसमें तीन मन्त्रों में रचित सूक्तों की सङ्ख्या सबसे अधिक है।[1] उत्तरार्चिक के सूक्तों का प्रथम मन्त्र प्रायः पूर्वार्चिक में दिया हुआ है, अतएव पूर्वार्चिक को गान के बोल की सूची के रूप में माना जा सकता है। पूर्वार्चिक के मन्त्र जिस साम में गाए जाएँगे, वही साम उत्तरार्चिक के समस्त सूक्तों में बैठेगा - इसे ध्यान में रखना होगा।[2]

वैदिकों का कथन है कि ऋक् की तरह साम अथवा सुर भी ऋषियों द्वारा दृष्ट है। प्रायः ऋक् यदि किसी एक ऋषि का है, तो उसमें साम किसी अन्य ऋषि ने बिठाया है। ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं[3] कि कुछ

१. तीन ऋचाओं के एक गुच्छ को 'तृच' कहते हैं। सामगान के समय **स्तोम** रचने का एक आधार है। एक मन्त्र द्वारा एक सूक्त रचा गया है, उत्तरार्चिक में ऐसे सूक्तों की सङ्ख्या १३ है और दो मन्त्रों के सूक्त अथवा 'प्रगाथ' ६६ हैं। बारह मन्त्रों के सबसे बड़े सूक्त दो हैं।

२. इसके कारण सामसंहिता के मन्त्रों में अनेक पुनरुक्तियाँ हैं। कुल १८७५ मन्त्रों में पुनरुक्त-मन्त्रों की सङ्ख्या २७२ है। उत्तरार्चिक में ऐसे सूक्त हैं, जिनकी सूची पूर्वार्चिक में नहीं है। फिर पूर्वार्चिक में ऐसे मन्त्र हैं, जिनके अनुरूप सूक्त उत्तरार्चिक में नहीं हैं। उत्तरार्चिक के ये सूक्त प्रायः गायत्री-छन्द में रचित हैं, अतएव समझना होगा कि इनमें 'तत् सवितुर्वरेण्यम्' का सुर बैठेगा। पुनः उत्तरार्चिक में याग-विधि के बाहर किसी साम को यदि गाना हो, तो स्वभावतः पूर्वार्चिक में उसका उल्लेख रहेगा, किन्तु उत्तरार्चिक में उसके अनुसार या अनुरूप कोई भी सूक्त नहीं होगा।

३. एक ऋक् में २५ अथवा उससे भी अधिक स्वर बिठाए गए हैं – ऐसे ऋक् की सङ्ख्या १७ है। 'पुनानः सोम धारया' (९।१०७।४) इस ऋक् में ६१ सुर बिठाए गए हैं। इस प्रकार गान-ग्रन्थ में कुल २६३७ सुरों की स्वरलिपि पाई जाती है। 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' में सुरों के वैचित्र्य का ही सङ्केत है।

ऋचाओं में एक से अधिक सुर दिया गया है। सुरों के नाम प्राय: रचयिता ऋषि के नाम से हैं, यद्यपि इस समय जैसे सुर के अलग नाम भी अनेक हैं।[१]

पहले ही बतलाया गया है कि संहिता के जिस अंश में सुरों की स्वरलिपि सङ्कलित है उसे 'गान' कहते हैं। गान संहिताएँ चार हैं जिनके नाम हैं – ग्रामगेय, आरण्यगेय, ऊह एवं ऊह्य (अथवा रहस्य)। पूर्वार्चिक के प्रथम तीन काण्डों की स्वर लिपि ग्रामगेय गान में है।[२] पूर्वार्चिक के आरण्यकाण्ड और परिशिष्ट की स्वरलिपि आरण्य गेय गान में है।[३]

उत्तरार्चिक की स्वरलिपि ऊहगान में है। उत्तरार्चिक के सामयोनि सूक्तों को यज्ञ-विधि के अनुसार दशरात्र, संवत्सर, एकाह, अहीन, सत्र,

१. जैसे सामसंहिता का प्रथममन्त्र बार्हस्पत्य भरद्वाज की रचना है। उसमें गौतम ने दो सुर बिठाए हैं और कश्यप ने एक सुर बिठाया है। गौतम के सुर का नाम 'पर्क' और कश्यप के सुर का नाम 'बर्हिष्य' है। द्वितीय मन्त्र भी भरद्वाज का है, उसमें सुपर्ण ने सुर बिठाया है; इसलिए सुर का नाम ''सौपर्ण' है।

२. दूसरा नाम 'वेयगान' अथवा 'प्रकृतिगान'।

३. यह भी प्रकृतिगान के अन्तर्गत है। इसमें अर्क, द्वन्द्व, व्रत, शुक्रिय और महानाम्नी ये पाँच पर्व हैं। ग्रामगेय गान सबके समक्ष गाए जाते हैं। आरण्यगेय निर्जन में गाए जाते हैं। अस्तु इस अन्त के गान का एक अलौकिक सामर्थ्य है। उपनिषद् के अनुसार जो ग्रामवासी हैं, वे इष्टापूर्त एवं दान की उपासना करके पितृयान मार्ग पर जाकर फिर संसार में लौट आते हैं। जो अरण्यवासी हैं, वे श्रद्धा, तप:, एवं सत्य की उपासना करके देवयान मार्ग पर जाते हैं और फिर संसार में लौटकर नहीं आते। अरण्यवासी तृतीय ब्रह्मलोक की अपराजिता पुरी में प्रतिष्ठित होते हैं तथा 'अर' एवं 'ण्य' नाम के दो अर्णव में अवगाहन करते हैं (छा. उ. ५।१०।१, ८।५।३-४; वृ. उ. ६।२।१५-१६)। इससे ही ग्राम और अरण्य की दूरी एवं महिमा समझ में आएगी। ग्रामीण-जीवन प्राकृत और आरण्यक-जीवन अप्राकृत होता है। आरण्यगेय साम की भी महिमा इसके कारण ही है। आरण्य-काण्ड के ६५ मन्त्रों में १२ मन्त्र उत्तरार्चिक में पाए जाते हैं। एक और बात लक्षणीय है। आरण्य-काण्ड में ६५ योनिमन्त्र है; किन्तु आरण्यक-गान में उसकी सङ्ख्या उद्रयाम एवं भारुण्डु साम के योनिमन्त्रों को लेकर १९१ होती है। स्मरणीय; यह ऋक्संहिता के प्रथम एवं दशम मण्डल की भी सूक्त-सङ्ख्या है।

प्रायश्चित्त एवं क्षुद्र इन सात पर्वों में सजाया गया है। ऊहगान अथवा स्वरलिपि में भी इस क्रम का अनुसरण किया गया है।[१]

'ऊह्य' गान का एक अन्य नाम ऊह रहस्यगान है। आरण्यक से रहस्य का बोध होता है। **ऊह्य गान में भी ऊह गान जैसी ही यज्ञ-विधि के अनुसार स्वरलिपि का विन्यास किया गया है।** किन्तु उसका आधार आरण्यक-संहिता एवं आरण्य गेयगान है। यज्ञ में जिन सब रहस्यगानों को गाना होगा, यह उसकी ही स्वर-लिपि है।

एक ऋक् में एक साम या सुर लगता है, किन्तु इस साम को एक तृच अथवा तीन ऋचाओं में गाना होता है। तृच को बार-बार गाने से एक **स्तोम** होता है। जितनी बार गाना होगा, उस सङ्ख्या का नाम 'स्तोम' है। नव (नौ) प्रकार के स्तोम होते हैं, जिन्हें त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश, चतुर्विंश, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश, चतुश्चत्वारिंश, अष्टचत्वारिंश कहते हैं। त्रिवृत् में बार-बार गाने के कारण ऋक् अथवा गान के पद नौ हो जाते हैं और त्रिणव में सत्ताईस। औरों में पदों की सङ्ख्या का बोध नाम से ही हो जाता है।[२] स्तोत्रों में देवता की प्रशस्ति ही सुर में गाई

१. ऊह शब्द का अर्थ तर्क अथवा अनुमान द्वारा निश्चय करना। साधारणत: सामगान 'तृचगान' है अर्थात् एक सुर तीन ऋचाओं में बिठाकर गाना। किन्तु योनिग्रन्थ में केवल योनिमन्त्र ही है, दो उत्तरामन्त्र नहीं हैं। इसलिए कौन-कौन ऋक् किस प्रकार बिठाकर एक पूर्णाङ्ग तृच करना होगा एवं उसमें कौन सुर बैठेगा? यह सब कुछ पूर्वाचार्यों ने ऊह द्वारा निरूपण करके स्वरलिपि बाँध दी है। यह ऊह ग्रन्थ का स्वरूप है। इस कारण मीमांसकों ने ऊह ग्रन्थ को पौरुषेय अर्थात् मनुष्य रचित कहा है (मी. सू. ९।२।२)।

२. जैसे माध्यन्दिन पवमान नामक स्तोत्र को पञ्चदश स्तोम अर्थात् तीनों ऋचाओं को ही तीन पर्याय या क्रम में पन्द्रह कली या पद करके गाना होगा। प्रथम क्रम में पहली ऋचा तीन बार और बाकी दोनों एक-एक बार करके कुल पाँच पद गाए गए। द्वितीय क्रम में दूसरी ऋचा को तीन बार और दो को एक-एक बार करके गाया गया। फिर तृतीय क्रम में तीसरी ऋचा तीन बार एवं बाकी दो एक-एक बार करके गाई गई। तो इस प्रकार प्रत्येक ऋक् अथवा ऋचा को पाँच बार गाने पर गान के कुल पद पन्द्रह हुए। यह स्तोत्र पञ्चदश स्तोम अथवा पन्द्रह कलियों या पदों का एक स्तबक हुआ। सुर एक ही होगा।

जाती है। पहले स्तोत्र गाकर तत्पश्चात् देवता का प्रशस्ति-पाठ करना ही विधि है। अर्थात् पहले देवता के प्रशस्तिवाचक एक लघुसूक्त को सुर में लहराकर एक वातावरण की सृष्टि करना, फिर दीर्घसूक्त में देवता के गुणों का वर्णन करना।

साम के पाँच भाग हैं, जिन्हें **'भक्ति'** कहा जाता है। प्रथम भाग का नाम 'प्रस्ताव' है जिसका गायन प्रस्तोता करते हैं ; द्वितीय भाग 'उद्‌गीथ' है, जिसका गायन उद्‌गाता करते हैं ; तृतीय भाग 'प्रतिहार' है, जिसका गायन प्रतिहर्ता करते हैं; चतुर्थ भाग 'उपद्रव' है, जिसका गायन फिर उद्‌गाता करता है; उसके बाद सभी मिलकर एक साथ अन्तिम भाग 'निधन' का गायन करते हैं। गान के आरम्भ में सारे ऋत्विक् मिलकर ओङ्कार का उच्चारण करते हैं, एवं हुङ्कार ध्वनि करते हैं – जिसे 'हिङ्कार' कहते हैं। ओङ्कार और हिङ्कार को लेकर साम सप्तभक्ति हो जाता है।[१]

गान के समय स्वाभाविक रूप में ऋक् अविकृत या ज्यों का त्यों नहीं रहता, उसमें सुरों की तान या खिंचाव से परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन को 'साम-विकार' कहते हैं। साम-विकार छह प्रकार के हैं, जिन्हें विकार, विश्लेषण, विकर्षण, अभ्यास, विराम एवं स्तोभ कहा जाता है।[२] इनमें ऋक् के वर्ण को छोड़कर अन्य वर्ण 'स्तोभ' है – जैसे

---

१. पञ्चभक्ति एवं सप्तभक्ति नाम से अध्यात्म एवं अधिदैवत-दृष्टि में उपासना की चर्चा सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद् में प्राप्त होती है (२।२-२०)। वहाँ आरम्भ में हिङ्कार को लेकर एवं उपद्रव को छोड़कर पञ्चभक्ति एवं उसके साथ आदि और उपद्रव को जोड़कर सप्तभक्ति की कल्पना की गई है। प्रस्तोता एवं प्रतिहर्ता उद्‌गातृगण के ऋत्विक् हैं। चतुर्थ ऋत्विक् 'सुब्रह्मण्य' हैं।

२. जैसे पूर्वार्चिक् में प्रथम मन्त्र है – 'अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि।' इस मन्त्र में जब गौतम ऋषि ने पर्क सुर बैठाया, तब यह इस प्रकार हुआ 'ओग्नायि (विकार) आयाही वोयि तोया यि (विश्लेषण) तोया यि (अभ्यास अथवा पुनरुक्ति) गृणानो ह (विराम) व्यदा तो याइ तो याइ (अभ्यास)। नाइ (विकर्षण) होता सात् साइ त्रा 'औहोवा' (स्तोभ) हीषी।'

– हाऊ, हाई, औहोवा इत्यादि। कभी-कभी एक पद अथवा एक वाक्य भी स्तोभ के रूप में प्रयुक्त होता है।[१]

वेद में तीन स्वर हैं – उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित। सामसंहिता के आर्चिक ग्रन्थ-पाठ के समय ये तीन स्वर ही लगाए जाते हैं। किन्तु गान के समय क्रुष्टु प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र एवं अतिस्वार्य ये सात स्वर लगते हैं। शिक्षाकार 'नारद' के विचार में ये स्वर क्रमश: लौकिक पञ्चम, मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज, निषाद और धैवत स्वर के समान हैं।

[३]

सामसंहिता के सङ्क्षिप्त-परिचय के पश्चात् त्रयीविद्या के अन्यतम आधार यजु:संहिता को लें।

यजुर्वेद को कभी-कभी कर्मवेद अथवा अध्वर्युवेद कहा जाता है। यज्ञ ही कर्म है। देवता के प्रति द्रव्य-त्याग ही यज्ञ है। जो त्याग करते हैं, वे यजमान हैं। त्याग का अनुष्ठान जटिल है। जो यजमान की ओर से इस जटिल अनुष्ठान को निष्पन्न करते हैं, वे 'ऋत्विक्' हैं। देवता का आवाहन व प्रशस्तिपाठ, उनका स्तुतिगान एवं उनके प्रति होमद्रव्य का आहुतिदान – यज्ञ के ये तीन मुख्य साधन हैं। ऋत्विकों में जो प्रशस्ति पाठ करते हैं, वे 'होता' हैं; उनके पाठ्य-मन्त्रों का सङ्कलन ऋक्संहिता है। जो स्तुति गान करते हैं, वे 'उद्‌गाता' हैं; उनके गेय मन्त्रों का सङ्कलन सामसंहिता है। जो आहुति देते हैं; वे 'अध्वर्यु' हैं। प्रत्येक कार्य मन्त्र का

---

१. जिस प्रकार पृथिवीव्रत साम के आरम्भ में ही 'प्रतिष्ठासि प्रतिष्ठा, वर्चोसि, मनोसि, एही' इन स्तोभों के पश्चात् मूल ऋक् पदों का आरम्भ हुआ है और फिर उन्हीं स्तोभों के द्वारा अन्त भी हुआ है। बीच-बीच में फिर 'एही' यह स्तोभ भी है (आरण्यकगान १.३८)। ऐसे पदस्तोभ और वाक्यस्तोभ के साथ तुलनीय है, बाङ्गला के कीर्तन का आखर।

स्मरण करके करना पड़ता है – ऐसे मन्त्रों का सङ्कलन यजु:संहिता है। ऋक्संहिता की भाषा में अध्वर्यु यज्ञ का शरीर निर्माण करते हैं।[१] जिन मन्त्रों की सहायता से वे यह कार्य सम्पन्न करते हैं, वे ही 'यजु:' हैं[२]। यजुर्मन्त्रों का लक्षण बतलाते हुए मीमांसकों का कथन है कि ऋक् और साम को छोड़कर जितने और मन्त्र हैं, वे सभी यजु: हैं।[३] ऋक् 'मित' अर्थात् पादबद्ध, साम स्वरबद्ध और यजु: 'अमित' अर्थात् उसमें ऋक् जैसी पादव्यवस्था नहीं है।[४] किन्तु ऐसा होने पर भी यजु: के गद्य में एक छन्द है।[५] यजुर्मन्त्रों में ध्वनि के सङ्घात से जो एक गम्भीर गरिमा उजागर

---

१. ऋ. १०।७१।११

२. यजुर्मन्त्रों की महिमा के सम्बन्ध में ऋक्संहिता में कई रहस्योक्तियाँ प्राप्त होती हैं – 'स समुद्रो अपीच्यस्तुरो द्यामिव रोहति नि यदासु, यजुर्दधे' – वरुण रहस्यमय समुद्र हैं, जब कारणसलिल में यजुर्मन्त्र निहित करते हैं; तभी वे क्षिप्रगति से द्युलोक में आरोहण करते हैं (८।४१।८); 'विश्वेदेवा अनु तत् ते यजुर्गुर्दुहे यदेनी दिव्यं घृतं वा:' – चित्रवर्णा पृश्नि ने जब द्युलोक की धारा को निर्झरित किया, तब हे अग्नि! विश्वेदेवगण ने तुम्हारे ही उस यजुर्मन्त्र का अनुसरण किया (१०।१२।३); 'तेऽविन्दन् मनसा दीध्याना यजु: ष्कन्नं प्रथमं देवयानम्' – मन से ध्यान करके उन्होंने उस प्रथम यजुर्मन्त्र को प्राप्त किया, जो देवयान रूप में उतरा (१०।१८१।३)। अध्वर्यु यजु: द्वारा यज्ञ के शरीर का निर्माण करते हैं, अतएव यजु: सृष्टि के मन्त्र हैं। यजु का आयतन छोटा होने के कारण धीरे-धीरे वह सङ्क्षिप्त होकर बीज-मन्त्र हो गया। प्रसिद्ध व्याहृतियाँ बीजरूपी यजुर्मन्त्र हैं। तै. आ. के अनुसार ओङ्कार यजुर्मन्त्र है; 'ओमिति प्रतिपद्यते, एतद् वै यजु:' (२।११)। फिर छान्दोग्योपनिषद् में देखते हैं कि ओङ्कार साम का सार उद्गीथ है। ओम् का साधारण अर्थ स्वीकृति अथवा शंसन है, तो फिर होतृ पाठ्य-शस्त्र का भी सार ओम् है, अतएव ओङ्कार ही त्रयीविद्या का सार है।

३. शेषे यजु:शब्द: (मी. सू. २।१३७)।

४. ऋग् गाथा कुम्व्या तन्मितं यजुर्निगदो वृथा वाक् तदगितं, सामाथो य: कश्च गेष्ण: स्वर: (ऐ. आ. २।३।६)।

५. पिङ्गल का कथन है कि गायत्री से लेकर सातों छन्द ही यजुर्मन्त्र में हैं। याजुषी गायत्री में दो अक्षर, उसके बाद क्रमश: एक-एक अक्षर बढ़ते हुए उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती ये छह छन्द हैं (छं. सू. २।६।१२)।

होती है, उससे उन्हें गद्यछन्द में रचित कविता कहा जा सकता है। शुद्ध यजुर्मन्त्रों के अतिरिक्त यजु:संहिता में अनेक ऋक् भी सङ्कलित किए गए हैं।[१]

यजु:संहिता की कृष्ण और शुक्ल दो धाराएँ हैं। जिस संहिता में मन्त्र और ब्राह्मण एक साथ मिश्रित हैं वह 'कृष्ण' और जिस संहिता में केवल मन्त्रों का सङ्ग्रह है, वह 'शुक्ल' है – दोनों संज्ञाओं की यह व्याख्या ही प्रचलित है, किन्तु जान पड़ता है यह व्याख्या ऊपरी है। शुक्लयजुर्वेदीय 'शतपथ-ब्राह्मण' के अन्त में है – 'आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते' – अर्थात् वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने इस शुक्ल यजु: को प्राप्त करके उसकी व्याख्या की।[२] अतएव ये यजुर्मन्त्र आदित्य-भावना के द्वारा भास्वर होने के कारण ही शुक्ल हैं। एक ही मन्त्र-भावना एवं तात्पर्यनिरूपण की दृष्टि से एक सम्प्रदाय में कृष्ण और दूसरे सम्प्रदाय में शुक्ल है। शुक्लयजुर्वेद की बृहदारण्यकोपनिषद् के वंश-ब्राह्मण से भी स्पष्ट है कि इस वेद के ब्रह्मसम्प्रदाय एवं आदित्यसम्प्रदाय नामक दो सम्प्रदाय थे।[३] ब्रह्मसम्प्रदाय की आचार्य-शिष्यपरम्परा ब्रह्म-प्रजापति=कावषेय इत्यादि के क्रम से चतुर्दश पुरुष साञ्जीवीपुत्र तक है; और आदित्यसम्प्रदाय की आदित्य-अम्भिनीवाक्-कश्यप-नैध्रुवि इत्यादि क्रम से चतुर्दश पुरुष याज्ञवल्क्य, तत्पश्चात् उनके शिष्य आसुरि, उनके शिष्य आसुरायण, उनके शिष्य प्राश्नीपुत्र आसुरिवासी, उनके शिष्य साञ्जीवीपुत्र तक। फिर

---

१. जिस प्रकार वाजसनेय संहिता के आधे मन्त्र यजु:, आधे ऋक् हैं। ऋक् में प्राय: ७०० (समस्त संहिता का चतुर्थांश) ऋक्संहिता से लिया गया है। अथर्व संहिता के कुछ मन्त्र भी पाए जाते हैं। आकृति से ये मन्त्र ऋक् हैं किन्तु प्रकृति से यजु: हैं – अंतत: इसे ही मान लेना पड़ता है। अतएव प्रयोग की दृष्टि से यजुर्मन्त्र का लक्षण करना उचित है। ऐतरेय-ब्राह्मण ने भी वही किया है (५।३३)।

२. श. १४।९।४।३३

३. बृ. ६।५

साञ्जीवीपुत्र से दोनों धाराएँ एक हो गईं। इससे पता लगता है कि साञ्जीवीपुत्र ने दोनों सम्प्रदायों के ही आचार्यों के निकट विद्या ग्रहण की है, एवं उनके पश्चात् पुरुषानुक्रम से वह विद्या-समन्वय ही प्रचारित होता आया है।

इस वंश-ब्राह्मण के विवेचन में कई बातें उभर कर सामने आती हैं। साञ्जीवीपुत्र के आचार्य का परिचय उनकी माँ के नाम से है; तत्पश्चात् तालिका के अन्त तक इसी प्रकार माँ के नाम से ही आचार्यों का परिचय दिया गया है। फिर आदित्य-सम्प्रदाय के प्रथम दो आचार्य नारी हैं। तब दो आदित्य-भावना से युक्त[१] शुक्लयजुर्वेद की प्रवर्तिका 'अम्भिनी' ही हैं। अम्भिनीकन्या वाक् ऋक्संहिता के प्रसिद्ध देवीसूक्त की ऋषिका हैं। देवीसूक्त में उनकी सर्वात्मभावना का जो उल्लास देखने में आता है, यदि वही यजुर्वेदसाध्य कर्म की प्रेरणा प्रदान करता है, तो फिर आदित्य-द्युति से कर्म-साधना सचमुच ही 'शुक्ल' हो उठती है। आदित्य-सम्प्रदाय के आचार्यों ने वही चाहा था। ब्रह्म-सम्प्रदाय की तुलना में यह सम्प्रदाय निश्चित रूप से विप्लवी मनोभावों का संवाहक है। उन्होंने ज्ञान की दीप्ति को अपने भीतर प्रज्ज्वलित रखकर वेदमन्त्र को 'अयातयाम' अथवा अपर्युषित (अर्थात् जो बासी-सड़ा-गला नहीं) रखना चाहा था। याज्ञवल्क्य इस सम्प्रदाय के एक महान् विप्लवी आचार्य थे।

पुराणों में उल्लेख है कि याज्ञवल्क्य विदग्ध शाकल्य से ऋग्वेद पढ़ने गए, और उनके साथ झगड़ा करके उन्हें छोड़कर आ गए। तत्पश्चात् वैशम्पायन के यहाँ यजुर्वेद पढ़ने गए और उन्हें भी छोड़ आए। अन्त में स्वयं आदित्य की उपासना करके उनसे 'अयातयाम' चतुर्वेद प्राप्त करते हैं।[२] आत्मपुराण एवं स्कन्दपुराण के अनुसार याज्ञवल्क्य ने

१. तु. ऋ. ८।४१।८
२. विष्णु. ३।५, भागवत १२।६, देवीभागवत ९।५। द्रष्टव्य-काण्वसंहिता, औन्ध संस्करण. भूमिका।

आदित्य से चतुर्वेद ही प्राप्त किया था, केवल यजुर्वेद नहीं।[१] आद्यशङ्कराचार्य ने भी बृहदारण्यक-भाष्य में याज्ञवल्क्य को चतुर्वेदी (चतुर्वेदविद्) बतलाया है।[२] ब्रह्मसम्प्रदाय और आदित्य-सम्प्रदाय नाम से समग्र चतुर्वेद के ही दो सम्प्रदायों का उल्लेख जाबालसंहिता में है। वहाँ आदित्य-सम्प्रदाय 'अयातयाम संज्ञोऽयं कृत्स्नकर्म प्रकाशक:' अर्थात् यह अयातयामसंज्ञक कृत्स्नकर्म का प्रकाशक बतलाया गया है। 'कृत्स्नकर्म' शब्द गीता में पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जो योगी कर्म में अकर्म एवं अकर्म में कर्म देखते हैं, वे ही 'कृत्स्नकर्मकृत' हैं।[३] इस दर्शन के साथ याज्ञवल्क्य द्वारा प्रवर्तित 'वाजसनेयसंहिता' में उल्लिखित दर्शन का मेल है। वह दर्शन त्याग एवं भोग का, विद्या एवं अविद्या का, सम्भूति एवं विनाश के समन्वय का दर्शन है; कर्म करके भी उसमें लिप्त न होने का दर्शन है।[४] याज्ञवल्क्य का जो परिचय हमें बृहदारण्यकोपनिषद् में प्राप्त होता है, उसके अनुसार वे निस्सन्देह ब्रह्मवित्तम हैं। उनके दर्शन के आलोक में मानव-अध्यात्मचेतना अपने सर्वोच्च शिखर पर प्रतिष्ठित हुई है। परवर्तीयुग में बौद्ध-भावना का परिपोषक याज्ञवल्क्य का ब्रह्मवाद ही रहा है।

'बौद्धभावना' के मूल में साङ्ख्य की प्रेरणा है। आसुरि साङ्ख्य के प्रवर्तक कपिल के शिष्य हैं। वंशब्राह्मण में देखते हैं कि आसुरि याज्ञवल्क्य के भी शिष्य हैं। तो क्या दोनों आसुरि एक हैं? सम्भव है। और यह भी हो सकता है कि याज्ञवल्क्य-शिष्य आसुरि कपिल के शिष्य इस अर्थ में हैं कि वे कपिल के मत के समर्थक एवं प्रचारक हैं। और यह मत निश्चित रूप से उनके गुरु याज्ञवल्क्य का ही मत है। मूलत: साङ्ख्यमत अवैदिक होने के बावजूद अनार्य नहीं। आर्यभावना

१. आत्म ७।३८-४५, स्कन्द 'नागर खण्ड', २७८।
२. बृ. ३।१।२
३. गीता. ४।१८
४. वा. सं. ४०।१-२, ९-१४।

की दो मूल धाराएँ हैं, जिनमें एक ऋषि-प्रवर्तित है और एक मुनि-प्रवर्तित। कपिल मुनिधारा के प्रवर्तक हैं, वे सिद्ध हैं।[१] उनका दर्शन साङ्ख्यदर्शन है। बृहदारण्यकोपनिषद् के याज्ञवल्क्यकाण्ड को सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर समझ में आता है कि याज्ञवल्क्य के अक्षर ब्रह्मवाद में यह साङ्ख्य-भावना कितनी अनुप्रविष्ट है। मुनि-धर्म एवं प्रव्रज्या दोनों ही उन्हें स्वीकृत हैं।[२] साङ्ख्य के पच्चीस तत्त्व उनके ब्रह्मतत्त्व के अन्तर्गत हैं[३]। साङ्ख्य का नाड़ीविज्ञान उन्हें ज्ञात है।[४] प्रत्यक्दृष्टि अथवा आन्तरदृष्टि से उनका अक्षर-ब्रह्मवाद एवं साङ्ख्य का कैवल्यवाद एक मौन अनुभव की दो दिशाएँ हैं। किन्तु याज्ञवल्क्य ऋषि-धारा के ही वाहक हैं। तभी सम्भवतः कुरु-पाञ्चाल के याज्ञिक ब्राह्मणों के प्रति उनकी अवज्ञा सुस्पष्ट है।[५] जो जनक की सभा में उनके साथ हुए वादानुवाद या तर्क-वितर्क से ही समझ में आती है। वस्तुतः याज्ञवल्क्य विप्लवी होने के कारण ही श्रीकृष्ण की तरह आर्यभावना में एक समन्वय ला पाए थे। उनकी तीन पीढ़ी के पश्चात् ही साञ्जीवीपुत्र में इस समन्वय का रूप स्पष्ट हो उठा और यजुर्वेद के ब्रह्मसम्प्रदाय एवं आदित्यसम्प्रदाय दोनों एक हो गये।

साञ्जीवीपुत्र के आचार्य प्राश्नीपुत्र के समय से ही माँ के नाम से परिचय देने का रिवाज शुरु हुआ। आदित्यसम्प्रदाय के दो आदि आचार्यों के नारी होने के कारण ही क्या उनकी स्मृति को जाग्रत रखने के लिए यह व्यवस्था थी? इस प्रसङ्ग में याज्ञवल्क्य के जीवन में स्त्री प्रज्ञा कात्यायनी, ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी और ब्रह्मविदुषी गार्गी का आविर्भाव भी स्मरणीय है। इन्हें छोड़कर उपनिषदों में एक केनोपनिषद् में हैमवती उमा के अलावा

---

१. तु.- सिद्धानां कपिलो मुनिः (गीता १०।२६)।
२. बृ. उ. ३।५।१, ४।४।२२, ४।५।२।
३. वही ४।४।१७
४. वही ४।२।३, ३।२०
५. वही ३।९।१८।

कहीं भी नारी का कोई प्रसङ्ग नहीं। याज्ञवल्क्य क्या किसी शाक्तभावना के प्रवर्तक थे? जिससे उनकी शिष्य-परम्परा में नारी के सम्बन्ध में यह गौरव का भाव दिखाई देता है? द्रष्टव्य है कि वंशब्राह्मण, सुप्रजनन से सम्बन्धित दो ब्राह्मणों के पश्चात् ही है। आद्यशङ्कराचार्य कहते हैं कि वंशब्राह्मण में जो सम्प्रदाय-परम्परा है, वह इस सुप्रजननविद्या के सम्बन्ध में है। इसलिए सुप्रजनन में नारी के प्राधान्य के कारण यहाँ आचार्यों का परिचय मातृनाम से दिया जा रहा है। किन्तु वंशब्राह्मण को केवल इस विद्या से सम्बन्धित बतलाने पर उसके अन्त में 'इमानि शुक्लानि यजूंषि' के अधिकार को कम करना है। अतएव वंशब्राह्मण को समग्र यजुर्वेद से सम्बन्धित मानना ही समीचीन है। सुप्रजनन-विद्या भी उसके ही अन्तर्गत है, क्योंकि ऋषियों ने यज्ञरूप में ही गर्भाधान को मान्यता प्रदान की थी।[१] इस विद्या की भूमिका में याज्ञवल्क्य के आचार्य आरुणि उद्दालक का रहस्यविद् के रूप में उल्लेख है। अस्तु उपनिषद् में उल्लिखित अनुष्ठान की विशिष्ट पद्धति के प्रवर्तक उद्दालक हैं, इस बात को याद रखा जा सकता है। अनुष्ठान के एक स्थान पर आदिमिथुन के साथ दम्पती की सायुज्य-भावना अथवा तादात्म्यबोध का उपदेश है - भावना करनी होगी नारी पृथिवी, नारी ऋक्, नारी आद्याशक्ति है (सा)। इस भावना की पुष्टि हमें तन्त्र में प्राप्त होती है। याज्ञवल्क्य ने भी क्या इस भावना को पुष्ट किया था? जिसके कारण ही उनके शिष्य-अनुशिष्य भी माँ की सन्तान के रूप में स्वयं का परिचय दे गए हैं?

सुप्रजनन-विद्या में और एक बात लक्षणीय है - पिता के मन में 'पण्डिता' दुहिता की कामना।[२] यह भी असाधरण है। आद्यशङ्कराचार्य ने 'पण्डिता' को अवश्य गृहनिपुणा बतलाकर व्याख्या करते हुए कतरा जाना चाहा है; किन्तु अगले अनुच्छेद में पण्डितपुत्र की कामना करने

---

१. सुप्रजनन का एक और नाम 'पुत्रमन्थ' है। द्रष्टव्य-छा. उ. 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति, तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति' - ५।८।
२. 'अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत' बृ. उ. ६।४।१७।

पर ही बोध होता है। कि वह व्याख्या सङ्गत नहीं। नारी के सम्बन्ध में गौरव के भाव-पोषण का यह भी एक निदर्शन है। यह सभी क्या अम्भिनी एवं **वाक्** का प्रभाव है? फिर देखते हैं कि वाक् 'ससर्परी' अथवा विद्युत्विसर्पिणी रूप में विश्वामित्र की इष्टदेवता है।[१] शुनः शेप देवरात उनका पोष्यपुत्र है। आदिशङ्कराचार्य याज्ञवल्क्य को 'दैवराति' बतलाते हैं। अतएव विश्वामित्र के साथ याज्ञवल्क्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है।[२] वाक् अथवा शक्तिसाधना की परम्परा इस ओर से भी आ सकती है। पुराणों में विश्वामित्र भी विप्लवी के रूप में चित्रित हैं। यह विप्लव किसके विरुद्ध? क्या वेद के यातयामत्व के विरुद्ध था? जो भी हो, अन्त तक देखने में यही आता है कि आदित्यसम्प्रदाय ही शुक्लयजुर्वेद का धारक एवं वाहक है।

यजुःसंहिता की विभिन्न शाखाओं का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। कृष्णयजुःसंहिता की काठक अथवा चारायणीय-कठशाखा में कुल पाँच 'ग्रन्थ' अथवा ५३ 'स्थानक' हैं; कपिष्ठलशाखा में ८ 'अष्टक' अथवा ४८ 'अध्याय' हैं; मैत्रायणीयशाखा में ४ काण्ड, अथवा ५४ 'प्रपाठक' हैं; एवं तैत्तिरीयशाखा में ७ 'काण्ड' अथवा ४४ 'प्रपाठक' हैं। यह शाखा ही सबसे अधिक प्रचारित है। शुक्ल, यजुः अथवा वाजसनेयसंहिता की काण्व एवं माध्यन्दिन दोनों शाखाओं में ४० 'अध्याय' हैं।[३] तैत्तिरीय, मैत्रायणी एवं वाजसनेयी संहिता के पदपाठ भी उपलब्ध हैं।

---

१. द्रष्टव्य ऋ. ३।५३।१५ टीका।

२. काण्वसंहिता, औन्ध संस्करण, भूमिका पृष्ठ १६।

३. पण्डितों का अनुमान है कि वाजसनेयसंहिता के प्रथम १८ अध्याय आदिम हैं, शेष परवर्ती संयोजन है। अनुमान का कारण यह है कि इन अठारह अध्यायों के मन्त्र ही तैत्तिरीयसंहिता में उपलब्ध हैं, शेष तैत्तिरीय ब्राह्मण (एवं आरण्यक में पाए जाते हैं; शतपथ बाह्मण के प्रथम नौ काण्डों में इस अंश की ही आनुपूर्विक व्याख्या है; भाष्यकारों ने भी २६वें अध्याय से लेकर अन्त तक के अध्यायों की गणना 'खिल' के रूप में की है।

समस्त शाखाओं में मोटे तौर पर विषयवस्तु का मेल है। केवल शुक्लयजुः अथवा वाजसनेयसंहिता में काम्ययागों को छोड़ दिया गया है; किन्तु वे कृष्णयजुःसंहिता में हैं - यही लक्षणीय है-- वाजसनेयसंहिता की 'शुक्ल' संज्ञा का यह भी एक कारण हो सकता है। यजुःसंहिता में उल्लिखित यागों के नाम हैं - अग्न्याधान (पुनराधेय), अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, पशुयाग, दीक्षा, सोमयाग, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, सौत्रामणी एवं अग्निचयन। अन्त के याग अग्निचयन में ही याग की एक विस्तृत व्याख्या प्राप्त होती है।

वाजसनेयसंहिता के अन्त में पुरुषसूक्त, सर्वमेधमन्त्र एवं शिव-सङ्कल्पादि के मन्त्र हैं, जो गहरे अध्यात्मबोध के परिचायक हैं। विख्यात ईशोपनिषत् के द्वारा संहिता का समापन किया गया है। यह भी वाजसनेय-संहिता के शुक्लत्व का एक प्रमाण है।

[४]

यजुःसंहिता के इस सङ्क्षिप्त-परिचय के पश्चात् अथर्वसंहिता को लें; जिसकी गणना त्रयीविद्या के परिशिष्ट एवं प्रपूरक के रूप में की जा सकती है।

अथर्ववेद के प्रवर्तक के रूप में हमें तीन ऋषियों अथर्वा, अङ्गिरा और भृगु के नाम प्राप्त होते हैं।[१] तीनों ऋषि ही ऋक्संहिता के

---

१. तुलनीय - अ. सं. १०।७।२०; गोपथब्राह्मण ३।४। संहिता में अथर्वा की मन्त्र-सङ्ख्या ही सबसे अधिक है (१६१२; अथर्वाचार्य के (१२४); उसके पश्चात् ही ब्रह्म को छोड़कर भृग्वङ्गिरा (२३१) का एवं भृगु (२२४) का नाम लेना पड़ता है। अङ्गिरा की मन्त्र-सङ्ख्या ८८, अथर्वाङ्गिरा की ५२। कुल मिलाकर इनकी मन्त्र-सङ्ख्या २३३१ अर्थात् समग्र संहिता का प्राय: पाँच भाग का दो भाग। ऋक्-संहिता के आर्षमण्डल के सारे ऋषियों के मन्त्र ही कुछ-कुछ अथर्वसंहिता में सङ्कलित किए गए हैं। उनमें अत्रि का केवल एक मन्त्र।

अतिप्राचीन पितृपुरुष के रूप में परिगणित हैं।[1] ऋक्संहिता के साथ अथर्वसंहिता का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अथर्वसंहिता के मन्त्रों का प्राय: एक पञ्चमांश ऋक्संहिता से लिया गया है। इसमें जितने पादबद्ध मन्त्र हैं, उनका सामान्य नाम भी ऋक् है। इसके अलावा अथर्वसंहिता का एक षष्ठांश यजुर्मन्त्रों की तरह गद्य में रचित है। देखने में आता है कि हम त्रयीविद्या में मन्त्र-रचना की जो धारा पाते हैं, उसकी ही अनुवृत्ति अथर्वसंहिता में होती है। किन्तु दोनों का विनियोग अलग है। त्रयीविद्या का विनियोग श्रौतकर्म में होता है – जिसमें सोमयाग प्रधान है। जिसका लक्ष्य है देवता के साथ सायुज्य के द्वारा अमृतत्वप्राप्ति; और अथर्ववेद का प्रधान विनियोग गृह्यकर्म में होता है, जिसका लक्ष्य है अनेक शान्तिक एवं पौष्टिक क्रियाओं में देवशक्ति की सहायता से अभ्युदय-प्राप्ति। किन्तु उसके अतिरिक्त भी अथर्वसंहिता का एक और वैशिष्ट्य उपनिषद्-भावना है।

अथर्वसंहिता की शौनक-शाखा[2] के ७३१ सूक्तों में ५९८७ मन्त्र हैं। सूक्तों को २० काण्डों में एवं काण्डों को प्रपाठक एवं अनुवाक में

१. अङ्गिरसो न: पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगव: सोम्यास:, तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम (ऋ. १०।१४।६)। अथर्वा एवं अङ्गिरा दोनों ही यज्ञविधि एवं अग्निविद्या के प्रवर्तक के रूप में ख्यात हैं (ऋ. १।८३।५, ५।११।६, १०।६७।२, ६।१६।१३, १०।९२।१० आदि...)। भृगुओं ने द्युलोक की अग्नि को भूलोक में मनुष्य के भीतर प्रतिष्ठित किया (ऋ. १।५८।६, २।४।२; तुलनीय १।६०।१, ३।५।१०)। अथर्वा एवं भृगु अग्निविद्या के प्रवर्तक हैं। किन्तु अग्नि स्वयं ही अङ्गिरा। इन तीन नाम के मूल में ही अग्निदीप्ति की ध्वनि है : – अथर्वा < अथर् (अग्नि, तुलनीय 'अथर्यु' ऋ. ७।१।१; अवेस्ता 'आथ्रवन' अग्नियाजी, 'आतर' > 'आतश' आग जैसे आतशबाज़ी) ; अङ्गिर: < √ अग् > अग्नि; भृगु < √ भ्राज।

२. काश्मीर में पैप्पलाद-शाखा की मात्र एक प्रतिलिपि प्राप्त हुई थी। उसमें सूक्तों का विन्यास अन्य प्रकार का है, अनेक पाठभेद, हैं। कुछ-कुछ नये मन्त्र भी पाए जाते हैं। सम्प्रति उड़ीसा में भी पैप्पलादसंहिता उपलब्ध हुई है, एवं उसके प्रकाशन की व्यवस्था हो रही है।

विभाजित किया गया है। संहिता के सम्पादन में एक सुस्पष्ट परिकल्पना का परिचय प्राप्त होता है। प्रथम से पञ्चम काण्ड तक प्रत्येक काण्ड में लगभग एक ही दैर्घ्य के सूक्त सङ्कलित किए गए हैं, एवं उनका दैर्घ्य भी क्रमश: बढ़ता गया है। किन्तु षष्ठ काण्ड में सूक्त की मन्त्र-सङ्ख्या घटकर प्राय: तीन पर आकर रुक गई है। सप्तम काण्ड बहुत कुछ परिशिष्ट जैसा है, जिसमें एक या दो मन्त्र की सूक्त-सङ्ख्या ही अधिक है, फिर कुछ-कुछ दीर्घतर सूक्त भी हैं।

सप्तम काण्ड तक अनेक आभ्युदयिक कर्मों के मन्त्र ही अधिक हैं। अत: संहिता का यह भाग गार्हस्थ्य और सामाजिक-जीवन का पोषक एवं लोकहित के अनुकूल है। ये सब आभ्युदयिक कर्म इस प्रकार हैं – आयुष्य (दीर्घायु-प्राप्ति के लिए), भैषज्य (आरोग्य-लाभ के लिए), शान्तिक (भूतावेश इत्यादि दूर करने के लिए), पौष्टिक (श्रीप्राप्ति के लिए), **सांमनस्य** (पारस्परिक मैत्रीनिर्वाह के लिए), आभिचारिक (शत्रुनाश के लिए) प्रायश्चित्त एवं राजकर्म (राष्ट्र की सुरक्षा एवं उन्नति के लिए)। इसके अलावा विवाह, गर्भाधान इत्यादि के मन्त्र भी इस भाग में पाए जाते हैं।

अष्टम से द्वादश काण्ड तक अथर्वसंहिता का द्वितीय भाग है। इस भाग में भी आभ्युदयिक कर्म के मन्त्र हैं। किन्तु उपनिषद्-भावना ही इस भाग का वैशिष्ट्य है। वेद के ब्राह्मण के आरण्यक अंश में जिस प्रकार अनेक यज्ञाङ्गों के सम्बन्ध में रहस्योक्तियों का प्राचुर्य दिखाई देता है, यहाँ भी उसी प्रकार है। एक सामान्य प्रतीक के माध्यम से ऋषि का कविहृदय-रहस्य मुखर हो उठा है।[1] अत: सूक्तों के आयतन भी प्रायश: अत्यन्त दीर्घ हैं, एवं ऋक्संहिता के गीतिकाव्य की अपेक्षा उनमें गाथा काव्य की शैली का ही अधिक प्रयोग हुआ है। उसके अलावा उपनिषद्

१. द्रष्टव्य: ऋषभ सूक्त ९।४, अज सूक्त ९।५, गोसूक्त ९।७, १०।९, ओषधि सूक्त ८।७ ब्रह्मौदन सूक्त ११।१ अनड्डुत् सूक्त ४।११, ब्रह्मगवी सूक्त १२।५, वशा सूक्त १०।१०, १२।४ ('वशा' जिसका अर्थ है बाँझ गाय; यह असम्भूति का प्रतीक है।

के ब्रह्मवाद का काव्यरूप भी हमें यहीं प्राप्त होता है।[१] ब्राह्मण ग्रन्थों में 'य एवं वेद' इस उक्ति के द्वारा वेदन-प्रशंसा अथवा विद्या-स्तुति का परिचय सर्वत्र प्राप्त होता है। यह काव्योक्ति भी यहाँ पहली बार प्राप्त होती है।[२] कामसूक्त[३] अथवा प्राणसूक्त[४] को भी किसी क्रिया के साथ युक्त नहीं किया जा सकता; ये दार्शनिक कविमानस के मुक्त उच्छ्वास हैं। उसी प्रकार भूमिसूक्त[५] है, जो पृथिवी की स्तुति के रूप में समग्र वैदिक-सहित्य में अतुलनीय है, सम्भवतः, विश्व के किसी भी साहित्य में उसकी मिसाल नहीं । ब्रह्मचर्य सूक्त[६] में ब्रह्मचारी के महत्त्व की घोषणा उदात्त कण्ठ से की गई है, जिसमें मानवीय-गौरव, देवता का अतिक्रमण कर गया है। वन्ध्या अथवा बाँझ गाय पर रचित दो सूक्तों में[७] एक रहस्यवाद की छाया घनीभूत हो गई है, जिसे बाउलों की सन्धा-भाषा की आदिजननी कह सकते हैं।

त्रयोदश से विंश (बीस) काण्ड तक अथर्वसंहिता का तृतीय भाग है। जिसमें उन्नीसवें और बीसवें काण्ड दोनों परिशिष्ट हैं। इस भाग का वैशिष्ट्य यह है कि इसके प्रत्येक काण्ड की विषयवस्तु निर्दिष्ट है। काण्डों का आयतन क्रमशः लघु होता गया है, केवल अठारहवाँ काण्ड कुछ बड़ा है। त्रयोदश काण्ड में 'रोहित' नाम से आदित्य-प्रसङ्ग है। आदित्य वैदिक-देववाद का मूलाधार है। इस काण्ड के अन्त की ओर

१. द्र. विराट् सूक्त ८।९-१०, मधुविद्या ९।१, आत्म सूक्त ९।९-१० (यह ऋक्संहिता के ब्रह्मोद्य सूक्त १।१६४ से लिया गया है) पार्ष्णि सूक्त १०।२ (यहाँ योग के चक्र आदि का उल्लेख प्राप्त होता है) स्कम्भ सूक्त १०।७, ज्येष्ठब्रह्मसूक्त १०।८, उच्छिष्टब्रह्म सूक्त ११।७, मन्यु सूक्त ११।८, और भी द्रष्टव्य : वरुण सूक्त ४।१६, जो वैदिक-साहित्य में अनुपम है।
२. द्र. ८।१०।
३. ९।२।
४. ११।४।
५. १२।१।
६. ११।५।
७. १०।१०, १२।४।

एक वेदन प्रशंसा है, अतएव यह एक उपनिषत् अथवा गुह्यतत्त्व का अभिद्योतक है। चतुर्दश काण्ड विवाहप्रकरण है। पञ्चदश काण्ड में व्रात्य-प्रशंसा आदि से अन्त तक यजु-छन्दों में रचित है।[१] सोलहवें काण्ड में अनेक शान्ति-स्वस्त्ययन के मन्त्र हैं, विशेषतया कई दुःस्वप्ननाशन सूक्त हैं। यह काण्ड भी गद्य में रचित है। सप्तदश काण्ड में मात्र एक दीर्घ सूक्त में आदित्य की स्तुति है। तत्पश्चात् अष्टादश काण्ड में पितृमेध प्रकरण है। जिसके अधिकांश मन्त्र ही ऋक्संहिता से लिए गए हैं।[२]

उसके बाद के दो काण्डों का कोई भी उल्लेख अथर्वप्रातिशाख्य में नहीं प्राप्त होता, जिसके कारण पण्डितों का अनुमान है कि वे दोनों, संहिता में परवर्तीकाल के संयोजन हैं। उन्नीसवाँ काण्ड अनेक छोटे-छोटे प्रकीर्ण-सूक्तों का सङ्ग्रह है, जिसमें भैषज्य विषयक सूक्त मात्र तीन हैं।[३] एवं दुःस्वप्ननाशन सूक्त दो हैं। कई मणिधारण-सूक्तों का सङ्ग्रह इस काण्ड का वैशिष्ट्य है। इसके अलावा मोटे तौर पर यज्ञ, दर्भ, काल, रात्रि, नक्षत्र, आकूति, अभय, शान्ति एवं शर्म इत्यादि विषयवस्तु है। ऋक्संहिता का पुरुषसूक्त यहाँ कुछ परिवर्तित रूप में सङ्ग्रहीत हुआ है। एक आत्मसूक्त[४] के 'अयुतोऽहं सर्वः' इस मन्त्रांश में सर्वात्मभाव का उल्लेख है। 'वरदा वेदमाता' का उल्लेख भी इस काण्ड में ही प्राप्त होता है, जिसमें गायत्री-उपासना का सङ्केत सुस्पष्ट है।[५] मोटे तौर पर

१. व्रात्य आर्य हैं, किन्तु वैदिक धर्म से बाहर। उनकी चर्चा ताण्ड्य ब्राह्मण के परिचय में की जाएगी।
२. यह काण्ड पिप्पलाद-संहिता में नहीं है।
३. यक्ष्मनाशनम् ३८, कुष्ठनाशनम् ३९, भैषज्यम् ४४।
४. ५१
५. स्तुता मया वरदा वेदमाता, प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्। (७१) अनुक्रमणिका में इस सूक्त का देवता गायत्री 'प्रचोदयन्तां' क्रियापद लक्षणीय। दोनों क्रिया ही बहुबचन; कर्ता का उल्लेख नहीं। सायण कहते हैं 'पूजायां बहुबचनम्।' शेषांश की व्याख्या करते हुए उनका मन्तव्य है - 'शब्दावगम्य ब्रह्माकारं परित्यज्य वाङ्मनसातीत ब्रह्मरूपा भवेति मन्त्रदर्शिना ऋषिणा साक्षात्कृतपरत्वेन उच्यते।'

अथर्वसंहिता का उपसंहार उपक्रम की अपेक्षा ऊँचे सुर में रचित है। इसका अन्तिम मन्त्र एक समाप्ति-सूचक प्रार्थना जैसा सुनाई देता है।

बीसवें काण्ड का वैशिष्ट्य है कि उसके अधिकांश मन्त्र ही ऋक्संहिता से विशेषतया अष्टम मण्डल से लिए गए हैं। इस क्षेत्र में दोनों संहिताओं में पाठभेद भी नहीं है। सोमयाग में इन्द्र के प्रति प्रायः इन सभी सूक्तों का पाठ किया जाता है।[1] दस 'कुन्ताप सूक्त'[2] संहिता के मौलिक अंश हैं, जो बहुत कुछ दुर्बोध हैं। सोमयाग में इनका भी पाठ किया जाता है। ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र, एवं पोता-विशेष रूप से ब्राह्मणाच्छंसी पाठ किया करते थे। ये सभी ब्रह्मा के सहकारी होते थे।

अथर्वसंहिता में स्मार्तकर्म की ही प्रधानता है। किन्तु संहिता के अन्त में श्रौत सोमयाग एवं ब्रह्मगण ऋत्विकों को प्रमुखता प्रदान करने के कारण अथर्वसंहिता के साथ ब्रह्मा के घनिष्ठ सम्बन्ध की सूचना मिलती है। पहले ही बतलाया गया है कि ब्रह्मा सर्ववित्, सर्वज्ञ होता है। उनका 'ब्रह्म' एक ही साथ प्रज्ञा एवं शक्ति दोनों है। श्रौतकर्म का लक्ष्य प्रज्ञा का उन्मेष है; देवता के सायुज्य में अमरत्व अथवा निःश्रेयस-प्राप्ति है। स्मार्तकर्म का लक्ष्य अभ्युदय-प्राप्ति है। निःश्रेयस और अभ्युदय में कोई विरोध नहीं, दोनों ही ब्रह्मविद्या के फल हैं। सोमयाग के अध्यक्ष ब्रह्मा 'वदति जातविद्याम्' वे हर प्रकार से ब्रह्मवित् हैं। वे भुक्ति और मुक्ति दोनों के ही विधाता हैं। ऋग्वेद और अथर्ववेद एक अखण्ड वेदविद्या को ही उजागर करते हैं। अतएव अथर्वसंहिता के अन्त में ब्रह्म गण ऋत्विकों के पाठ्य एवं सोमयाग में विनियुक्त मन्त्रों का सन्निवेश है। यह एक अर्थवह सङ्केत है, जिस प्रकार का सङ्केत शुक्लयजुःसंहिता के अन्त में ईशोपनिषद् के सन्निवेश में है। भुक्ति और मुक्ति के समन्वय की

---

१. बीसवें काण्ड के कूल १४३ सूक्तों में ११७ इन्द्र के प्रति हैं। इसके अलवा तीन (१०१-१०३) अ.ग्नसूक्त हैं। चार (१६, ८८, ९०, ९१) बृहस्पतिसूक्त हैं। एक (१२३) सूर्यसूक्त है। पाँच (१३९-१४३) अश्विसूक्त हैं।

२. १२७-१३६। ये पैप्पलाद-संहिता में नहीं हैं, इनका पदपाठ भी प्राप्त नहीं।

भावना हमें तन्त्र में भी प्राप्त होती है। यह आथर्वण-विद्यासम्प्रदाय की ही अनुवृत्ति है।

अथर्वसंहिता में ऋक्संहिता के जिन मन्त्रों को सङ्गृहीत किया गया है, वे प्रायः प्रथम, अष्टम एवं दशम मण्डल से अर्थात् आर्षमण्डल के बाहर से लिए गए हैं। इसके अलावा अष्टम मण्डल का अधिकांश ही बीसवें काण्ड में है। अतएव ऋक्संहिता के उपक्रम और उपसंहार की जो आबोहवा है, वही अथर्वसंहिता की भी है। आर्षमण्डलों में हमें वैदिक-भावना का जो सम्पुट अथवा आधार प्राप्त होता है, उसके ही परिवेश की रचना ऋकसंहिता के प्रथम एवं दशम मण्डल करते हैं। अथर्वसंहिता इस परिवेश का ही विच्छुरण है।

स्वाभाविक रूप से ही इस विच्छुरण या विस्तरण में कुछ संहति का अभाव रहेगा, क्योंकि प्राकृत-मानस के अति निकट आने के कारण उसमें एक विस्तार और स्वातन्त्र्य का लक्षण विकसित होगा। आर्ष-मण्डल में जो भाव, प्रणाली बद्धरूप में प्रवाहित हो रहा था, वह इस परिवेश में सीमा का अतिक्रमण करके सबके बीच फैल गया। अथर्वसंहिता की भाषा और छन्द में भी सीमा के अतिक्रमण का परिचय प्राप्त होता है। आर्षमण्डल की तुलना में उसकी भाषा में अर्वाचीनता के लक्षण पाए जाते हैं, यद्यपि उससे यह प्रमाणित नहीं होता कि अथर्वसंहिता की विषय-वस्तु भी ऋक्संहिता की अपेक्षा अर्वाचीन है। एक की भाषा को श्रौतकर्म के लिए यत्नपूर्वक सहेजकर रखा गया है।, इसलिए वह बहुत कुछ अविकृत रह गई है। दूसरी की भाषा स्मार्तकर्मों के उद्देश्य से अधिक लोक-प्रचलित हुई। अतएव उसका रूपान्तर भी हुआ, जिस प्रकार जनसाधारण द्वारा मौखिक रूप में प्रसारित चण्डीदास अथवा कृत्तिवास की भाषा में परिवर्तन हुआ। अथर्वसंहिता में वाग्-भङ्गिमा का भी वैचित्र्य कम नहीं। उसमें पद्य है, गद्य भी है। यजुः का गद्य एवं ब्राह्मण का गद्य दोनों ही उसमें पाया जाता है। उपनिषद् के श्लोक अथवा गाथा-शैली में दार्शनिक रहस्योक्तियों का भी अभाव नहीं। पद्यांश के

छन्दों में भी ऋक्संहिता की अपेक्षा स्वातन्त्र्य का परिचय अधिक प्राप्त होता है।

सारांशतः अथर्वसंहिता में हमें वैदिक-भावना का गतिशील रूप प्राप्त होता है। त्रयी में जो विद्या संहत है, अथर्ववेद में वह उल्लसित है। यह उल्लास प्राण और शक्ति का ही परिचय है। यह शक्ति निश्चित रूप से सिद्धों की शक्ति है। त्रयीविद्या साधकों का उपजीव्य है और अथर्वविद्या सिद्धों की विभूति है। इस प्रकार चारों संहिताएँ वेदविद्या का पूर्ण सङ्कलन हैं।[१]

१. छा. उ. की मधुविद्या में (३।१-११) सन्धा भाषा में वेदविद्या का एक पूर्णाङ्ग परिचय दिया गया है। आदित्य-रश्मि का मधुनाड़ी रूप में वर्णन करते हुए बतलाया जा रहा है कि ऋक्, यजुः, साम, अथर्वाङ्गिरस एवं गुह्य आदेशों ने मधुकर होकर क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर एवं ऊर्ध्व मधुनाड़ी में मधु का सञ्चय किया है। इतिहास पुराण अथर्वाङ्गिरस के पुष्प हैं और ब्रह्म गुह्य आदेशों का पुष्प है। स्पष्ट ही समझ में आता है कि आदित्यविद्या अथवा मधुविद्या यहाँ दो भागों में कल्पित है - एक त्रयीविद्या और एक गुह्यविद्या। अथर्वाङ्गिरस इस गुह्यविद्या का धारक है। यह विद्या उत्तर और ऊर्ध्व में है, यह भी ध्यातव्य है। इतिहास - पुराण (जिसे पञ्चमवेद कहा गया है- छा. ७।१।२) जन-भावना के वाहन हैं। इस फूल से ही अथर्वाङ्गिरस मधु का आहरण करता है, यह उक्ति भी व्यञ्जनापूर्ण है। किन्तु इसके ही साथ गुह्य आदेश सम्पृक्त रहे हैं, जो ब्रह्मपुष्प से मधु का आहरण करते हैं। इस देश में अनेक मर्मज्ञों, रहस्य-विदों का आविर्भाव जन-समाज से हुआ है। अथर्ववेद ही उनकी भावधारा का वाहन है। अथर्वसंहिता की व्रात्य-प्रशस्ति में उसका एक बहुत बड़ा प्रमाण है।

वेदों के ब्राह्मण

[१]

वेद-संहिता के चार भागों के सङ्क्षिप्त-परिचय के पश्चात् अब प्रस्तुत है उसके ब्राह्मण-भाग का परिचय।

'ब्राह्मण' शब्द की व्युत्पत्ति आद्युदात्त क्लीब लिङ्ग 'ब्रह्म' शब्द से हुई है। इस ब्रह्म का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ बृहत् की चेतना अथवा शक्ति है।[१] उसकी व्यञ्जना मन्त्र में है। मन्त्र एवं मन्त्रशक्ति दोनों ही ब्रह्म है। वेद का संहिता-भाग ब्रह्म का आधार है। ब्रह्म के आधार पर जिस विद्या और प्रयोगविज्ञान का प्रवर्तन किया गया - वही 'ब्राह्मण' है। यह शब्द भी आद्युदात्त एवं क्लीब लिङ्ग है।[२]

१. < √ बृंह् (बढ़ते रहना, बृहत् होना) ब्रह्म, मूलतः चेतना का प्रसारण या फैलाव है। यह विस्फारण देवशक्ति के आवेश से होता है। पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक में देवशक्ति का लीलायन देखकर मर्त्यचेतना का उद्दीपन होता है। यह उद्दीपन ही ब्रह्म है। वैदिक चिन्मय प्रत्यक्षवाद के मूल में भी यह तत्त्व है, जिसकी चर्चा यथास्थान करेंगे। ब्रह्म के आविर्भाव से मनुष्य कवि होता है: वाक् उसकी चेतना में स्फुरित होती है। ब्रह्म और वाक् अभिन्न हैं - 'यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती 'वाक्' (ऋ. १०।११४।८)। सारे मन्त्र ही ब्रह्म अर्थात् उद्दीपित एवं विस्फारित चेतना में वाक् के स्फुरण हैं। फिर कह सकते हैं - वाक् का प्रकाश ही मनुष्य को 'ब्रह्मा' ऋषि एवं सुमेधा बनाता है (ऋ. १०।१२५।५)।

२. ऋक्संहिता में ब्राह्मण शब्द प्रायशः पुंल्लिङ्ग एवं अन्तोदात्त है (केवल एक जगह ६।७५।१० आद्युदात्त है)। आद्युदात्त क्लीब लिङ्ग ब्राह्मण का प्रयोग दो जगह है (१।१५।५, २।३६।५); जिससे ब्राह्मणाच्छंसी के सोमपात्र का बोध होता है। किन्तु ब्रह्मविद्या अथवा ब्रह्मशक्ति के अर्थ में इस शब्द का एकाधिक प्रयोग अथर्वसंहिता में है : **विशेष प्रणिधान योग्य** - उद्यमानं तद् ब्राह्मणं पुनरास्मानुपैतु ७।६६।१; पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च ७।६७।१; ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः १०।७।१७; स विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत, स विद्याद् ब्राह्मणं महत् १०।८।२०; अपूर्वणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम् वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुः महत् १०।८।३३; सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत् १०।८।३७ (३८); तस्याज् (ब्रह्मचारिणः) जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठम् ११।५।५, २३। 'ब्रह्मवाद' के अर्थ में वेद के ब्राह्मण-भाग में इस शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर है।

यास्क ने 'ब्रह्म' के अर्थ में कर्म भी समझा है।[1] उसे हम आधुनिक भाषा में 'साधना' कहेंगे। मन्त्रचेतना, मन्त्रशक्ति एवं मन्त्रसाधना इन तीनों का सम्बन्ध वेद से है। वेद के संहिता-भाग में हमें चेतना और शक्ति की परिचिति और ब्राह्मण-भाग में साधना की विवृति प्राप्त होती है। इस साधना की सामान्य संज्ञा 'यज्ञ' है। जिसका उद्देश्य निश्चय ही 'ब्रह्म' अथवा 'बृहत्' को प्राप्त करना है। ऋक्संहिता में इस बृहत् के अनेक नाम हैं - जैसे 'स्वः, ज्योति, परमव्योम, परमं पदम्, ऊरुलोकः अनिबाधः, अभयम्, अमृतम् इत्यादि।[2]

बाह्य-दृष्टि से यज्ञ एक क्रिया है, किन्तु क्रिया वस्तुतः भाव का द्योतक है। भाव को व्यक्त करने के लिए ही क्रिया है। अतः यज्ञ जिस प्रकार द्रव्य अथवा बाहरी उपकरणों के माध्यम से किया जाता है, उसी प्रकार ज्ञान अथवा आन्तरिक भाव द्वारा भी किया जाता है। ब्राह्मण में इसका अत्यन्त स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। वहाँ क्रियाविधान किसी रहस्य-भावना के साथ जुड़ा हुआ है। एवं फल के सम्बन्ध में कहा गया है कि यह फल वह भी प्राप्त करता है 'य एवं वेद'।[3]

१. मि. १२।३४।
२. ऋक्संहिता के सोममण्डल के अन्त में यज्ञसाध्य इस परम धाम का एक सुन्दर वर्णन है : 'यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोकं स्वर्हितम्.......यत्रावरोधनं दिवः ......। यत्रानुकामं चरणम्..... लोका यत्र ज्योतिष्मन्तः। यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्, स्वधा च यत्र तृप्तिश्च.... यत्रानन्दाश्च मोक्षश्च मुदः प्रमुद आसते, कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र मामृतं कृधि.... ९।११३।७-११)।
३. यह उक्ति ब्राह्मणग्रन्थों में यत्र-तत्र प्राप्त होती है। छान्दोग्योपनिषद् में है: - 'उभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद, यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेत विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति (१।१।१०) ऋ.संहिता के पूर्वोल्लिखित सूक्त में भी है : 'ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुत इन्द्रायेन्दो परिस्रुव (९।११३।२)। अविद्वानों के सोमयाग के प्रति कटाक्ष करते हुए अन्यत्र कहा गया है : 'सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिषंत्योषधिम्, सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन' (१०।८५।३)। द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, ये उसके प्रमाण हैं। इस प्रसङ्ग में तैत्तिरीयसंहिता की भाष्योपक्रमणिका में सायण का यह मन्तव्य प्रणिधान योग्य है : 'तत्तद् विधि समीपे', "य एवं वेद इति वचनानि वेदनादेव फलं ब्रुवते। ....वेदनफलवचनानि तु नानुवादकानि, नापि बाध्यानि तस्मादर्थवादत्वेऽपि अस्त्येषां स्वार्थे प्रामाण्यम्।" (आनन्दाश्रम संस्करण, पृष्ठ ५)।

अतएव, वेद का ब्राह्मण-भाग कर्म और ज्ञान में समन्वय की भूमि पर प्रतिष्ठित है। जिस प्रकार क्रिया के रहस्य की जानकारी होनी चाहिए, उसी प्रकार उसकी उपनिषद् की भी जानकारी होनी चाहिए। रहस्य प्रयोग-विज्ञान है और उपनिषद् तत्त्वविद्या है। दोनों ब्राह्मण से सम्बन्धित हैं। उसमें कर्म और ज्ञान के बीच कोई विरोध नहीं। ब्राह्मण में जिस प्रकार प्रयोग की मीमांसा है, उसी प्रकार तत्त्व की भी मीमांसा है। उसका ही न्यायसिद्ध रूप परवर्तीयुग की पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा में हमें प्राप्त होता है। उपनिषद् ब्राह्मण का स्वाभाविक परिशेष हैं उसमें ही वेदविद्या का अन्त अथवा 'वेदान्त' है।

आधुनिक पण्डित संहिता-युग के पश्चात् ब्राह्मण-युग की कल्पना करते हैं। भाषा की दृष्टि से वैसा ही जान पड़ता है। किन्तु भाषा के साक्ष्य में अथर्वसंहिता ऋक्संहिता की अपेक्षा अर्वाचीन प्रमाणित होने पर भी जिस प्रकार अथर्वविद्या और त्रयीविद्या के समसामयिक होने में आपत्ति नहीं, उसी प्रकार इस क्षेत्र में भी वैसा ही हो सकता है; क्योंकि ऐसा हो नहीं सकता कि मन्त्र थे, किन्तु कोई भी जिज्ञासा अथवा मीमांसा नहीं थी। तत्त्व-जिज्ञासा अथवा ब्रह्मोद्य के अनेक उदाहरण हमें ऋक्संहिता में ही प्राप्त होते हैं। ऋक्संहिता की बुनियाद सोमयाग है, जो समस्त यागों में श्रेष्ठ हैं। यज्ञ की क्रिया का अनुष्ठान यजुःमन्त्र के बिना होता नहीं, अतएव यजुर्मन्त्र तो बराबर ही थे। यजुःसंहिता में हम देखते हैं - मन्त्र के साथ ब्राह्मण जुड़ा है - जैसे कृष्णयजुःसंहिता में। यजुर्वेद कर्मवेद है, अतः यह स्वाभाविक है कि प्रयोग-विज्ञान उसके साथ जुड़ा रहेगा। ब्राह्मण-शैली में रचित कुछ मन्त्र अथर्वसंहिता में भी प्राप्त होते हैं।[1] क्योंकि मन्त्र-साहित्य के समसामयिक ब्राह्मण-साहित्य का अभाव नहीं था - यह अनुमान असङ्गत नहीं।

१. द्रष्टव्यः ८।१०, ११।३, १५।५; ब्राह्मण की 'य एवं वेद' यह उक्ति भी इनमें पाई जाती है।

ब्राह्मण-सहित्य स्थाणु क्यों नहीं था? यह आसानी से ही समझा जा सकता है। पद्यबन्ध के स्थाणुत्व की आशा हम गद्यबन्ध में नहीं कर सकते; विशेष रूप से वह यदि मीमांसा अथवा वितर्क का वाहन हो तो। वितर्क चरिष्णुमन का धर्म है। युग-युग में उसके रूप में बदलाव आएगा ही। अनेक ब्राह्मण नष्ट हो गए, लुप्त हो गए; यत्र-तत्र उल्लेख से उसका प्रमाण प्राप्त होता है। सम्प्रति हम जिन ब्राह्मणों को पाते हैं, वे प्रवहमान धारा के अन्तिम पर्व के हैं। सूत्र-साहित्य के उद्भव के साथ-साथ कर्मकाण्डीय ब्राह्मण-धारा रुद्ध हो गई, किन्तु ज्ञानकाण्डीय ब्राह्मण अथवा उपनिषद् की धारा अव्याहत ही रही। क्योंकि कर्म को विधि-बद्ध कर लेने से ही वह स्थाणु रूप धारण कर लेता है, एवं मनुष्य का रक्षणशील मन उससे आश्वस्त होता है, किन्तु ज्ञान की एषणा उसे नित्य नये रास्ते की ओर ले जाती है। हिन्दू-समाज भी आचार में स्थाणु है, किन्तु विचार में चरिष्णु है - यह उसकी एक विशेषता है। सम्भवत: सारे समाजों की स्थिति थोड़ी-बहुत वैसी ही है।

मोटे तौर पर मन्त्र एवं ब्राह्मण का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। प्राचीन काल में भी दोनों के समाहार को ही वेद अथवा श्रुति कहा जाता था। ब्राह्मण-साहित्य के शेष पर्व में भी मन्त्र-रचना में ठहराव नहीं आया। ब्राह्मण के अन्तर्गत जगह-जगह प्राय: अनेक गाथाएँ प्राप्त होती हैं। ये प्राचीन मन्त्र-साहित्य के ही सगोत्र हैं।[१]

ब्राह्मण-साहित्य के तीन भाग हैं - ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषत्। तीनों ओत-प्रोत हैं। केवल भाषा की दृष्टि से उनमें क्रमिक-विकास की

१. इस धारा की अनुवृत्ति हमें महाभारत में भी देखने को मिलती है : तुलनीय, उपमन्यु की अश्वि-द्वय-स्तुति (आदिपर्व ३।५७-६८)। महाभारतकार इन्हें 'ऋक्' कहते हैं - 'वाग्भिर्ऋग्भि:'। किन्तु उसके पश्चात् उतङ्क की सर्पस्तुति को 'श्लोक' कहा जा रहा है और उसके पश्चात् ही उनकी पुरुषादि स्तुति को 'मन्त्रवत् श्लोक'। व्याख्या में नीलकण्ठ कहते हैं, 'मन्त्रवद् वेदगतऋग्भागवत्।' इसके बाद का धाप ही पौराणिक देवस्तोत्र है।

कल्पना करना असङ्गत है, अयौक्तिक है; यह सङ्केत पहले ही दिया जा चुका है। तब भी विवेचन की सुविधा के लिए तीनों भागों को अलग-अलग करके समझना ज़रूरी है।

शुद्ध ब्राह्मण की मुख्य विषय-वस्तु यज्ञविधि है। सोमयाग में चार श्रेणी के ऋत्विकों की आवश्यकता होती है। उनके विनियोज्य मन्त्रों का सङ्ग्रह चारों संहिताओं में है। प्रत्येक संहिता के साथ उसका ब्राह्मण जुड़ा है। अतएव यज्ञानुष्ठान की सम्पूर्ण विवृति एक ब्राह्मण में प्राप्त नहीं होती। जिस प्रकार हमें ऋग्वेद के ब्राह्मण में प्रधानत: होतृगण के कर्त्तव्य का परिचय प्राप्त होता है। उसी प्रकार सामवेद के ब्राह्मण में उद्गातृगण का, एवं यजुर्वेद के ब्राह्मण में अध्वर्युगण के कर्त्तव्य का परिचय मिलता है। अथर्ववेद में श्रौतकर्म की प्रधानता नहीं है, किन्तु सोमयाग में ब्रह्मगण के ऋत्विक् की भी आवश्यकता पड़ती है, एवं उनके विनियोज्य कुछ मन्त्र अथर्वसंहिता में भी है। संहिता का एक ब्राह्मण भी है, जिसे ब्राह्मणों में सबसे कनिष्ठ रूप में माना जाता है।

किन्तु ब्राह्मण में यज्ञविधि का विवरण बिल्कुल सीधा नहीं है, उसके साथ और भी कुछ प्रसङ्ग जोड़ दिए गए हैं। जिसका नाम अर्थवाद है। फिर कभी-कभी एक विधि के सम्बन्ध में विकल्प अथवा मतभेद दिखाई देता है, तब उसकी **मीमांसा** ज़रूरी हो जाती है। उसके अलावा जिस क्रिया का अनुष्ठान किया जा रहा है, उसका लक्ष्य क्या है? अथवा उस लक्ष्य का स्वरूप क्या है? इन सब तत्त्वों का विज्ञान अथवा **उपनिषद्** भी ब्राह्मण के अङ्ग हैं; अतएव सम्पूर्ण ब्राह्मण की विषयवस्तु विधि, अर्थवाद, मीमांसा एवं उपनिषद् है।[१] ब्राह्मणों में विविध अर्थवाद

१. ब्राह्मणों की विषय-वस्तु को लेकर आचार्यों में मतभेद है। जैमिनिसूत्र से जान पड़ता है कि उनकी दृष्टि में विधि और अर्थवाद इन दोनों से ही ब्राह्मण का सम्बन्ध है। न्यायसूत्रकार गौतम के अनुसार विधि, अर्थवाद, एवं अनुवाद ये तीन विभाग हैं। (२।१।६२)। फिर उन्होंने अर्थवाद के चार भाग किए हैं - स्तुति, निन्दा, परकृति एवं पुराकल्प। मीमांसकों ने गुणवाद, अनुवाद एवं भूतार्थवाद-ये तीन

(क्रमश:)

द्वारा हम जो पल्लवित रूप में देखते हैं; उसकी ही सङ्क्षिप्त-व्याख्या सूत्रों में प्राप्त होती है। ब्राह्मण के विधिभाग से 'कल्पसूत्रों' का उद्भव हुआ, और उसकी मीमांसा और उपनिषद् अंश के आधार पर क्रमशः पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा अथवा वेदान्तसूत्र की रचना हुई। ब्राह्मण एवं उसकी अनुवृत्ति आरण्यक; अन्यान्य वेदाङ्गों का मूल है।

सब मिलाकर वैदिक-साहित्य के अन्तिम-युग में हम जो कुछ प्राप्त करते हैं, उस सबका ही बीज उसके आदियुग में ही था। कालक्रम में विषय-वस्तु का विस्तार एवं सुविन्यास घटित हुआ, किन्तु उसके स्वरूप का कोई उल्लेखयोग्य परिवर्तन नहीं हुआ। प्राण का विकास भी ऐसे ही होता है - जिस प्रकार भ्रूण से शिशु, शिशु से युवा, युवा से वृद्ध। समझने की सुविधा के लिए प्राणविकास को हम कई पर्वों में विभाजित कर सकते हैं, किन्तु वह विभाजन कृत्रिम है। आदि से अन्त तक प्राण का एक अविराम प्रवाह चल रहा है; वस्तुतः यही सत्य है। वैदिक-साहित्य की आलोचना करते समय इस बात को ध्यान में रखना होगा, क्योंकि वह साहित्य मृत नहीं; जीवन्त है। जिस बीज-भाव की प्रेरणा इस साहित्य के मूल में है, उसका परिणाम अभी भी अन्तिम-पर्व या छोर तक नहीं पहुँच पाया है। यथास्थान उस पर प्रकाश डाला जाएगा।

विभाग किये हैं। पुनः भूतार्थवाद के विभाग हैं - स्तुत्यर्थवाद, निन्दार्थवाद, फलार्थवाद, परकृति, पुराकल्प एवं मन्त्र। माधवाचार्य की दृष्टि में अर्थवाद से हेतु, निर्वचन, निन्दा प्रशंसा, संशय, विधि, परकृति, पुराकल्प एवं अवधारण-कल्पना का बोध होता है। इनमें परकृति अन्य किसी भी सम्प्रदाय की अनुष्ठित क्रिया का वर्णन है। पुराकल्प में किसी अतीत-कथा का विवरण होता है। यही आगे चलकर इतिहास-पुराण में पल्लवित हुई। जिसमें अनेक दार्शनिक-तत्त्वों के बीज पाए जाते हैं। मीमांसकों में जो वेद को केवल विधिपरक कहना चाहते हैं, वे 'उपनिषद्' को भी अर्थवाद के अन्तर्गत रखते हैं।

[२]

अब प्रत्येक संहिता के साथ जुड़े ब्राह्मणों का अलग-अलग परिचय प्राप्त करना है।

सर्वप्रथम ऋक्संहिता के ब्राह्मणों का परिचय प्राप्त करें। ऋक्-संहिता प्रधानतः देवताओं के प्रशस्ति-मन्त्रों का सङ्कलन है, अतएव उसके ब्राह्मण में यज्ञ के होतृकर्म की विवृति एवं व्याख्या है। ऋक्-संहिता के दो ब्राह्मण **ऐतरेय** एवं **शाङ्खायन** आज भी उपलब्ध हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के सङ्कलनकर्त्ता महिदास ऐतरेय हैं। इस ब्राह्मण में कुल चालीस अध्याय और पाँच अध्यायों को लेकर एक-एक पञ्चिका है। प्रथम सोलह अध्यायों में 'अग्निष्टोम' याग का विवरण है। अग्निष्टोम एक सोमयाग है, जो समस्त सोमयागों की प्रकृति अथवा आदर्श है। चार दिन तक भूमिका के साथ प्रकृतयाग एक दिन में होता है। तत्पश्चात् दो अध्यायों में 'गवामयन' याग का विवरण है। यह भी सोमयाग है, किन्तु यह ३६० दिन अथवा एक चान्द्र-संवत्सर तक चलता है। तत्पश्चात् १९ से २४ अध्याय तक 'द्वादशाह' का विवरण है। यह भी एक सोमयाग है, जो बारह दिन तक चलता है। उसके बाद २५ से ३२ अध्याय तक 'अग्निहोत्र'-याग का विवरण है, जो श्रौत-यागों में सर्वाधिक सरल है। अग्निहोत्री को यह याग जीवन भर प्रत्यह करना पड़ता है। इस ब्राह्मण का बाकी अंश 'राजसूय' यज्ञ का विवरण है। यजमान क्षत्रिय होता है। इस अंश में ही हरिश्चन्द्र-रोहित तथा शुनःशेप का उपाख्यान है। 'चरैव' गाथा उसके अन्तर्गत है।[1] आधुनिक-पण्डितों का अनुमान है कि ऐतरेय ब्राह्मण की प्रथम पाँच पञ्चिकाएँ ही प्राचीनतम अंश है।

शाङ्खायन-ब्राह्मण भी इसी प्रकार का है। उसकी अध्याय सङ्ख्या तीस है। प्रथम छह अध्यायों में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्श-पौर्णमास एवं

---

१. इस कथा का बीज ऋकसंहिता में ही प्राप्त होता है (५।२।७), १।२४।१२, १३, २५।१) अन्त की ऋचाएँ शुनःशेप के उपमण्डल के अन्तर्गत (१।२४-३०) हैं।

चातुर्मास्य-याग का विवरण है। ये हविर्यज्ञ हैं, इसमें सामगान की ज़रूरत नहीं। विशेष रूप से अग्न्याधान करके अथवा आहिताग्नि होकर श्रौतयज्ञ का अधिकार प्राप्त होता है। जिसप्रकार अग्निहोत्र प्रतिदिन करना पड़ता है, उसी प्रकार दर्श एवं पौर्णमास अमावस्या और पूर्णिमा के दिन करना होता है। ये दोनों याग, समस्त इष्टियागों की प्रकृति अथवा आदर्श हैं। चातुर्मास्य-याग[१] चार पर्वों में वर्ष भर चार-चार मास के बाद चार बार करना होता है। प्रथम-पर्व का अनुष्ठान फाल्गुनी पूर्णिमा (दोल पूर्णिमा) के दिन होता है। तत्पश्चात् आषाढ़ी पूर्णिमा (गुरुपूर्णिमा) के दिन द्वितीय-पर्व, कार्तिकी पूर्णिमा (रासपूर्णिमा) के दिन तृतीय-पर्व, उसके बाद फाल्गुन की शुक्ल प्रतिपदा के दिन चतुर्थ-पर्व का अनुष्ठान होता है। शाङ्खायन के सप्तम अध्याय से अन्तिम अध्याय तक सोमयाग का विवरण है। ऐतरेय-ब्राह्मण और शाङ्खायन में विशेष अन्तर नहीं। इस ब्राह्मण में श्रौतयज्ञों को क्रम के साथ सुविन्यस्त किया गया है। लक्षणीय है कि ये यज्ञ आदित्य की गति - अहोरात्र, पक्षद्वय, मास अथवा ऋतु परिवर्तन एवं सम्वत्सर को कालमान की इकाई मानकर उसका अनुसरण करते हुए अनुष्ठित होते हैं। इसके सम्बन्ध में विस्तृत आलोचना अन्यत्र करेंगे।

आधुनिक-पण्डितों का अनुमान है कि ऋक्संहिता के दोनों ब्राह्मणों में ऐतरेय प्राचीनतर है। दोनों ब्राह्मणों में ही आरण्यक एवं उपनिषत् अंश अभी भी उपलब्ध हैं।[२]

[३]

सामवेद के नौ ब्राह्मणों में तीन प्रधान हैं, जिनके नाम हैं - जैमिनीय-शाखा का **जैमिनीय** अथवा तलवकार-ब्राह्मण, कौथुमीय एवं राणायणीय

---

१. यह याग सौमिक भी हो सकता है। द्रष्टव्य: ता. ब्रा. १७।१३-१४।

२. आपस्तम्ब ने अपने श्रौतसूत्र में एक 'बह्वृच ब्राह्मण' अथवा ऋग्वेदीय-ब्राह्मण से कुछ उद्धरण दिया है, जो ऐतरेय अथवा शाङ्खायन ब्राह्मण में नहीं पाया जाता। तो फिर यहाँ एक लुप्त ब्राह्मण की सूचना प्राप्त होती है।

शाखा का **ताण्ड्य** अथवा पञ्चविंश या प्रौढ़-ब्राह्मण एवं मन्त्र अथवा **छान्दोग्य** ब्राह्मण[१] - बाकी ब्राह्मणों को अनुब्राह्मण भी कहा जाता है।

पण्डितों ने जैमिनीय-ब्राह्मण को एक प्राचीन ब्राह्मण के रूप में मान्यता दी है।[२] यह ब्राह्मण कुल आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम तीन अध्याय कर्मकाण्ड के हैं। चतुर्थ से सप्तम अध्याय तक के भाग का नाम 'उपनिषद् ब्राह्मण' है।[३] यह आरण्यक एवं उपनिषद् का सम्मिश्रण है। प्रसिद्ध तलवकार अथवा केनोपनिषद् सप्तम अध्याय के अठारहवें खण्ड से आरम्भ होकर इक्कीसवें खण्ड में समाप्त है। इसके पश्चात् और भी सात खण्डों में सप्तम अध्याय समाप्त हुआ है। अष्टम अध्याय का नाम 'आर्षेय-ब्राह्मण' है। जिसमें सामसंहिता के ग्राम गेय एवं आरण्य-गेय गान के सामसमूह के ऋषि, छन्द और देवता इत्यादि की एक अनुक्रमणी है। आर्षेय-ब्राह्मण की गणना एक अनुब्राह्मण के रूप में की गई है।[४]

तत्पश्चात् **ताण्ड्य-महाब्राह्मण** है। जिसके सङ्कलनकर्त्ता ऋषि ताण्ड्य हैं। इस ब्राह्मण में पच्चीस अध्याय होने के कारण इसका एक

---

१. इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर विशेषतया सायण के भाष्य-ग्रन्थ में 'शाट्यायन ब्राह्मण' से अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं। ये उद्धरण कहीं-कहीं जैमिनीय-ब्राह्मण के साथ मिलते हैं। यह जैमिनीय-शाखा का ही एक प्राचीन ब्राह्मण था, जो इस समय लुप्त हो गया है।

२. नामान्तर है 'तलवकार ब्राह्मण'। तलवकार एक प्राचीन शाखा-प्रवर्तक ऋषि हैं। जिनका उल्लेख पाणिनि के गणपाठ (४।३।१०६) में है। सामवेद की इस शाखा का नाम जैमिनीय क्यों पड़ा? पता नहीं।

३. नामान्तर 'गायत्रोपनिषत्'। तु० : 'एवं वा एतं गायत्रस्योद्गीथमुपनिषदममृतम् (४।१६), सैषा शाट्यायनी गायत्रस्योपनिषदेवमुपासितव्या' (४।१७)।

४. आचार्य शङ्कर ने अपने केनोपनिषद्-भाष्य की भूमिका में जैमिनीय-ब्राह्मण का जो विवरण दिया है, उसमें अध्याय-क्रम अन्य प्रकार है। शङ्कर के अनुसार प्रथम आठ अध्याय में कर्मकाण्ड, प्राणोपासना, कर्माङ्ग-सामोपासना, गायत्रसाम विषयक दर्शन एवं वंश-क्रम का उल्लेख है। नवम अध्याय से परब्रह्म विषयक केनोपनिषत् आरम्भ हुई है।

चातुर्मास्य-याग का विवरण है। ये हविर्यज्ञ हैं, इसमें सामगान की ज़रूरत नहीं। विशेष रूप से अग्न्याधान करके अथवा आहिताग्नि होकर श्रौतयज्ञ का अधिकार प्राप्त होता है। जिसप्रकार अग्निहोत्र प्रतिदिन करना पड़ता है, उसी प्रकार दर्श एवं पौर्णमास अमावस्या और पूर्णिमा के दिन करना होता है। ये दोनों याग, समस्त इष्टियागों की प्रकृति अथवा आदर्श हैं। चातुर्मास्य-याग[१] चार पर्वों में वर्ष भर चार-चार मास के बाद चार बार करना होता है। प्रथम-पर्व का अनुष्ठान फाल्गुनी पूर्णिमा (दोल पूर्णिमा) के दिन होता है। तत्पश्चात् आषाढ़ी पूर्णिमा (गुरुपूर्णिमा) के दिन द्वितीय-पर्व, कार्तिकी पूर्णिमा (रासपूर्णिमा) के दिन तृतीय-पर्व, उसके बाद फाल्गुन की शुक्ल प्रतिपदा के दिन चतुर्थ-पर्व का अनुष्ठान होता है। शाङ्खायन के सप्तम अध्याय से अन्तिम अध्याय तक सोमयाग का विवरण है। ऐतरेय-ब्राह्मण और शाङ्खायन में विशेष अन्तर नहीं। इस ब्राह्मण में श्रौतयज्ञों को क्रम के साथ सुविन्यस्त किया गया है। लक्षणीय है कि ये यज्ञ आदित्य की गति - अहोरात्र, पक्षद्वय, मास अथवा ऋतु परिवर्तन एवं सम्वत्सर को कालमान की इकाई मानकर उसका अनुसरण करते हुए अनुष्ठित होते हैं। इसके सम्बन्ध में विस्तृत आलोचना अन्यत्र करेंगे।

आधुनिक-पण्डितों का अनुमान है कि ऋक्संहिता के दोनों ब्राह्मणों में ऐतरेय प्राचीनतर है। दोनों ब्राह्मणों में ही आरण्यक एवं उपनिषत् अंश अभी भी उपलब्ध हैं।[२]

[३]

सामवेद के नौ ब्राह्मणों में तीन प्रधान हैं, जिनके नाम हैं - जैमिनीय-शाखा का **जैमिनीय** अथवा तलवकार-ब्राह्मण, कौथुमीय एवं राणायणीय

---

१. यह याग सौमिक भी हो सकता है। द्रष्टव्य: ता. ब्रा. १७।१३-१४।

२. आपस्तम्ब ने अपने श्रौतसूत्र में एक 'बह्वृच ब्राह्मण' अथवा ऋग्वेदीय-ब्राह्मण से कुछ उद्धरण दिया है, जो ऐतरेय अथवा शाङ्खायन ब्राह्मण में नहीं पाया जाता। तो फिर यहाँ एक लुप्त ब्राह्मण की सूचना प्राप्त होती है।

शाखा का **ताण्ड्य** अथवा पञ्चविंश या प्रौढ़-ब्राह्मण एवं मन्त्र अथवा **छान्दोग्य** ब्राह्मण[१] - बाकी ब्राह्मणों को अनुब्राह्मण भी कहा जाता है।

पण्डितों ने जैमिनीय-ब्राह्मण को एक प्राचीन ब्राह्मण के रूप में मान्यता दी है।[२] यह ब्राह्मण कुल आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम तीन अध्याय कर्मकाण्ड के हैं। चतुर्थ से सप्तम अध्याय तक के भाग का नाम 'उपनिषद् ब्राह्मण' है।[३] यह आरण्यक एवं उपनिषद् का सम्मिश्रण है। प्रसिद्ध तलवकार अथवा केनोपनिषद् सप्तम अध्याय के अठारहवें खण्ड से आरम्भ होकर इक्कीसवें खण्ड में समाप्त है। इसके पश्चात् और भी सात खण्डों में सप्तम अध्याय समाप्त हुआ है। अष्टम अध्याय का नाम 'आर्षेय-ब्राह्मण' है। जिसमें सामसंहिता के ग्राम गेय एवं आरण्य-गेय गान के सामसमूह के ऋषि, छन्द और देवता इत्यादि की एक अनुक्रमणी है। आर्षेय-ब्राह्मण की गणना एक अनुब्राह्मण के रूप में की गई है।[४]

तत्पश्चात् **ताण्ड्य-महाब्राह्मण** है। जिसके सङ्कलनकर्त्ता ऋषि ताण्ड्य हैं। इस ब्राह्मण में पच्चीस अध्याय होने के कारण इसका एक

---

१. इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर विशेषतया सायण के भाष्य-ग्रन्थ में 'शाट्यायन ब्राह्मण' से अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं। ये उद्धरण कहीं-कहीं जैमिनीय-ब्राह्मण के साथ मिलते हैं। यह जैमिनीय-शाखा का ही एक प्राचीन ब्राह्मण था, जो इस समय लुप्त हो गया है।

२. नामान्तर है 'तलवकार ब्राह्मण'। तलवकार एक प्राचीन शाखा-प्रवर्तक ऋषि हैं। जिनका उल्लेख पाणिनि के गणपाठ (४।३।१०६) में है। सामवेद की इस शाखा का नाम जैमिनीय क्यों पड़ा? पता नहीं।

३. नामान्तर 'गायत्रोपनिषत्'। तु० : 'एवं वा एतं गायत्रस्योद्गीथमुपनिषदममृतम् (४।१६), सैषा शाट्यायनी गायत्रस्योपनिषदेवमुपासितव्या' (४।१७)।

४. आचार्य शङ्कर ने अपने केनोपनिषद्-भाष्य की भूमिका में जैमिनीय-ब्राह्मण का जो विवरण दिया है, उसमें अध्याय-क्रम अन्य प्रकार है। शङ्कर के अनुसार प्रथम आठ अध्याय में कर्मकाण्ड, प्राणोपासना, कर्माङ्ग-सामोपासना, गायत्रसाम विषयक दर्शन एवं वंश-क्रम का उल्लेख है। नवम अध्याय से परब्रह्म विषयक केनोपनिषत् आरम्भ हुई है।

नाम 'पञ्चविंश ब्राह्मण' है। 'ताण्ड्य ब्राह्मण' और 'जैमिनीय ब्राह्मण' की विषय-वस्तु प्रायः एक ही है, किन्तु जैमिनीय ब्राह्मण का आख्यान भाग ताण्ड्य ब्राह्मण की अपेक्षा अधिक समृद्ध है, एवं उसका एक ऐतिहासिक मूल्य भी है। कुछ-कुछ अतिप्राचीन 'तान्त्रिक' अनुष्ठान का विवरण जैमिनीय ब्राह्मण में प्राप्त होता है, जो पञ्चविंश-ब्राह्मण में सम्भवतः शिष्टाचार-विगर्हित होने के कारण वर्जित है। पञ्चविंश ब्राह्मण में प्रथम अध्याय यजुर्मन्त्रों की एक संहिता है, और द्वितीय एवं तृतीय अध्याय में 'विष्टुति' अथवा स्तोम-रचना की पद्धति का वर्णन किया गया है। जैमिनीय ब्राह्मण में ऐसा कुछ भी नहीं है।

सामगान सोमयाग में ही होता है। अतएव सामवेदीय-ब्राह्मण में सोमयाग का ही विवरण पाया जाता है। जो सोमयाग एक दिन में निष्पन्न होता है, उसका नाम **'एकाह'** है, जैसे - ज्योतिष्टोम[१], गोष्टोम, आयुष्टोम, अभिजित्, विश्वजित्, सर्वजित् इत्यादि। जो याग दो दिन से ग्यारह दिन तक किया जाता है, उसे **'अहीन'** कहते हैं - जैसे कई प्रकार के द्व्यह (दो दिन के) - इस प्रकार त्र्यह, चतुरह, पञ्चाह, षडह, सप्ताह, अष्टाह, नवाह, दशरात्र एवं ग्यारह दिन में साध्य पौण्डरीक इत्यादि कुल तैंतीस प्रकार के याग होते हैं। इनमें कई अतिरात्र संस्थाक याग हैं, जो सन्ध्या के पश्चात् एवं रातभर चलते हैं - जैसे **पञ्चरात्र, नवरात्र, दशरात्र** इत्यादि। ताण्ड्य-ब्राह्मण में अग्निष्टोम को 'ज्येष्ठयज्ञ'[२] कहा गया है। यही समस्त एकाह एवं अहीन यागों की प्रकृति अथवा आदर्श है। तत्पश्चात् बारह दिन में साध्य **द्वादशाह** याग, जिसे मीमांसकों ने अहीन एवं सत्र दोनों ही बतलाया है। जो सोमयाग बारह दिन से अधिक दिनों में निष्पन्न होता है, उसे **सत्र** कहते हैं। सत्र तेरह दिन से एक सौ दिन, एक बरस, तीन बरस, बारह बरस - यहाँ तक कि सौ बरस, हज़ार बरस तक चल सकता है। अन्त के दोनों ही रूपक हैं। जिसका यही

---

१५९ १. अग्निष्टोम इसके ही अन्तर्गत है।

१६० २. ता. ब्रा. ६।३।८

अर्थ है कि मनुष्य का समस्त जीवन ही यज्ञ है अथवा विश्व की सृष्टि-प्रक्रिया ही प्रजापति का यज्ञ है। सम्वत्सर-साध्य 'गवामयन' समस्त सत्र की प्रकृति है। ताण्ड्य एवं जैमिनीय दोनों ब्राह्मणों में एकाह, अहीन, द्वादशाह एवं सत्र का विवरण अवश्य उद्गातृगण की ओर से दिया गया है। इसके अतिरिक्त ताण्ड्य-ब्राह्मण के नवम अध्याय में सोम-प्रायश्चित्त का विवरण भी है। सत्रहवें अध्याय में चार 'व्रात्यस्तोम' नाम के एकाह का उल्लेख है।[१] इन यागों का उद्देश्य व्रात्यों को वैदिक-सम्प्रदाय में अन्तर्भुक्त करना है।

व्रात्य कौन थे? उनके बारे में ब्राह्मण में स्पष्टतः कहीं भी उल्लेख नहीं है। वैदिक-साहित्य के अनेक स्थलों पर व्रात्यों के सम्बन्ध में जितनी बातें बिखरी पड़ी हैं, उन्हें क्रमबद्ध कर लेने पर भारतवर्ष की आर्य-साधना के विवर्तन का एक सुष्ठु इतिहास पाया जाता है, जो भारतवर्ष की अध्यात्म-भावना को समझने के पक्ष में अत्यन्त उपयोगी है।

अन्यत्र बतलाया गया है कि आर्य-भावना की वैदिक और अवैदिक दो धाराएँ हैं। वैदिक-धारा राजशक्ति के संरक्षण में धीरे-धीरे आभिजात्य की मर्यादा प्राप्त करके ब्राह्मण्य-धर्म नाम से परिचित हुई। ब्राह्मण्य-धर्म मूलतः देववादी है, उसके आचार-अनुष्ठान का परिचय हमें वैदिक-श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र में प्राप्त होता है। धर्मसूत्र से ब्राह्मण्य-स्मृति का उद्भव हुआ, जो हिन्दू-समाज पर आज तक शासन कर रही है। ब्राह्मण्य-विचार अथवा संवेदना की वाहक संस्कृतभाषा है। ब्राह्मण्यधर्म जीवन्त है, अतएव प्राणशक्ति की प्रेरणा से उसने अपनी सीमा के बाहर से बहुत कुछ आत्मसात् किया है। यह उसकी एक चिरकाल-आचरित रीति है कि उसने जिसे भी आत्मसात् करना चाहा है, उसे ही 'संस्कृत' कर लिया है।

---

१६१ १. जै. ब्रा. में तीन का ही उल्लेख है।

वेद की भाषा में कहा जाए तो ब्राह्मण्य-समाज का अभिजात अंश 'ब्रह्म' एवं 'क्षत्र' को लेकर गठित हुआ। उसका ही अनभिजात अंश 'विश्' अथवा सामान्य-जन हुआ। इससे त्रैवर्णिक समाज-व्यवस्था का जन्म हुआ। वेदपन्थी होने पर भी सामान्य-जन अभिजात-जनों से दूर रहे, जिसके कारण उनके धार्मिक विश्वासों एवं धर्माचरण में कुछ सरलता दिखाई देना स्वाभाविक है। जिस प्रकार आज-कल भी हम निम्न वर्ण के हिन्दुओं के बारे में देखते हैं। इस वेदपन्थी किन्तु अनभिजात आर्यजन समाज की साधना और भावना का वाहन 'इतिहास-पुराण' है। जिसे प्राचीन ब्राह्मणों में 'पञ्चमवेद' के रूप में गिना गया है। पौराणिक ब्राह्मण्य-धर्म वैदिकधर्म के परवर्तीकाल में दिखाई दिया - यह धारणा ग़लत है। अथर्ववेद जिस प्रकार भाव की दृष्टि से ऋग्वेद का समकालीन है - ठीक वैसा ही इस क्षेत्र में भी है। त्रयीविद्या में वैदिक-भावना के एक पक्ष को तथा अथर्वाङ्गिरस एवं इतिहास-पुराण में दूसरे पक्ष को उजागर किया गया है। सर्वत्र ही जनसमाज, क्षेत्र होता है, एवं उसका रस-शोषण करके आभिजात्य वनस्पति सर ऊँचा किए खड़े रहते हैं। वेद की तैत्तिरीयसंहिता में भी इस तथ्य को स्वीकार किया गया है।[१]

एक ही समाज में वैदिक-भावना के निकट अवैदिक-भावना का एक प्रखर स्रोत प्रवाहित होता रहा है। अवैदिक जन भी आर्य हैं, किन्तु धार्मिक विश्वास एवं धर्माचरण में वैदिक जनों से बिल्कुल अलग हैं। ये देववादी नहीं है; क्रियाविशेष बहुल आचार-अनुष्ठान को भी नहीं मानते। आधुनिककाल में बङ्गाल के ब्राह्म एवं हिन्दुओं में जो अन्तर है, वही अन्तर अवैदिक एवं वैदिक आर्यों के बीच भी रहा है। ब्राह्म भी हिन्दू हैं, किन्तु वे बुद्धिवादी हैं। बुद्धिवादियों की एक प्राचीन संज्ञा 'बौद्ध' - (RATIONALIST) है। व्यापक अर्थ में इस संज्ञा का प्रयोग करते हुए कहा जा सकता है कि आर्य-भावना प्राचीनतम-युग से

१. तुलनीय : वैश्यो मनुष्याणां गावः पशूनां तस्मात्त आद्याः भूयांसोऽन्येभ्यः ७।१।१।५। द्र. ता. ब्रा. ६।१।१०।

दो धाराओं में प्रवाहित होती रही है, जिसमें एक ब्राह्मण्य-धारा है और दूसरी बौद्ध-धारा है। एक के दर्शन का नाम 'मीमांसा' है और दूसरी का दर्शन 'तर्क' है। एक की सृष्टि 'वेदान्त' है और दूसरी की सृष्टि 'साङ्ख्य' अथवा 'सिद्धान्त'। एक का साधन 'श्रद्धा' है, दूसरी का साधन 'तपः' है। एक की साधना 'याग' है, और दूसरी की साधना 'योग' है। एक 'ब्रह्मवादी' है, और दूसरी 'आत्मवादी' है। एक के साधक 'ऋषि' हैं, और दूसरी के साधक 'मुनि' हैं। एक 'देवता' को भजता है, और एक 'मनुष्य-गुरु' को – नेपालीभाषा में उन्हें आज भी 'दे.भाजु' और 'ओ.भाजु' कहा जाता है। एक का चरम अनुभव है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' और एक का 'मानुषात् परतरं नहि'। अस्तु एक का चरम प्रमाण 'श्रुति' है और एक का 'आप्त' है। एक का माध्यम 'संस्कृत' है और एक का माध्यम 'प्राकृत' है।

दीर्घकाल से इन दो धाराओं की युक्तवेणी भारतभूमि पर प्रवाहित होती रही है। दोनों एक दूसरे को आघात पहुँचाती रही हैं और दोनों में आदान-प्रदान भी होता रहा है। दोनों में भारतवर्ष की साधना-भावना इस प्रकार ओत-प्रोत है कि आज उन्हें अलग करना सम्भव नहीं।

स्वभावतः विश अथवा सामान्य-जन ही वैदिक एवं अवैदिक दोनों भावनाओं का प्रचार-क्षेत्र था। उन्होंने वैदिक एवं अवैदिक दोनों जनों को ही स्वीकार किया, और दोनों की साधना-भावना को सरल बनाकर अपने लिए उपयोगी बनाया। जिसके कारण भारत में कई बड़े गणधर्मों का उद्भव हुआ। इन धर्मों का परिचय जिस प्रकार ब्राह्मण्य-धर्म के इतिहास-पुराण अथवा पञ्चमवेद में प्राप्त होता है, उसी प्रकार अनेक 'बौद्ध' शास्त्रों में भी प्राप्त होता है। सङ्क्षेप में कहा जा सकता है कि गणधर्म की दो प्रधान धाराएँ हैं, जिनमें एक 'भागवत' और एक 'शैव' है। शाक्त-धर्म दोनों के बीचों-बीच है, जिसने दोनों में ही शक्ति का सञ्चार करते हुए उन्हें पल्लवित एवं पुष्पित किया। भागवत-धारा में वैदिक-भावना का और शैवधारा में अवैदिक-भावना का स्पर्श है, किन्तु दोनों धाराएँ ही आर्य हैं, और अत्यन्त प्राचीन हैं। भागवत-जनों की चर्चा

के पूर्व अभी केवल व्रात्यों की चर्चा समीक्षा करते हुए शैव-धारा के इतिहास पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

'व्रात्य' संज्ञा की उत्पत्ति सङ्घ अथवा गणवाची 'व्रात'[१] शब्द से हुई है। व्रात्य-जन सम्भवतः दल बाँधकर रहा करते थे, एवं उनके दल के दल व्रात्यस्तोम के अनुष्ठान के फलस्वरूप बहुत कुछ आधुनिक 'शुद्धीकरण' की तरह याज्ञिक समाज में अन्तर्भुक्त हो जाते थे। कात्यायन की भाषा में उस समय व्रात्यगण 'व्यवहार्या भवन्ति' – उनके साथ वैदिकों का व्यवहार चलता था।[२]

ताण्ड्य-ब्राह्मण में व्रात्यों के लिए क्रमशः हीन, निन्दित, कनिष्ठ ज्येष्ठ-चार व्रात्यस्तोम निर्धारित किए गए हैं। प्रसङ्गतः व्रात्यों का एक सङ्क्षिप्त वर्णन भी दिया हुआ है। इस वर्णन के कई-कई शब्दों का अर्थ अस्पष्ट है। तब भी मोटे तौर पर समझ में आता है कि "व्रात्य ब्रह्मचर्य का आचरण नहीं करते, कृषि अथवा वाणिज्य भी नहीं करते। वे जन-साधारण से ब्राह्मण का अन्न ज़बरदस्ती खाते हैं, उनकी भाषा अमार्जित होती है, वे अदण्ड्य को दण्ड देकर आघात पहुँचाते हैं, अर्थात् ज़ोर-ज़बरदस्ती करना उनका स्वभाव है, अदीक्षित होकर भी वे दीक्षितों जैसी बातें करते हैं।.....उनके सिर पर होती है पगड़ी, हाथ में डण्डा या पैना और खाली धनुष; उनके रथ का आसन काफ़ी चौड़ा होता है और जो पथ-विपथ पर कहीं भी जा सकता है, उनके कपड़े का रङ्ग काला; बग़ल में काली और सफ़ेद भेड़ का चमड़ा सिला हुआ होता है। गले में चाँदी की हँसुली होती है। किसी-किसी के कपड़े का लाल पाड़, किन्तु आँचल की ओर चुन्नट नहीं, पाँव में जूते नहीं, कमर में उसी तरह सफ़ेद-काला चमड़ा कसा हुआ होता है। कोई-कोई व्रात्य गृहपति हैं, अर्थात् दल के प्रधान हैं।"

---

१. तु. ऋ. सं. अनुव्रातास्तव सख्यमीयुः १।१६३।८; व्रातं व्रातं गणं गणम् ३।२६।६, ५।५३।११; राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव १०।३४।१२; जीवं व्रातं सचेमहि १०।५७।५।

२. श्रौतसूत्र : २२।४।३०

इन व्रात्यों की वेशभूषा को ब्राह्मण में 'व्रात्यधन' कहा गया है। व्रात्यस्तोम के अन्त में यह व्रात्यधन दक्षिणा-स्वरूप जिसको दिया जाता है, उसके कन्धों पर व्रात्यों का सारा पाप लद जाता है। शाट्यायन श्रौत-सूत्र का कथन है 'व्रात्येभ्यो व्रात्यधनानि ये व्राताचर्याया अविरताः स्युः, ब्रह्मबन्धवे वा मागधदेशीयाय'[१] अर्थात् व्रात्यधन मगध देश के किसी ब्रह्मबन्धु को, अथवा जो अभी भी व्रात्याचार से विरत नहीं हुए; उनको देना होगा।

अथर्वसंहिता में एक व्रात्यकाण्ड है [१५] वहाँ व्रात्य, हीन या निन्दित नहीं, बल्कि अति प्रशस्त हैं। व्रात्य वहाँ परमपुरुष हैं। "व्रात्य वा इद् अग्र आसीत्, ईयमान एव प्रजापतिं समैरयत्"[२] अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में ये व्रात्य ही थे, उन्होंने ही प्रजापति को प्रेरणा दी और प्रजापति ने अपने आत्मनिहित सुवर्ण-ज्योति से विश्व के मूलतत्त्व के रूप में तपः, सत्य और ब्रह्म की सृष्टि की, जिसके फलस्वरूप यह जगत् उत्पन्न हुआ। उसमें ये व्रात्य महादेव, ईशान, एकव्रात्य रूप में आविर्भूत हुए। इन्द्रधनुष ही उनका धनुष है, उनका उदर नील एवं पृष्ठ लोहित है [१५।१]। तत्पश्चात् ये एक व्रात्य चरिष्णु रूप में पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में दक्षिणावर्त-गति से फैल गए। विज्ञान उनका वास अथवा आच्छादन है, रात्रि का अन्धकार उनका काला केश, दिन का उजाला उनका उष्णीष (पगड़ी), वज्र और विद्युत् कुण्डल एवं नक्षत्रों की झिलमिलाहट उनका मणि भूषण है। श्रद्धा, उषा, इरा एवं विद्युत् उनकी नर्म सहचरी या क्रीड़ा-सङ्गिनी हैं। वे मन के रथ पर सवार हैं, मातरिश्वा और सोम उनके रथ के वाहन हैं, वातास सारथी है। प्रभञ्जन या झञ्झावात उनका प्रतोद अथवा चाबुक है। साम, देवता, सप्तर्षि, यज्ञ, यजमान और पशु सभी उनके अनुचर हैं। [१५।२] तत्पश्चात् वे प्रत्येक दिशा में काल अथवा ऋतुपर्याय, ऋतुपरिवर्तन के रूप में आविर्भूत हुए

---

१. श्रौ. सू. ८।६।२८

२. अ. पैप्पलाद शाखा १८

(१५।३,४)। भव, शर्व, पशुपति, उग्र, रुद्र, महादेव एवं ईशान धानुकी या धनुर्धर होकर क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुव ऊर्ध्व एवं दिगन्तरों में उनके अनुगामी हुए (१५।५)। तत्पश्चात् ध्रुवा-दिक् अथवा पृथिवी से ऊर्ध्व दिशा में, उत्तम दिशा में, वृहत् दिशा में, परम दिशा में, अनादिष्ट दिशा में अनावृत्त दिशा में, एवं दिग्-दिगन्तरों में उनका उत्तरायण आरम्भ हुआ। पार्थिवभूत, ज्योतिष्कमण्डली, वेदज्ञान, इतिहास पुराण आदिज्ञान, यज्ञ, काल एवं देवगण उनके अनुचर हुए। [१५।६] तत्पश्चात् उन्होंने समुद्र होकर सब कुछ आच्छादित कर लिया [१५।७]।"

इस प्रकार व्रात्यकाण्ड का प्रथम अनुवाक एकव्रात्य के महिमा-वर्णन में समाप्त हुआ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये एकव्रात्य परम-पुरुष हैं, जो एकव्रात्य को जानते हैं, वे 'विद्वान्व्रात्य' हैं।[१] उनकी महिमा का वर्णन द्वितीय अनुवाक में है। ऋषियों के उपास्य जिस प्रकार 'एकर्षि' (सूर्य) हैं, उसी प्रकार व्रात्यों के उपास्य 'एकव्रात्य' (महादेव) हैं। उनके साथ सायुज्य-प्राप्ति ही व्रात्य-साधक का लक्ष्य है। जो ब्रह्म को जानते हैं, वे ब्रह्म ही होते हैं; उसी प्रकार जो एक व्रात्य को जानते हैं, वे भी एकव्रात्य ही होते हैं।

विद्वान्व्रात्य का प्रभाव जन-साधारण के बीच अधिक था। व्रात्य काण्ड के द्वितीय अनुवाक के प्रारम्भ में ही कहा जा रहा है कि 'वह एकव्रात्य आरक्त हुए, उसी से राजन्य या क्षत्रियवर्ण की उत्पत्ति हुई। वे जनसाधारण ['विशः'] के बीच फैल गए; सभा, समिति, सेना एवं सुरा ने उनका अनुसरण किया' (१५।८-९)।

इतनी सी भूमिका के पश्चात् विद्वान्व्रात्य की चर्चा शुरू हुई। "विद्वान्व्रात्य जिस राजा के अतिथि होंगे, वे उन्हें अपने से बड़ा मानकर

---

१. 'दिव्य व्रात्य' (जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण २।३)। वहाँ 'दिवःस्तम्भनी स्थूणा' (स्तम्भ की तरह द्युलोक को थामे है– ऐसी एक खूँटी) का उल्लेख है, जिससे शिवलिङ्ग का स्मरण हो आता है।

सम्मान देंगे – क्योंकि ब्रह्म एवं क्षत्र अर्थात् प्रज्ञा एवं वीर्य इस व्रात्य से ही उत्पन्न हुए हैं (१५।१०।१-३)। विद्वान्व्रात्य जिस किसी के यहाँ आकर अतिथि होंगे, वे उनकी परिचर्या अकुण्ठचित्त से करेंगे, उनकी कोई भी इच्छा अपूर्ण नहीं रखेंगे। उससे ही उनका सर्वार्थ सिद्ध होगा (१५।११)। यहाँ तक कि घर में यदि अग्निहोत्र का आयोजन किया गया हो, और उसी समय विद्वान्व्रात्य उस घर के अतिथि हों, तो फिर उनकी अनुमति लेकर ही याग करना होगा, किन्तु उनके द्वारा निषेध करने पर याग नहीं होगा (१५।१२) तथा विद्वान्व्रात्य जितने दिन अधिक किसी के भी घर अतिथि होकर रहेंगे, उसे उतना ही पुण्य प्राप्त होगा। इसके अतिरिक्त यदि कोई विद्वान् न होने पर भी व्रात्य-परिचय देकर किसी का अतिथि हो, तो उसका भी अपमान किए बिना देवता की तरह परिचर्या करना उचित है (१५।१३)। विद्वान्व्रात्य भी एक व्रात्य की तरह अपनी महिमा से हर ओर फैल जाते हैं (१५।१४)। उनके सात प्राण, सात अपान और सात व्यान हैं। वे ही देवता, मनुष्य, जीव-जन्तु, पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दीक्षा एवं यज्ञ इत्यादि सब हुए हैं (१५।१५-१७) इस व्रात्य के दक्षिणनेत्र सूर्य, वामनेत्र चन्द्र, दक्षिणकर्ण अग्नि, वामकर्ण सोम, अहोरात्र नासिका, दिति और अदिति दो शीर्ष कपाल हैं। दिन में वे पश्चिममुखी हैं, एवं रात में पूर्वमुखी हैं अर्थात् वे सूर्यस्वरूप हैं।"

अथर्वसंहिता का यह व्रात्यकाण्ड ब्राह्मण की तरह गद्य में रचित है। यहाँ तक कि वैसी ही वेदन-प्रशंसा भी इसमें है। व्रात्यों के प्रति ताण्ड्य-ब्राह्मण एवं अथर्वसंहिता की मानसिकता पूर्णतः विपरीत है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि एक ही व्रात्य दोनों का लक्ष्य है। सोमयाजी अभिजात-वर्ग के निकट जो निन्दित हैं, गर्हित हैं; वे गणधर्म के धारणकर्त्ताओं, अनुयायियों के निकट प्रशस्त या श्रेष्ठ होंगे – इसमें आश्चर्य करने की कोई बात ही नहीं है।

ताण्ड्य-ब्राह्मण में व्रात्यों का जो परिचय हमें प्राप्त होता है, उससे ज्ञात होता है कि व्रात्य आर्य हैं, किन्तु वेदपन्थी नहीं। वे आर्य भाषाभाषी

हैं, किन्तु उनकी भाषा अमार्जित है। वे भी 'दैव' अर्थात् उनके भी देवता हैं, किन्तु वे देवता कौन हैं? उसे ताण्ड्य-ब्राह्मण में स्पष्ट रूप से नहीं बतलाया गया है। इस देवता के रुद्र होने की ही सम्भावना अधिक है, क्योंकि ब्राह्मण और संहिता में अनेक बार प्रत्यक्षतः रुद्र का नाम न लेकर 'अयं देवः' के रूप में उनका उल्लेख किया जाता है।[१]

व्रात्यों ने कृषि अथवा वाणिज्य को जीविका का आधार नहीं बनाया। वैश्य अथवा जन-साधारण की जीविका के तीन आधार-कृषि, वाणिज्य (शिल्पकर्म उसके अन्तर्गत) एवं गोरक्षा अथवा पशुपालन है।[२] अतएव ताण्ड्य-ब्राह्मण की उक्ति से अनुमान किया जा सकता है कि व्रात्यों की अन्यतम जीविका पशुपालन है। संहिता में भी रुद्र पशुपति हैं; अतएव वे मुक्तरूप से व्रात्यों के देवता हो सकते हैं। अथर्वसंहिता के व्रात्यकाण्ड में एकव्रात्य का विशेष रूप से भव, शर्व, पशुपति, उग्र, रुद्र, महादेव, एवं ईशान के रूप में वर्णन किया गया है। ऋक्संहिता में रुद्र का विशेष प्रहरण या अस्त्र धनुष है – जैसे इन्द्र का वज्र, मरुद्गणों का ऋष्टि अथवा वर्शा (बर्छा) है। व्रात्यजन धानुकी हैं, और व्रात्यकाण्ड के उपर्युक्त देवता भी धानुकी हैं। वाजसनेयसंहिता के रुद्राध्याय (१६) में रुद्र धानुकी तो हैं ही, उसके अलावा वे पशुपति (१७) व्रात्य एवं व्रातपति (२५) भी हैं। उन्हें 'उत गोपा अदृश्रन्' अर्थात् गोपालक भी देखते रहते हैं।[३] एकव्रात्य नीललोहित हैं; रुद्राध्याय के रुद्र का भी यही विशेषण है (४७), वे 'नीलग्रीवो विलोहितः' (७)। उव्वट एवं महीधर दोनों का ही कथन है कि नीलग्रीव अस्त-सूर्य का वर्णन है, क्योंकि उस समय चारों ओर अँधेरा छा जाता है। इस सन्दर्भ में स्मरण रहे कि जिस प्रकार विष्णु प्रकाश एवं जीवन के देवता हैं, उसी प्रकार शिव, अन्धकार

१. ता. १४।९।१२. ऐ. ३।३४, काठक १०।६, २२।१२....।
२. तुलनीय : गीता १८।४४
३. महीधर ने यहाँ 'गोपाः' के अर्थ में 'गोपाला वेदोक्तसंस्कारहीनाः' समझा है, यह ध्यातव्य है (१६।७) व्रात्य भी वही।

एवं मरण के देवता हैं। व्रात्यों के वस्त्र में भी काले एवं लाल रङ्ग का समावेश द्रष्टव्य है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि व्रात्यों के देवता वैदिकों के रुद्र हैं। व्रात्यों के लिए वे उसी प्रकार शिव हैं, जिस प्रकार वैदिकों के 'सविता भगः' पौराणिकों के 'भगवान्' हैं। **शैवधर्म एवं भागवतधर्म यज्ञ के अविरोधी गणधर्म रहे हैं, इसके अनेकों प्रमाण इतिहास और पुराण में पाए जाते हैं।**

ताण्ड्यब्राह्मण में गणधर्मियों को जी भर गालियाँ दी गई हैं। उन गालियों में खेद एवं आक्रोश का भाव अधिक उजागर हुआ है। व्रात्य ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते, अतएव ब्राह्मण्य धर्म में न कोई उनकी रुचि है, न अनुराग। किन्तु वे ब्राह्मण का अन्न छीन लेते हैं अर्थात् ब्राह्मणों के प्राप्य में कैसे हिस्सा बँटाते हैं? – वह अथर्वसंहिता के विद्वान्व्रात्य के वर्णन में हम स्पष्ट देखते हैं। विद्वान्व्रात्य चाहें तो याग-यज्ञ बन्द करवा सकते हैं। किस लिए? वह आसानी से समझा जा सकता है। विद्वान्व्रात्य ज्ञानवादी होते हैं, अतएव कर्मकाण्ड के विरोधी रहे हैं और वे ही आर्य-भावना की साङ्ख्यधारा के वाहक हैं। वे भी प्रवक्ता एवं उपदेष्टा हैं; किन्तु ताण्ड्यब्राह्मण की दृष्टि में वह उनकी अनधिकार-चर्चा है – 'वे अदीक्षित होकर भी दीक्षितों की तरह बातें करते हैं।' यहाँ दीक्षा निश्चय ही 'सावित्री-दीक्षा' अथवा 'उपनयन' के अर्थ में है। यह भलीभाँति समझ में आता है कि ये कौन हैं? जो यज्ञोपवीत अथवा जनेऊ धारण नहीं करते, किन्तु ज्ञान की बातें करते हैं। प्राचीनयुग के तीर्थङ्कर एवं बौद्ध से लेकर मध्य-युग के नाथ एवं आधुनिक-युग के आउल-बाउल तक सभी प्राचीन व्रात्यों के दल में आ जाते हैं। ये सदैव अमार्जित प्राकृतभाषा में तत्त्वचर्चा करते आए हैं।

वैदिकसमाज-विन्यास में व्रात्यों के स्थान का निरूपण करते हुए ताण्ड्यब्राह्मण का कथन है कि वे ब्राह्मण अथवा वैश्य के अन्तर्गत नहीं आते। तो फिर क्या उनको क्षत्रिय के अन्तर्गत रखा जा सकता है? इस बात को अथर्वसंहिता में 'राजन्य' एवं विश् के साथ एकव्रात्य को युक्त करके स्पष्ट कर दिया गया है। ऐतरेयब्राह्मण में क्षत्रिय और राजन्य में

थोड़ा अन्तर करते हुए कहा गया है कि द्वितीय वर्ण का जो कोई भी व्यक्ति 'राजन्य' है और भूम्यधिकारी राजा 'क्षत्रिय' है।[१] पुरुषसूक्त में चातुर्वर्ण्य का परिचय देते हुए द्वितीय वर्ण को 'राजन्य' कहा गया है।[२] सम्भवतः द्वितीय वर्ण की प्राचीन संज्ञा 'राजन्य' अथवा राजा की जाति है। राजा जिस किसी भी वर्ण-जाति या क़ौम का अधिपति या मालिक होता है।[३] किन लोगों का इस रूप में फैल जाना हो सकता है? प्रथमतः जब एक समूह के लोग एक नये देश या प्रदेश में प्रवेश या घुसपैठ करते हैं (जैसे मैमनसिंह के मुसलमान ग़ैर आबादी वाली ज़मीन के आकर्षण में आसाम में घुस गए) तब वे 'विश' कहलाएँगे। खेती-बारी करके तथा आदिवासियों को वश में लाकर कुछ सुव्यवस्थित हो जाने पर वे 'राजन्य' हो जाते हैं। नये समाज के कुछ और सुव्यवस्थित होने पर ब्राह्मण का आविर्भाव होता है एवं राजन्य 'क्षत्रिय' में रूपान्तरित हो जाता है। अतएव जिस प्रकार क्षत्रिय 'विश्' से अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार राजन्य उसके इर्द-गिर्द हो जाते हैं। अब भी खेतिहर 'राजपूत' अथवा खेतिहर 'छत्री' पूरी तरह अभिजात क्षत्रिय नहीं। आर्यों के आभिजात्य का केन्द्र कुरु-पाञ्चाल रहा है। वहाँ समाज सुव्यवस्थित था। ब्राह्मण वहाँ याज्ञिक थे, क्षत्रिय मूर्धाभिषिक्त राजा थे, और वैश्य कृषि-वाणिज्य में रत थे। इस समाज-मण्डल के बाहर जो आर्यजन हैं, वे अब भी बहुत कुछ अव्यवस्थित रह गए हैं, उनके समाज में प्रमुख स्थान का अधिकार ब्राह्मण को नहीं, राजन्य को प्राप्त होगा। इन राजन्यों के बीच से ही विद्वान्व्रात्यों का आविर्भाव हुआ, जिनकी गणना ब्राह्मणों के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में की गई है।

अथर्वसंहिता में एक साथ राजन्य, विश्, सभा, समिति, सेना, एवं सुरा का उल्लेख है, जिससे व्रात्यों के देश का एक चित्र उभरता है। ये

१. ऐ. ७।२०
२. ऋ. १०।९०।१२
३. तुलनीय. ऋ. १०।९७।६

सभा और समिति प्राचीन गणतन्त्र के प्रतिष्ठान हैं।[१] जान पड़ता है, सभा निर्वाचित व्यक्तियों की स्थायी परिषत् है और समिति सर्वसाधारण की अस्थायी परिषत् है। प्रारम्भ में दोनों एक साथ ही चल सकती हैं (तुलनीय ग्राम-पञ्चायत और चण्डी-मण्डप); किन्तु राष्ट्र जितना ही बड़ा होता है एवं राष्ट्र-व्यवस्था केन्द्रीकृत होती है, उतना ही सभा से समिति अलग-थलग पड़ जाती है। अन्त में राजा की सभा एक पौर-प्रतिष्ठान का रूप ले लेती है एवं जनसमिति छोटे-छोटे जानपद-प्रतिष्ठान का। व्रात्यों की सभा-समिति में ब्राह्मण्य-युग के पहले की धारा ही सुरक्षित थी। राजन्यों की सभा में सभी राजा होते थे। इस प्रकार का गणतन्त्र गौतम बुद्ध के समय में भी था।

ब्राह्मण सोमरस पान करते हैं, सुरापान नहीं; अर्थात् लोगों में नशा करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को उन्होंने संयत एवं रूपान्तरित कर लिया। किन्तु व्रात्यों के देश में सुरा बे रोक टोक चल सकती है। यह समाज की आदिम-संस्कृति का अनुवर्तन या अनुकरण था।

व्रात्यों की गणतान्त्रिक राष्ट्र-व्यवस्था ताण्ड्यब्राह्मण को अच्छी नहीं लगी। इसलिए ब्राह्मणकार ने अवज्ञा के साथ अपना अभिमत प्रकट किया कि "वे अदण्ड्यों को भी दण्ड देते हैं; अर्थात् उनके देश में ब्राह्मणों का सात ख़ून माफ़ नहीं।

लक्ष्य करने जैसी एक और बात है। परवर्तीकाल में शक, हूण, पारद, खश, पौण्ड्र, पुलिन्द प्रभृति जिन सब बाहर के जनों की गणना आर्य-समाज के अन्तर्गत की गई है, उन्हें क्षत्रिय की मर्यादा प्राप्त हुई है। यहाँ अनुमान किया जा सकता है कि भिन्न-जनों को व्रात्यों ने ही अपना बनाकर ग्रहण किया है और सबको उन्होंने राजन्य की मर्यादा दी है। ब्राह्मण-अनुशासनकारों ने अन्ततः इस देश के स्वाभाविक औदार्य वश इस व्यवस्था को स्वीकार भर किया है।

१. द्रष्टव्य : The Vedic Age PP 353 - 54

प्रश्न उठता है कि व्रात्यों का आदि देश कहाँ है? ब्राह्मण्य-संस्कृति का देश कुरु-पाञ्चाल रहा है। व्रात्य उसके बाहर रहे। ब्राह्मण्य-संस्कृति धीरे-धीरे पूरब की ओर फैलती गई। उस समय जिन लोगों ने इसके प्रसार में बाधा उपस्थित की है, वे ही व्रात्य हैं। सङ्घर्ष धीरे-धीरे समन्वय में परिणत हो जाता है और संस्कृति का रूपान्तर शुरू हो जाता है। वैदिक आर्य एवं व्रात्य-आर्यों के सम्बन्ध में भी वही हुआ। ध्यातव्य है कि मथुरा के कृष्ण, कोशल के राम, विदेह के बुद्ध सभी क्षत्रिय; गणधर्म के नायक, जन-साधारण की दृष्टि में अवतार एवं ब्राह्मण्य-संस्कृति के ठीक अनुवर्ती या अनुयायी नहीं, बल्कि विरोधी रहे। राम के समय में विरोध अधिक स्पष्ट नहीं, किन्तु राज्य से उनका निर्वासन चिन्तनीय है। गुहक, **चाण्डाल** और वन-वानरों के वे मित्र हैं – यह भी लक्ष्य करने योग्य है। शतपथब्राह्मण में स्पष्ट कहा गया है कि यज्ञ की आग सदानीरा (गण्डक) के उस पार नहीं जा पाई।[१] बौधायन के विचार से यह पूरबी देश ब्राह्मणवर्जित रहा, उस देश में जाने पर ब्राह्मणों को प्रायश्चित्त करना पड़ता था।[२] इस देश के तीन प्राचीन नाम मिलते हैं। ऋक्संहिता में इसका नाम 'कीकट' है[३]। ऋषि ने दुःख प्रकट करते हुए कहा है कि उस देश में अनेक गायें हैं, किन्तु उनके होने से ही क्या? जबकि वे यज्ञ के किसी काम की हीं नहीं। यह खेदोक्ति अर्थपूर्ण है। शतपथ में उल्लिखित दूसरा नाम 'विदेह' है, और ज्वर के देश के रूप में तीसरे नाम 'मगध' का उल्लेख अथर्वसंहिता में है।[४] व्रात्यस्तोम में एकव्रात्य के नित्य सहचर मागध हैं। ऐतरेयारण्यक में मगध की जगह

---

१. श. ब्रा. १।४।१।१४......
२. १।१।३१
३. ऋ. ३।५३।१४
४. अ.सं. ५।२२।१४

'वगध' है।[१] जिन्हें पक्षी जैसा बतलाया गया है।[२] परवर्तीकाल में मागध के अर्थ में चारण-कवियों का बोध होता है। वाजसनेयसंहिता के पुरुषमेधाध्याय में मागध के उल्लेख के साथ-साथ पुंश्चली, कितव एवं क्लीब का उल्लेख है।[३] वहाँ बतलाया जा रहा है कि ये शूद्र भी नहीं, ब्राह्मण भी नहीं अर्थात् ये ब्राह्मण्य-संस्कृति को नहीं मानते, लेकिन इन्हें शूद्र भी नहीं कहा जा सकता।[४] एकव्रात्य की सहचरी पुंश्चली है। पुनः उसी पुरुषमेधाध्याय में ही देखते हैं कि व्रात्यों के देवता (अवश्य आलङ्कारिक अर्थ में ही) गन्धर्व एवं अप्सरा हैं। अर्थात् व्रात्यों की एकश्रेणी मान एवं वाद्य-विद्या में निपुण थी, एवं उनकी कन्याएँ नटी या नर्तकी थीं। गन्धर्व-वृत्ति से जुड़े मागध एवं अप्सरा-वृत्ति से जुड़ी पुंश्चलियों के देवता यदि एकव्रात्य हों, तो फिर उनमें हमें पूरब देश के

---

१. ऐ. आ. २।१।१
२. इस अंश के तात्पर्य को लेकर मतभेद है। सायण कहते हैं 'अवगध' (वगध नहीं) के अर्थ में ओषधि का बोध होता है। यह प्रसङ्ग ऋक्संहिता के एक मन्त्र की व्याख्या को लेकर उभरा है : 'प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुः' (८।१०१।१४) तीन प्रजा (Creature) क्या है? ऐतरेयब्राह्मण का कथन है – 'वयांसि बङ्गावगधाश्चेरपादाः' जिसका अर्थ सायण में पक्षी, ओषधि-वनस्पति (बङ्ग = वृक्ष) एवं ईरपाद या सरीसृप किया है। शतपथब्राह्मण का कथन है– पक्षी, छोटे सरीसृप एवं साँप (२।५।१।१-२)। 'बङ्गावगधाश्चेरपादाः' के अर्थ में जाति अथवा देश का नाम कोई नहीं बतलाता और वे आधुनिक पण्डितों की तरह पद-विच्छेद भी नहीं करते। किन्तु मूल ऋक् के 'तिस्रः प्रजाः' का अवैदिक-जन होना सम्भव है, क्योंकि ये अर्क अथवा अग्नि की (श. ब्रा. २।५।१।४) उपासना न करने के कारण नष्ट हो जाते हैं – ऐसी उक्ति इस ऋक् में स्पष्ट ही है।
३. वा. सं. ३०।२२ तीनों संज्ञाएँ ही गाली गलौज हो सकती हैं – इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।
४. लक्षणीय है – परवर्तीयुग के धर्मशास्त्र में 'मागध' एक प्रतिलोम सङ्करजाति (**बाप** वैश्य अथवा शूद्र) है, किन्तु माँ, ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य-कन्या। उनकी वृत्ति (पेशा) वणिक् अथवा भाट की (द्रष्टव्य : KANE History of Dharmashastra Vol. II pp. 90-91)।

अनेक परवर्ती युग क़ी गण-संस्कृति का एक आभास नहीं मिलता क्या? व्रात्यों के आचार-व्यवहार का यह पक्ष ब्राह्मणों के लिए अप्रीतिकर लगने की ही बात है। सब ओर से मिलाकर कहा जा सकता है कि व्रात्यों की संस्कृति ने ही परवर्तीयुग में मगध की संस्कृति में एक विशिष्ट रूप धारण कर लिया, जिसके उत्तराधिकारी बङ्गाली हैं। यह संस्कृति भी आर्यसंस्कृति-प्रधान है, किन्तु वैदिक-संस्कृति के साथ उसका प्रचुर मतभेद है।

ताण्ड्यब्राह्मण के चार व्रात्यस्तोम, चार प्रकार के व्रात्य- 'हीन', 'निन्दित', 'कनिष्ठ', एवं 'ज्येष्ठ' के लिए हैं। जो आचारभ्रष्ट हैं, वे 'हीन' और जो 'नृशंसा: पाप्मना गृहीता:' वे 'निन्दित' हैं। 'निन्दित', आचार-व्यवहार में हीन से भी अधिक नीचे उतर गए हैं। बोध होता है, इस बात की ही ओर सङ्केत है। किन्तु कनिष्ठव्रात्य कौन हैं? हीन एवं निन्दित भी तो कनिष्ठ (भाष्यकार की भाषा में 'युवतम') हो सकते हैं। ज्येष्ठ की व्याख्या करते हुए ब्राह्मणकार ने बतलाया है कि ये 'शमनीचमेढ्र:' अर्थात् शम अथवा मन:संयम के लिए इनका मेढ्र या पुरुषाङ्ग नीचे की ओर लटक गया है। भाष्यकार ने शम के अर्थ में यौवन का उपरम अथवा अवसान समझा है, किन्तु सम्भवत: यहाँ शम के अर्थ में 'प्रशम' अथवा 'शमथ' का बोध हो रहा है; अर्थात् इन्द्रियसंयमजनित प्रशान्ति जो मुनिपन्थियों के जीवन का लक्ष्य था। ये ही सूत्रकारों के 'अर्हत'[१] और अवैदिकों की भाषा में 'जिन' थे। ये संन्यासी हैं, स्त्री-सङ्ग नहीं करते; ऋक्संहिता के मुनिसूक्त के ये 'मुनयो वातरशना:' – दिगम्बर होकर घूमते-फिरते हैं।[२] अधिक सम्भव है कि इनको ही कितव एवं क्लीब के रूप में वाजसनेयसंहिता में गाली दी गई है। ब्राह्मण को सपत्नीक यज्ञ करना पड़ता है। जो अब्राह्मण हैं, किन्तु शूद्र भी नहीं। ऐसे ही व्रात्य यज्ञ

---

१. द्र. The Vedic Age. P 256 लक्षणीय, बौद्ध श्रमण 'स्थविर'।
२. ऋ. १०।१३६।२

नहीं करते और संन्यासी का छद्मवेश धारण करके लोगों को ठगकर खाते हैं। गाली गलौज का यही तात्पर्य है, किन्तु लक्ष्य निश्चय ही विद्वान्व्रात्य है।

इस प्रकार वाजसनेयसंहिता में व्रात्यों के स्थूल रूप में दो भाग प्राप्त होते हैं। एक भाग में मगध-पुंश्चली और दूसरे भाग में कितव-क्लीब पड़ते हैं। परवर्तीकाल में एक से तन्त्र की धारा और दूसरे से योग की धारा आई है; जिसे पूरब-देश के नाथयोगियों ने चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया है। ज्येष्ठ व्रात्य यदि सूत्रकारों के 'अर्हत' रूप में रहे हों, तो फिर 'कनिष्ठ' उनके चेले हुए। दल बाँधकर घूमने-फिरने के कारण इन्हें 'व्रात्य' कहा जाता। इस प्रसङ्ग में बौद्ध एवं तीर्थिकों का 'सङ्घ' स्मरणीय है। ब्राह्मणों की 'परिषत्' थी; 'कुल' थे, किन्तु उनमें परिषत् सामयिक थी, कुल स्थाणु था। अनिकेत अथवा खानाबदोश के रूप में घूमना-फिरना लगता है व्रात्यों का ही वैशिष्ट्य था। परवर्तीयुग के मुनिपन्थी व्रात्यों का कुछ परिचय महाभारत के मोक्षधर्म-पर्वाध्याय में पाया जाता है।

विरोध के भीतर से ही लोग फिर समन्वय तक पहुँचते हैं। प्रतीच्य ब्राह्मणों और प्राच्य-व्रात्यों में भी अन्तत: एक मिश्रण हो गया था। आपस्तम्ब के धर्मसूत्र[१] में देखते हैं कि अथर्वसंहिता के विद्वान्व्रात्य का परिचय 'श्रोत्रिय' के रूप में दिया जा रहा है। 'व्रात्य' शब्द की व्युत्पत्ति वहाँ 'व्रत' से दी जा रही है। यह व्रात्य के विद्या-गौरव की परोक्ष स्वीकृति है। किन्तु प्राचीन विरूप-भाव पूर्णत: आत्मसात् नहीं हो पाया। इसलिए परवर्तीयुग के व्याख्याकारों की दृष्टि में व्रात्य सावित्री-पतित हैं। इस प्रसङ्ग में लक्षणीय है कि महाभारत आदि में वैदिक-आर्यों की छत्र-छाया में जो सारे अवैदिक आर्य अथवा अनार्य आए। उन सब को क्षत्रिय-समाज के अन्तर्गत मानकर गणना की गई है एवं वे भी

---

१. २।३।७।१३-१७

सावित्रीपतित हैं। इस तरह ही परायों को अपना बनाकर ब्राह्मण्य-प्रभाव का विस्तार हुआ है।[१]

ताण्ड्य-ब्राह्मण का एक परिशिष्ट है – पञ्चविंश ब्राह्मण के परिशेष के रूप में, जिसका नाम **'षड्‌विंश ब्राह्मण'** है। उसके पाँच प्रपाठक हैं। विषय-वस्तु लगभग ताण्ड्यब्राह्मण की ही अनुवृत्ति है। केवल तृतीय प्रपाठक में पाँच नूतन यागों– श्येन, इषु, सन्दंश, वज्र एवं वैश्वदेव का विधान है।[२] पहले के चार याग शत्रुनिर्यातन के लिए अभिचार है, जो तन्त्र की भाषा में रौद्रकर्म है। चतुर्थ प्रपाठक में ब्राह्मण के प्रातःसन्ध्या के अनुष्ठान के सम्बन्ध में कुछ चर्चा है।[३] पञ्च प्रपाठक का नाम 'अद्‌भुतब्राह्मण' है; क्योंकि इसमें अद्‌भुत, अनैसर्गिक अथवा अप्रत्याशित आपदाओं की शान्ति के उपायों का उल्लेख किया गया है। इस प्रसङ्ग में तन्त्र का शान्तिकर्म तुलनीय है। इस प्रपाठक के दशम खण्ड में देवता का मन्दिर (आयतन) काँप उठे, अथवा देवप्रतिमा यदि हँसे, रोए, नाचे और फूट जाए अथवा पलकें गिराए या हिलाए, तो क्या करना होगा? उसका विधान है।

---

१. बङ्गाल के जन-संस्थान के विश्लेषण से भी कुछ सन्धान प्राप्त होता है। बङ्गाली जाति एक मिश्र-जाति है। उसकी संस्कृति भी पूरी तरह वैदिक आर्य-संस्कृति नहीं। यद्यपि उसमें वैदिक प्रभाव ही अन्य सब प्रभावों से अधिक है। नृतत्त्वविदों की दृष्टि में **अल्पाइन** और **नार्डिक** आर्य एवं **मेडीटैरेनियन** और **आस्ट्रिक** आर्य मुख्यतः इन चारों उपादानों से बङ्गाली-जाति एवं संस्कृति गढ़ी हुई है। बङ्गाल के ब्राह्मणों के साथ पश्चिम के ब्राह्मणों का मेल नहीं – यह लक्षणीय है। यह असमानता अल्पाइन और नार्डिक की असमानता है। नार्डिकों के लिए अल्पाइन आर्य ही व्रात्य हैं। रक्त-सम्मिश्रण व्रात्यों में ही अधिक हुआ है। पूरब-देश की इस व्रात्य-संस्कृति की छत्र-छाया में आधुनिक बङ्गाल, बिहार, उड़ीसा एवं आसाम पड़ते हैं। जिनमें अनेक दृष्टियों से ही एक मौलिक ऐक्य है।

२. ३।८-१२

३. ४।४

सामवेद का एक और प्रधान ब्राह्मण **छान्दोग्य** अथवा मन्त्र या उपनिषद् ब्राह्मण है। इसके दश प्रपाठक हैं, जिसके प्रथम दो प्रपाठकों में गृह्यकर्म के मन्त्रों का सङ्ग्रह है, एवं शेष आठ प्रपाठकों में विख्यात छान्दोग्य-उपनिषत् है।

इन तीन प्रधान ब्राह्मणों के अतिरिक्त सामवेद के छोटे-छोटे और भी पाँच ब्राह्मण हैं, जो साधारणतः 'अनुब्राह्मण' के रूप में परिचित हैं। उनमें **सामविधान-ब्राह्मण** में यज्ञ का विधान नहीं है, बल्कि पापक्षय के कृच्छ्र चान्द्रायणादि प्रायश्चित्त का विधान है। इस उपलक्ष्य में आर्षेय ब्राह्मण में कहीं-कहीं होम का विधान भी है। साम के अध्ययन से ही पापक्षय होता है – यही विधि का तात्पर्य है। इस ब्राह्मण के तीन प्रपाठक हैं। तत्पश्चात् तीनों प्रपाठकों में **आर्षेय-ब्राह्मण** है, जो सामवेद की जैमिनीय एवं कौथुम दोनों शाखाओं में ही है।[१] उसके बाद **दैवत-ब्राह्मण** अथवा देवताध्याय तीन खण्डों में है। प्रथम खण्ड में साम के 'निधन' अथवा अन्त्य भाग के देवता का विवरण है। द्वितीय खण्ड में छन्द के देवता का विवरण एवं तृतीय खण्ड में छन्द के नाम की निरुक्ति अथवा व्युत्पत्ति दी गई है। तत्पश्चात्- **संहितोपनिषद्-ब्राह्मण** – जो पाँच खण्डों में विभक्त है। विषय-वस्तु है संहिता के अध्ययन की रीति एवं फल, आचार्य-दक्षिणा इत्यादि। अन्त में तीन खण्डों में **वंश-ब्राह्मण** है। इसमें सामवेद के सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्यों की वंशधारा का विवरण है। यह वंश, योनिवंश नहीं; बल्कि विद्यावंश अथवा आचार्य-अन्तेवासी की परम्परा है। इस ब्राह्मण के अनुसार सामवेद के आदिप्रवक्ता स्वयम्भू ब्रह्मा और श्रोता प्रजापति हैं। इस विद्या को प्रजापति से मृत्यु ने प्राप्त किया, मृत्यु से वायु ने, वायु से इन्द्र ने और इन्द्र से अग्नि ने। कश्यप ने अग्नि से उस विद्या को प्राप्त करके मानवों के

---

१. द्र. जैमिनीय-ब्राह्मण का विवरण। कौथुमशाखा के आर्षेय-ब्राह्मण के ऊपर सायण का भाष्य है।

बीच प्रचारित किया। कश्यप से लेकर वंशब्राह्मण के प्रवक्ता तक ५५ पुरुषों का नाम पाया जाता है।[१]

[४]

अब यजुर्वेद के ब्राह्मणों का सङ्क्षिप्त परिचय। पहले ही बतलाया गया है कि ब्राह्मण-साहित्य का उत्स यजुर्वेद है। 'मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को मिलाकर वेद है' – वेद की इस संज्ञा का प्रत्यक्ष निदर्शन भी हमें कृष्णयजुःसंहिता में उपलब्ध होता है, जहाँ मन्त्र और ब्राह्मण परस्पर जुड़े हुए हैं। मन्त्र पहले; ब्राह्मण उसके बाद हैं – यह बात अन्य दो वेदों के बारे में तो उपयुक्त है, किन्तु कृष्णयजुर्वेद के बारे में उपयुक्त नहीं। यहाँ तक कि भाषा की दृष्टि से भी कृष्णयजुर्वेद की संहिता एवं ब्राह्मण-भाग समसामयिक हैं - इसे यूरोपीय पण्डितों ने भी स्वीकार किया है।[२] सूत्रकारों ने स्वभावतः इस क्षेत्र में संहिता के अन्तर्गत ब्राह्मण भाग एवं संहिता से सम्बन्धित ब्राह्मण और आरण्यक-भाग के बीच कोई कृत्रिम श्रेणी-विभाग नहीं किया, बल्कि उन्होंने बिना निरखे-परखे सभी को ब्राह्मण बतलाया है।[३] केवल ब्राह्मण के उपनिषद्-भाग को उन्होंने अलग करके रखा है– यह लक्षणीय है। अर्थात् यजुर्वेद के कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड में बाह्यदृष्टि से भेद होने पर भी कर्मकाण्ड में कोई अवान्तर भेद नहीं - यही उनकी दृष्टि का वैशिष्ट्य है।

कृष्णयजुर्वेद में मन्त्र और ब्राह्मण एक साथ मिले हुए हैं। शुक्ल-यजुर्वेद में वे अलग-अलग सङ्कलित हैं। इसके कारण के सम्बन्ध में पहले ही सङ्केत किया गया है। ब्राह्मण यदि मोटे तौर पर वेद-विद्या के

१. कुछ पण्डितों का अनुमान है कि कौथुमशाखा का साम-ब्राह्मण एक ही है। उसके चालीस अध्याय हैं - पच्चीस अध्यायों में ताण्ड्य-ब्राह्मण है, पाँच अध्यायों में षड्विंश-ब्राह्मण है, आठ अध्यायों में छान्दोग्योपनिषद् एवं दो अध्यायों में गृह्यकर्म प्रधान मन्त्र-ब्राह्मण है। बाकी पाँच अनुब्राह्मण मात्र हैं।

२. द्रष्टव्य : Keith, The Vedas of the Black yajus School. INTRODUCTION PP. IXXII FF. IXXVI FF.

३. आपस्तम्ब १९।१५।१६, १८; बौधायन १४।४.....।

मीमांसाशास्त्र के रूप में रहा हो, तो फिर चाहे कर्मकाण्ड हो, चाहे ज्ञान काण्ड हो – दोनों ओर से ही इसे पुष्ट करने का गौरव विशेष रूप से यजुर्वेदियों को प्राप्त होना चाहिए। वैदिक-भावना में कर्म और ज्ञान के बीच कोई आत्यन्तिक विरोध नहीं था, बल्कि विरोध धीरे-धीरे बाहरी दबाव के कारण उग्र होता दिखाई पड़ा है – यह उसका एक प्रमाण है।

कृष्णयजुर्वेद की काठक-संहिता का अलग से कोई ब्राह्मण नहीं पाया जाता। किन्तु तैत्तिरीय-ब्राह्मण के तृतीय काण्ड के शेष तीन प्रपाठकों को वैदिकों ने काठक-ब्राह्मण के रूप में माना है।[१] मैत्रायणी-संहिता का भी अलग से कोई ब्राह्मण नहीं पाया जाता। उसका चतुर्थ अथवा शेषकाण्ड, खिल-काण्ड है। इसकी ही गणना ब्राह्मण के रूप में की जा सकती है।

तैत्तिरीयसंहिता ही एक ऐसी संहिता है, जिसका अलग ब्राह्मण है, यद्यपि सन्दर्भ की दृष्टि से संहिता, ब्राह्मण एवं आरण्यक इस क्षेत्र में अन्यान्य वेद के जैसे अलग-अलग नहीं हैं। तैत्तिरीय-ब्राह्मण के तृतीय काण्ड के एकादश प्रपाठक में नचिकेता का उपाख्यान लक्षणीय है – "वाजश्रवस ने स्वेच्छापूर्वक अपना सारा वित्त दान में दे दिया। नचिकेता नाम का एक पुत्र था। वह छोटी उम्र का बच्चा था। दक्षिणा देते समय उसमें श्रद्धा आविष्ट हुई। श्रद्धा-विह्वल बच्चे ने कहा – पिताजी! मुझे

१. भट्टभास्कर अपने तैत्तिरीय-ब्राह्मण के भाष्य के उस स्थल पर कहते हैं – 'एवमश्वमेधान्तानि तित्तिरिप्रोक्तानि काण्डानि व्याख्यातानि, अर्थ काठकाग्नि काण्डान्यष्टौ।' इस अंश में नाचिकेत अग्निचयन के उपलक्ष्य में कठोपनिषद् के नचिकेता का उपाख्यान पाया जाता है। वशिष्ठ- धर्मसूत्र में (१२।२४, ३०।५), पातञ्जल-महाभाष्य में (७।१।१३); याज्ञवल्क्य एवं मनुस्मृति की टीका में काठक ब्राह्मण का उल्लेख है। सायण ने अपने ऋग्वेदभाष्य में चरक-ब्राह्मण की चर्चा की है (८।६६।१०)। काठक एवं चरक-ब्राह्मण का एक होना ही सम्भव है। भाषा-तत्त्व की दृष्टि से भी यूरोपीय पण्डितों ने तैत्तिरीय-ब्राह्मण के इस अंश को एवं तैत्तियारण्यक के प्रथम दो अंशों को काठक-शाखा के अन्तर्गत मान्यता दी है (द्रष्टव्य : Macdonell, Sanskrit Literature P. 212)

किसे देंगे? दो - तीन बार पूछने पर वाजश्रवस ने उसकी ओर मुड़कर देखा और कहा - तुझे यम को दूँगा। बच्चे के उठकर खड़े होते ही वाक् ने कहा - गौतम! तुम्हारे पिता ने कहा - यम के घर जाओ, तुम्हें यम को दिया है। वाक् ने फिर यह भी कहा कि जब यम घर पर न रहें, तब तुम जाओगे। उनके घर बिना खाए तीन दिन रहोगे। वे यदि तुमसे पूछें, 'वत्स! कितनी रात यहाँ रहे?' जवाब दोगे - 'तीन रात'। 'पहली रात में क्या खाया?' 'आपके बाल-बच्चे'। 'दूसरी रात'? 'आपके समस्त पशुओं को।' 'तीसरी रात में?' 'आपके सुकर्म?'।

यम ने कहा – 'देव! तुम्हें प्रणाम', वर माँगो।' नचिकेता ने कहा– 'ऐसा करें कि पिता के पास जीवित जा सकूँ।' 'दूसरा वर माँगो।' यह बतलाएँ कि मेरा इष्टापूर्त अक्षय होगा।' यम ने उसे इस नाचिकेत-अग्नि के बारे में बतलाया। जिससे उसके इष्टापूर्त का क्षय नहीं होगा। जो नाचिकेत-अग्नि चयन करता है, उसके इष्टापूर्त का क्षय नहीं होता। जो इस अग्नि को इस प्रकार जानता है, उसका भी क्षय नहीं होता। यम ने कहा - 'तीसरा एक और वर माँगो। ऐसा कुछ बतलाएँ कि मैं पुनर्मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकूँ।' यम ने उसे इस नाचिकेत-अग्नि के ही बारे में बतलाया। जिससे उसने पुनर्मृत्यु पर विजय प्राप्त की थी। जो नाचिकेत-अग्नि चयन करता है, वह पुनर्मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है, और जो इस अग्नि को इस प्रकार जानता है वह भी।"

कठोपनिषद् की आख्यायिका प्रायः ऐसी ही है, किन्तु उसमें रात्रिवास के विवरण को सङ्क्षेप में देकर वर के विवरण को बढ़ा-चढ़ा कर बतलाया गया है। अर्थात् ब्राह्मण में जो मात्र थोड़े शब्दों द्वारा सिद्धान्त रूप में उपस्थापित किया गया है, उसका ही विस्तृत दार्शनिक-भाष्य उपनिषद् में है। किन्तु लगता है, ब्राह्मण और उपनिषद् में एक विषयगत अन्तर है। ब्राह्मण में हम देखते हैं कि पुनर्मृत्यु-जय का उपाय नाचिकेत अग्निचयन है, जिसका अर्थ है कर्म द्वारा ही अमृतत्व प्राप्त किया जा सकता है। ज्ञान द्वारा भी उसे प्राप्त किया जा सकता है। जिसे निश्चय ही ब्राह्मण में अस्वीकार नहीं किया गया है। ब्राह्मण सुलभ वेदन-प्रशंसा

अथवा 'य एवं वेद' उक्ति ही उसका प्रमाण है। किन्तु ब्राह्मण में प्रत्यक्षत: अग्निचयन का विधान दिया जा रहा है और उपनिषद् में बतलाया जा रहा है कि नाचिकेत-अग्नि द्वारा स्वर्लोक में जाकर अमृतत्व प्राप्त किया जा सकता है। नचिकेता ने दूसरे वर में वही चाहा था।[१] किन्तु तीसरे वर में नचिकेता ने प्रेत्य-भाव से सम्बन्धित विज्ञान जानने की इच्छा व्यक्त की।[२] साधारणतः प्रेत्य-भाव के अर्थ में मृत्यु के पश्चात् (प्रेत्य) फिर जन्म (भावः) का बोध होता है। किन्तु नचिकेता ने प्रेत्यभाव को इस अर्थ में नहीं समझा, उस पर ध्यान देने का कारण है।

प्रेति (< प्र √इ) शब्द का मूल अर्थ है आगे जाना, बढ़ना। अतएव मृत्यु को यदि हम 'प्रेति' कहते हैं, तो उसका अर्थ विनाश नहीं होता, बल्कि जीवन के पश्चात् एक धाप और आगे बढ़ जाना होता है। अर्थात् मृत्यु वस्तुतः उत्तरायण का द्वार है। मृत्युतीर्ण-लोक का वर्णन हमें ऋक्संहिता के सोममण्डल के उपान्त्य-सूक्त में सोमयाग की फलश्रुति के रूप में प्राप्त होता है।[३] इस अमृतलोक की ओर अग्रसर होना ही 'प्रेति' है। ऋक्संहिता में एक स्थान पर अग्नि को 'प्रेतीषणि' (प्रेति+इषणि) कहा गया है। इस अग्रसरण के मूल में अग्नि की ही प्रेषणा है।[४] नचिकेता का प्रश्न है कि इस लोकांत्तर में 'प्रेत्य' व्यक्ति की सत्ता रहती है या नहीं? बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को बतलाते हैं, 'न प्रेत्य संज्ञास्ति'।[५] मालुङ्क्यपुत्त ने भी ठीक ऐसा ही प्रश्न बुद्धदेव से भी किया था, किन्तु उसके उत्तर में बुद्धदेव हाँ-ना कुछ भी कहने के लिए राज़ी नहीं हुए।[६] तैत्तिरीय-उपनिषद् में इस विषय की एक सुष्ठु मीमांसा

---

१. १।१।१३
२. १।१।२०
३. ऋ. ९।११३।६-११
४. ऋ. ६।१।८। तुलनीय : अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् १।१८९।१। इस मन्त्र को ब्रह्मयोगी की अन्तिम प्रार्थना कहा जाता है।
५. बृ. उ. ४।५।१३
६. मज्झिमनिकाय, सुत्त ६३

है – 'ब्रह्म असत्' यह जो जानते हैं, वे असत्-स्वरूप ही होते हैं और 'ब्रह्म अस्ति' यह जो जानते हैं, उन्हें सभी सत् के रूप में ही जानते हैं।[१] अर्थात् 'प्रेत्य अस्ति अथवा नास्ति' दोनों ओर से ही स्वीकार किया जा सकता है। सम्भवतः यम ने भी नचिकेता के प्रश्न का उत्तर इस प्रकार ही दिया है। एक उत्तर कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय की तृतीय वल्ली के अन्त में है।[२] जहाँ यम ने शान्त आत्मा को ही परागति बतलाया है। वहाँ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध कुछ नहीं, किन्तु ध्रुव सत्ता है। द्वितीय अध्याय की प्रथम वल्ली के अन्त में बतलाया गया है कि यह तो जल में जल के मिल जाने जैसा है।[३] द्वितीय वल्ली के अन्त में यम ने बतलाया कि वहाँ कोई आलोक या ज्योति नहीं, किन्तु ऐसा कुछ है जिसकी अनुभा यह आलोक है।[४] तृतीय वल्ली के अन्त में उन्होंने बतलाया कि वहाँ वाक्, मन, चक्षु किसी की पहुँच नहीं; केवल 'अस्ति' या 'है' इतना कह सकते हैं।[५] अतएव सिद्धान्त स्थिर हुआ कि जीवन के इस ओर से देखने पर अवश्य ही 'प्रेत्य नास्ति'; किन्तु उस ओर से 'अस्ति'; किन्तु 'अस्ति' क्या है? वह व्यक्त नहीं किया जा सकता। बल्कि उसे 'शुक्रममृतम्' (शुक्रम् अमृतम्) अथवा 'अमृत-ज्योतिः' कह सकते हैं।[६]

इस अमृतज्योति को प्राप्त करने का उपाय क्या है? उपनिषत् का कथन है कि इसे तर्क, प्रवचन, मेधा अथवा बहुश्रुत – किसी भी माध्यम से प्राप्त नहीं किया जा सकता, बल्कि दुष्कर्मों से विरत रहकर

---

200 १. तै. २।६।१
201 २. क. १।३।१३, १५।
202 ३. २।१।१५
203 ४. २।२।१५
204 ५. २।३।१२
205 ६. २।३।१७।

शान्त-समाहित और शान्तमानस होकर प्रज्ञान द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।[१] उसके लिए प्रेय एवं श्रेय में अन्तर करने का विवेक होना चाहिए।[२] लोलुपता – प्रलोभन का त्याग करना होगा।[३] अर्थात् यह मार्ग, ज्ञान का मार्ग है। किन्तु कर्म द्वारा उसे नहीं प्राप्त किया जा सकता, ऐसी बात भी उपनिषद् में नहीं कही जा रही है। यम स्पष्ट ही कह रहे हैं 'मैं जानता हूँ, लोग जिसे 'शेवधि' अथवा मूल्यवान् सम्पत्ति जानते-मानते हैं, वह अनित्य है, अस्थायी है और जो ध्रुव है, नित्य है, उसे अध्रुव अथवा अनित्य द्वारा कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस कारण मैंने नाचिकेत-अग्निचयन करके अनित्य द्रव्य द्वारा नित्य को प्राप्त किया है।' इस उक्ति के साथ ब्राह्मण की उक्ति का सामञ्जस्य है। ब्राह्मण की भी उक्ति है कि 'जिस प्रकार नाचिकेत-अग्निचयन के कारण इष्टापूर्त अक्षय होता है, उसी प्रकार पुनर्मृत्यु पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है और जो अग्निचयन करता है या जो अग्नि-रहस्य जानता है, उसे दोनों का ही एक ही फल प्राप्त होता है।' सायण ने अपने भाष्य में इस विषय की सुन्दर व्याख्या की है। उन्होंने बतलाया है कि मनुष्य के वर्तमान शरीर की मृत्यु एक बार तो होगी ही। इसके बाद यदि फिर वह जन्म ग्रहण करता है, तो उसकी पुनर्मृत्यु होगी। यदि जन्म न ग्रहण करके मुक्ति होती है, तो यह पुनर्मृत्यु को पराजित करना है। मृत्यु की पराजय पुरुष की ही पराजय है। "इस प्रकार पुनर्मृत्यु की पराजय कैसे हो सकती है? वही मुझे बतलाएँ।" यह नचिकेता की तृतीय वर-प्रार्थना है। नचिकेता द्वारा इस वर के माँगने पर यम ने पुनर्मृत्यु-जय के उपाय स्वरूप उस नाचिकेत-अग्नि की बात को ही दो रूपों में बतलाया। जिस प्रकार अग्नि का चयन हो सकता है, उसी प्रकार उपासना भी हो सकती है। उसमें जो पुरुष चयन को प्रधानता देकर उपासना को गौण करता है, उसका ही इष्टापूर्त अक्षय होता है; किन्तु वह दीर्घकाल तक पुण्यलोक

---

206 १. १।२।९,२३,२४।
207 २. १।२।२
208 ३. १।२।४

में वास करके फिर पुनर्जन्म ग्रहण करता है। लेकिन जो उपासना को ग्रहण करके चयन को गौण करता है, उसकी ब्रह्मप्राप्ति के फलस्वरूप मुक्ति ही होती है, फिर जन्मान्तर नहीं होता। अतएव वह मृत्यु पर जय प्राप्त करता है। दोनों वरों में यही अन्तर है।[1]

ज्ञान को बड़ा मानकर कर्म को छोटा करने की प्रवृत्ति हमारे भीतर घर कर गई है। इसलिए हम ब्राह्मण और उपनिषद् में विरोध की कल्पना करते हैं। "मैंने अनित्य द्रव्य द्वारा नित्य को प्राप्त किया है" यम की इस स्पष्ट उक्ति की व्याख्या हम समुच्चयवाद के अनुकूल करने की दिशा में कष्टसाध्य कल्पना का सहारा लेते हैं। किन्तु उसका कोई प्रयोजन नहीं। तैत्तिरीय-ब्राह्मण के नाचिकेत-अग्निचयन का विवरण पढ़ने पर आसानी से ही समझ में आता है कि अग्निचयन की क्रिया विज्ञानी का अनुष्ठान है, अज्ञानी का नहीं। इस सन्दर्भ में यहाँ सङ्क्षेप में कुछ कहना है।

तैत्तिरीय-ब्राह्मण के तृतीय काण्ड के एकादश प्रपाठक के छह अनुवाकों में अग्निचयन के मन्त्रों का सङ्ग्रह किया गया है। मन्त्र के पश्चात् ब्राह्मण है। प्रपाठक के शेष कई अनुवाक ब्राह्मण-ग्रन्थ, जिसमें अग्नि-रहस्य एवं अग्नि-चयन की विवृति है। नाचिकेत अग्नि को हम वायुरूप[2] में अथवा संवत्सर रूप में देख सकते हैं।[3] अग्निचयन का मुख्य उद्देश्य लोकजय अर्थात् सर्वात्मभाव द्वारा चेतना का क्रमिक उत्तरण है। आदित्य के नीचे के समस्त लोक ब्राह्मण के कथनानुसार सामान्यत: 'उरुलोक' अर्थात् उपनिषद् की भाषा में 'महाभूमि' है।[4] किन्तु उनसे भी महत्तर भूमि आदित्य के उस पार है। जिन्हें ब्राह्मण में 'वरीयांस: लोका:' कहा गया है। आदित्य के नीचे के लोक अन्तवान् एवं क्षयिष्णु हैं, किन्तु उसके उस पार के लोक अनन्त, अपार और अक्षय हैं। इस अक्षय-लोक

१. तै. ब्रा. ३।११।८।६
२. ३।११।७
३. ३।११।१०
४. कठ: १।१।२४

में प्रतिष्ठित या अवस्थित होना ही नाचिकेतअग्निचयन का मुख्य लक्ष्य है। उस समय अग्निचित् की क्या स्थिति होती है? उसके सम्बन्ध में सायण ने बतलाया है कि रथ के ऊपर से जिस प्रकार रथी देखता है कि रथ के दोनों ओर दो चक्के घूम रहे हैं। उसी प्रकार आदित्यमण्डल के ऊपर से वे देखते हैं कि उनके नीचे अहोरात्र का आवर्तन हो रहा है और अहोरात्र उन्हें स्पर्श नहीं कर पा रहा है। उपनिषद् की भाषा में वे सूर्य-द्वार भेदकर चले जाते हैं[1]। इसलिए अविद्या का अन्धकार दूर हो जाने के कारण उनका दिन भी नहीं होता, रात भी नहीं होती।[2] यही कालजय, मृत्युजय अथवा अमृतत्व-प्राप्ति है। उपनिषद् में साधना का लक्ष्य एक ही है, दोनों में कोई विरोध अथवा छोटे-बड़े का प्रश्न नहीं।

नाचिकेत अग्नि को यदि वायुरूप में ध्यान में रखें, तो साधना का प्रकार आध्यात्मिक होगा, अर्थात् देह में स्थित प्राण-वायु को ही तब नाचिकेत अग्नि के रूप में जानना होगा। वायु-सङ्कोच अथवा प्रसारण ही साधना का उपाय होगा।[3] इस प्रकार की अग्नि-उपासना को ब्राह्मण में 'सम्पदुपासना' कहा गया है अर्थात् अध्यात्म-प्राण नाचिकेत अग्नि की ही सम्पद् अथवा विभूति-इस अर्थ में उपासना है। प्राण के सहारे अग्नि स्वरूप में उजाला देना होगा अथवा फैल जाना पड़ेगा। सङ्कोच एवं प्रसार के उल्लेख से हम योग और प्राणायाम की दो मुख्य धाराओं का सङ्केत पाते हैं। फिर यह जानना होगा कि हिरण्य ही नाचिकेत अग्नि का आयतन, प्रतिष्ठा अथवा शरीर है। तो फिर यह भावना करनी होगी कि प्राणस्रोत हिरण्यज्योतिर्मय है। वायुस्रोत सूक्ष्मतर नाड़ीस्रोत में रूपान्तरित होगा। ब्राह्मण के अनुसार उस समय अग्निचित् पुरुष इहलोक अथवा लोकोत्तर में तेज और ईशना में (यशसा) तप्त सुवर्ण जैसा होता है।

१. मुण्डकोपनिषद् १।२।११
२. श्वेताश्वतर ४।१८
३. तै. ब्रा. ३।११।७।२

नाचिकेत अग्नि को यदि संवत्सर रूप में ध्यान में रखें, तो उपासना का प्रकार अधिदैवत एवं विश्वात्मक होगा। संवत्सर पार्थिवकाल की बृहत्तम इकाई है। पृथिवी पर ऋतु-परिवर्तन घूम-फिर कर आता है; एक ही भौतिक-लीला का आवर्तन प्रत्येक वर्ष होता है। उसके मूल में आदित्य की प्रेरणा है। अहोरात्र के आवर्तन की तरह इस संवत्सर के आवर्तन से ऊपर अग्निचित् को उठना होगा। वह आदित्य-भावना द्वारा सिद्ध हो सकता है। ब्राह्मण की उक्ति है कि इस प्रकार की अग्नि-उपासना के फलस्वरूप अग्निवित् (अग्निचित्) आदित्य का सायुज्य प्राप्त करते हैं तथा अग्निमय एवं पुनर्नव (जरारहित) होकर स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होते हैं, इहलोक में उनकी समस्त कामनाएँ पूर्ण होती हैं।[१]

दोनों उपासनाओं में ही अग्नि की कल्पना पक्षी के रूप में की गई है। तैत्तिरीयोपनिषद् में भी आत्मा पक्षी रूप में कल्पित है (ब्रह्मानन्द वल्ली)। पक्षी के आकार में यज्ञवेदी भी बनाई जाती है। एक पक्षी द्युलोक सञ्चारी सुपर्ण अथवा हंस है, जिसे हम आधिभौतिक-दृष्टि से 'सूर्य' कहते हैं।[२] अध्यात्म-दृष्टि से वह पक्षी ही हमारा अन्तरपुरुष है। नाचिकेत अग्नि हमारे भीतर जीवचैतन्य के रूप में और द्युलोक में विश्वचैतन्य के रूप में है। वह वैश्वानर है। तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि जो इस पुरुष अर्थात् जीव में एवं आदित्य में है, वह एक ही है; जो उसे जानते हैं वे इस लोक से अर्थात् प्राकृत-चेतना की भूमि से और भी आगे जाकर (अस्मात् लोकात् 'प्रेत्य') क्रमशः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय आत्मा में उपसङ्क्रान्त होकर अभय होते हैं, द्वन्द्वातीत होते हैं और इस विश्व में कामान्नी एवं कामरूपी होकर आनन्द-साम गाते फिरते हैं।[३] संहिता, ब्राह्मण एवं उपनिषद् में हम एक

१. ३।११।१०
२. ऋ. १।१६४।४६, १०।११४।४,५।
३. तै. २।८।४-५, ३।१०।४-५; तुलनीय तै. ब्रा. कामचारो ह वा अस्योरुषु च वरीयः सु च लोकेषु भवति, योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते, य उ चैनमेवं वेद ३।११।१०।२।

ही तत्त्व की अभिव्यक्ति देखते हैं। जिसे ब्राह्मण एवं उपनिषद् दोनों क्रमशः रूपक और दर्शन की भाषा में उद्घाटित कर रहे हैं।

नचिकेता का यह उपाख्यान अत्यन्त प्राचीन है, जिसका बीज ऋक्-संहिता के एक सूक्त में है।[१] अनुक्रमणिकाकार की दृष्टि में इस सूक्त के ऋषि यमगोत्रीय 'कुमार' और देवता यम हैं। प्रत्यक्षतः, यम प्रथम एवं सप्तम मन्त्र के देवता हैं। तृतीय एवं चतुर्थ मन्त्र में कुमार के साथ यम की वार्त्ता है। यह सूक्त रूपक की भाषा में रचित है। सायण को इस रूपक की पृष्ठभूमि में नचिकेता-उपाख्यान की छाया दिखाई पड़ी। किन्तु उनके साथ सभी यूरोपीय-पण्डितों का मतभेद है। एक मात्र Geldner कुछ-कुछ अनुगामी हैं। Oldenberg ने पूर्ववर्ती विद्वानों के विचारों की समीक्षा करते हुए इस रूपक की एक व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, किन्तु उनकी व्याख्या में अत्यधिक कष्टकल्पना है।[२] सायण की व्याख्या उससे अधिक ठीक जान पड़ती है। सायण ने सूर्य के पक्ष में भी एक व्याख्या दी है। वैवस्वत यम के साथ सूर्य का सम्बन्ध है। **वाजसनेय** संहिता के मत से एकर्षि पूषा एवं प्राजापत्य सूर्य के बीचों-बीच यम हैं। प्राजापत्य सूर्य का मण्डल भेदने के बाद ही यम का दर्शन होता है एवं वे ही बतला सकते हैं कि पूषा ने जिस हिरण्मय अथवा स्वर्णमय पात्र से सत्य के मुख को ढँक रखा है - उसका स्वरूप क्या है?[३] ईशोपनिषद् एवं कठोपनिषद् में इस रहस्य का ही उद्घाटन किया गया है। अतएव सूर्य के पक्ष में इस सूक्त की व्याख्या करने की एक युक्ति हो सकती है। किन्तु अनुक्रमणिकाकार के अनुसार लगता है कि यम के पक्ष में व्याख्या करना ही इस क्षेत्र में उपयुक्त है।

१. ऋ. १०।१३५
२. द्र. Geldner, Der Rgveda, सूक्त-भूमिका और टीका।
३. वा. सं. ४०।

सूक्त का अनुवाद इस प्रकार है – "सुन्दर पत्तों से आच्छादित जिस वृक्ष तले देवताओं के साथ पान कर रहे हैं यम (सोमरस), वहीं हमारे 'विश्पति पिता' प्राचीनों के साथ प्रेम कर रहे हैं (१)। प्राचीनों के साथ प्रेम कर रहे हैं (किन्तु) बर्ताव कर रहे हैं ऐसी निकृष्ट शैली में! वह मैंने असूया के साथ देखा और फिर उनके लिए बेचैन भी होने लगा (२)। "कुमार! मन के द्वारा तैयार किया है जो नया रथ, जिसके पहिए नहीं, जिसका एक मात्र 'ईष्' है, किन्तु चारों ओर जो चलता है, तुम उस रथ पर बैठे हो, किन्तु कुछ नहीं देख रहे हो (३) विप्रों के निकट से जो रथ को दौड़ाया। कुमार! उसके साथ-साथ दौड़े साम। यहाँ से ही उस नौका में वह बैठाया गया था।" (४) कुमार को किसने जन्म दिया? रथ को किसने दौड़ाया? कौन वे सारी बातें आज हमें बतलाएगा कि अनुदेयी कैसे हुई (५) ? अनुदेयी हुई जब, उसके बाद ही जन्मा 'अग्र'। सामने 'बुध्न' फैला है, पीछे किया हुआ है 'निरयण' (६)। यही है, यम का सदन, जिसे कहते हैं 'देवमान'। देखो उनकी नली में फूँक भरी जा रही है। उन्हें वाणी द्वारा सजाया गया है (७)।"

सङ्क्षेप में इस सूक्त का सम्भावित तात्पर्य इस प्रकार है – कुमार बतलाता है कि ब्रह्मवृक्ष के तले यम की सभा बैठी है। यम वहाँ देवताओं के साथ आनन्दमग्न हैं। मृत्यु के पश्चात् सब लोग यहीं जाते हैं। हमारे पितृ-पुरुष भी यहीं हैं एवं मृत्यु द्वारा ही उन्होंने अमृतत्व प्राप्त किया है। वैवस्वत-मनु की तरह वैवस्वत-यम भी हमारे पिता एवं राजा हैं। एक ही आदित्य-चेतना एक ओर आलोक है, एक ओर अन्धकार है।[१] पार्थिव-चेतना में यम विभीषण या डरावने हैं, हर क्षण उनके दूत मनुष्यों के बीच विचरण कर रहे हैं। कब? किसको? झपट्टा मारकर ले जाएँगे, उसकी कोई स्थिरता नहीं।[२] यह सब जब याद आता है, तब

१. 'विशपति पिता' से यहाँ यम का ही बोध होता है, कुमार के पिता का नहीं। विश्पति का सरल अर्थ राजा। यमसूक्त में यम को बार-बार राजा कहा गया है (द्र. ऋ. १०।१४)।

२. ऋ. सं. १०।१४।११।

इस अवाञ्छित आचरण के लिए यम के प्रति असूया या ईर्ष्या जागती है। किन्तु जब उनके अमृत-आनन्दरूप के बारे में सोचता हूँ और जब सोचता हूँ कि हमारे पितृपुरुषों ने उन्हें प्यार करके बदले में उनका ही प्यार पाया है, तब उनके लिए प्राण आकुल हो उठता है।"[१]

कुमार की इस आकूति के पश्चात् एक विरति है, एक विराम है। अनुमान किया जा सकता है कि कुमार उसी समय में यम की सभा में जाकर उपस्थित हुआ। उस समय उसे देखकर यम कहते हैं, 'कुमार! तुम मन के रथ पर चढ़कर मेरे पास आए हो, किन्तु आते समय आँखें खोलकर देखा नहीं' – यह रथ कैसा है?[२] यह एक नये प्रकार का रथ है। इसके चक्के या पहिए नहीं है। इसका केवल एक "ईष" (धुरा, दण्ड Shaft) है, तब भी पूरे विश्व में फैलकर आगे बढ़ जाता है।[३] ' कुमार! तुमने इस मनोरथ को विप्रपरिषत् से हाँकना शुरू किया था, उन्होंने ही तुमको प्रथम 'महान् साम्पराय'[४] का सन्धान दिया। किन्तु उस रथयात्रा के पीछे जिस रथन्तर-साम की प्रेरणा[५] थी, जिस सौषम्य की

१. यह आकुलता ही नचिकेता की अभीप्सा है। मरे बिना अमृत नहीं प्राप्त होगा, अतएव मरण को वरण कर लेना।

२. तैत्तिरीयब्राह्मण एवं कठोपनिषद् में इसे ही यम के आवास पर नचिकेता का तीन रात्रि व्यतीत करना बतलाया गया है। 'प्रेत्यसंज्ञा-भाव' का यह प्रथम पर्व है। मन के रथ की चर्चा अथर्वसंहिता के व्रात्य-काण्ड में भी है (१५।२।६)।

३. स्पष्टत: योगिचेतना का वर्णन है। सूर्य का रथ एकचक्र है (ऋ. सं. १।१६४।२); किन्तु उसके भी उस पार जाना हो, तो 'अचक्र रथ' में जाना होगा (तुलनीय – 'अचक्रया स्वधया' ऋ. सं. ४।२६।४, १०।२७।१९), स्वत: स्फूर्त, स्वप्रतिष्ठा के बल से। विश्वोत्तीर्ण अथवा विश्वातीत योगिचेतना अचक्र है, एकाग्र है; इसलिए रथ का मात्र एक 'ईष' है, किन्तु वह विश्व भर में फैल जाता है। तु० 'विश्वाची धी:' ऋ. ९।१०१।३, ७।४३।३।

४. महाप्रस्थान The great departure, द्र. कठोपनिषद् १।२।६।

५. तु. रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्यत, ऋ. सं. १।१६४।२५।

सुर-मूर्च्छना थी, वह यहाँ से ही तुम्हारे आधार की तरणी अथवा नाव में निहित हुई थी।[1]

यहाँ ही कहानी का अन्त है। अन्त के तृच में ऋषि ने स्वयं ही कहानी के तात्पर्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि लोकोत्तर के अभीप्सावाही इस कुमार को कौन जन्म देता है? अथवा वह कौन है? जो उसके मनोरथ को अनन्त की ओर दौड़ाता है, वह कौन है आज हमें बतला देंगे?[2] कौन हुई उसकी अनुदेयी?[3] कठोपनिषद् में बतलाया गया है कि यह अनुदेयी अथवा कुमार की सङ्गिनी श्रद्धा हुई।[4] ऋक्संहिता का कथन है कि हृदय की आकूति से श्रद्धा का जन्म होता है, जिससे प्रकाश मिलता है।[5] श्रद्धा उत्पन्न होते ही 'अग्रजन्मा'।[6] योगी की मृत्यु के समय वही हृदय का 'प्रद्योत' होता है।[7]

उसके ही आलोक में कुमार देखता है कि उसके सम्मुख 'बुध्न' अथवा बोधि का अतल-रहस्य फैला हुआ है और पीछे 'निरयण' अर्थात्

---

१. नाव से भवसागर पार करने की उपमा ऋक्संहिता के अनेक स्थलों पर है। यह नाव कभी 'ऋत' (९।८९।२) कभी 'यज्ञ' (१०।४४।६) अथवा कभी 'दिव्य चेतना' (१०।६३।१०) है।

२. यह कुमार ही कठोपनिषद् का 'नचिकेता' अर्थात् जो जानता नहीं (न चिकेत); किन्तु जानना चाहता है। वह हमारे भीतर कैशोर की अग्निचेतना है। पुराण में उमा-महेश्वर का पुत्र। 'कुमारसम्भव' स्मरणीय।

३. नववधू के साथ पिता के घर से जो सङ्गिनी या सहेली जाती है, उसे अनुदेयी कहा जाता है, क्योंकि कन्यादान के साथ ही कन्या का पिता उसे भी दे देता था (द्र. ऋ. १०।८५।६)।

४. क. १।१।२।

५. द्र. श्रद्धासूक्त (१०।१५१)।

६. कठोपनिषद् की सूक्ष्मा अग्र्या बुद्धि (१।३।१२) जिसके द्वारा सूक्ष्मदर्शी, गूढ़ आत्म-तत्त्व का दर्शन करते रहते हैं। √अज्, अग्निशिखा के सूक्ष्म अग्रभाग की ध्वनि है। अभीप्सा की गति भी उसी प्रकार।

७. बृ. ४।४।२

फिर वहाँ लौट जाने का उपाय नहीं।[1] इस प्रकार कुमार जहाँ पहुँचा, वही यमलोक, 'देवमान' है अथवा परम देवता का स्वधाम है। वहाँ नित्य उनकी बाँसुरी का सुर बज रहा है और वाणी का गुञ्जन नित्य उभर रहा है।[2]

तत्पश्चात् शुक्लयजुर्वेद का **शतपथब्राह्मण।** इस ब्राह्मण का आयतन अतिबृहत् है, जो एक सौ अध्यायों के कारण शतपथ नाम से सुपरिचित है। यह ब्राह्मण काण्व एवं माध्यन्दिन दोनों शाखाओं में पाया जाता है। उत्तरभारत में माध्यन्दिन-शाखा ही प्रचलित है। प्रारम्भ में दोनों शाखाओं में भाषा का कुछ भेद है। माध्यन्दिन-शाखा में १४ काण्ड और काण्व-शाखा में १७ काण्ड हैं। दोनों में विषय-सन्निवेश या वस्तु-विन्यास में भी कुछ पार्थक्य है। माध्यन्दिन-शाखा में सौ अध्याय और काण्व-शाखा में १०४ अध्याय हैं।

वैदिक-साहित्य में ऋक्संहिता के बाद ही शतपथ-ब्राह्मण का महत्त्व है। जिस प्रकार ऋक्संहिता में हम वैदिक ऋषियों की मन्त्र-चेतना का एक पूरा परिचय प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार शतपथ-ब्राह्मण में उनके मनन का परिचय पाते हैं। आधुनिक-पण्डितों ने भाषा की दृष्टि से शतपथ-ब्राह्मण को प्राचीन एवं प्रधान ब्राह्मणों में कनिष्ठ के रूप में मान्यता दी है। यदि वह सत्य है, तो कहना पड़ेगा कि ऋक्संहिता में जिस अध्यात्म-भावना का आरम्भ हुआ था। उसका अन्त हमें शतपथ-ब्राह्मण में प्राप्त होता है। इस ब्राह्मण के अन्तिम भाग में निबद्ध बृहदारण्यक में हम देखते हैं कि केवल वैदिक-भावना ही नहीं, बल्कि मनुष्य की दार्शनिकभावना-चेतना के जिस उच्चतम शिखर पर प्रतिष्ठित

---

१. संसार अथवा कामना का 'निर्वाण' उपनिषद् की भाषा में 'अपुनरावृत्ति', अतएव मरना तो यह एक बार ही, फिर मरने की ज़रूरत नहीं होती है। यह 'अपुनर्मृत्यु' ही अमृत है।

२. 'नाळी' मूलतः नल (नली) अध्यात्म-दृष्टि में वही 'नाड़ी' है, जिसके भीतर से चेतना का स्रोत ऊपर की ओर प्रवाहित होता है। उस समय अनाहत गुञ्जन सुनाई पड़ता है। यहाँ उसकी ही व्यञ्जना है।

हो सकती है, उसका ही परिचय है। वैदिक-साधना की गङ्गोत्री से सागर-सङ्गम तक का समग्र प्रवाह ऋक्संहिता और शतपथ-ब्राह्मण के मध्य सुरक्षित है।

एक बात ध्यान देने योग्य है, कि यजुर्वेद के तैत्तिरीय-ब्राह्मण एवं शतपथ-ब्राह्मण, दोनों ही स्वराङ्कित हैं (occented) तैत्तिरीय में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीन स्वर हैं, शतपथ में केवल उदात्त एवं अनुदात्त दो ही स्वर हैं। और कोई भी ब्राह्मण संहिता की तरह स्वराङ्कित नहीं। ब्राह्मण-साहित्य के प्रवर्तक, धारक एवं पोषक यजुर्वेदी ही हैं, यह उसका एक प्रमाण है। भाषा की दृष्टि से यजुर्वेद के दोनों ब्राह्मण दूसरों की तुलना में अर्वाचीन हो सकते हैं, किन्तु यह अर्वाचीनता ब्राह्मण्यभावना को प्रवाहित रखने का परिणाम है। संहिता का सङ्कलन कर्म के आधार पर किया गया, इस बात को मन में रखने पर आश्चर्य की कोई बात ही नहीं। यह पहले भी बतला चुके हैं कि कर्मकाण्डियों ने ही बराबर वेद की रक्षा करने एवं व्याख्या करने का भार लिया है। अतएव ब्रह्मोद्य अथवा ब्राह्मण के प्रवर्तक वे ही रहे हैं। उनके ही उत्साह से ब्राह्मण-साहित्य स्थाणु न रहकर चरिष्णु रहा, जिसके कारण यजुर्वेद के दोनों ब्राह्मणों में हम अर्वाचीनता की छाप देख पाते हैं। किन्तु उनका उत्स अन्यान्य ब्राह्मणों के पूर्व का होगा, यही युक्तिसङ्गत एवं सम्भावित है।

दोनों शाखाओं में माध्यन्दिन-शाखा का ही प्राधान्य एवं प्रचलन अधिक होने के कारण सूत्र को पकड़ कर ही शतपथ-ब्राह्मण के विषय-वस्तु की समीक्षा की जाए। पहले ही बतलाया जा चुका है कि शतपथ-ब्राह्मण के प्रथम नौ काण्डों में वाजसनेयसंहिता के प्रथम अठारह अध्यायों की आनुपूर्विक व्याख्या पाई जाती है। इसलिए ब्राह्मण के इस अंश को ही पण्डितों ने पूर्वकालीन मान लिया। द्वादश काण्ड का नाम 'मध्यम' है; उससे भी इस अनुमान की पुष्टि होती है। ब्राह्मण के प्रथम काण्ड की विषयवस्तु दर्शपूर्णमास-याग है, जो समस्त यागों की प्रकृति अथवा आदर्श है। द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र, पिण्डपितृयज्ञ, दाक्षायण-यज्ञ, नवान्न-इष्टि एवं चातुर्मास्य है। तृतीय और चतुर्थ काण्ड में

सोमयाग, पञ्चम काण्ड में वाजपेय एवं राजसूय है। षष्ठ से दशम काण्ड तक अग्निचयन है।[१] एकादश काण्ड में पशुबन्ध, पञ्चमहायज्ञ[२], मित्रविन्देष्टि

१. शतपथब्राह्मण का प्राय: एक तृतीयांश से अधिक स्थान अग्निचयन घेरे हुए है। दशम काण्ड का नाम 'अग्निरहस्य' है। अग्निचयन वैदिक अनुष्ठानों में लगता है, सबसे अधिक गुरुत्वपूर्ण एवं रहस्यमय है। जीव-जगत् और ब्रह्म के जिस तादात्म्य बोध में औपनिषदिक साधना का पर्यवसान है; उसकी ही सूचना हम अग्निचयन में पाते हैं। अग्नि-रहस्यकाण्ड में उसकी कुछ-कुछ व्याख्या प्राप्त होती है। इस अनुष्ठान के वर्णन के साथ-साथ अनेक दार्शनिक भावनाओं के समावेश से यह अंश प्राय: उपनिषद् जैसा हो गया है। अग्न्याधान के लिए वेदी तैयार करना 'अग्निचयन' है। कठोपनिषद् के नचिकेता ने यम के निकट द्वितीय वर में अग्निचयन की विद्या के बारे में जानकारी प्राप्त करना चाहा था, इस बात को हम जानते हैं। वस्तुत:. अग्निचयन परमपुरुष की विश्वसृष्टि का अनुकरण है। ऋक्संहिता के पुरुषसूक्त में (१०।९०) है कि विराट् पुरुष की आत्माहुति से किस प्रकार विश्व की सृष्टि हुई। देवता का यज्ञ विसृष्टि अथवा विसर्ग है अर्थात् नीचे उतर आना, और मनुष्य का यज्ञ है उत्सर्ग अर्थात् नीचे से ऊपर की ओर उठ जाना। उठते समय वह दिव्य जगत् की सृष्टि करता है। जिसे शतपथब्राह्मण ने मनुष्य का प्राजापत्य कर्म बतलाया है (६।२।२।२१)। इस दिव्य जगत् का प्रतीक है वेदी। यह वेदी प्राय: पक्षी के आकार में रची जाती है। पक्षी अग्नि का प्रतीक है। अग्नि का छन्द गायत्री है। गायत्री ने पक्षी बनकर गन्धर्व-लोक से सोम का आहरण किया था। आध्यात्मिक-दृष्टि से यह पक्षी प्रत्यक आधार या मूल में स्थित चिदग्नि अथवा जीवात्मा है। पक्षी द्युलोक की ओर उड़ा जा रहा है। अन्त में वह देवता का सायुज्य प्राप्त करता है। यह यज्ञ का रहस्य है। अग्निचयन में उसको ही रूप दिया गया है। विस्तृत आलोचना यज्ञ-प्रसङ्ग में की जाएगी।

२. "पञ्चैव महायज्ञा:। तान्येव महासत्राणि भूतयज्ञो, मनुष्ययज्ञ: पितृयज्ञो देवयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति। अहरहर्भूतेभ्यो बलिं हरेत्, तथैतं मनुष्ययज्ञं समाप्नोति। अहरहर्दद्याद् आोदपात्रात् (जलपात्र से अन्नपात्र तक सब बर्तनों से)। तथैतं मनुष्ययज्ञं समाप्नोति। अहरह: स्वधा कुर्याद् आोदपात्रात् तथैतं पितृयज्ञं समाप्नोति। अहरह स्वाहा कुर्यात् आकाष्ठात् (अग्नि में एक काठ की आहुति देने तक) तथैतं देव-यज्ञं समाप्नोति। अथ ब्रह्मयज्ञ:। स्वाध्यायो वै 'ब्रह्मयज्ञ:' (११।५।६।१-२)। पञ्च महायज्ञ श्रौतयज्ञ नहीं, इसलिए उसके लिए ऋत्विक् की जरूरत नहीं। गृहस्थ स्वयं ही इस यज्ञ को कर सकते हैं। ये गृहस्थ के लिए अवश्यकरणीय नित्य यज्ञ हैं। सारे जीवों का अन्नदान, जिस किसी भी अतिथि का सत्कार, पितृगण के प्रति श्रद्धा-

दर्श-पूर्णमास की और भी कुछ विधि हैं। द्वादश काण्ड में द्वादशाह सत्र, संवत्सर सत्र एवं सौत्रामणि याग है। त्रयोदश काण्ड में अश्वमेध, पुरुषमेध एवं पितृमेध। चतुर्दश काण्ड में प्रवर्ग्य एवं बृहदारण्यक है।[१]

शतपथ-ब्राह्मण में दो ऋषि शाण्डिल्य और याज्ञवल्क्य प्रधान हैं। शाण्डिल्य, याज्ञवल्क्य से प्राचीन हैं। उनके आचार्य के आचार्य कुश्रि ने

निवेदन, देवता में आत्माहुति एवं ब्रह्मविद्या की धारा को प्रवहन्त रखना - यही पञ्चमहायज्ञ का तात्पर्य है। लक्ष्य करने योग्य है कि शतपथब्राह्मण में चेतना के क्रमिक उत्कर्ष के हिसाब से यज्ञों को सजाया गया है। जबकि अनुष्ठान के समय यह क्रम ठीक ज्यों का त्यों नहीं रखा जाता। इस लोक में तरुलता, कीट-पतङ्ग, मनुष्य सभी मेरे अपने हैं और लोकोत्तर पितृगण एवं देवगण भी मेरे अपने हैं - इस सर्वात्मभाव के आधार पर पञ्च-महायज्ञ प्रतिष्ठित हैं। सबमें स्वयं को इस प्रकार विलीन कर देने का सुन्दर विधान सम्भवत: और कहीं भी नहीं। ब्राह्मण्य-धर्म के ये पञ्च महायज्ञ और बौद्ध धर्म (बौद्ध शब्द यहाँ व्यापक अर्थ में प्रयुक्त है) के चार ब्रह्मविहार, मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा-इन नौ विधानों में हम मनुष्यता' की साधना का जो परम आदर्श पाते हैं उसे आर्य-भावना का सार कहा जा सकता है। पञ्च-महायज्ञ का विधान तैत्तिरीयारण्यक में भी पाया जाता है (२।१०)। वहाँ मनुष्ययज्ञ है- ब्राह्मण को अन्नदान। इस अनुष्ठान का इङ्गित सम्भवत: अथर्वसंहिता में भी है (६।७१।२): वहाँ भूतयज्ञ का उल्लेख नहीं है। मनु कहते हैं कि महायज्ञ के अनुष्ठान से 'ब्राह्मीयं क्रियते तनु:' - इस देह को ब्रह्ममय करना होता है (२।२८)।

१. इस काण्ड के छह अध्यायों में बृहदारण्यक है। वही बृहदारण्यकोपनिषद् नाम से परिचित है। आचार्य शङ्कर ने इस उपनिषद् की काण्वशाखा के ऊपर अपने विख्यात भाष्य की रचना की है। काण्वशाखा का विषय-विन्यास इस प्रकार है : - प्रथम काण्ड में अग्निहोत्र, पिण्डपितृयज्ञ, दाक्षायण यज्ञ एवं चातुर्मास्य है। द्वितीय काण्ड में दर्शपूर्णमास। तृतीय काण्ड में अग्निहोत्र एवं दर्शपूर्णमास का अर्थवाद। चतुर्थ और पञ्चमकाण्ड में सोमयाग। पष्ठ काण्ड में वाजपेय। सप्तम काण्ड में राजसूय। अष्टम काण्ड में उखासम्भरण। नवम से दशम काण्ड तक अग्निचयन। त्रयोदश काण्ड में अग्न्याधान, काल, पथिकृत्, शंयुवाक, पत्नीसंयाज एवं पशुबन्ध। चतुर्दश काण्ड में सौत्रामणी। पञ्चदश काण्ड में अश्वमेध। षोडश काण्ड में प्रवर्ग्य। सप्तदश काण्ड में बृहदारण्यक। शतपथब्राह्मण में ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषत्-सब मिलाकर एक सन्दर्भ, यही ध्यान देने योग्य है।

ब्रह्म एवं आदित्य दोनों सम्प्रदायों से ही विद्या ग्रहण की थी, एवं उनसे शुरू होकर दोनों सम्प्रदायों की धारा ही कुछ दूर तक प्रवाहित रहकर अन्त में साञ्जीवीपुत्र में एक हो जाती है। कुश्रि को लेकर याज्ञवल्क्य पञ्चम पुरुष हैं। यह पहले ही बतला चुके हैं कि याज्ञवल्क्य आदित्य-सम्प्रदाय और शाण्डिल्य ब्रह्म सम्प्रदाय के हैं।[१]

ध्यान देने योग्य है कि जो अग्निरहस्य यज्ञ-विद्या का सार है एवं शतपथ-ब्राह्मण की विषय-वस्तु में मुख्य है, लेकिन उसके सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य का नाम तक नहीं। वहाँ प्रमाणपुरुष शाण्डिल्य हैं। अग्निरहस्य के अध्यायों को छोड़कर ब्राह्मण के अन्य सब स्थलों पर याज्ञवल्क्य ही प्रमाणपुरुष हैं। विशेषत: बृहदारण्यक में उनके ब्रह्मवाद को वैदिक तत्त्व विद्या (विज्ञान) का शीर्ष-बिन्दु कहा जा सकता है। फिर हम देखते हैं कि शाण्डिल्य एवं याज्ञवल्क्य दो मुख्य औपनिषद-सिद्धान्त के आचार्य हैं - शाण्डिल्य इतिवाद के आचार्य हैं और याज्ञवल्क्य नेतिवाद के।[२]

---

१. बृहदारण्यक ६।५; तुलनीय. श. ब्रा. १०।६।५।९, १४।९।४।३३।

२. अग्निरहस्य के अन्त की ओर शाण्डिल्य-विद्या का उपदेश है। उसका मन्त्र है 'सत्यं ब्रह्म इत्युपासीत' (१०।६।३।१ ; तु. भागवत 'सत्यं परं धीमहि' (१।१।१) यह ब्राह्मण सामान्य परिवर्तित रूप में छा. उ. में भी पाया जाता है (३।१४)। वहाँ है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान् इति शान्त उपासीत (तु. भागवत-धर्म का 'वासुदेव: सर्वम्' गीता ७।१९)। इतिवाद का यही चरम अनुभव है। आत्मा वहाँ 'मनोमय: प्राणशरीरो भारूप: कामरूपी सत्यसङ्कल्प: सत्यधृति: सर्वगन्ध: सर्वरस:' है। याज्ञवल्क्य का उपदेश है 'स एष नेति नेत्यात्मा' (१४।७।२।२७)। किन्तु उनका नेतिवाद इतिवाद का प्रतिषेध या निषेध अथवा खण्डन नहीं, बल्कि उसका उत्तरपर्व है। ब्रह्मसम्प्रदाय एवं आदित्यसम्प्रदाय के दार्शनिक दृष्टिकोण का यह वैशिष्ट्य लक्षणीय है। इससे ही परवर्तीकाल में वेदान्त में जगत् के सम्बन्ध में परिणामवाद एवं विवर्तवाद का आविर्भाव हुआ।

शतपथ-ब्राह्मण में श्रमणों का उल्लेख है।[१] तैत्तिरीयारण्यक में इन्हें 'वातरशना ह वा ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनः' कहा जा रहा है।[२] वातरशन मुनियों का उल्लेख ऋक्संहिता में भी है;[३] मन्थी वे ऊर्ध्वमन्थी अथवा ऊर्ध्वस्रोता अर्थात् ऊर्ध्वरेता हैं।[४] श्रमण आर्य मुनिधारा के संवाहक हैं। ये ब्राह्मण के 'प्रव्राजी'[५], मुनिधारा के 'अर्हत्', बौद्ध 'भिक्षु' वैदान्तिक 'संन्यासी' हैं।

इस प्रसङ्ग में पूर्वोक्त व्रात्यों की बात स्मरणीय है। व्रात्य पूरब-देश के थे। शतपथ-ब्राह्मण में पूरब की ओर वैदिकसभ्यता के विस्तार का उल्लेख प्राप्त होता है। एक आख्यायिका के अनुसार 'विदेघमाथव'[६] वैश्वानर अग्नि को मुख में धारण किया करते थे। ऋषि गोतम राहूगण[७]

---

१. १४।७।१।२२।

२. २।७।१ : अन्यत्र बतलाया गया है कि वातरशन ऋषि अरुण एवं केतुक नामक ऋषिसङ्घ के साथ सृष्टि के आरम्भ में प्रजापति से उत्पन्न होने पर भी उन्होंने जो अग्निचयन किया था, उसका नाम 'आरुण केतुक' रहा (२।२३।२, २४।४)। यह लक्षणीय है कि वातरशन ऋषियों का नाम अग्निचयन के साथ जुड़ा नहीं रहा। इससे बोध होता है कि वे याज्ञिक न होने पर भी अग्निचयन कर सकते थे। वातरशन शब्द का अर्थ 'दिगम्बर', 'वातास जिन की लगाम' है। और रहस्यार्थ है – जो प्राणायाम के द्वारा प्राणसंयम करना जानते हैं। कहा जा सकता है कि वे यज्ञानुष्ठान न करके भी विद्या के द्वारा यज्ञसाध्य फल प्राप्त करते हैं। पहले भी हमने देखा है कि ब्राह्मण में इस दो प्रकार की साधना का ही सङ्केत है।

३. मुनिसूक्त १०।१३६।

४. तु. श. श्रीमन्थ, पुत्रमन्थ (१४।९।३,४) एक के मूल में वित्तैषणा अथवा लोकैषणा है, दूसरे के मूल में पुत्रैषणा। ऊर्ध्वमन्थ स्पष्ट ही उसके पृथक् है।

५. शतपथ १४।७।३।२५; प्रव्रज्या की बात शतपथ-ब्राह्मण में ही अधिकतर पाई जाती है।

६. 'विदेघ' विदेह का प्राचीन नाम।

७. गोतम राहूगण का नाम ऋक्संहिता में ही है। प्रथम मण्डल के अन्तर्गत एक उपमण्डल (७४-९३) उनके द्वारा रचित, नवम मण्डल में भी उनकी रचना है (३१, ६७। ७-९) दशम मण्डल के एक आथर्वण-मन्त्र के वे ऋषि हैं (१३७।३) गोतमवंशियों का उल्लेख ऋक्संहिता में अन्यत्र भी है। चतुर्थ मण्डल के द्रष्टा वामदेव, गौतम हैं।

उनके पुरोहित थे। विदेघमाथव के मुख से वैश्वानर अग्नि पृथिवी पर गिर पड़े। माथव उस समय सरस्वती के तट पर थे। वैश्वानर अग्नि वहाँ से पृथिवी को दग्ध करते-करते पूरब की ओर चल पड़े। माथव और गोतम उनके पीछे-पीछे चल पड़े। वैश्वानर सारी नदियों को पार करके **सदानीरा**[१] के निकट रुक गए। उसके बाद वे और आगे नहीं बढ़े। इस कारण अनेक ब्राह्मण ही सदानीरा के पूरब के देश को अग्निहीन मान कर नदी पार करके वहाँ नहीं जाना चाहते थे। वह प्रदेश जलमय निम्न भूमि था। खेतीबारी भी विशेष नहीं होती थी। धीरे-धीरे ब्राह्मणों ने देश को अग्निशुद्ध और खेती के योग्य बना लिया। **सदानीरा** उस समय कोशल और विदेह की सीमा हुई। माथव **सदानीरा** के पूर्व की ओर ही रह गए।[२] इससे बोध होता है कि माथव ने **सदानीरा** के उस पार उपनिवेश स्थापित करके कुरु-पाञ्चाल से वैदिक-संस्कृति का आयात किया था। उनके पहले ही इस प्रदेश में व्रात्यों का बसोबास होना असम्भव नहीं। व्रात्य-संस्कृति के साथ ब्राह्मण्य-संस्कृति के मिश्रण से जिस दार्शनिक विचारधारा का उद्भव हुआ था, उसे परवर्तीकाल में विदेह के याज्ञवल्क्य एवं जनक ने एक विशिष्ट रूप दिया था। उसका परिचय बृहदारण्यक में प्राप्त है। और परवर्तीकाल में यह पूरब-देश ही ब्राह्मण्यविरोधी अनेक मतवादों का जन्मस्थान रहा था। जिसकी अनुवृत्ति विशेष रूप से बङ्गाल की संस्कृति में चल रही है।

शतपथ-ब्राह्मण में अनेक आख्यायिकाएँ हैं। जिनमें एक प्रजापति का दुहितृगमन[३] और एक पृथिवी व्यापी एक जलप्लावन[४]– ये दोनों आख्यायिकाएँ उल्लेख योग्य हैं।

---

१. आधुनिक गण्डक।

२. १।४।१।१०-१७

३. १।७।४।१-४ आख्यायिका का मूल ऋकसंहिता में है। आध्यात्मिक तात्पर्य के लिए द्रष्टव्य : ३।३१।१-२ टीका।

४. १।८।१।१-६। इस प्लावन की कहानी पृथिवी के अन्यान्य देशों की पुराण-कथाओं में भी पाई जाती है। पण्डितों का अनुमान है कि ये कहानियाँ स्थानीय ही हैं।

अथर्वसंहिता का एकमात्र ब्राह्मण उपलब्ध है - **गोपथ ब्राह्मण।** इस ब्राह्मण के दो भाग हैं। पूर्वभाग में पाँच प्रपाठक और उत्तरभाग में छह प्रपाठक हैं। विषय-वस्तु की बहुत कुछ सामग्री ही अन्यान्य ब्राह्मण-ग्रन्थों से उधार ली गई है। जिसका विशेष कुछ सम्बन्ध ही अथर्व-संहिता के साथ नहीं है। व्याख्या या विवृति की शैली बहुत कुछ आरण्यक एवं उपनिषत् जैसी है। अतएव पण्डितों ने इसे अर्वाचीन-युग की रचना के रूप में मान्यता दी है।

पहले हमने बतलाया है कि अनेक ब्राह्मण लुप्त हो गए हैं। अनेक स्थानों पर इन समस्त ब्राह्मणों का उल्लेख प्राप्त होता है – चरक, श्वेताश्वतर, काठक, जाबाल, खाण्डिकेय, औखेय, हारिद्रविक, आह्वरक, कङ्कति, गालव, तुम्बरु, आरुणेय, पैङ्गायनि, सौलभ, शैलालि, पराशर, माषशरावि, कापेय अन्वाख्यान, भाल्लवि, शाट्यायन, कालबवि, रौरुकि।

वेदों के आरण्यक

संहिता के प्रधान ब्राह्मणों का अन्तिम भाग ही आरण्यक है, जो कभी ब्राह्मण के अन्तर्गत और कभी पृथक् होता है। आरण्यक संज्ञा संहिता अथवा ब्राह्मण में नहीं पाई जाती[१]।

विद्या की दृष्टि से ब्राह्मण की स्वाभाविक परिणति आरण्यक में है, जिस प्रकार आरण्यक की परिणति उपनिषद् में। ब्राह्मण में यज्ञ-विद्या, आरण्यक में रहस्य-विद्या और उपनिषद् में ब्रह्मविद्या है। ब्राह्मण में द्रव्य यज्ञ का विधान है, आरण्यक में उसकी ही सूक्ष्मभावना है, उपनिषद् में तत्त्वज्ञान है। सभी एक अखण्ड वेदविद्या है। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् में एक ही अनुवृत्ति एवं अधिकार की धारावाहिकता या पारम्पर्य है। यूरोपीय-पण्डितों की यह परिकल्पना तर्कसम्मत नहीं कि आरण्यक एवं उपनिषद् में एक नये **प्रोटेस्टैण्ट धर्म** की झलक मिलती है।

१. शतपथ-ब्राह्मण के चतुर्दश काण्ड के अन्तिम छह अध्यायों का नाम 'बृहदारण्यकम्' है। इससे बोध होता है कि आरण्यक संज्ञा का यह उल्लेख ही सर्वप्राचीन है। मैत्रायण संहिता के अनुसार मरुतों के सात गणों में एक नाम 'अरण्येऽनुवाक्यः' है, वे ही मरुद्गणों में 'क्षत्र' अथवा सबसे अधिक बलवान् हैं (३।३।१० ; द्र. काठक. २१।१०)। सामसंहिता के आरण्यगेय गान की चर्चा पहले ही कर चुके हैं। ग्राम और अरण्य में अन्तर क्यों किया जाता है? वह भी बतलाया है। आरण्यक के साथ रहस्य की भावना जुड़ी है - इससे वही समझ में आता है। सायण भी अपने तैत्तिरीय-आरण्यक के भाष्य के आरम्भ में कहते हैं कि वेद के इस अंश को अरण्य में पढ़ने के कारण उसका नाम 'आरण्यक' है। व्रतचारी होकर आरण्यक भाग को सुनना पड़ता है, यह नियम है। आरण्यक विद्या 'रहस्य विद्या' (OCCULT SCIENCE) है बस। यूरोपीय-पण्डितों को उसमें UNCANNY अथवा DANGEROUS की गन्ध कहाँ मिली? वह समझना मुश्किल है।

ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण का परिशिष्ट **ऐतरेयारण्यक** और शाङ्खायन ब्राह्मण का **शाङ्खायनारण्यक** है। ऐतरेयारण्यक के पाँच भाग हैं और प्रत्येक भाग का नाम 'आरण्यक' है। पुन: आरण्यकों को अध्याय एवं खण्ड में विभाजित किया गया है। 'गवामयन' नाम से एक संवत्सर साध्य सोमयाग है। उसके उपान्त्य या आख़िरी दिन 'महाव्रत' याग का अनुष्ठान करना पड़ता है। वैदिक-यागों में महाव्रत एक महत्त्वपूर्ण याग है। उसमें अनेक ऐसे अनुष्ठान हैं, जो दृश्यत: अद्भुत लगते हैं। ऐतरेयारण्यक के प्रथम एवं अन्तिम आरण्यक में महाव्रत की रहस्य भावना है। सायण के मत से यह आरण्यक का कर्मकाण्ड है; शेष कई आरण्यक **ज्ञानकाण्ड** है। ज्ञानकाण्ड में पुरुष, प्राण, संहिता इत्यादि की रहस्यभावना और **ऐतरेयोपनिषत्** है।[१] प्रथम तीन आरण्यक ही ऐतरेयारण्यक के मूल अंश हैं। चतुर्थ आरण्यक बहुत छोटा है, जो नौ महानाम्नी ऋक् और नौ पुरीष पद का सङ्ग्रह है। पञ्चम आरण्यक सूत्राकार है। सायण इसकी अपौरुषेयता को स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में इसे रहस्य-ग्रन्थ के हिसाब से अध्ययन करने के कारण आरण्यक के अन्तर्गत किया गया है।

शाङ्खायनारण्यक पन्द्रह अध्यायों में विभक्त है। विषय-वस्तु ऐतरेयारण्यक के अनुरूप है। उसके तृतीय से षष्ठ अध्याय तक कौषीतक्युपनिषत् है।[२] दशम अध्याय में आध्यात्मिक अग्निहोत्र एवं एकादश अध्याय में स्वप्नकाल का वर्णन है। दोनों ही चित्ताकर्षक हैं। त्रयोदश अध्याय में सङ्क्षेपत: वेदविद्या का सारस्वरूप सर्वात्मभाव का उपेदश है।

---

१. २।४-७

२. इस उपनिषद् के नाम से ब्राह्मण एवं आरण्यक का नाम भी कुछ लोग 'कौषीतकी' के रूप में रखने की भूल करते हैं। वस्तुत:, ब्राह्मण एवं आरण्यक का नाम शाङ्खायन ही होना उचित है। क्योंकि आरण्यक के अन्तिम अध्याय में जिस विद्या-वंश का उल्लेख है। उसमें शाङ्खायन का नाम ही प्रथम है। कौषीतकि कहोल शाङ्खायन के आचार्य थे। वे इस आरण्यक के अन्तर्गत उपनिषद् के द्वितीय अध्याय (आरण्यक ४) के प्रवक्ता हैं।

सामवेद के दो आरण्यक ग्रन्थ हैं - एक जैमिनीय ब्राह्मण के अन्तर्गत **उपनिषद् ब्राह्मण**[१] है और एक छान्दोग्योपनिषद् का प्रथम अंश है। जिसमें साम पर आश्रित नाना कर्माङ्ग-उपासना की अवतारणा की गई है।[२]

कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीय-ब्राह्मण के परिशिष्ट के रूप में हम **तैत्तिरीयारण्यक** पाते हैं। यह पहले भी बतलाया गया है कि ब्राह्मण और आरण्यक में अन्तर बहुत ही कम है। इस आरण्यक में दश प्रपाठक हैं। सप्तम से नवम प्रपाठक तक **तैत्तिरीयोपनिषत्** है। दशम प्रपाठक **याज्ञिकी नारायण उपनिषत्** है। अनेक विद्वान् इसे खिल या परवर्ती संयोजन मानते हैं। आरण्यक के प्रथम प्रपाठक में आरुण केतुक अग्निचयन का विवरण है, द्वितीय में स्वाध्याय-विधि है, तृतीय में चातुर्होत्रचिति। चतुर्थ और पञ्चम प्रपाठक में प्रवर्ग्य-विधि है।[३] चतुर्थ प्रपाठक आरण्यक और पञ्चम 'ब्राह्मण' है; इसलिये सायण ने दोनों की व्याख्या एक साथ की है। षष्ठ प्रपाठक में पितृमेध-विधि है।[४]

काठक-शाखा का अलग आरण्यक नहीं मिलता। सायण ने तैत्तरीयारण्यक के भाष्य की प्रस्तावना में इसके किसी-किसी अंश को काठक-शाखा के अन्तर्गत माना है। मैत्रायण-शाखा का एक आरण्यक है, उसके सात प्रपाठक हैं। इसे 'मैत्रायण्युपनिषद्' भी कहा जाता है।

शुक्लयजुर्वेद के शतपथ-ब्राह्मण के अन्तिम चतुर्दश काण्ड का नाम 'बृहदारण्यक' है। उसके प्रथम तीन अध्यायों में प्रवर्ग्य-विधि है, शेष छह अध्यायों में विख्यात बृहदारण्यकोपनिषद् है।

---

१. जै. ब्रा. ४।७; प्रसिद्ध केनोपनिषद् इसके ही अन्तर्गत है।

२. अध्याय १-२। छान्दोग्योपनिषत् छान्दोग्य ब्राह्मण के अन्तर्गत है। शतपथब्राह्मण की तरह ही छान्दोग्यब्राह्मण में ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् अन्योन्याश्रित होकर एक अखण्ड वेदविद्या को उजागर करते हैं।

३. यह एक वैदिक रहस्ययाग है। इसकी चर्चा बाद में करेंगे।

४. सद्य: विधवा को पति के साथ चिता पर लिटाने का, और वहाँ से नये पति का हाथ पकड़कर उसके उठ आने का विधान यहाँ पाया जाता है (अनुवाक १ ; द्र. अ. सं. १८।३।१, ऋ. सं. १०।१८।८; इन दोनों मन्त्रों के तात्पर्य को लेकर पण्डितों में मतभेद है (द्र. KANE History of Dharma Shastras Vol II PP. 617 FF).

उपनिषद्

[१]

वेदों के आरण्यकों के पश्चात् प्रस्तुत है उपनिषदों का सङ्क्षिप्त परिचय। ब्राह्मण का अन्तिम अंश जिस प्रकार आरण्यक है, उसी प्रकार आरण्यक का अन्तिम अंश उपनिषत् है। आरण्यक एवं उपनिषत् दोनों ही ब्राह्मण के अन्तर्गत हैं। मन्त्र एवं ब्राह्मण को लेकर वेद की संज्ञा दी गई है – इस प्राचीन लक्षण को एक बार फिर स्मरण में रखना है। सामान्यतः मन्त्र यदि 'ब्रह्म' है[१], तो ब्राह्मण 'ब्रह्मोद्य' अथवा 'ब्रह्मवाद' है।[२] सारे ब्राह्मण, ब्रह्मवादियों के वाकोवाक्य अथवा ब्रह्मोद्य के परिणाम

१. यह संज्ञा ऋक्संहिता में बहु प्रयुक्त है। उसमें कवि की मन्त्रचेतना एवं उसके वाङ्मय-स्फुरण दोनों का ही बोध है। मन्त्रचेतना के साथ-साथ मन्त्रशक्ति की द्योतना भी है। द्र. 'ब्रह्म' ऋ. ३।८।२ टीका।

२. शतपथ-ब्राह्मण में 'ब्रह्मोद्य' 'वाकोवाक्य' और 'ब्राह्मण' तीनों संज्ञाएँ एक ही अर्थ में प्रयुक्त हैं (४।६।९।२०)। 'वाको वाक्यं ब्राह्मणं' – शतपथ-ब्राह्मण की इस उक्ति से ब्राह्मण के स्वरूप का बोध होता है। वाकोवाक्य 'संवाद' अथवा प्रश्नोत्तर, उक्ति-प्रत्युक्ति है। 'ब्रह्मोद्यमाह्वयामहे' (श. ११।४।१।२, ११।६।२।५) 'ब्रह्मोद्यमग्नि होत्रं विविदिष्यामि' (श. ११।५।३।१) 'ब्रह्मोद्यं जेता' (श. १४।६।८।१, १२ गार्गी की उक्ति) – इन सब वाक्यों से ब्रह्मोद्य एवं ब्राह्मण का स्वरूप समझा जा सकता है। ब्राह्मण में उल्लिखित कुछ एक ब्रह्मोद्य का विवरण : गृहपति कौन ? (ऐ. ५।२५); अश्वमेधयज्ञ में (तै. ३।९।५; होता और ब्रह्मा का ब्रह्मोद्य (श. १३।२।६।९. ....; होता और अध्वर्यु का, ब्रह्मा और उद्गाता का, यजमान और अध्वर्यु का (श. १३।५।२।११....)। ब्रह्मोद्य केवल कर्म-मीमांसा ही नहीं, ज्ञान-मीमांसा भी है। ऊपर कहे गए ब्रह्मोद्यों में ही प्रमाण प्राप्त होता है – (तुलनीय. ता. ४।९।१२ सायणभाष्य) शतपथ का यह मन्तव्य ध्यातव्य है; 'सर्वाप्तिर्वा एष वाचो यद्

हैं। उसमें जिस प्रकार कर्म की मीमांसा है, उसी प्रकार शक्ति एवं ज्ञान की भी मीमांसा है। आरण्यक-प्रसङ्ग में हमने पहले ही इसका उल्लेख किया है। उपनिषद् इस मीमांसा का चरम परिणाम है।

ब्राह्मणों की रचना गद्य में हुई है, और उनके अन्तर्गत प्राचीन उपनिषद् भी गद्य में रचित हैं। किन्तु उनके बीच-बीच में गाथा अथवा श्लोक हैं। ब्राह्मण में भी कुछ-कुछ हैं। जब विचार और वितर्क के आधार पर मीमांसा की जाती है, तब गद्य का प्रयोग होता है। फिर एक स्थिर सिद्धान्त में पर्यवसित होने पर उसे मन्त्र, श्लोक अथवा गाथा के रूप में ग्रथित किया जाता है। संहिता के अनेक मन्त्र इस प्रकार फिर उपनिषद् में भी उद्धृत हुए हैं। इस दृष्टि से उपनिषदों को वेद के तत्त्वार्थ की भाषा कहा जा सकता है। जब सिद्धान्तों को लोकप्रियता प्राप्त हो गई, तब से हम देखते हैं कि उपनिषत् ठीक ऋक्संहिता की तरह श्लोकबद्ध हुए। इस प्रकार की श्लोकबद्ध औपनिषद्भावना को हम फिर महाभारत में पाते हैं, जो इतिहास-पुराण का आदिग्रन्थ है। इस तरह वेद का तत्त्व जनसाधारण के बीच प्रचारित, प्रसारित हुआ।

ब्रह्मोद्यम्' (१३।५।२।२२)। ब्रह्मवाद संज्ञा केवल एक बार प्राप्त होती है: 'देवानां ब्रह्मवादं वदताम्' (तै. ब्रा. १।२।१।६)। किन्तु 'ब्रह्मवादी' संज्ञा का अत्यधिक प्रयोग तैत्तिरीय ब्राह्मण में, एवं आरण्यक में, उपनिषद् में भी पाया जाता है। ब्रह्मोद्य का स्थान 'सभा'। वहाँ जिस प्रकार की आलोचना होती है, उसका एक सुन्दर चित्र हम बृहस्पति के ज्ञानसूक्त में पाते हैं – (ऋ. १०।७१) ब्रह्मोद्य में जो सबको हरा देते हैं, उन्हें वहाँ 'सभासह' कहा गया है (१०।७१।१०); तु. सभेयः विप्रः २।२४।१३; वीरं....विदथ्यं सभेयं [पुत्रम्] १।९१।२०)। एक जगह वाक् को कहा गया है 'गुहा चरन्ती मनुषो न योषा, सभावती विदथ्येव सं वाक्' (१।१६७।३; यहाँ रहस्यविद्या और तत्त्वविद्या की आलोचना का हम स्पष्ट उल्लेख पाते हैं)। अतएव ब्रह्मवादी अथवा ब्रह्मोद्य का अभाव वैदिकयुग के किसी काल में नहीं था। परिप्रश्न की आकाङ्क्षा उपनिषद्-युग में क्रियाकाण्ड या कर्मकाण्ड के प्रति विरक्ति के कारण प्रकट होती है – यूरोपीय-पण्डितों की यह प्रकल्पना नितान्त ही निराधार है। तैत्तिरीय-ब्राह्मण के ब्रह्मवादी और उपनिषद् के ब्रह्मवादी दोनों की श्रेणी अलग नहीं। वेदकाल में ज्ञान और कर्म में कोई विरोध नहीं था। ज्ञान के लिए ही कर्म है, यह विवेक तब जाग्रत था।

अनुष्ठान में विधि-निषेध की कड़ाई है। किन्तु भावना अथवा विद्या के पक्ष में ऐसा नहीं है। इस कारण जीवन्त मनन की त्वरा से वह अपना रास्ता स्वयं ही काटकर चलता है। श्रुति का ब्राह्मण-भाग इस तरह धीरे-धीरे स्थाणु हो गया, किन्तु उपनिषद्-भाग निरन्तर प्रवाहित होता रहा। जिस अथर्वसंहिता में वैदिक-भावना के चरिष्णु रूप का परिचय प्राप्त होता है, अधिकांशतः वही अर्वाचीन उपनिषदों का आधार है। इस प्रकार उपनिषद् 'वेदान्त' है - जिसका अर्थ वेद का शेषांश हो सकता है, या वेदवाद भी हो सकता है।

'उपनिषत्' संज्ञा को लेकर आधुनिकयुग में बहुत वाद-विवाद हुआ। इस शब्द की व्युत्पत्ति उप-नि √सद् (बैठना) से है; अतएव उसका मौलिक अर्थ हुआ निकट निविड़ होकर (बैठना)। इससे यूरोपीय पण्डितों ने सिद्धान्त गढ़ा कि अरण्य में आचार्य के निकट एकान्त में बैठकर जो विद्या ग्रहण की जाती है, उसका नाम 'उपनिषत्' है।[१] किन्तु लक्षणीय है कि आचार्य के निकट जाकर विद्या-ग्रहण की चर्चा उपनिषद् के अनेक स्थलों पर होने के बावजूद 'बैठना' अर्थ में उप-नि √सद् या कि – नि √सद् का प्रयोग प्राचीन उपनिषदों में कहीं भी नहीं है।[२]

---

१. OLDENBERG ने 'उपनिषत्' का अर्थ 'उपासना' समझा है। अधिकांश यूरोपीय पण्डितों ने इसे ऐसा नहीं ग्रहण किया। BODUS कहते हैं कि बैठना आचार्य के निकट नहीं, यज्ञाग्नि के निकट। HAUER कहते हैं तपस्या और ध्यानलभ्य रहस्य-ज्ञान ही 'उपनिषत्' है। DEUSSEN ने व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ से 'रहस्यविद्या' समझा है।

२. एक मात्र उप √ सद् का प्रयोग छान्दोग्य के कई स्थलों पर है (१।११।४, ६, ८; ६।७।२, ४; ६।१३।१,२; ७।१।१), जिसका अर्थ है 'निकट जाना'। किन्तु इस उपनिषद् के ही एक स्थान पर यह धातु एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त है – 'स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन् परिचरिता भवति, परिचरन्नुपसत्ता भवति, उपसीदन् द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति' (७।८।१)। यहाँ विद्याग्रहण के लिए गुरु के निकट जाना अर्थ उपयुक्त नहीं। क्योंकि उसके पूर्व ही परिचरण का उल्लेख है। आचार्य शङ्कर अर्थ करते हैं 'गुरु के समीपस्थ होता है, उनका प्रिय एवं अन्तरङ्ग होता है', उसके बाद ही फिर कहते हैं 'गुरु आदि का दर्शन करता है, श्रवण करता है इत्यादि। किन्तु यहाँ स्पष्टतः दर्शन-श्रवण इत्यादि का लक्ष्य आत्मतत्त्व ही है (तु. बृ. २।४।५, ४।५।६)। अतएव उप √ सद् का अर्थ यहाँ तत्त्वाभ्यास है। इस विशेष अर्थ को ध्यान में रखना होगा।

सारी विद्याएँ ही आचार्य के निकट जाकर परिचर्या द्वारा ग्रहण की जाती थीं, अतएव सामान्य अर्थ में सभी विद्याओं को ही तो उपनिषद् कहा जा सकता है। इससे बोध होता है कि 'उपनिषत्' का व्युत्पत्तिगत अर्थ यहाँ उपयुक्त नहीं है, बल्कि यह शब्द निश्चित रूप से पारिभाषिक है।[१]

'उपनिषत्' शब्द का सर्वापेक्षा प्राचीन उल्लेख शाकलसंहिता के एक खिल में प्राप्त होता है, जहाँ एक साथ 'निषत्' एवं 'उपनिषत्' का उल्लेख है[२]। हम महाभारत में भी अनुरूप उल्लेख पाते हैं।[३] पारिभाषिक

---

१. 'निकट बैठना' इस अर्थ में उप-नि √सद् का प्रयोग उपनिषद् में तो नहीं है, वह KEITH ने भी लक्ष्य किया है। किन्तु वे कहते हैं कि 'उपसद्' एक विशिष्ट वैदिक अनुष्ठान, उसके साथ मिल न जाए, इसलिए 'उप √ सद्' धातु के प्रयोग के बावजूद विद्या की संज्ञा 'उपनिषद्' दी गई (RPVU. P. ४९२)। यह बलपूर्वक मनवाने की सिर्फ़ एक तरकीब है। संहिता एवं ब्राह्मण में उप-नि √सद् के जो कई प्रयोग हैं, वे भी विशेष अर्थ के सूचक हैं (तुलनीय. भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे अ. सं १९।४१; अदितिरिव त्वा सुपुत्रा उपनिषदेयम्. का. सं. १।१०; उद्गीथं.....सहस्रपुत्रमुपनिषेदुः जै. उ. २।२।४।११ अथ स उपनिषसाद ज्योतिरुक्थमिति....आयुः....गौः ..... जै. उ. ३।१।३।९, ११, १३)। इस धातु का सामान्य अर्थ में एक प्रयोग एक मात्र ऐतरेयारण्यक में है (उपनिषसाद २।२।३)।

२. 'एवा निषच्चोपनिशच्च विप्रा युवां रेभत्यौ सयुजा सुपर्ण्यौ। ब्राह्मण्य क्रतुर्विदथेषु शक्रा धत्तं तयोस्तनयं तोकमग्र्यम्' (१।३।७) इस ऋक् का ठीक-ठीक अर्थ समझ में नहीं आता। 'अक्रतुः' पद अनुदात्त है, अतएव क्रिया है। लङ् का अडागम एवं लिट् की विभक्ति मिलाकर इस प्रकार का पद और कहीं भी नहीं पाया जाता। निषत् एवं उपनिषत्, सुपर्णी, रेभती एवं ब्रह्मकृत, ये विशेषण लक्षणीय हैं। ये सारे विशेषण गायत्री के सम्बन्ध में भी प्रयुक्त हो सकते हैं। उल्लिखित यह ऋक् ऐ. ब्रा. में सौपर्णसूक्त नाम से अभिहित सूक्त के अन्त में है (द्र. ऐ. ब्रा. ६।२५, ८।१० सा. भा.)। गायत्री सुपर्णी के रूप में सोम को द्युलोक से पृथिवी पर उतार लाई थी (तै. सं. ६।१।६)। यह मानव-हृदय के दिव्य आवेश का वर्णन है। 'निषत्' एवं 'उपनिषत्' का भी यही परिचय है।

३. 'यं वाकेष्वनुवाकेषु निषत्सूपनिषत्सु च, गृणन्ति सत्यधर्माणम्' (शान्ति ९९? द्र. वाचस्पत्यम्)। यहाँ वाक् मन्त्र, अनुवाक ब्राह्मण, निषत् आरण्यक है। नीलकण्ठ कहते हैं कि कर्माङ्गाबद्ध देवता विज्ञानवाक्य निषत्, केवलात्मज्ञापक वाक्य उपनिषत् है। Keith ने महाभारत की इस उक्ति को ABSURD किस तर्क के आधार पर कहा, समझ में नहीं आता (RPVU P 492 n.1)।

अर्थ में 'निषत्' शब्द संहिता एवं ब्राह्मण में प्राप्त होता है, जिसका अर्थ है, 'देवता के आवेश का अनुभव'।[१] उसी प्रकार ऋक्संहिता में 'उपसत्' शब्द भी विशेष अर्थ में प्रयुक्त है।[२] ब्राह्मण एवं आरण्यक में भी उपनिषत् संज्ञा का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग हुआ है, जिससे निगूढ़ तत्त्व का बोध होता है।[३] सब ओर से विचार करने से यह सिद्धान्त ही स्थिर होता है कि उपनिषद् का जो व्युत्पत्तिगत अर्थ है, उसका अभीष्ट मनुष्य नहीं - देवता है। आचार्य के हृदय में देवता के निषण्ण अथवा

---

१. तुलनीय. अभिस्वरा निषदा.....इन्द्रे हिन्वाना द्रविणान्याशतुः (ऋ. २।२१।५; यहाँ 'अभिस्वर' मन्त्र का उच्चारण है, 'निषद्' भावना है, मानो देवता आधार में निषण्ण' हुए हैं - यह भाव है; 'अराधि होता निषदा यजीयान्' ऋ १०।५३।२; रणा वो ये निषदि (ऋ ६।२७। १, २); जो आनन्द देवता के आवेश में है; या वै दीक्षा सा निषत् श. ब्रा. ४।६।८।१,२); इन्द्रं निषद् वरम् (तै. ब्रा. २६।७।२; बर्हि में निषण्ण होने के कारण देवता 'निषत्' (सायण)। इस प्रसङ्ग में निषत्ति शब्द भी लक्षणीय है - 'का ते निषत्तिः' (ऋ. ४।२१।९)।

२. तुलनीय : इमां मे अग्ने समिधम् इमामुपसदं वनेः (२।६।१) 'समिध' देवता को निवेदित आधार का प्रतीक; 'उपसद्' उनके नित्यसामीप्य की भावना। Geldner ने भी यहाँ 'उपसद्' के अर्थ में die Hulding or 'homage' समझा है। तुलनीय 'उपासना'।

३. तु. श. ब्रा.-यजुषः रस एव उपनिषत् १०।३।५।१२, अग्नेः वाक एव उपनिषत् १०।५।१।१, संवत्सरस्य उपनिषत् १२।२।२।२३; जै. उ. ब्रा. गायत्रस्य उपनिषत् ४।८।५।३, ४।९।१।१, ४।९।९।२; ऐ. आ. संहिताया उपनिषत् ३।१।१, वाच उपनिषत् ३।२।५, एतस्यामुपनिषदि ३।१।६ (अनुरूप शा. आ. 'तरग उपनिषत्, न मानेदिति' ४।१।२)। उपनिषत् को वेदशिरः कहा गया है : शा. आ. 'उपनिषदं वेदशिरो न यथाकथञ्चन वदेत्, तदेतद् ऋचा अभ्युदितम् : ऋचां मूर्द्धानं यजुषा-मुत्तमाङ्गम् साम्नां शिरोऽथर्वणां मुण्डमुण्डं नाधीतेऽधीते वेद आहुस्तमज्ञं शिरश्छित्वासौ कुरुते कबन्धम्।' स्थाणुरयं भारहारः किलाभूद् अधीत्य वेदं न विजानाति अर्थम्, योऽर्थज्ञ इत् सकलं भ्रदमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा (१३।१, १४)। यास्क ने भी अन्त के इस ऋक् का अपने निरुक्त के उपोद्घात में उल्लेख किया है (१।१८)। इस भाव का मूल ऋक्संहिता में है (तु. ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः, यस्तन्न वेद किम् ऋचा करिष्यति य इत्तद् विदुस्त इमे समासते (१।१६८)।

उपविष्ट होने पर उनके भीतर जिस तत्त्व-ज्ञान का स्फुरण होता है, वही 'उपनिषत्' है। यह अर्थ ही स्वभाविक और परम्परागत है। आचार्य के निकट बैठकर विद्याग्रहण करने का अर्थ गौण एवं आनुषङ्गिक मात्र है।

आदिशङ्कराचार्य ने उपनिषद् का अर्थ किया है, 'जो अविद्या का नाश करे'[१]; उसके लिए सभी आधुनिक पण्डितों ने उनके प्रति कटाक्ष किया है। शङ्कर का अर्थ व्युत्पत्तिलभ्य नहीं हो सकता ; किन्तु लगता है। उसका भी एक वैदिक आधार है। सोमयाग में 'उपसत्' नाम से एक इष्टि का विधान है। ऐतरेय-ब्राह्मण का कथन है कि असुरों ने तीन दुर्गों का निर्माण किया था - पृथिवी पर लोहे का, अन्तरिक्ष में चाँदी का, द्युलोक में सोने का। इन तीनों दुर्गों को देवताओं ने जिस इष्टि की सहायता से तोड़ दिया था, वही 'उपसत्' है।[२] विज्ञान की भाषा में अविद्या के दुर्ग को तोड़ने की इस क्रिया को उपनिषद् में 'अविद्या ग्रन्थि का विकिरण'[३] कहा गया है। आधार में देवता के उपसन्न अथवा आविष्ट होने पर ही वह सम्भव है।[४] यह 'उपसत्' और 'उपनिषत्' एक ही भावना की दो संज्ञाएँ हैं। अतएव शङ्कर की व्याख्या अमूलक नहीं।

अभी तक जितनी भी उपनिषदें उपलब्ध हुई हैं, उनकी सङ्ख्या दो सौ से ऊपर है। इनमें अधिकांश ही अर्वाचीन हैं। मुक्तिकोपनिषद् में १०८

---

१. भाष्य भूमिका, बृहदारण्यक, कठ, मुण्डक।

२. १।२३; तु. शा. ब्रा. ८।८; श. ब्रा. ३।४।४।१, वहाँ है - 'एताभिर्देवा उपसद्भिः पुरः प्राभिन्दन् इमाँल्लोकान् प्राजयन् (५)। उपसद् के देवता अग्नि, सोम एवं विष्णु हैं (ऐ. ३।३२) सोम है। सोम यहाँ अन्तरिक्षस्थानीयदेवता। व्यञ्जना सुस्पष्ट है। आधार में आग जलाकर हृदय में गलाकर मूर्द्धन्य-चेतना में आरूढ़ हो पाने पर त्रिपुर-भेद किया जा सकता है, उससे साधक विश्वजित् होता है। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि उपसत् तपःशक्ति है (३।६।२।११, १०।२।५।३); स्वधा अथवा स्वप्रतिष्ठा के बल से ही उसकी सृष्टि होती है (१२।१।२।१)।

३. मु. २।१।१

४. तु. ऐ. ब्रा. 'ते देवा अब्रुवन, उपसद उपायाम, उपसदा वै महापुरं जयन्तीति' (१।२३)। यहाँ 'उपसत' के अर्थ में दुर्ग अवरोध का बोध होता है, इस संज्ञा के आक्षरिक अर्थ के अनुसार। उससे असुरगृहीत आधार में देवशक्ति के आवेश की व्यञ्जना सुस्पष्ट है।

उपनिषदों की एक नामतालिका पाई जाती है। उसमें १० उपनिषदों को ऋग्वेद के, १९ उपनिषदों को शुक्लयजुर्वेद के, ३२ उपनिषदों को कृष्णयजुर्वेद के, १६ उपनिषदों को सामवेद के एवं ३१ उपनिषदों को अथर्ववेद के अन्तर्गत बतलाया गया है। यह विभाजन कितना प्रामाणिक है? कहना कठिन है।

विशुद्ध वैदिक-उपनिषदों की सङ्ख्या अधिक नहीं है। वेदों के आरण्यकों के साथ प्रत्यक्ष रूप से जुड़ी यही कुछ उपनिषदें हैं, जिनके नाम हैं - ऐतरेय, कौषीतकी, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य एवं केन। महानारायणोपनिषद् भी तैत्तिरीय आरण्यक के अन्तर्गत है, किन्तु प्राचीन-काल से ही इसकी गणना खिल के रूप में की गई है। अतएव ऐतरेय प्रभृति छह उपनिषदें ही भाषा एवं वाक्यविन्यास की दृष्टि से सर्वाधिक प्राचीन उपनिषदों के रूप में गिनी जा सकती हैं। ये कई उपनिषदें ही ब्राह्मणों जैसी गद्य-शैली में रचित हैं। केवल केनोपनिषद् के प्रथम दो खण्ड पद्य में हैं। पण्डितों का अनुमान है कि ये सभी उपनिषदें बुद्धपूर्व युग की हैं।

इसके अतिरिक्त अन्य कई उपनिषदें भी प्रायशः पद्य में रचित हैं, एवं किसी ब्राह्मण के साथ प्रत्यक्षतः न जुड़े रहने पर भी अनेक लोगों की दृष्टि में बुद्धपूर्व-युग की ही मानी जाती हैं, जिनमें कठ, श्वेताश्वतर, प्रश्न और मुण्डक उपनिषद् हैं। पूर्वोक्त महानारायणोपनिषद् को इस श्रेणी में रखा जा सकता है।

मैत्रायणी और माण्डूक्य उपनिषद् गद्य में रचित हैं, किन्तु वह गद्य प्राचीन ब्राह्मणों के गद्य जैसा नहीं है। उपनिषद् की वैदिक-धारा यहाँ आकर समाप्त हुई है - यह कहा जा सकता है।

सभी उपनिषदों में ईशोपनिषद् स्वतन्त्र है। यह किसी ब्राह्मण के अन्तर्गत नहीं, बल्कि सीधे संहिता का ही परिशिष्ट अथवा उपसंहार है।

सङ्क्षेप में इन कुल चौदह उपनिषदों को सम्प्रदायगत वैदिक तत्त्व-चिन्तन का वाहन कहा जा सकता है।

उपनिषद् की वैदिकधारा इतिहास-पुराण के भीतर से लोक-प्रचलित हुई। उस समय उपनिषद् को श्रुति न कह कर स्मृति कहा गया।

जिस प्रकार महाभारत के अन्तर्गत भगवद्गीता को एक ओर स्मृति और एक ओर उपनिषद् कहा जाता है। उपनिषद् के व्युत्पत्तिगत अर्थ को ध्यान में रखकर हम कह सकते हैं कि गीता की यह संज्ञा निरर्थक नहीं। लोकोत्तर के आवेश से चेतना में परमार्थ का जो स्फुरण होता है, उसका वाणी रूप ही उपनिषद् है। वह स्फुरण वैदिकयुग अथवा सम्प्रदाय के भीतर ही आबद्ध नहीं था। अतएव परवर्तीयुग में वैदिक एवं अवैदिक सभी सम्प्रदाय-प्रवर्तकों ने ही अपनी परम उपलब्धि का नाम उपनिषद् दिया है। इस प्रकार उपनिषद् संज्ञा भारतवर्ष की विचित्र आध्यात्मिक सिद्धि के भीतर समस्वरता और समन्वय स्थापित करने की दिशा में सहायक सिद्ध हुई है। यह उपलब्धि कम नहीं।

वेदोत्तर उपनिषदों को आधुनिक पण्डितों ने विषय-वस्तु के अनुसार सङ्क्षेपतः छह भागों में विभाजित किया है – १. सामान्य वेदान्त २. योग ३. संन्यास ४. वैष्णव, ५. शैव ६. शाक्त, ये छह भाग हैं। कहा जाए तो यह विभाजन कामचलाऊ ढङ्ग का है, इसमें अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति दोनों ही हैं। पेड़ के डाल-पात की तरह भारतवर्ष के विभिन्न, साधना-सम्प्रदाय एक ही काण्ड या तने से निकले हैं। इसलिए उनमें अन्यान्य प्रभाव रहना अत्यन्त स्वाभाविक है।

वेदोत्तर उपनिषदों में इस देश की प्रधान-प्रधान साधना के सम्प्रदायों की सभी उपनिषदें प्राप्त हैं। सामान्य वेदान्तोपनिषदों में प्राचीन औपनिषदिक-धारा का अनुवर्तन होता आया है। ब्रह्मवादी ऋषियों के निकट ही आत्मवादी मुनियों का मुख्य साधन योग था।[1] वैदिक उपनिषदों में कठ

१. योग की चर्चा संहिता में भी है, प्राचीन उपनिषदों में तो है ही। जो अद्वैत-भावना वेदवाद का मूल है, स्वभावतः उससे ही योग की उत्पत्ति होती है। देवता केवल बाहर नहीं, वे हमारे भीतर भी हैं। वे हमारे भीतर आविष्ट होते हैं, हम उनका सायुज्य प्राप्त करते हैं। अतएव एक ही तत्त्व-वस्तु जिस प्रकार ब्रह्माण्ड में अधिदैवत है, उसी प्रकार पिण्ड में अध्यात्म है। इस अध्यात्मबोध अथवा तत्त्व के सम्बन्ध में प्रत्यक् या आत्म परक (Subjective) दृष्टि ही योग की भित्ति है। यह बोध वैदिक-भावना के सभी भागों में ही जाग्रत था। वैदिक योग के सम्बन्ध में विस्तृत आलोचना अन्यत्र की जाएगी।

एवं श्वेताश्वतर दोनों योगोपनिषद् हैं। परवर्ती-युग में जो नाड़ीविज्ञान हठयोग के एक वैशिष्ट्य के रूप में स्थापित हुआ, उसका उल्लेख हम छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कठ, मुण्डक एवं मैत्रायणीय उपनिषदों में भी पाते हैं।[१] योगोपनिषदों में इस योग-विद्या का विस्तार है। उसमें वैदिक धी-योग[२], साङ्ख्योक्त राजयोग एवं शैव हठयोग इन तीनों धाराओं का ही सम्मिश्रण एवं समन्वय दिखाई देता है। ऋषिपन्था एवं मुनिपन्था दोनों में ही संन्यास की विधि थी।[३] बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य की प्रव्रज्या की बात हमें ज्ञात है।

मुण्डकोपनिषद् का भी झुकाव संन्यास की ओर है, यद्यपि उसमें कर्मयोग को अस्वीकार नहीं किया गया है, बल्कि कर्ममार्ग एवं ज्ञानमार्ग दोनों को ही 'सत्य' बतलाया गया है।[४] साङ्ख्योपनिषदों में इस संन्यास मार्ग का ही विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।

वर्तमान में तन्त्र को ही भारतवर्ष का लोक-प्रचलित धर्म कहा जा सकता है। तन्त्र में पञ्चदेवता की उपासना का विधान है। शिव, विष्णु, शक्ति, गणपति एवं सूर्य ये पाँच देवता हैं। उसमें सूर्योपासना मूलतः

---

१. 'शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यः' कठोपनिषद् का एक सुपरिचित श्लोक है (२।३।१६)। यह छान्दोग्य में भी एक प्राचीन श्लोक के रूप में उद्धृत है। उसके भी मूल में वाजसनेय संहिता का यह मन्त्र है - 'सुषुम्णः सूर्यरश्मिः' इत्यादि (१८।४० द्र. नि. २।६।२)। उसके भी मूल में ऋक्संहिता का यह मन्त्र है - 'अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् इत्था चन्द्रमसो गृहे' १।८४।१५; द्र. नि. ४।२५। यह मन्त्र ही योग का बीज है।

२. द्र. ऋ. ३।३।८ टीका।

३. 'यति' अथवा संन्यासी का उल्लेख ऋक्संहिता में है - इन्द्र, का सुवीर्य 'ब्रह्म' अथवा बृहत् की चेतना ले आती है, वही यतियों की इष्टसिद्धि में सहायक होती है (८।३।९)। यहाँ स्पष्टतः यति ही देववादी। मुनिधारा के संन्यासियों का विवरण मुनिसूक्त में प्राप्त होता है। (ऋ. १०।१३६)। किन्तु वहाँ भी देवताओं के साथ मुनियों के किसी विरोध की चर्चा नहीं है। विरोध बाद में प्रकट हुआ।

४. तु. १।२।१ और २।१।१.

वैदिक है।[१] गणपति-उपासना दक्षिण के प्रदेशों में ही विशेष रूप से प्रचलित है। उनके नाम से एक उपनिषद् भी प्राप्त है। वस्तुतः शिव, विष्णु और शक्ति की उपासना ही सारे भारतवर्ष में प्रचलित है। इनके आधार पर एक विशाल अध्यात्म-शास्त्र की भी रचना हुई है। वैदिक-साहित्य में उनका स्थान कुछ सङ्कुचित है। तब भी वे इतिहास-पुराण के एक बड़े भाग से जुड़े हुए हैं। उनको लेकर प्रचुर दार्शनिक चिन्तन भी हुआ है। इन सब भावनाओं के एक अपौरुषेय उत्स की कल्पना करने पर ही वेदोत्तर शैव, वैष्णव और शाक्त उपनिषदों की रचना हुई। किन्तु जिस प्रकार इन उपनिषदों की 'श्रुति' के रूप में गणना की जाती है, उसी प्रकार शैव 'आगम', वैष्णव 'संहिता' और शाक्त 'तन्त्रों' को भी 'श्रुति' कहा जाता है। यद्यपि वे सब रचना-शैली में पौराणिक-साहित्य के ही सगोत्र हैं।[२] वैदिक उपनिषदों में श्वेताश्वतर उसी प्रकार एक शैव उपनिषद् है, जिस प्रकार महानारायणोपनिषद् अंशतः वैष्णव है।'

प्राचीन और अर्वाचीन सब मिलाकर इन एक सौ आठ उपनिषदों के भीतर से भारतवर्ष का मानस अनजाने एक धर्म-समन्वय की ओर अग्रसर हुआ। साम्प्रदायिक-पार्थक्य होने पर भी किसी श्रुति को कोई अमान्य नहीं कर सकता, अतएव स्वकीय भावना के साथ दूसरे की भावना के समन्वय की चेष्टा अपने आप ही आ जाती है। इस कारण औपनिषद् भावना भारतवर्ष की ऐक्य-साधना का एक अपरिहार्य साधन है।

---

१. लक्ष्मणदेशिकेन्द्र ने अपने शारदातिलक तन्त्र के चतुर्दश पटल में सौरप्रकरण के अन्तर्गत अग्नि, सूर्य, सोम इन तीन देवताओं के मन्त्र और उपासना-विधि का परिचय दिया है। अग्नि, इन्द्र (= सूर्य), सोम-ये तीन देवता ही ऋक्संहिता के भी प्रधान देवता हैं।

२. कुल्लूक ने मनुसंहिता की टीका में हारीत से उद्धरण दिया है 'श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च' (२।१)। श्रुति संज्ञा की यह अर्थव्याप्ति लक्षणीय है। ब्राह्मण्य-भावना प्राकृत या असंस्कृत को भी संस्कृत करके अपनी जात-बिरादरी में सम्मिलित करना चाहती है, यह उसका एक मूल्यवान् गुण है। इससे ही भारतवर्ष की संस्कृति की अभिन्नता का आविर्भाव हुआ है।

अब प्रत्येक संहिता के साथ जुड़ी प्राचीन वैदिक उपनिषदों का क्रमशः परिचय प्राप्त करना है। उपनिषत्-साहित्य का परिचय लगभग हम सबको ही प्राप्त है। इसलिए इस उपलक्ष्य में हम परिचय को कुछ विस्तार देने की चेष्टा करेंगे, जिससे संहिता की भावना के साथ उपनिषद् की भावना का सम्बन्ध स्पष्ट होकर उभरे एवं इसके बारे में हमारी कुछ भ्रान्त धारणायें भी दूर हों।

[२]

ऋग्वेद की दो उपनिषदें हैं - ऐतरेय आरण्यक के अन्तर्गत **ऐतरेयोपनिषद्** और शाङ्खायन आरण्यक के अन्तर्गत **कौषीतक्युपनिषद्**। दोनों ही गद्य में रचित हैं।

ऐतरेयोपनिषद् के तीन अध्याय हैं।[१] मूल प्रतिपाद्य आत्म-तत्त्व है। 'प्रज्ञानं ब्रह्म' यह महावाक्य इस उपनिषद् के अन्तर्गत है। आधुनिक पण्डितों के विचार से यही सर्वप्राचीन उपनिषद् है।[२]

उपनिषद् के प्रथम अध्याय में सृष्टि-रहस्य का वर्णन है। यह वर्णन निश्चित रूप से रहस्यविदों की सन्धा-भाषा में है। उसका सार संक्षेप यह है कि यह सब जो कुछ है, उसकी सृष्टि आत्मा से ही हुई है। सृष्टि के मूल में आत्मा की 'ईक्षा' अथवा सङ्कल्पयुक्त दर्शन है। उससे 'लोक' अथवा भुवनसमूह की प्रथम सृष्टि हुई। सबसे ऊपर जो लोक है, उसका नाम 'अम्भः' अथवा नीहारिका है, और सबसे नीचे 'अप्' अथवा महाप्राण का समुद्र है। दोनों के मध्य 'मरीचि' अथवा रोशनी की झिलमिलाहट है और 'मर' अथवा मर्त्य पृथिवी है। तत्पश्चात् आत्मा ने उस महाप्राण के समुद्र से एक पुरुष को मूर्तरूप में प्रस्तुत किया। उस पुरुष के विभिन्न अवयव के रूप में लोकपाल देवताओं का आविर्भाव

१. ऐ. आ. २।४।६
२. कुछ विद्वान् बृहदारण्यक को सर्वप्राचीन कहते हैं।

हुआ। ये देवता वस्तुतः हमारे इन्द्रियगोलक, इन्द्रिय एवं इन्द्रियों के अधिष्ठान के चैतन्य अथवा चित्स्वरूप आत्मा हैं[१], जो यहाँ विलोम-क्रम से वर्णित है'। उसके बाद उन देवताओं में भूख और प्यास जागी, उन्होंने उसकी तृप्ति के लिए 'आयतन' अथवा 'आश्रय' चाहा। समस्त प्राणियों में 'पुरुष' अथवा मनुष्य श्रेष्ठ आयतन है, देवताओं ने अनुलोम-क्रम से उसमें अनुप्रवेश किया। भूख-प्यास ने उस आविष्ट आयतन का आश्रय लिया। उस समय आत्मा ने प्राण-समुद्र को अभितप्त करके एक मूर्ति निर्मित की, वही 'अन्न' है। पुरुष ने मृत्यु द्वारा अधिष्ठित अपानवायु के माध्यम से उस अन्न को ग्रहण किया। मरलोक अथवा मर्त्य पृथिवी पर जीव-यात्रा शुरू हो गई। आत्मा ने 'सीमा' अथवा ब्रह्मरन्ध्र को विदीर्ण करके 'विदृति' नाम के जिस द्वार से होकर आधार में प्रवेश किया, वह द्वार या (दुवार) 'नान्दन' अर्थात् आनन्द का हेतु है।[२] इस आवेश के पश्चात् आधार में आत्मा के तीन 'आवसथ' अथवा अधिष्ठानभूमि की रचना हुई। तत्पश्चात् आत्मा ने जीव-यात्रा यापन करते हुए धीरे-धीरे आधार में परिव्याप्त ब्रह्मरूप में स्वयं का दर्शन किया। दर्शन इन्द्र का ही किया।[३]

द्वितीय अध्याय में आत्मा के तीन जन्मों की कथा है। आत्मा का प्रथमजन्म पुरुष द्वारा स्त्री में निषिक्त वीर्य से भ्रूण रूप में, द्वितीयजन्म स्त्री के गर्भ से पृथिवी पर कुमार-रूप में। तृतीयजन्म मृत्यु के पश्चात्

१. यहाँ साङ्ख्य के त्रिगुण के अनुरूप कल्पना है।
२. यहाँ सुषुम्णमार्ग का सन्धान प्राप्त हुआ। ऋक्संहिता में 'सुम्न' का अर्थ 'सुख' है; 'सुषुम्ण' परम सुख है। वही यहाँ नान्दन-दुवार। तु०. याभिर् (पावमानीभिः) गच्छति नान्दनम्। ऋ. खिल ३।१०।६ (द्र. ऋ. ९।६७।३१,३२)
३. अतएव ऋक्संहिता के इन्द्र, ब्रह्म, हैं आत्मा हैं, वे ही इस आधार में अनुप्रविष्ट; यह ऋग्वेद की उपनिषद् अथवा सार-वस्तु है।

उत्क्रान्ति के फलस्वरूप उस स्वर्ग-लोक में एक आप्तकाम अमृतसम्भूति जैसे ऋषि वामदेव का हुआ था।[१]

तृतीय अध्याय में आत्मा के स्वरूप की चर्चा है। आत्मा से ही जगत् की सृष्टि हुई, आत्मा से ही जीव का जन्म हुआ। तो फिर प्रश्न उठता है कि यह आत्मा है क्या? आत्मा स्वरूपतः प्रज्ञान है और प्रज्ञान ही हमारी लौकिक-चेतना की अनेक वृत्तियों के रूप में व्यक्त होता है। केवल अन्तर्जगत् ही नहीं, बल्कि यह बहिर्जगत् भी प्रज्ञान ही है। प्रज्ञान ही सब कुछ की प्रतिष्ठा है, प्रज्ञान ही ब्रह्म है। इस प्रज्ञान द्वारा ही आप्तकाम अमृतपद प्राप्त किया जाता है।[२]

---

१. 'इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते (२।१।४ के अर्थ में पुनर्जन्म का बोध होता है। किन्तु यह पुनर्जन्म इहलोक में नहीं 'अमुष्मिन् स्वर्गे लोके' नहीं, तो वामदेव के उदाहरण के साथ सङ्गति नहीं बैठती। 'प्रयन्नेव' यहाँ 'एव',पद लक्षणीय है। मृत्यु के साथ-साथ ही लोकान्तर में जन्म होता है। बौद्ध-भावना में भी ऐसी ही बात है। जैसे इहलोक से 'तुषित स्वर्ग जन्म'। वहाँ मृत्युक्षण को च्युतिक्षण कहा जाता है। एक ही आत्मा पुत्ररूप में लोकसन्तति के लिए अपनी विभूति की एक धारा यहाँ छोड़कर दूसरी एक धारा में अमृतलोक चला गया – यही इस अध्याय का तात्पर्य है। किन्तु यहाँ वस्तुतः पुनर्जन्मवाद की चर्चा नही की जा रही है। तुलनीय त्रिर्वै गृहपते पुरुषो जायते. पितुरेवाग्रेऽधिजाऽथ मातुरथ यज्ञात्' (जैमिनीयोपनिषद् ब्रा. ३।२।३)।

२. कैसे?; इस उपनिषद् में कोई भी निर्देश नहीं है। कठोपनिषद् में प्रज्ञान को आत्मोपलब्धि का साधन बतलाया गया है (१।२।२४)। उसके पूर्व के मन्त्र में ही बतलाया गया है कि यह आत्मा प्रवचन, मेधा अथवा श्रुति द्वारा प्राप्त नहीं होता, बल्कि वह जिसको वरण करता है, वही उसे प्राप्त करता है। अतएव प्रज्ञान यहाँ बोधि (SPIRITUAL INTUITION) अथवा सहज ज्ञान है। ऋक्संहिता में प्रजानन् यह विशेषण कई स्थलों में प्रयुक्त है। कई प्रयोग लक्षणीय हैं : हृदा मतिं ज्योतिरनु प्रजानन् ३।२६।८ 'प्रजानन् विद्वाँ' उप याहि सोमम् ३।२९।१६, ३५।४,८; विश्वामविन्दन् पथ्यामृतस्य प्रजानन्निता नमसा विवेश ३।३१।५ (पूषा) आ च परा च चरति प्रजानन् १०।८७। (उषाः) प्रजानतीव न दिशो मिनाति १।१२४।३, ५।८०।४। प्रज्ञान के साथ अग्नि का हम विशेष सम्बन्ध देखते हैं। प्रज्ञान ही विद्या है। एवं हृदय उसका साधन है। देवोपासना में चेतना के जिस वैशारद्य के परिणाम स्वरूप हृदय में उनके सायुज्य की अनुभूति होती है, वही प्रज्ञान है। इस कारण ही प्रज्ञान ब्रह्म है। संहिता की भावना का अनुवर्तन उपनिषद् में इस रूप में हुआ है।

शाङ्खायनारण्यक के तृतीय अध्याय से षष्ठ अध्याय तक चार अध्यायों को लेकर **कौषीतक्युपनिषद्** है। जिसका प्रतिपाद्य देवयान और पितृयान, प्राणविद्या एवं आत्मविद्या है।

प्रथम अध्याय में देवयान और पितृयान की चर्चा है। यह अध्याय एक उपाख्यान से शुरू होता है। ऋषि आरुणि के पुत्र श्वेतकेतु जब राजा चित्र गाङ्ग्यायनि के पास गए, तब राजा ने उनसे पूछा – 'विश्व में एक निगूढ़ (संवृतम्) तत्त्व है और उसका एक मार्ग भी है ; क्या तुम मुझे वहाँ प्रतिष्ठित करोगे? श्वेतकेतु इस प्रश्न का मर्म नहीं समझ पाए और लौटकर पिता के पास आ गए। इसके बाद पिता-पुत्र दोनों राजा के पास गए और उनसे विनीत शिष्य की तरह देवयान मार्ग और ब्रह्मलोक-प्राप्ति की रहस्य-विद्या अर्जित की।[१]

राजा चित्र ने उन्हें जो बतलाया, उसका मर्म यह है – मृत्यु के पश्चात् सभी चन्द्रमा पर जाते हैं। चन्द्रमा स्वर्गलोक के द्वार हैं। वहाँ जाने पर वे सबसे पूछते हैं कि 'तुम कौन हो?' जो इस प्रश्न का जवाब दे

---

१. यह कहानी कुछ परिवर्तन के साथ छान्दोग्य (५।३-७) एवं बृहदारण्यक (६।२) दोनों उपनिषदों में ही पाई जाती है, जहाँ राजा का नाम प्रवाहण जैवलि है। वे पञ्चालों के राजा हैं। आरुणि एवं श्वेतकेतु का प्रसङ्ग फिर छान्दोग्य के षष्ठ अध्याय में है। इस पूरे अध्याय में आरुणि के 'एक विज्ञान में सर्वविज्ञान' का उपदेश है। प्रसिद्ध महावाक्य 'तत्त्वमसि' का उल्लेख भी यहाँ ही है। आरुणि यहाँ निस्सन्देह ब्रह्मवित् हैं। उन्होंने भी मृत्यु के पश्चात् की अवस्था का वर्णन अति सङ्क्षेप में किया है (६।८।६); किन्तु वहाँ पितृयान-देवयान का प्रसङ्ग नहीं है। लगता है, इस तथ्य की एक विवृति वे एक राजा के पास से एकत्र करते है; वह राजा एक के मत में चित्र है, दूसरे एक के मत में प्रवाहण है। इसके कारण उपनिषद् में क्षत्रिय-प्रभाव को लेकर आधुनिक-पण्डितों में बहुतों ने थोड़ा हंगामा खड़ा किया है। अन्ततः देवयान-पितृयान मार्ग का तत्त्व विशेष रूप से क्षत्रिय-सम्प्रदाय का आविष्कार नहीं है, उसका प्रमाण ऋक्संहिता में ही है। उसकी चर्चा बाद में करेंगे।

पाता है, उसके लिए वे रास्ता छोड़ देते हैं और जो उत्तर नहीं दे पाते उन्हें फिर कृष्णपक्ष की सहायता से वृष्टिधारा के साथ मर्त्यलोक में भेज देते हैं। उस प्रश्न के उत्तर में ऋतुओं को सम्बोधित करते हुए कहना होगा। 'हे ऋतुगण, पृथिवी पर जन्म लेकर विद्या-अविद्या के बीच झूलता रहा, अब मुझे अमृतलोक में ले जाओ। सत्य और तपस्या के बल पर कहता हूँ कि मैं ही ऋतु हूँ, मैं ही आर्तव (ऋतुजात) हूँ'।[१] चन्द्रमा फिर पूछते हैं 'तुम कौन हो?' वह कहता है, 'मैं, तुम ही हूँ'। तब चन्द्रमा उसे रास्ता देते हैं।

मुक्त (उपनिषद् की भाषा में 'अतिसृष्ट' अर्थात् मर्त्यलोक के आकर्षण से मुक्त होने पर जिनको लोकोत्तर की ओर डाल दिया गया है) आत्मा तब देवयान के मार्ग पर क्रमशः अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्र और प्रजापति के लोकों को पार करके ब्रह्मलोक की ओर चले जाते हैं।[२] ब्रह्मलोक में 'आर' ह्रद, 'येष्टिहा' मुहूर्त, 'विजरा' नदी, 'इल्य' वृक्ष,

---

१. यहाँ ऋतु का उल्लेख लक्षणीय है। छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक में देवयान और पितृयान की व्याख्या मुख्यतः काल के आधार पर की गई है। ऋक्संहिता में काल की प्राचीन संज्ञा 'ऋतु' है। वहाँ एक जगह कहा जा रहा है 'विद्वान् पथ ऋतुशो देवयानान्' – १०।९८।११ यहाँ हम देवयान के साथ ऋतु अथवा काल का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त करते हैं। देवयान के मार्ग पर चलने के लिए काल को समझ कर चलना होगा। अग्नि उस काल की खबर रखते हैं। उत्तरायण में यज्ञ करना होगा, क्योंकि तब दिन का प्रकाश बढ़ता जाता है। और दिन का प्रकाश ही प्रत्यक्ष देवता है। मरते समय भी मनुष्य यदि उत्तरायण में मरता है, तो चिता की आग उसे देवयान के मार्ग पर ले जाएगी। इस मन्त्र में ऋतु के उल्लेख से इन भावनाओं को उद्धृत किया जा सकता है। कौषीतक्युपनिषद् में भी इस कारण विशेष रूप से ऋतु को सम्बोधित करके ही लोकान्तरित जीव बात करता है।

२. तैत्तिरीयोपनिषद् की आनन्दमीमांसा में लोक-संस्थान का विवरण इस प्रकार है– मनुष्यलोक, मनुष्यगन्धर्वलोक, देवगन्धर्वलोक, पितृलोक, आजानज देवलोक, कर्मदेवलोक, देवलोक, इन्द्रलोक, बृहस्पतिलोक, प्रजापतिलोक, ब्रह्मलोक।

'सालज्य' नगर, 'अपराजित' पुरी, 'इन्द्र-प्रजापति' द्वारपाल[१], 'विभु' सभा, 'विचक्षण' वेदि, और 'अमितौजा:' पर्यङ्क हैं। इसके अलावा 'मानसी' और चाक्षुषी नाम की दो प्रिया हैं, जो विश्वभुवन के फूल से माला गूँथ रही हैं।[२] उनके विजरा नदी के निकट आते ही ब्रह्मा को उसकी जानकारी प्राप्त हो जाती है। तत्पश्चात् पाँच सौ अप्सराएँ दौड़कर आती हैं और उन्हें ब्रह्मालङ्कार से अलङ्कृत करती हैं।[३] फिर वे मनोबल से आरह्रद पार कर जाते हैं, जहाँ आने पर 'सम्प्रतिविद्' डूब जाते हैं।[४] तत्पश्चात् सारे येष्टिहा मुहूर्त उनके सामने से भाग जाते हैं, वे मनोबल के सहारे 'विजरा नदी' भी पार कर जाते हैं, तब फिर वे पाप-पुण्य से मुक्त हो जाते हैं। वे द्वन्द्वातीत होकर देखते हैं कि उनके पैरों के नीचे रथचक्र के आवर्तन जैसा अहोरात्र का आवर्त्तन चल रहा है।[५] उस समय

---

१. बौद्ध-साहित्य में वैदिकधर्म पर बौद्धधर्म की विजय दिखाने के लिए प्रायः ही शक्र ब्रह्म अथवा इन्द्र प्रजापति को बुद्ध के आज्ञाकारी के रूप में बतलाया गया है। उपनिषद् में भी हम देखते हैं कि इन्द्र-प्रजापति ब्रह्मप्राप्ति के द्वार हैं, किन्तु संहिता में वे परमपुरुष हैं। इस पुरुष को जब कोई सञ्ज्ञा या उपाधि नहीं दी जाती, तब संहिता में वे केवल 'पुरुष' अथवा 'देव' हैं। जब वे निरुपाधिक होते हैं, तब 'एकं तत्' अथवा एकं सत् हैं'। संहिता की ये भावनाएँ ही उपनिषद् के ब्रह्मवाद का आधार हैं।

२. ये स्पष्टतः ब्रह्मशक्ति हैं। तुलनीय, केनोपनिषद् की 'हैमवती स्त्री' (३।१२)। यहाँ शक्तिवाद का बीज प्राप्त होता है।

३. तुलनीय. १।१।२५-२६। वहाँ यम ने नचिकेता को आत्मविद्या देने के पहले दैवी प्रलोभनों के साथ 'रामाओं' या अप्सराओं का लोभ देकर लुभाना चाहा, किन्तु नचिकेता ने उसको स्वीकार नहीं किया। योगदर्शन के अनुसार जब योगी मधुमती भूमिका में होते हैं, तब उन्हें अनेक प्रलोभनों का सामना करना पड़ता है। वे वैराग्यबल से उन सब प्रलोभनों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं (पात. ३/५१ व्यास भाष्य)।

४. 'सम्प्रतिविद्' वे हैं, जो केवल वर्तमान को ही देखते हैं अर्थात् इहलोक को ही जानते हैं, परलोक अथवा लोकोत्तर को जानते नहीं या मानते नहीं। वे ही कहते है 'प्रेत्य नास्ति' (कठ, १।१।२०), 'अयं लोको नास्ति पर:' (कठ. १।२।६ ये अहोरात्र के आवर्तन के मध्य में ही अटके हैं।

५. तु. तै. ब्रा. ३।११।७।४।

से ही उनके आधार का ब्राह्म-रूपान्तर होता रहता है। वे धीरे-धीरे इल्य वृक्षादि पार करके अमितौजा पर्यङ्क के निकट आकर उपस्थित होते हैं, जिसके ऊपर ब्रह्मा विराजमान हैं। यह पर्यङ्क प्राण है और जिस 'विचक्षण' वेदि के ऊपर वह स्थापित किया गया है, वह प्रज्ञा है। मुक्त आत्मा के ब्रह्मपर्यङ्क पर आरोहण करते समय ब्रह्मा उनसे पूछते हैं, 'तुम कौन हो?' वे उत्तर देंगे कि 'मैं ऋतु हूँ, मैं आर्तव हूँ। मैं आकाश से उत्पन्न हुआ हूँ। मैं संवत्सर का तेज हूँ। सर्वभूत की आत्मा हूँ। तुम भी सर्वभूत की आत्मा हो। जो तुम हो, मैं भी वही हूँ।'[१] ब्रह्मा कहते हैं, 'मैं कौन हूँ?' वे कहेंगे, 'तुम सत्य हो।', 'सत्य क्या है?' "जो देवता एवं प्राण से अलग है, वह सत् है, और देवता एवं प्राण त्यम् है। सब मिला कर यह सब ही 'सत्यम्' है। तुम ही यह सब हो। प्राण, मन, वाक्, चक्षु, श्रोत्र[२], हस्त, पाद, उपस्थ, शरीर एवं प्रज्ञा द्वारा मैं तुमको ही प्राप्त करता हूँ।"

चित्र की विवृति के साथ-साथ प्रथम अध्याय भी यहाँ समाप्त हो गया। चित्रकथित इस ब्रह्मविद्या का एक नाम 'पर्यङ्कविद्या' है।

द्वितीय अध्याय में छोटी-छोटी कई विद्याओं का उपदेश है। शुरू में प्राणविद्या है। कौषीतकि और पैङ्ग्य ये दो ऋषि उसके प्रवक्ता हैं। दोनों के ही विचार से प्राण ब्रह्म है। कौषीतकि कहते हैं कि वाक्, चक्षु, श्रोत्र एवं मन प्राण की ही वृत्तियाँ या तरङ्गें हैं, और पैङ्ग्य कहते हैं कि वाक् से चक्षु, चक्षु से श्रोत्र, श्रोत्र से मन एवं मन से प्राण अन्तरतर है, अतएव प्राण ही सबका केन्द्र है। अर्थात् एक ने प्राण को ब्रह्म कह कर उन्मेष

---

१. यस्त्वमसि सोऽहमस्मि।

२. ये कई ब्रह्मपुरुष अथवा स्वर्गलोक के द्वारपाल के रूप में विख्यात हैं (द्र. छा. ३।१३)। उपनिषद् के अनेक स्थलों पर उनका उल्लेख है। कर्मेन्द्रिय में वाक्, ज्ञानेन्द्रिय में चक्षु एवं कर्ण; उसके अतिरिक्त प्राण एवं मन - ये पाँच ब्रह्मविद्या के मुख्य साधन हैं। याज्ञवल्क्य ने उनके साथ हृदय को भी जोड़ दिया है (बृ. ४।१)।

के पक्ष का और दूसरे ने निमेष के पक्ष का दिग्दर्शन करवाया। दोनों के ही विचार से प्राण-ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए अयाचक होना होगा।[१]

कामना-सिद्धि के लिए इस प्राणविद्या के दो प्रयोग हैं - एक का नाम 'एकधनावरोधन' और दूसरे का 'दैवस्मर' है। दोनों में ही पुण्यतिथि में प्राणाङ्ग पञ्चदेवता प्रज्ञा के प्रति होम करना पड़ता है। क्रिया के मूल में स्पष्टत: इन्द्रियवृत्ति को संयत एवं एकाग्र करके सङ्कल्पशक्ति को सुतीव्र करना है, जिससे केवल इच्छा के जोर से ही अभीष्ट प्राप्त होता है। समस्त काम्यकर्म की ही यही मूल रीति है। प्राण के अतिरिक्त प्रज्ञा की भी आहुति देने के विधान से समझ में आता है कि इस तरह की इष्टसिद्धि प्रज्ञावान् की ही होती है। यथार्थशक्ति प्रज्ञा में है। इसलिए वैदिक-भावना में ब्रह्म के अर्थ में एक साथ ज्ञान एवं शक्ति दोनों का ही बोध होता है। जिसको ज्ञान है, उसकी ही शक्ति है। उपर्युक्त अयाचक वृत्ति के साथ इस भावना की तुलना की जा सकती है। एक में साधक उदासीन अथवा केवल होता है और एक में विभूतिमान्, ऐश्वर्यवान् होता है।

एक और साधना प्रतर्दन[२] का 'संयमन' अथवा 'आन्तर अग्निहोत्र' है। यह भी प्राणविद्या के अन्तर्गत है।

यह साधना कुछ ऐसी है - जैसे लोग जब बात करते हैं, तब वे साँस नहीं ले सकते और जब वे साँस लेते हैं, तब बात नहीं कर सकते। इस स्थिति की भावना इस प्रकार करनी होगी, मानो बात करते समय वे वाक् में प्राण की आहुति दे रहे हैं और चुप रहने पर प्राण में वाक् की आहुति दे रहे हैं। ये दोनों आहुतियाँ अन्तहीन अमृत आहुतियाँ हैं। जिसे लोग जागते अथवा सोते, सब समय देते जा रहे हैं। यही यथार्थ

---

१. 'अस्तेयं प्रतिष्ठायां सर्व रत्नोपस्थानम्' जिसे कोई लोभ नहीं, उसके पास सभी अच्छी-अच्छी वस्तुएँ उपस्थित हो जाती है (पात. २.३७)।

२. 'प्रतर्दन' काशी के राजा थे।

अग्निहोत्र है। इस अग्निहोत्र के करते रहने के कारण पुराने लोग फिर कर्ममय अग्निहोत्र नहीं किया करते थे।[१]

तत्पश्चात् शुष्क भृङ्गार की 'उक्थविद्या' है। यह भी प्राणविद्या के अन्तर्गत है। शुष्क भृङ्गार कहते हैं - उक्थ ही ब्रह्म है, ऋक्, यजुः, साम इन तीनों का पर्यवसान उक्थ में है; उक्थ ही धनुष है; प्राण ही उक्थ है; फिर प्राण ही त्रयीविद्या की आत्मा है।[२]

फिर सर्वजित् कौषीतकि की प्रातः, दोपहर एवं सन्ध्या में आदित्य की उपासना है - जो निर्मल होने के लिए पाप दूर करती है।[३]

तत्पश्चात् प्राण, सन्तान और पशु-कल्याण की कामना करते हुए कई गृह्यकर्मों का उपदेश है। उसके बाद फिर एक प्राणविद्या का उपदेश है। तब प्राण का नाम 'दैवः परिमरः' है अर्थात् जिसके भीतर समस्त देवशक्तियों का पर्यवसान होता है। इस विद्या की दो धाराएँ-अधिदैवत और अध्यात्म हैं। अधिदैवत की व्याख्या इस प्रकार है -

ब्रह्म अग्नि के रूप में जल उठते हैं, किन्तु अग्नि के बुझ जाने पर ब्रह्म भी बुझ जाते हैं, मर जाते हैं। उस समय अग्नि का तेज सूर्य में प्रवेश करता है, ब्रह्म सूर्य होकर जल उठते हैं। इसी प्रकार सूर्य का तेज

१. इस साधना में सब समय आहुति की भावना को अन्तर में जाग्रत रखना होगा। फिर निःश्वास-प्रश्वास के प्रति भी हर समय सजग रहना पड़ेगा। इसके साथ तुलनीय है, गीतोक्त संयमाग्नि में इन्द्रियकर्म एवं प्राणकर्म का होम (४।२६-२७)।
२. उक्थ (< √वच् ; तु. 'विद-थ' विद्या) वाक् का नामान्तर है। धनुष के साथ तुलना करने से बोध होता है, उक्थ प्रणव है। तुलनीय. मुण्डक 'प्रणवो धनुः' (२।२।४)। यहाँ उक्थ जिस प्रकार ऋक्, यजुः, साम का सार है, प्रणव भी उसी प्रकार वही है। (छा. १।१।९, २।२३।२,३; तु. ऋचः प्रणव उक्थ शंसिनाम् तै. सं. ३।२।९।९)। अनुमान किया जा सकता है, 'विदथ' जिस प्रकार विद्या की साधना है, उसी प्रकार 'उक्थ' भी वाक् की साधना है एवं यह वाक् प्रणव है। शुष्क भृङ्गार की साधना प्राण के माध्यम से प्रणव जप की साधना है।
३. सावित्रोपासना के साथ प्रचलित त्रिसन्ध्या तुलनीय।

चन्द्र में, चन्द्र का तेज विद्युत् में, विद्युत् का तेज दिशाओं में अर्थात् शून्य में प्रवेश कर जाता है। किन्तु हर बार उनका प्राण वायु में रह जाता है, उस वायु से ही फिर उनका आविर्भाव होता है। अतएव वायुरूपी प्राण ही सर्वाधार है। फिर अध्यामदृष्टि से देखने पर वाक् चक्षु में प्रवेश करती है। चक्षु श्रोत्र में, श्रोत्र मन एवं प्राण में प्रवेश करता है। किन्तु इनका प्राण हर बार प्राण में ही प्रविष्ट होता है। अतएव प्राण ही सर्वाधार है।[१] प्राण रहने से ही तो वाक्-चक्षु, चक्षु-श्रोत्र एवं मन की सार्थकता है।

यह प्राण प्रज्ञात्मा है अर्थात् प्राण एवं प्रज्ञा एक ही तत्त्व के अगल-बगल हैं।[२] मृत्यु के पश्चात् वाक् इत्यादि प्राणवृत्तियाँ वायु में प्रवेश करके आकाश हो जाती हैं और इसी तरह स्वर्लोक में उत्क्रान्त हो जाती हैं।[३]

तत्पश्चात् 'पितापुत्रीय सम्प्रदान' के उल्लेख के साथ यह अध्याय समाप्त हुआ है। मृत्यु को आसन्न देखकर पिता अपनी इन्द्रिय-मन-प्राण की समस्त वृत्तियों एवं प्रज्ञा को पुत्र में निहित करते हैं और पुत्र भी उसे ग्रहण करते हैं। इसके पश्चात् पिता यदि स्वस्थ हो जाएँ, तो वे परिव्राजक

१. यह निवृत्ति अथवा प्रलय की साधना है। विश्व का लय प्राण में होता है। अतएव प्राण ही सर्वयोनि ब्रह्म है। आध्यात्मिक व्याख्या में पाँच ब्रह्मपुरुषों का उल्लेख प्राप्त होता है। अधिदैवत व्याख्या के साथ तुलनीय 'न तत्र सूर्यो भाति' इत्यादि (क. २।२।१५)
२. तु. ब्रह्मसूत्र में आकाश-प्राण का युग्म (१।१।२२-२३)।
३. पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः उसके बाद चतुर्थलोक 'स्वः'; जो विष्णु का 'परमधाम' है (द्र. ऋ. ३।२।७ टीका)। यहाँ उत्क्रान्ति का विवरण अत्यन्त सङ्क्षिप्त एवं प्राञ्जल है। व्यष्टिप्राण समष्टिप्राण में मिलकर शून्यवत् हो जाता है और उस शून्य स्वर्ज्योति में झिलमिलाता रहता है। मृत्यु के पश्चात् प्रकाश से झिलमिलाते आकाश में ही लौट जाता है। वैदिक चिन्मयप्रत्यक्षवाद की दृष्टि से जीवन-मरण के रहस्य का इससे सुन्दर और विकल्पहीन समाधान और हो नहीं सकता।

होकर घर छोड़ देंगे, या फिर जितने दिन संसार में रहेंगे, पुत्र के अधीन होकर ही रहेंगे।[१]

तृतीय अध्याय में आत्मविद्या का उपदेश है। उपदेष्टा इन्द्र और श्रोता दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन हैं।[२]

इन्द्र कहते हैं "मैं प्राण हूँ। प्राण का स्वरूप प्रज्ञा है। समस्त इन्द्रियों की वृत्तियाँ प्राण के ही आश्रय में हैं। सोते समय इन्द्रियाँ प्राण में प्रवेश करती हैं और जाग्रत-अवस्था में प्राण से ही बाहर आ जाती हैं। मृत्यु के समय भी इन्द्रियों की वृत्तियाँ प्राण में लीन हो जाती हैं, और प्राण उनको लेकर "उत्क्रमण" करता है। प्राण से ही इन्द्रियाँ विषय का दोहन

१. बृहदारण्यक में इस अनुष्ठान को 'सम्प्रत्ति' (< सम् प्र √दा+ति) कहा गया है। – द्रष्टव्य १।५।१७।
२. यहाँ भी देखते हैं कि इन्द्र ही ब्रह्म हैं। ऋग्वेद की दोनों उपनिषदों में ही परमदेवता इन्द्र हैं, यह लक्षणीय है। परवर्तीयुग में बौद्ध-प्रभाव के कारण इन्द्र स्वमहिमा से च्युत हो गए, फिर उनके स्थान के अधिकारी रुद्र एवं भग अथवा विष्णु हुए। यहाँ बतलाया जाता है कि सत्य ही इन्द्र हैं। इन्द्र ने प्रतर्दन से कहा – 'विशेष रूप से मुझे ही जानो, इस विज्ञान को ही मैं मनुष्य के पक्ष में कल्याणतम रूप में मानता हूँ।' तत्पश्चात् इन्द्र की तीन कीर्तियों का उल्लेख किया है। एक त्रिशीर्ष (त्रिशिर) का वध, दूसरी अरुर्मुख यतियों को भेड़िये के मुँह में डाल देना (द्र. ऐ. ब्रा. ७।२८, वहाँ यतियों का नाम 'अरुर्मुख')। ये 'अरुर्मुख' अथवा लालमुँहे यति कौन हैं? बोध होता है, वे इन्द्रद्वेषी हैं, अतएव देववादी नहीं। तैत्तिरीयारण्यक के अनुसार जिन ऋषियों ने आरुणकेतुक अग्निचयन किया था, उनमें यह सम्प्रदाय ऋक्संहिता के मुनिसूक्त (१०।१३६) के मुनियों जैसा ही 'वातरशन' अर्थात् नग्न (१।२४।४) उनके साथ यतियों का कोई सम्बन्ध है क्या? तीसरी कीर्ति है द्युलोक में प्रह्लादीयों का, अन्तरिक्ष में पौलुमों का एवं पृथिवी में कालकञ्जों का तर्दन (बेधन) करना। तीनों ही असुरशक्तियाँ हैं, जिन्होंने मनोभय, प्राणमय और अन्य लोक में डेरा डाल रखा है। तु. त्रिपुरनाशन, ग्रन्थित्रयभेद एवं सप्तशती में देवी के तीन चरित्र। इन्द्र यहाँ पुनः कहते हैं – 'मुझे जो जानता है, वह किसी कर्म द्वारा ही चाहे चोरी, भ्रूणहत्या, मातृवध अथवा पितृवध ही हो, लोकभ्रष्ट नहीं होता।' यह वेदान्त का 'न पुण्यम् न पापम्' ही है।

करके बाहर स्थापित करती हैं, अर्थात् इन्द्रियों के माध्यम से प्राण ही विषय रूप में प्रतिभात होता है।[१] प्रज्ञा ही इन्द्रियों में अधिष्ठित होकर विषय-ज्ञान को जन्म देती है, एवं उसके साथ जीव का व्यवहार सिद्ध करती है।[२] प्रज्ञा के बिना ज्ञान अथवा व्यवहार कोई भी सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए इन्द्रियों की वृत्ति के मूल में जो प्रज्ञा है, उसे ही जानने की चेष्टा करना उचित है। एक प्रज्ञा ही दश प्रज्ञामात्राओं में विभक्त होती है, वही इन्द्रियवृत्ति है। फिर उसके अनुरूप दश भूतमात्राएँ हैं। प्रज्ञामात्रा और भूतमात्रा अन्योन्याश्रित हैं। भूतमात्रा प्रज्ञामात्रा में अर्पित है और प्रज्ञामात्रा प्राण में अर्पित है। फिर यह प्राण ही प्रज्ञात्मक, आनन्द, अजर, अमृत है।[३]

चतुर्थ अध्याय में इस तत्त्व का ही उपदेश है। जिसमें राजा अजातशत्रु एवं ब्राह्मण दृप्त बालाकि के उपाख्यान का सहारा लिया गया है।[४] बालाकि को अहङ्कार था कि वे ब्रह्मविद् हैं। इसलिए वे अजातशत्रु को ब्रह्मोपदेश देने गए थे। अजातशत्रु ने दिखा दिया कि बालाकि जो

१. प्राण यदि प्रज्ञा है, तो ज्ञान, इन्द्रिय एवं विषय तीनों ही इस सिद्धान्त के अनुसार एकात्मक हो जाते हैं। अर्थात् रूपज्ञान, रूपग्राही चक्षुरिन्द्रिय और इन्द्रियग्राही बाह्यरूप तीनों ही तत्त्वतः एक हैं। साङ्ख्यमत में तीनों ही क्रमशः प्रकृति के सात्त्विक, राजसिक और तामसिक विकार हैं। प्राण अथवा प्रज्ञा ही बाहर विषय के रूप में दिखाई देते हैं। इस मत के साथ बौद्ध-विज्ञानवाद तुलनीय।
२. यहाँ चक्षु, श्रोत्र, घ्राण (प्राय) जिह्वा, वाक्, हस्त, पद उपस्थ एवं मन इन नौ इन्द्रियों का उल्लेख है। त्वक् एवं पायु या गुदा को छोड़ दिया गया है। शरीर के अलग उल्लेख से लगता है, उसी ने ही त्वक् की जगह ले लिया है।
३. एक ओर प्रज्ञा अथवा चित् (चेतना) और एक ओर भूत अथवा जड़ (अचेतन) – अस्तित्व के ये दो पक्ष हैं। मात्रास्पर्श का जगत् दोनों के मध्य व्यक्त है। निश्चित रूप से प्रज्ञा ही मूल है, किन्तु वह निष्प्राण अथवा निस्पन्द नहीं। यहाँ आदिवेदान्त के मूल सूत्र पाए जाते है। जगन्मिथ्यात्ववाद अथवा निर्गुणब्रह्मवाद की कोई छाया भी इसमें नहीं।
४. उपाख्यान और उपदेश दोनों का ही एक और संस्करण बृहदारण्यक में पाया जाता है (२।१)। यहाँ अनेक साधन-सङ्केत प्राप्त होते हैं।

जानते हैं उससे अत्यधिक वे स्वयं जानते हैं। बालाकि हार मानकर राजा के निकट ही उपदेश-प्रार्थी हुए। बालाकि का औपनिषदिक पुरुषज्ञान जाग्रतभूमि के आधार पर [illegible] अजातशत्रु ने उन्हें सुषुप्ति का विज्ञान प्रदान किया। सुषुप्ति में जाग्रत की चेतना का लोप हो जाता है, किन्तु तब भी चेतना कहीं रहती है। हिता नाम की जो समस्त नाड़ियाँ हृदय से पुरीतत् की ओर[1] फैली हुई हैं, उनके भीतर प्राण में चेतना रहती है।[2] यहाँ ही हमें शुद्ध प्राण का सन्धान प्राप्त करते हैं। अन्तर्मुख होकर इस प्राण को जानना ही वास्तविक ज्ञान है।[3]

इस प्रकार ऋग्वेद की दोनों उपनिषदों में हम मुख्यत: इन कई तत्त्वों की विवृति पाते हैं; जैसे – आत्मा से जगत् की सृष्टि एवं जीव की उत्पत्ति हुई, देवयान के मार्ग पर जीव का ब्रह्माभियान चल रहा है, ब्रह्म का स्वरूप प्रज्ञा एवं प्राण है, ब्रह्म सुप्तिज्ञानलभ्य है। चित्र, प्रदर्तन एवं अजातशत्रु इन तीन ब्रह्मविद् राजर्षियों का उल्लेख भी प्राप्त होता है।

[३]

तत्पश्चात् सामवेद की उपनिषद् हैं – केन एवं छान्दोग्य। पहले केनोपनिषद् की ही चर्चा करें।

---

१. 'पुरीतत्' नाड़ी तन्त्र (NERVOUS SYSTEM) की प्राचीन संज्ञा है। हिता नाड़ी की चर्चा अन्यत्र भी है (बृ. २।१।१९, ४।२।३, ३।२०)।

नाड़ियों को अत्यन्त सूक्ष्म बतलाया गया है – एक केश के हज़ार हिस्से के एक हिस्से जैसा। उनके भीतर अतिसूक्ष्म रङ्ग तैरते रहते हैं, जो काले, पिङ्गल, लाल, पीत एवं शुक्ल रङ्ग के होते हैं। यहाँ नाड़ी-विज्ञान का एक सूत्र मिलता है। रङ्गों में तामस से शुद्ध सत्त्व तक सुषुप्ति के क्रम-विकास की एक धारा का सङ्केत है। तु. जैनदर्शन की 'लेश्या'।

३. यहाँ हमने आदिवेदान्त का एक और सूत्र प्राप्त किया कि तत्त्वज्ञान की वास्तविक प्रतिष्ठा सुषुप्ति में है। प्राकृत सुप्ति में चित्तवृत्ति अपने आप निरुद्ध हो जाती है, किन्तु उसमें तत्त्व-ज्ञान नहीं होता। सचेतन अवस्था में यदि सुप्ति को प्रवर्तित किया जाए, तो फिर वही योगी की समाधि होती है। यहाँ उसका ही सङ्केत है। बृहदारण्यक की व्याख्या में इस विषय का और भी विस्तार से वर्णन किया गया है।

सामवेद के जैमिनीय अथवा तलवकार-ब्राह्मण के आठ अध्याय हैं। उसमें चतुर्थ अध्याय से सप्तम अध्याय तक के अंश का नाम उपनिषद् ब्राह्मण है। यह आरण्यकधर्मी है। उसके ही अन्तर्गत सप्तम अध्याय के अष्टादश से इक्कीसवें खण्ड तक केनोपनिषद् अथवा तलवकारोपनिषत् हैं। 'केनेषितम्' से उसका आरम्भ हुआ है; इसलिए उसका नाम केनोपनिषद् है। उपनिषद् के प्रथम दो खण्ड पद्य में रचित होने के कारण अनेक विद्वान् समस्त उपनिषद् को ही अपेक्षाकृत अर्वाचीन बतलाना चाहते हैं। किन्तु यह खूब ज़ोरदार तर्क नहीं है। वस्तुत: पद्यांश ब्रह्म-विद्यावाचक प्राचीन श्लोकों का सङ्ग्रह है। इस प्रकार के श्लोकों का उल्लेख बृहदारण्यक में भी है।[1]

केनोपनिषद् के प्रथम दो खण्डों का वक्तव्य है कि ब्रह्म को वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन एवं प्राण द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता, बल्कि वे सब ही ब्रह्म द्वारा उद्भासित हैं। वस्तुत: ब्रह्म ज्ञात एवं अज्ञात के बाहर है, वह प्रतिबोध विदित है अर्थात् प्रतिबोध द्वारा ही उसे जाना जा सकता है। तृतीय और चतुर्थ खण्ड में हैमवती- उमा का उपाख्यान है,[2] जिनके सान्निध्य में इन्द्र, ब्रह्म-रहस्य जान सके। यहाँ दिव्य-चेतना के क्रमिक

---

१. द्र. बृ. ४।४।६-२१। उसमें दो श्लोक (१४,१८) पूरी तरह से केनोपनिषद् के अनुरूप हैं। ब्राह्मणों के अन्तर्गत भी इस प्रकार की अनेक गाथा, ऋक् अथवा श्लोक उपलब्ध हैं। अतएव केनोपनिषद् को इन कई श्लोकों के कारण पद्यबद्ध उपनिषद् का आदि रूप कहने का कोई औचित्य नहीं।

१. 'उमा' यह नाम यहाँ एवं तैत्तिरीयारण्यक के एक स्थान पर (१०।२२ खिल; 'उमापतये') छोड़कर वेदों में और कहीं भी नहीं पाया जाता। पुराण में उमा शिवपत्नी, कुमारजननी। **आधुनिक पण्डितों में किसी-किसी का अनुमान है कि उमा अथवा शिव कोई वैदिक देवता ही नहीं, बल्कि कोई अनार्य पार्वत्य देवता हैं।** भूमध्यसागर-तट की प्राचीन MOTHER GODDESS के नाम के साथ उमा नाम के सादृश्य की चर्चा भी उसके साथ की जाती है। निश्चित रूप से यह सभी अनुमान मात्र हैं। केनोपनिषद् की 'उमा' को आदिशङ्कराचार्य ने संज्ञा शब्द के रूप में मान लिया है। किन्तु मूल में है 'स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीम्' अतएव हैमवती की तरह 'उमा' भी स्त्री शब्द का

उन्मेष का एक चित्र प्राप्त होता है – अग्नि, वायु, इन्द्र, ब्रह्मशक्ति, ब्रह्म इस क्रम से। इन्द्र एवं ब्रह्म में यहाँ थोड़ा अन्तर दिखाई देता है।

विशेषण होने पर ही अन्वय सुष्ठु होता है। अर्थ इस प्रकार है – इन्द्र ने उसी महाशून्य में ही चलते-चलते एक स्त्री-मूर्ति को देखा, जो बहुशोभमाना, 'उमा' एवं हैमवती है। ऋक्संहिता में 'ऊम' (< √ अव् 'अगोरना, चौकसी करना, प्रसाद देना') शब्द बहुप्रयुक्त विशेषण है (४।१९।१, ५।५१।१, ५२।१२, ७।३९।४, १०।६।७, ३१।३, ३२।५, ७७।८, १२०।१,३)। एक जगह है 'ओमासः' (१।३।७)। प्रसाद के अर्थ में 'ओमन्' शब्द का प्रयोग भी एकाधिक स्थान पर (५।४३।१३) आद्युदात्त है, १।३४।६, ११८।७, ६।५०।७, ७।६८।५, ६९।४)। आकाशवाची 'व्योमन्' शब्द भी वस्तुतः 'वि-ओमन्' है जिससे अनिर्बन्ध विपुलता के प्रसाद और परिरक्षण अथवा संरक्षण का बोध होता है। 'उमा' शब्द भी स्वच्छन्दतः इन शब्दों का सगोत्र हो सकता है। पुंदेवता अथवा पुरुषदेवता का विशेषण 'ऊम' एवं स्त्री-देवता का विशेषण 'उमा' – इसमें शब्दतत्त्व की दृष्टि से भी विशेष कोई आपत्ति नहीं; दोनों शब्दों में दीर्घ-ह्रस्व का व्यत्यय या व्यतिक्रम होने पर भी मात्रा का परिमाण ठीक ही है। तो फिर 'उमा' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है – 'पालयित्री, प्रसादयुक्ता'। इस अवस्था में आकाश अथवा 'व्योम' में देवता का आविर्भाव भी लक्ष्य करने योग्य है। अर्थात् उमा परमव्योम की ही शक्ति हैं। आख्यायिका में 'यक्ष' अथवा ब्रह्मरहस्य (यक्ष शब्द का प्राचीन अर्थ रहस्य है : तुलनीय – 'न यासु चित्रं ददृशे न यक्षम्' ऋ. ७।६१।५।१ प्रसादलभ्य यह तत्त्व ही प्रतिपादित हुआ है, जो शक्तिमत्तत्ता से प्राप्त नहीं होता (तु. यमेवैष वृणुते तेन लभ्य : क. १।२।२३)। शङ्कर ने 'हैमवती' शब्द का अर्थ एक बार हेमालङ्कार भूषिता, और एक बार हिमवान् की पुत्री किया है। रहस्यविदों, मर्मज्ञों की दृष्टि में दोनों व्याख्याएँ ही सही हैं। ऐन्द्री-चेतना के महाकाश में जिस स्त्री-मूर्ति का आविर्भाव हुआ, वे हिरण्यमयी, स्वर्णमयी हैं अथवा चेतना की शुभ्र तुङ्गता पर उनका आविर्भाव हुआ है। यह भाव ऋक्संहिता में भी है। वहाँ विष्णु 'गिरिष्ठाः' (१।१५४।२) अथवा 'गिरिक्षित' (१।१५४।३); इन्द्र भी वही (१०।१८०।२); सोम भी ३।४८।२ द्र. ९।१८।१, ६२।४, ८५।१०)। तैत्तिरीय-संहिता में देखते हैं रुद्र 'गिरिशन्त' (४।५।१।१) अथवा 'गिरिश' (४।५।१।२, नमो गिरिशाय शिपिविष्टाय च. ४।५।५।१ [ऋक्संहिता में 'शिपिविष्ट' विष्णु की संज्ञा है ७।९९।७, १००।५, ६, ७]); वाजसनेय-संहिता में वे 'गिरिशय' (१६।२९) हैं। हिमाचल के तुषार शृङ्ग की महिमा रुद्र का ही शिव रूप है। इससे वे गिरिश (गिरिश) हैं। इस महिमा का उल्लेख ऋक्संहिता के हिरण्यगर्भ सूक्त में भी हम पाते हैं : 'यस्येमे हिमवन्तो

उपाख्यान के अन्त में उपनिषद् में ब्रह्म के सम्बन्ध में कुछ सामान्य व्याख्या है। बिजली की कौंध की तरह दर्शन देकर ब्रह्म भी विलीन हो जाता है। साधक का मन उसे छूने-छूने के प्रयास में स्मृति के माध्यम से पकड़े रहना चाहता है। अन्त में सङ्कल्प द्वारा उसे पकड़े रखता है। तत्पश्चात् उसे 'तद्-वनं' रूप में पाता है। जो अनिर्वचनीय तत्स्वरूप हैं, वे ही फिर परम काम्य 'वन' अथवा बन्धु हैं।[१] इस ब्रह्म को प्राप्त करने का मुख्य साधन तप, दम एवं कर्म है, वेद, वेदाङ्ग एवं सत्य ही उनका आयतन है।

तत्पश्चात् **छान्दोग्योपनिषद्।** यह सामवेद के छान्दोग्य मन्त्र अथवा उपनिषद् ब्राह्मण का परिशिष्ट है। ब्राह्मण के दश प्रपाठकों के शेष आठ छान्दोग्योपनिषद् के आठ अध्याय हैं। यह उपनिषद् सर्व प्राचीन उपनिषदों में अन्यतम है।

प्रथम अध्याय में नाना प्रकार से उद्गीथोपासना की चर्चा की गई है। उपासना के अर्थ में बोध होता है, ब्रह्म के किसी प्रतीक में मन को

महित्वा' (१०।१२१।४)। इस हिमवान् से ही हैमवती ; तैत्तिरीयसंहिता में वे रुद्र की बहिन (भगिनी हैं, नाम 'अम्बिका' ; 'एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व' (१।८।६।१)। केनोपनिषद् में जिस स्त्री-मूर्ति को हम पाते हैं, वे आचार्य शङ्कर के विचार से ब्रह्मविद्यारूपिणी हैं। ऋक्संहिता में वे 'वाक्' हैं सबके निकट उनका दर्शन सुलभ नहीं, किसी-किसी के निकट ही वे 'उशती सुवासा जाया' की तरह अपनी तनुश्री के साथ खुलती हैं (१०।७१।४)। ऋक् संहिता में ब्रह्म एवं वाक् एक युगनद्ध युग्म है (१०।११४।८)। केनोपनिषद् की आख्यायिका इस तत्त्व की विवृत्ति है, एवं यही बाद में पुराणों में पल्लवित हुई है।

१. वेन < √ वन् (कामना करना) 'वेन' (तु. LAT. VENUS सौन्दर्य की देवी); जो 'वेन' हैं, वे ही **'वन'** हैं, सूर्य वेन हैं, वे सबके बन्धु हैं, प्रिय हैं। तु. 'यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते, ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि, आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे (ऋ.१।८३।५); यहाँ सूर्य, गो, एवं यम का उल्लेख लक्षणीय है; जो भागवतजनों के 'बन्धुरात्मा' हैं, वे यम की सहोदरा यमुना के किनारे गोचारण करते हैं) द्र. वेन सूक्त, ऋ. १०।१२३। भागवत के प्रेम-धर्म का बीज इनमें पाते हैं।

अविचल एकाग्रता से निरन्तर अटूट रखना।[१] उद्‌गीथ सामगान की एक भक्ति अर्थात् भाग या अवयव है। सम्पूर्ण गान के ठीक मध्य में उद्‌गाता गाते हैं। गान का यह अंश ही मूल है।

उद्‌गीथ गान करने के लिए पहले ओङ्कार का उच्चारण करना होता है। ओङ्कार ब्रह्मबीज है, जिसकी साधारण सञ्ज्ञा 'अक्षर' है।[२] प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड में ओङ्कार को ही उद्‌गीथ मानकर उपासना का विधान दिया गया है। एवं बतलाया गया है कि सर्वभूत का रस अथवा सार- पृथिवी है, पृथिवी का रस अप्, अप् का रस ओषधि, ओषधि का रस पुरुष, पुरुष का रस वाक्, वाक् का रस ऋक्, ऋक् का रस साम और साम का रस उद्‌गीथ है। यह उद्‌गीथ यदि ओङ्कार में पर्यवसित हो, तो फिर सर्वभूत ही उनके भीतर लीन हो जाता है।[३] फिर आध्यात्मिक

---

१. 'उपासीत'....परमात्मप्रतीके दृढामैकाग्र्यलक्षणां मतिं सन्तनुयात् (आदिशङ्कराचार्य छान्दोग्यभाष्य १।१।१)।

२. 'अक्षर' जिस प्रकार एक ओर परमव्योम का बोधक है (तु. अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ऋ. १।१६४।३९), उसी प्रकार दूसरी ओर 'वाक्' का बोधक है (तु. गौरी....वुभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्, वही-४१)। अतएव 'अक्षर' ब्रह्म एवं वाक् दोनों की ही संज्ञा है। दोनों का एक युग्म है। ब्रह्मसूत्र में यह युग्म आकाश एवं प्राण है, दर्शन में आकाश एवं शब्द है। इस प्रसङ्ग में स्मरणीय है कि योग से ईश्वर एवं ओङ्कार के मध्य वाच्य-वाचक सम्बन्ध है (पात. १।२७) ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार 'त्रयो वर्णा अजायन्त अकार उकारो मकार इति। तान् एकधा समभरत, तदेतद् ओम् इति, तस्माद्, ओम् इति प्रणौति (५।३२) ये सब भावनाएँ ही मन्त्रशास्त्र का मूल हैं।

३. इस प्रकार की भावना को कर्माङ्गोपासना कहते हैं। उसका अर्थ है - कर्म के जिस किसी भी अङ्ग के आधार पर चेतना को क्रमशः सूक्ष्म करके मूल तक पहुँचना। यज्ञों में श्रेष्ठ सोमयाग है; याज्ञिकों का कहना है कि उससे अमृतत्व प्राप्त होता है। एकमात्र सोमयाग में ही सामगान होता है। उस गान का असल पर्व या मूल अंश उद्‌गीथ है। उद्‌गीथ को यदि ओङ्कार में लय कर दिया जाए, तो पाँच दिन व्यापी जटिल सोमयाग ओङ्कार में सिमट आता है। अतएव अन्त में यही निर्णय होता है कि सोमयाग करना भी और ओङ्कार-साधना करना भी दोनों बराबर है।

दृष्टि से यह ओङ्कार वाक् एवं प्राण का मिथुन अथवा युग्म है। इसे जान लेने पर ही समस्त कामनाओं की परितृप्ति होती है।[१] उसके बाद केवल वाक् अथवा मन्त्र द्वारा प्राण के तारों में झङ्कार पैदा करके ही ओङ्कार को नहीं प्राप्त करना है, बल्कि उसे 'अनुज्ञा' रूप में प्राप्त करना होगा। यह अनुज्ञा परमव्योम से आती है[२], तभी ओङ्कार-भावना महिमा एवं रस से

इससे तो यही सिद्ध होता है कि कर्म ज्ञान का बाधक नहीं, साधक है - कर्म की परिसमाप्ति ज्ञान में है। यही कर्म की उपनिषत् अथवा तत्त्व है। इस खण्ड के अन्त में उसका सङ्केत है। वैदिक-भावना में कर्म और ज्ञान के बीच कोई विरोध नहीं, ये कर्माङ्ग उपासनाएँ ही उसका प्रमाण हैं। इनकी सर्वत्र ही चित्त के प्रत्याहार की एक क्रिया है, स्थूल को छांड़कर मूल को पकड़ना। इसलिए उपनिषद् में हम बार-बार देखते हैं, एक अधिदैवत तत्त्व के पार्श्व में उसका ही एक अध्यात्म प्रतिरूप। उसी प्रकार तन्त्र में भी बाह्ययाग फिर मानसयाग - दोनों **आस-पास** हैं।

१. वाक् प्रकृति, प्राण पुरुष; एक मन्त्र, और एक उसका सुर दोनों के मिलन से ओङ्कार। तन्त्र में यही बीज के अन्त में नाद-बिन्दु अथवा आनन्द-चेतना की क्रम सूक्ष्मता है। इसे शिव-शक्ति का सामरस्य भी कहा जाता है। इस एक अनुच्छेद में जप के रहस्य को सूत्र रूप में बतला दिया गया। प्राचीन उपनिषदों में ऐसे अनेक सूत्र हैं।

२. अर्थात् हम जानेंगे कि यहाँ जो झङ्कार उठी है, वह उस परमव्योम का ही 'अभिस्वरण' अथवा स्वरों का निर्झरण है। इस 'अनुज्ञा' को तैत्तिरीयोपनिषद् में 'अनुकृति' कहा गया है। (१।८; इस अनुवाक के साथ वर्तमान खण्ड तुलनीय)। इसका एक और नाम 'अनिराकरण' (द्र. छान्दोग्य शान्तिपाठ)। वाक् और प्राण के सामरस्य के फलस्वरूप मुझमें जिस ओङ्कार का आविर्भाव हुआ, उसके द्वारा मैंने ब्रह्म को स्वीकार किया और उस स्वीकृति का समर्थन परमव्योम से नित्य ओङ्कार के निर्झरण में प्राप्त हुआ। यह कुछ इस प्रकार है; जैसे एक व्यक्ति ने यहाँ से कहा 'ओम्; मैं तुम्हारा हूँ' और वैसे ही वहाँ से उत्तर आया 'ओम्, तुम मेरे हो'। इस अनुज्ञा-ग्रहण का कार्य यज्ञ में भी है। सोमयाग के अध्यक्ष ब्रह्मा समस्त अनुज्ञा के उत्स हैं। वे 'ओम्' कहकर अनुज्ञा देते हैं, एवं उनके ही प्रसाद और संरक्षण से यज्ञ सुनिष्पन्न होता है। यहाँ हम इस अधियज्ञ-विधि का ही अध्यात्म रूप पाते हैं।

छलक पड़ती है। यह सब तत्त्व जानकर जो कर्म किया जाता है, वह वीर्यवत्तर या शक्तिशाली होता है।[१]

द्वितीय खण्ड में देवासुर-युद्ध की एक आख्यायिका के माध्यम से समझाया गया है कि ओङ्काररूपी यह उद्गीथ ही मुख्य प्राण है। नासिका प्राण (घ्राण) वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन सभी वृत्तियाँ हैं।[२] किन्तु ये वृत्तियाँ द्वैतस्पृष्ट हैं, अतएव पापविद्ध हैं।[३] एकमात्र मुख्य प्राण ही अद्वैत है, अतएव अपापविद्ध है। ओङ्कार हमारे घ्राण, वाक्, चक्षु श्रोत्र एवं मन से परे मुख्य प्राणस्वरूप है- यह उद्गीथोपासना का अध्यात्मरूप है।

तृतीय खण्ड में तीन रूपों में उपासना की चर्चा है। सर्वप्रथम आदित्यरूप में उद्गीथ[४] की उपासना करने के लिए कहा गया है।

---

१. तो मूल अभिप्राय यही है। सामवेद के प्रधान ऋत्विक् जो उद्गाता हैं, यदि वे ओङ्कार के तत्त्व एवं रहस्य को जानते हैं, तो निश्चित रूप से उनका अनुष्ठित कर्म शक्तिशाली होगा। तभी ऋत्विक् द्वारा यजमान में शक्ति-सञ्चार सम्भव होगा। फिर सोमयाग करने की जिनकी इच्छा या सामर्थ्य नहीं, वे भी याग का फल प्राप्त करते हैं, यदि वे इस प्रकार ओङ्कार की उपासना करें।

२. यहाँ हम ब्रह्म के द्वारपालों को पाते हैं। प्राण को दो प्रकार से विभक्त करके आदि और अन्त में स्थापित किया गया है। प्रत्येक वृत्ति के द्वारा ही ब्रह्म की साधना की जा सकती है। नासिक्य प्राण द्वारा साधना, प्राणायाम है। इस प्राणायाम की चर्चा अगले खण्ड में की जाएगी।

३. यहाँ पाप की एक संज्ञा प्राप्त हुई। अनुकूल एवं प्रतिकूल अनुभूति (feeling) का द्वन्द्वबोध ही पाप है, किन्तु विश्वव्याप्त चिन्मय (दिव्य) प्राण में यह द्वन्द्वबोध नहीं है। वह प्राण ही अपहतपाप्मा अथवा निष्पाप, अजर, अमृत ब्रह्म है। आकाशस्थ आदित्य, ब्रह्म का अधिदैवत रूप है। आदित्य ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है, जिससे यहाँ के सब कुछ की सृष्टि-स्थिति-प्रलय होते हैं। वही हमारे एकमात्र उपास्य हैं। वेद-संहिता में भी इस आदित्य-साधना की ही चर्चा है। जो आदित्य हैं, वे ही हमारे प्राण हैं। दोनों ही चिन्मय हैं, दोनों ही देवता हैं। यह चिन्मय प्रत्यक्षवाद ही वैदिक भावना की मर्म-कथा है।

४. सर्वत्र ही उद्गीथ ओङ्कार का बोधक है, क्योंकि ओङ्कार ही उद्गीथ का सार है, मूल तत्त्व है।

आदित्य ही प्राण है, यह जानना होगा। तत्पश्चात् व्यान रूप में उद्गीथ की उपासना करनी होगी। व्यान प्राण और अपान का मिलन स्थान है, वहाँ वायु की क्रिया स्थिर हो जाती है। बातें करते हुए, गाते हुए और ज़ोर लगाकर काम करते हुए भी ऐसा ही होता है। यह निर्वात अथवा वायुशून्य अवस्था ही उद्गीथ है।[१] फिर 'उद्गीथ' संज्ञा के उत्, गी, एवं थ इन तीन अक्षरों की क्रमशः प्राण, वाक् एवं अन्न अथवा द्यौः, अन्तरिक्ष एवं पृथिवी, अथवा आदित्य, वायु एवं अग्नि, अतएव सामवेद, यजुर्वेद एवं ऋग्वेद के रूप में भावना भी एक प्रकार की उपासना है।[२] इन सब उपासनाओं में सिद्ध-सामगायक जिस कामना को लेकर सामगान करते हैं, वही सिद्ध होती है, किन्तु उन्हें आत्मस्थ होकर गान करना होगा।

चतुर्थ एवं पञ्चम खण्ड में भी इन्हीं सारी बातों को घुमा-फिराकर बतलाया गया है।

यहाँ तक देखने में आया कि साम का जो उद्गीथ है, वह वस्तुतः ओङ्कार है; और यह आध्यात्मिक दृष्टि से प्राण तथा आधिदैविक दृष्टि से आदित्य है। छठे खण्ड में बतलाया जाता है कि बाहर में आदित्य के प्रकाश की झलमलाहट और उसकी गहराई में परः कृष्ण नीलिमा साम

---

१. इसके साथ तुलनीय संवर्ग विद्या ४।३। स्वभावतः प्राण एवं अपान के दो सन्धि स्थल होंगे - एक साँस लेने के बाद और एक छोड़ने के बाद। दोनों के बाद ही थोड़ा अन्तर है, वह अन्तर ही व्यान है। उस समय वायु का चलाचल अथवा सञ्चलन नहीं होता। इसको लक्ष्य कर पाने पर चित्त शान्त हो जाता है। व्यान आकाश जैसा है, उसके ही भीतर प्राण-अपान का ऊपर उठना और नीचे उतरना जारी है। यह भावना ही वैदिक प्राणायाम का मूल हैं। राजयोग एवं हठयोग के प्राणायाम का भी प्रस्थान-बिन्दु यही है।

२. तु. तैत्तिरीयोपनिषद् में अध्यात्म, अधिलोक, अधिज्योतिष एवं अधिविद्य-दृष्टि से संहिता की व्याख्या (१।३।१)। तात्पर्य यह है कि उद्गीथ अथवा ओङ्कार ही सब - इस भाव में अवस्थित, प्रतिष्ठित होने के पश्चात् वास्तविक उद्गाता हुआ जा सकता है।

का निगूढ़तर रूप है। उसके भीतर एक पुण्डरीकाक्ष अपापविद्ध हिरण्मय पुरुष हैं। वे समस्त भुवनों और उनके अधिष्ठानज्योति के उस पार हैं। ऋक् और साम उससे ही निःसृत हैं। उद्गाता, वस्तुतः उनकी महिमा का गान करते हैं। आदित्यमण्डल के उस पार जितने सारे लोक हैं, वे उनके भी ईश्वर हैं।

सप्तम खण्ड में बतलाया जाता है कि ऐसी ही फिर आँखों की रोशनी की गहराई में एक परः कृष्ण नीलिमा है, जिसके भीतर भी एक हिरण्मयपुरुष हैं, जो वाक्, प्राण चक्षु, श्रोत्र और मन से परे हैं। वह आदित्यपुरुष और यह अक्षिपुरुष दोनों ही एक हैं। आदित्यमण्डल के उस पार जितने सब लोक हैं, यह अक्षिपुरुष – उनके ईश्वर हैं। जो सचमुच उद्गाता हैं, वे इन दोनों पुरुषों के लिए ही गान करते हैं।[१]

अष्टम एवं नवम खण्ड में प्रवाहण जैवलि[२] उद्गीथ की उपनिषद् शिलक एवं दाल्भ्य को बतलाते हैं। दाल्भ्य ने कहा था कि साम का पर्यवसान स्वर में, स्वर का प्राण में, प्राण का अन्न में, अन्न का अप्

---

१. यहाँ हम वेद-मीमांसा के तीन सूत्रों का सन्धान प्राप्त करते हैं। प्रथम सूत्र है – वैदिक क्रिया एक गहरे चिन्मय अनुभव की ही अभिव्यक्ति है। ऋत्विक् में वह अनुभव सुस्पष्ट है। जिसे वे यजमान के भीतर सञ्चारित करते हैं। द्वितीय सूत्र है – ऋत्विक् के मन्त्रवीर्य का आश्रय प्रणव अथवा ओङ्कार है। ओङ्कार ज्ञान एवं कर्म दोनों का ही बीजमन्त्र है। तृतीय सूत्र है – आधिदैविक दृष्टि से जो आदित्य है, वही आध्यात्मिक दृष्टि से प्राण है। वह पुरुष और यह पुरुष दोनों एक हैं अथवा 'अयमात्मा ब्रह्म'। आत्मस्थ हिरण्मयपुरुष को जानने के लिए अन्तर्मुख होकर दृष्टि को आँखों के गहराव (अन्तरक्षिणि) में परः कृष्ण नीलिमा की अतलता में डुबो देना होगा। कठोपनिषद् की भाषा में साधक को 'आवृत्तचक्षुः' होना होगा (२।१।१)। हठयोग की परिभाषा के अनुसार भ्रूमध्यस्थ आज्ञाचक्र में जीवात्मा और शिरसि सहस्रार में परमात्मा दोनों का सायुज्य स्थापित करना ही परम पुरुषार्थ है। ऋत्विक् उस सायुज्य में सिद्ध होते हैं।

२. ये एक क्षत्रिय राजा थे। ये यहाँ जिस प्रकार उद्गीथ की उपनिषद् के प्रवक्ता हैं। उसी प्रकार अन्यत्र देवयान की उपनिषद् के प्रवक्ता हैं (छा. ५।३–१०; बृ. ६।२)

में एवं अप् का स्वर्गलोक में होता है। शिलक ने एक धाप आगे बढ़कर कहा कि स्वर्ग की प्रतिष्ठा पृथिवी में है। प्रवाहण ने और भी आगे बढ़कर कहा – पृथिवी की प्रतिष्ठा आकाश में है। आकाश ही परात्पर अनन्त उद्गीथ है।[१]

दशम एवं एकादश खण्ड में उषस्ति चाक्रायण का उपाख्यान है। वे तत्त्वविद् थे। बाध्य होकर उन्हें नीच जाति का उच्छिष्ट खाना पड़ा था, किन्तु उससे उनकी कोई क्षति ही नहीं हुई।

उस उच्छिष्ट को खाकर ही उन्होंने एक राजा के यज्ञ में जाकर उद्गातृ-गण के ऋत्विकों का अज्ञान तत्त्वोपदेश द्वारा दूर कर दिया था। उषस्ति ने कहा, उद्गीथ को आदित्यरूप में जानना होगा; उसके पूर्व जो 'प्रस्ताव' और पश्चात् जो 'प्रतिहार' वह क्रमशः 'प्राण' एवं 'अन्न' है'।[२]

---

१. दाल्भ्य पहले आध्यात्मिक दृष्टि से साम को प्राण में प्रतिष्ठित करके फिर आधिलौकिक दृष्टि से उसका विस्तार करते हुए द्युलोक में ऊपर तक गए – यह उत्तारपन्था है। फिर शिलक उसे नीचे की ओर उतार लाए – यह अवतारपन्था है। इस उत्तार-अवतार का उल्लेख वेद में अनेक स्थलों पर है। प्रवाहण ने पार्थिव चेतना को आकाश में व्याप्त किया। आकाश भूलोक-द्युलोक दोनों का ही आश्रय है – यह सहजपन्था है। यह आकाश ही संहिता का 'परमव्योम' विष्णोः परमं पदं' इत्यादि है। उद्गीथ का सार ओङ्कार है। अतएव आकाश ही ओङ्कार है। अर्थात् महाशून्य में जो प्राणस्पन्द है, वही 'ओम्' है। इस उपनिषद् के आदिप्रवक्ता अतिधन्वा शौनक हैं (छा. १।९।३)। यहाँ बार-बार 'मूर्द्ध विपतन' का उल्लेख है। साधारणतः उसका अर्थ किया जाता हैं 'सर अलग हो जाना या गिर जाना'। किन्तु लगता है, यह एक वाग्भङ्गिमा है। जैसे हम कहते है 'लाज के मारे सर नीचे होना, झुक जाना।'

२. यहाँ सामभक्ति के विन्यास में एक आरोह-अवरोह के क्रम को आरोपित किया है। प्राण आदित्य में ऊपर उठ जाएगा और फिर वहाँ से अन्न में उतर आएगा। वस्तुतः, आध्यात्मिक दृष्टि से प्राणापान की गति में यह छन्द है। प्रश्वास में प्राण ऊर्ध्वगामी होकर आदित्य में पहुँचता है और निःश्वास में अपान के आकर्षण में वहाँ से अन्न में अथवा देह में उतर आता है। अवश्य, विज्ञानी का प्राण ही आदित्य

द्वादश खण्ड में 'शौवउद्‌गीथ' अर्थात् श्वा अथवा कुत्तों का सामगान। बक अथवा ग्लाव नाम के एक ऋषि[१] स्वाध्याय के लिए एक पहाड़ की चोटी पर गए थे।[२] वहाँ उनके सामने एक सफ़ेद कुत्ता प्रकट हुआ, उसे और भी कई कुत्ते घेरे हुए थे। उन सबने सफ़ेद कुत्ते से कहा – 'हमें भूख लगी है, आप अन्न का गान करें।' सफ़ेद कुत्ते ने कहा– 'कल सुबह तुम सब यहाँ मेरे पास आओ।' दूसरे दिन वे सब आकर सामगान करने वालों की तरह हिङ्कार का उच्चारण करके गाने लगे, – 'ओम् हम भात खाएँगे, पानी पिएँगे, देवता, वरुण, प्रजापति, सविता यहाँ अन्न लेकर आइए, अन्नपति यहाँ अन्न लेकर आइए, अन्नपति यहाँ अन्न लेकर आइए ओम।' तत्पश्चात् क्या हुआ? वह कुछ नहीं बतलाया गया।[३]

में पहुँचता है, अज्ञानी का नहीं। इस कारण अज्ञानी के श्वास-प्रश्वास में आयु का क्षय होता है, किन्तु विज्ञानी की आयु का 'प्रतरण' होता है। जो देवता इस प्रकार प्राणापान को नियन्त्रित करते हैं, वे ऋक्संहिता में 'सर्पराज्ञी' हैं (द्र. १०।१८९।१; उषस्ति, यहाँ जिस विद्या की चर्चा करते हैं, उसका मूल वहीं है) 'पुराण' में 'मनसा'; हठयोग में 'कुण्डलिनी' है।

१. इनका उल्लेख १।२।१३ कण्डिका में है। वहाँ वे नैमिषीय ऋषियों के उद्‌गाता हैं, उद्‌गीथ को प्राण के रूप में जाना है। उस समय सिद्ध और यहाँ साधक हैं।

२. मूल में 'उद्‌व्राज' है। 'उत्' उपसर्ग ऊर्ध्वगति का बोधक है।

३. इस उपाख्यान को यूरोपीय पण्डित **सामगायियों** के प्रति विद्रूप मानते हैं। इस देश के एक आधुनिक पण्डित ने इसमें आदिम समाज के टोटेमिज़्म और कर्मसङ्गीत की स्मृति का आविष्कार कर डाला है। आदिशङ्कराचार्य कहते हैं कि 'सफ़ेद कुत्ता (श्वेतश्वान) मुख्य प्राण है और अन्य कुत्ते वाक् इत्यादि इन्द्रियाँ है। भगवत्पाद शङ्कराचार्य की व्याख्या ही तर्कसम्मत है। कुत्ते की घ्राणशक्ति तेज होती है। उपनिषद् में अनेक स्थलों पर घ्राण और प्राण समानार्थक हैं। अतएव कुत्ता प्राण का प्रतीक है। कुत्ते का यह सङ्केत हम ऋक्संहिता में यम के दो दूतों के रूप में पाते हैं (१०।१४।११-१२)। पृथिवी पर विचरण करते हुए वे ही मुमूर्ष (मरणासन्न) के प्राण को यम के निकट ले जाते हैं ('असुतृपौ....चरतो जनाँ अनु')। उनका एक विशेषण 'चतुरक्ष' चार आँखों वाला है। यह विशेषण अवेस्ता में भी है (वेन्दिदाद् ८।१६) 'अक्ष' शब्द आँख अथवा इन्द्रिय दोनों का बोधक है

ऋक् में साम अथवा सुर देते समय बीच-बीच में स्तोभाक्षर डाल देना पड़ता है। यह पहले ही हम बतला चुके हैं। त्रयोदश खण्ड में तेरह स्तोभाक्षरों को देवता-दृष्टि से उपासना करने का उल्लेख है। स्तोभ

अतएव चतुरक्ष कुत्ते में हम मुख्य प्राण और वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन रूपी चार इन्द्रियों का सन्धान पाते हैं। ऋक्संहिता के एक स्थान पर अश्विद्वय को कहा जाता है 'श्वानेव नो अरिषण्या तनूनाम्' अर्थात् दो कुत्तों की तरह वे हमारे तनु या शरीर की समस्त रिष्टियों, विपत्तियों से रक्षा करते हैं (२।३९।४)। यहाँ कुत्ता निस्सन्देह नासिक्य अथवा मुख्य प्राण है। एक और स्थान पर हम पाते हैं कि अगोह्य के (सविता के) घर में ऋभुगण सो गए थे। उन्हें एक कुत्ते ने जगा दिया (ऋ. १।१६१।१३)। यह कुत्ता स्पष्ट ही प्राण चेतना है। देवशुनी सरमा, पणियों के पास से छिपाई गई गायों का उद्धार करने के लिए गई थीं। ऋक्संहिता का यह विश्रुत उपाख्यान भी लक्षणीय है (१०।१०८)। यहाँ सरमा भी प्राण चेतना है। एक वायव्य मन्त्र है 'अश्वेषितं रजेषितं शुनेषित् प्राज्म' (८।४६।२८); अश्व, रजः एवं श्वा तीनों ही यहाँ प्रेषणशक्ति के रूप में प्राण की विभूतियाँ हैं। इस मन्त्र का देवता वायु है, यह भी अर्थपूर्ण है। इस प्रसङ्ग में 'मातरि-श्वा' संज्ञा की व्युत्पत्ति लक्षणीय है; 'श्वा' जिस प्रकार < √शू (फूलना, स्फीत होना), 'मातरिश्वा यदमिमीत मातरि' ऋ. ३।२९।११), उसी प्रकार कुत्ते की व्यञ्जना भी वहन करता है। किन्तु मातरिश्वा महाप्राण है (द्र. ऋ. ३।२।१३ टीका)। स्मरणीय है, युधिष्ठिर के स्वर्गारोहण के समय अन्त तक उनका एक मात्र सङ्गी एक कुत्ता था। इस रूपक को तोड़ने पर प्राण के उदयन की घटना सिद्ध होती है। अतएव प्रतीकात्मक अर्थ में कुत्ते को हम अनेक स्थलों पर प्राणरूप में ही पाते हैं। अलौकिक दर्शन के फलस्वरूप हो, अथवा जैसे भी हो, कोई इतर प्राणी आविर्भूत होकर ऋषि को तत्वज्ञान प्रदान करता है – यह विवरण हम इस उपनिषद् के ही सत्यकाम की आख्यायिका में पाते हैं (४।५,७,८)। अतएव विद्रूप की, अथवा टोटेम की परिकल्पना यहाँ अवान्तर है। ऋक्संहिता में मात्र एक सूक्त व्यङ्ग्यानुकृति (PARODY) के रूप में प्रतीत होता है (९।११२) उसके अतिरिक्त और कहीं भी विद्रूप का कोई निदर्शन नहीं।....इस खण्ड में वरुण, प्रजापति एवं सविता उद्दिष्ट देवता हैं। ये सभी अन्नपति हैं। तैत्तिरीयपनिषद् में हम ब्रह्म, प्रजापति, बृहस्पति एवं इन्द्र को पाते हैं (२।८)। इसलिए वरुण ब्रह्मवाची हैं। देवता के निकट प्राण की अन्न-कामना एक स्वाभाविक प्रसङ्ग है। ऋषिगण जीवन-विमुख नहीं थे। पूर्वखण्ड में आदित्य, प्राण और अन्न की चर्चा थी, इस खण्ड में उसकी ही अनुवृत्ति के रूप में प्राण और अन्न की चर्चा है।

निरर्थक होते हैं, किन्तु वे निरर्थक शब्द ही देवता के बोधक हैं। तन्त्र में भी हम देखते हैं कि कितने निरर्थक शब्द देवता के बीज हैं। तो इस प्रकार यहाँ मन्त्रशास्त्र के मूल सूत्र का सन्धान प्राप्त हुआ। त्रयोदश स्तोभाक्षर 'हुं' को 'अनिरुक्त' एवं 'सञ्चर' कहा जाता है – अर्थात् वह अनिर्वचनीय होने पर भी परिस्पन्दनशील है। यह 'हुं' तन्त्र का एक प्रसिद्ध बीज है।[1] प्रथम अध्याय यहीं समाप्त होता है।

द्वितीय अध्याय में चौबीस खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में बतलाया जाता है कि साम साधुत्व का बोधक है अर्थात् उससे सौषम्य एवं कल्याण का बोध होता है। सामगान के समय इस भावना को अन्तःकरण में जागरित रखना होगा।[2]

तत्पश्चात् दशम खण्ड तक विभिन्न दृष्टियों से साम की उपासना का उपदेश है। साम में जिस सौषम्य या सुप्रियता की भावना है, उसे अब बाहर भीतर सर्वत्र छितरा देना होगा। 'सब कुछ ही साममय अथवा सुषम या सर्वाङ्ग सुन्दर और सुमङ्गल है, या फिर साम ही सब कुछ है। यह दो तरह की ही भावना की जा सकती है। परिणामतः अनुभव होगा कि जैसे सब कुछ स्वरबद्ध, सुर में बँधा हुआ है – यह उपासना का तात्पर्य है। उपासना के लिए साम को पाँच भागों में विभाजित किया गया है। केवल तीन स्थलों पर उसे सप्तभक्तिक अथवा सप्तावयव किया गया है।[3] साम की भावना लोक, वृष्टि, जल, ऋतु, पशु, प्राण एवं आदित्य

१. 'हुं' का उच्चारण प्रश्वास के साथ तब किया जाता है, जब प्राण ऊर्ध्व स्रोता होकर आदित्यगामी होता है (द्र. छा. २।२४)। हठयोग की योनिमुद्रा के मूल में भी यह हुङ्कार है। तिब्बत की बौद्ध-योगसाधना की **गायत्री** 'ओं मणिपद्मे हुम्' – जो शिवशक्ति के सामरस्य का मन्त्र है – स्मरणीय।

२. पहले 'स्तोत्र' अथवा गान, तत्पश्चात् 'शस्त्र' अथवा प्रशस्तिपाठ, तत्पश्चात् याग – यह साधारण विधि है। प्रारम्भ में साम अथवा सुर से एक अनुकूल परिवेश की सृष्टि करनी होगी, तभी उत्सर्ग की साधना सार्थक होगी।

३. पाँच अवयव हैं – हिङ्कार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन। प्रस्ताव के पश्चात् 'आदि' और प्रतिहार के पश्चात् उपद्रव के योग से सात 'भक्ति' अथवा 'अवयव' होते हैं।

में करनी होगी। साम सब में ही पञ्चभक्तिक है, केवल अन्तिम दो में सप्तभक्तिक है। हिङ्कार से निधन तक सुर तरङ्गों जैसा लहराता है, उद्गीथ उसका शिखर है। यह तरङ्गायित भाव सर्वत्र है। यह प्रकृति-परिणाम का एक स्वाभाविक छन्द है। इसे स्वीकार कर लेने पर ही जीवन में साम अथवा सौषम्य आता है। किन्तु इसके भीतर एक बात है। उद्गीथ से निधन तक बाह्यदृष्टि से लहरों के टूट जाने पर भी आन्तरदृष्टि से चेतना का उत्तरायण ही होता है। अज्ञानी की दृष्टि में मध्याह्न का सूर्य अस्त की ओर ढल जाता है, किन्तु विज्ञानी की दृष्टि में यह प्रतिहार और निधन चेतना का 'प्रत्याहार' एवं 'समाधान' है, अर्थात् एक अन्तरङ्ग योग का अनुष्ठान है।[1]

दशम खण्ड में अतिमृत्यु अथवा मत्युतरण साम की उपासना है। एक अक्षर द्वारा हम मृत्यु के उस पार चले जा सकते हैं। साम की सात भक्ति के नामाक्षरों की कुल सङ्ख्या बाईस है। बाईस को सात से भाग

१. साम के 'परोवरीयस्त्व' अथवा क्रमिक उत्कर्ष की चर्चा उपनिषद् में प्राण के सम्बन्ध में की गई है। किन्तु यह उत्कर्ष, वृष्टि, जल एवं पशु में भी दिखाई देता है। केवल ऋतु और आदित्य के सम्बन्ध में हम देखते हैं कि लहर मानो टूट ही गई है। किन्तु वस्तुतः घटना है बाहर प्रत्याहार द्वारा भीतर प्रकाश को विकसित करना। ऋतु के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वर्षा के पश्चात् जो दक्षिणायन शुरू होता है, वह अन्तर्योगी के पक्ष में अवक्षय नहीं, उल्लास है। आदित्य के सम्बन्ध में हम देखते हैं कि उसकी माध्यन्दिन-महिमा में उद्गीथ तब देवता अथवा ज्योतिः शक्ति का आविर्भाव; उसके बाद ही चेतना सिमटकर गर्भ अथवा प्राण हो गई, गुहाचारी हो गई एवं अन्त में पितृगण अथवा मृत्यु में समापन्न या निष्पन्न। पुनः वाक् के सम्बन्ध में देखते हैं, समस्त वाक् ही साम है। लोक के सम्बन्ध में एक ज्वार-भाटे का सङ्केत है। जल के सम्बन्ध में भी वही। आदित्यलोक से पर्जन्य की सौम्य धारा उतरती है, जीवन ऋतच्छन्द अर्थात् व्यक्ति के स्वभाव एवं व्यवहार में धर्म और न्याय का स्फुरण होता है। पौरुष का आप्यायन होता है, वाक् साममय होती है और आदित्यायन के छन्द के साथ चिन्मय जीवन का दैनन्दिन छन्द मिल जाता है। यह पारम्पर्य अथवा धारावाहिकता भी लक्षणीय है। आशा है, इस सङ्केत को पकड़कर मूल के रहस्य को उद्घाटित करना कठिन नहीं होगा।

देने पर भक्तियों में औसतन तीन-तीन अक्षर प्राप्त होते हैं, एक अक्षर शेष रहता है। यह बाईसवाँ अक्षर ही अतिमृत्यु अथवा मृत्युतरण है। आदित्य के नीचे जितने सब लोक हैं, वे मृत्युस्पृष्ट अथवा नाशवान् हैं। उस पार अमृतलोक है, जिस का नाम 'नाक' है।[१] इक्कीस अक्षरों द्वारा आदित्य तक पहुँचा जा सकता है, किन्तु उसके उस पार जाने का साधन बाईसवाँ अक्षर है।[२]

यहाँ तक साम के अवयवों का तात्पर्य बतलाया गया। अब इक्कीस खण्ड तक नाम ले-लेकर कई चुनिन्दा अखण्ड साम का तात्पर्य बतलाया जाएगा। बतलाया जायेगा कि प्रत्येक साम का अधिष्ठानतत्त्व क्या है? तथा अधिष्ठानज्ञान का फल एवं साधना भी क्या है?

प्रथम गायत्रसाम से आरम्भ किया गया है, जिसका अधिष्ठानतत्त्व प्राण है। इस तत्त्व की भावना के साथ जो साम का प्रयोग करना जानते हैं, वे प्राणवान् होते हैं। उसके लिए उन्हें महामना होना होता है, यह उनका व्रत है।[३] प्राण के आप्यायन से समस्त इन्द्रियाँ साममय होंगी, यह उपासना का तात्पर्य है। जिनके प्राण एवं इन्द्रियाँ आप्यायित हैं, उनको ही अग्निमन्थन का अधिकार है। अग्नि में रथन्तर साम ओत-प्रोत है। इस तत्त्व को जो जानते हैं, वे अन्नाद एवं ब्रह्मतेज से तेजस्वी होते हैं। अग्नि का सम्मानन उनका व्रत है।

१. द्र. ऋ. ३।२।१२ टीका। यहाँ नाक को 'विशोक' कहा गया है। उपनिषद्-भावना में शोक एवं मोह से पार होना ही जीव का पुरुषार्थ है। पातञ्जलयोगदर्शन में 'विशोका' ज्योतिष्मती प्रवृत्ति को मन की स्थितिनिबन्धिनी बतलाया गया है (द्र. व्यास भाष्य १।३६)।

२. यह बाईसवाँ अक्षर कौन सा है? उसे उपनिषद् में स्पष्टतया नहीं बतलाया गया है, किन्तु तृतीय कण्डिका में देखा जाता है कि 'उपद्रव' का 'व' परिशिष्ट अक्षर है। उसे भी तीन अक्षर के समान मान लिया गया है। अतएव वह भी बाईसवां अक्षर नहीं है। तो फिर बाईसवाँ अक्षर प्रथम अध्याय के अन्त में उल्लिखित 'हुम्' जैसा ही अनिरुक्त है। यह अनिरुक्त अक्षर निश्चय ही 'ओम्' है। (द्र. खण्ड २३।२-३).

३. यहाँ ब्रह्म के पाँच द्वारपाल फिर पाए जाते हैं। व्रत को यहाँ साधक और सिद्ध दोनों की ही चर्या के रूप में मान लेना होगा।

जो प्राणवान् एवं ब्रह्मतेजस्वी होते हैं, वामदेव्य साम के तत्त्व में उनका ही अधिकार होता है। वामदेव्य साम मिथुन में ओत-प्रोत है। उसके तत्त्व को जानकर जो मैथुन करते हैं, उनके प्रत्येक मैथुन से जिस प्रकार सन्तानोत्पत्ति होती है, उसी प्रकार वे मिथुनीभूत होते हैं, अर्थात् शक्ति के साथ नित्यसङ्गत होते हैं। उनका व्रत है कि वे समागमप्रार्थिनी किसी भी नारी का परिहार या वर्जन नहीं करेंगे।

यहाँ हमें तन्त्रोक्त वामाचार का बीज प्राप्त होता है। फलश्रुति से स्पष्ट है कि उपासना के दो भाग हैं – एक स्मार्त अर्थात् धर्मशास्त्र द्वारा अनुमोदित, दूसरा उसके बाहर। स्मार्तविधि के अनुसार वामदेव्य-व्रत का तात्पर्य है कि केवल प्रजनन के लिए ही धर्मपत्नी की इच्छा के अनुसार ही सङ्गम होगा। ब्रह्मतेजस्वी प्राणवान् पुरुष के पक्ष में यह व्रत ही उचित एवं शोभन है। किन्तु 'न काञ्चन परिहरेत्' उक्ति की अर्थव्याप्ति होने पर (एवं वह भाष्यकार शङ्कर द्वारा भी अनुमोदित) हम धर्मशास्त्र के बहिर्भूत एक व्रत का सन्धान प्राप्त करते हैं, जिसे अनेक कारणों से तान्त्रिक वामाचार के बीज के रूप में मान लिया जा सकता है। सङ्क्षेप में हम यहीं उन कारणों का उल्लेख करते हैं।

वामदेव्य साम का एक विशेष प्रयोग विवाह के अनुष्ठान में होता है। इस साम की योनि है ऋक्संहिता के चतुर्थ मण्डल के इकतीसवें सूक्त की पहली ऋचा। ऋक्संहिता के चतुर्थ मण्डल के द्रष्टा गौतम वामदेव हैं। इस मण्डल का अठारहवाँ सूक्त एक संवादसूक्त है। उसमें वामदेव की जन्मकथा एवं अन्तिम ऋक् में जीवन-कथा का अल्प आभास है। मातृगर्भ से वामदेव का जन्म सहजतापूर्वक नहीं हुआ। हम आजकल जिसे 'सीज़ेरियन आपरेशन' अथवा शल्योपचार या चीर-फाड़ के रूप में जानते हैं, उस रूप में हुआ था। द्वितीय ऋक् में वामदेव कहते हैं, 'मैं तिरछा होकर बग़ल से बाहर आऊँगा – इसलिए कि मुझे अनेक ऐसे कार्य करने होंगे, जिन्हें दूसरा कोई नहीं करता; मुझे किसी के साथ युद्ध करना होगा, किसी के साथ वादानुवाद करना होगा।' उस युग में 'सीज़ेरियन आपरेशन' की व्यवस्था रही हो, अथवा न रही हो

किन्तु इस ऋक् से समझ में आता है कि वामदेव स्वयं को 'अयोनिज' बतलाना चाहते हैं। उनकी तुलना सामान्य मनुष्य से नहीं की जा सकती। वे एक ऐसी नयी धारा के प्रवर्तक थे; जिसके लिए वे अधिक व्यग्र थे एवं तिरस्कार भी कुछ कम नहीं हुआ। इस तिरस्कार की बात को वे अन्तिम ऋक् में बतलाते हैं – "मेरी कोई भी वृत्ति अथवा जीविका नहीं थी, इस कारण मुझे कुत्ते की आँत पकाने के लिए बाध्य होना पड़ा, देवताओं में किसी का भी प्रसाद मुझे नहीं मिला, टकटकी लगाकर अपनी स्त्री का अपमान होते देखा।" ये उक्तियाँ अनिवार्य रूप में अपने शिव-सती की कहानी का स्मरण दिला देती हैं। शिव देवमण्डली के बाहर हैं, वे वृत्तिहीन हैं, उनकी कोई जीविका नहीं, भिखारी हैं, दक्ष की यज्ञसभा में अपमानित होकर उनकी सती ने देहत्याग किया। साथ-साथ याद आता है कि तन्त्र शिवप्रोक्त हैं, शिव का भी एक नाम वामदेव है, एवं वे अयोनिज हैं। श्रीकृष्ण जिस प्रकार विष्णु अथवा वासुदेव (= ज्योतिर्मय देवता अर्थात् भग अथवा आदित्य) के अवतार हैं, उसी प्रकार वामदेव भी शिव के अवतार हैं।

शिव को आदिम अनार्य देवता के रूप में कल्पना करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे व्रात्यों के देवता हैं। वस्तुतः वे द्युस्थान के देवता हैं। आकाश उनका प्रतिरूप है। अन्तरिक्ष जब झञ्झावात से विक्षुब्ध होता है, तब शिव रुद्र हैं, मेघों के जटाजूट में उस समय विद्युत् के साँप क्रीड़ा करते या लहराते रहते हैं। फिर झञ्झावात के थम जाने पर प्रसन्न, पारदर्शी आकाश में उसी रुद्र का ही 'दक्षिणमुख', उनका शिव रूप देखते हैं।[1]

---

१. तुलनीय, 'स्तोभं वो अद्य रुद्राय शिक्वसे....दिदिष्टन....शिवः स्ववान्....दिवः सिषक्ति स्वयशाः ....' ऋ. १०।९२।९। यहाँ रुद्र रूप में जो शक्ति की लीला दिखा रहे हैं ('शिक्वसे') वे ही फिर शिव रूप में आत्मस्थ ('स्ववान्') हैं, उनकी ईशना उनमें ही समाहित (स्वयशाः) है। रुद्र ही प्रशान्त होकर शिव होते हैं, उसका प्रमाण हम यहाँ पाते हैं। GELDNER का भी मन्तव्य है – RUDRA HEISST SCHON HIER DER SIVA, DER RIGVEDA Rudra heisst schon hier der Siva, DER RIGVEDA.

तन्त्र में 'हं' शिवबीज और आकाशबीज दोनों ही है। व्रात्यों के शिव ही वैदिकों के वरुण हैं। आध्यात्मिक दृष्टि में दोनों ही ब्रह्म अथवा चेतना के अबाध असीम फैलाव हैं।[1]

इस वरुण के साथ वामदेव के सम्बन्ध का कुछ वैशिष्ट्य है। ऋक् संहिता में नियमानुसार वामदेव्य मण्डल का आरम्भ अग्नि-सूक्त द्वारा किया गया है। प्रथम ऋक् के द्वारा अग्नि का आवाहन करने के पश्चात् ही वामदेव पाँच ऋचाओं में उनसे वरुण को यहाँ उतार लाने के लिए कहते हैं। इससे बोध होता है कि वामदेव की दृष्टि में अग्नि-वरुण का यह देवयुग्म देवमण्डली का आदि एवं अन्त है, जैसे ऐतरेय ब्राह्मण के आरम्भ में हम अग्निविष्णु को ऐसे ही एक देवयुग्म के रूप में देखते हैं। अग्नि-वरुण दोनों की एक साथ प्रशस्ति आर्षमण्डलों के आरम्भ में और कहीं नहीं है। लगता है यह वामदेव की स्वकीयदृष्टि है। ऐतरेय ब्राह्मण के सङ्केत के अनुसार हम जिस प्रकार विष्णु को यज्ञेश्वर के रूप में पाते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी वरुण को वामदेव की साधना के लक्ष्य के रूप में पाते हैं।

किन्तु चतुर्थ मण्डल के एक मात्र सूक्त (४।४१) में वामदेव केवल वरुण की नहीं, बल्कि इन्द्र-वरुण की प्रशस्ति करते हैं। और यह भी द्रष्टव्य है कि ऋक्संहिता में वरुण-प्रशस्ति के जो कई पूर्ण सूक्त हैं। उन सबमें ही देवता के प्रति दैन्य एवं अपराधक्षमापन का भाव दिखाई देता है। किन्तु इन्द्र के साथ वरुण के युक्त होने पर ऋषियों के मन में यह भाव नहीं रहता।[1] इस दृष्टि से वामदेव के इन्द्र-वरुण सूक्त में एक

---

१. तु. 'एवा वन्दस्व वरुणं 'वृहन्तम' नमस्या धीरममृतस्य गोपाम्' ऋ. ८।४२।२; ४।४१।११; द्रष्टव्य. टीका ३।४।२। और भी तुलनीय. 'त्वमग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्धः, त्वमर्यमा भवसि यत् कनीनाम् (५।३।१-२) यहाँ अग्नि- = वरुण मित्र, अर्यमा अथवा सत्, चित्, आनन्द।
शुनःशेप १।२४, २५; गृत्समद २।२८; अत्रि ५।८५; वसिष्ठ ७।८६-८९।; नाभाक ८।४१, ४२ (१-३)।

सशक्त प्रभावशाली मनोभाव व्यक्त हुआ है। ऋषि अपनी 'धी' अथवा ध्यानचेतना की तुलना सहस्रधारा में क्षरण करने वाली एक ऐसी धेनु के साथ करते हैं, जो इन्द्र-वरुण की नन्दिनी होगी (५) ; सबके होकर वे उनके निकट 'प्रियसख्य' चाहते हैं।[२] इन्द्र-शत्रु का नाश करके पथ की बाधा दूर कर देते हैं, तत्पश्चात् वरुण का महाप्रसाद उतरता है (२)।

इस सख्य का परिणाम देवता के साथ सायुज्य है।[३] उस सायुज्य बोध से आत्ममहिमा का जो उल्लास प्राप्त होता है, वह ऋक्संहिता के कई सूक्तों में अभिव्यक्त हुआ है। अनुक्रमणिकाकार ने उन सबको 'आत्मस्तुति' कहा है। आत्मस्तुतियाँ इस प्रकार रचित हैं कि उनकी व्याख्या उन स्तुतियों के देवता के स्वकीय वक्तव्य के रूप में भी की जा सकती है। जैसे प्रसिद्ध वाक्सूक्त अथवा देवीसूक्त।[४] यहाँ अम्भृण कन्या वाक् ने वाक्-देवता के साथ सायुज्यबोध के द्वारा उद्दीप्त होकर इस सूक्त का उच्चारण किया है। यूरोपीय-पण्डितों ने सभी आत्मस्तुतियों की गणना देवस्तुति के रूप में क्यों की? वह समझ में नहीं आता। देवता की भावना में उपासक देवता के साथ तादात्म्य स्थापित करके स्वयं को ही देवता के रूप में अनुभव करेगा, यह अयौक्तिक अथवा असम्भव कुछ भी नहीं।[५] यह अद्वैतभावना ही भारतवर्ष की अध्यात्मसाधना का चरम परिणाम है। ऋक्संहिता के ऋषियों के सम्बन्ध में आलोचना करते

१. द्र. १।१७, ६।६८, ७।८२-८५, ८।५९।
२. वृणीमहे सख्याय प्रियाय (७)।
३. द्वा सुपर्णा 'सयुजा सखाया' समानं वृक्षं परिषस्वजाते १।१६४।२०; यह सायुज्यसिद्धि ही वैदिकसाधना में परमपुरुषार्थ।
४. ऋ. १०।१२५
५. १०।१२०।९। ऋक्संहिता में उसका स्पष्ट उल्लेख है - एवा महान् वृहद्दिवो अथर्वाऽवोचत स्वां तन्वमिन्द्रमेव - इस प्रकार महान् अथर्वा वृहद्दिवः ने (ऋषि का नाम) स्वयं को ही इन्द्र के रूप में घोषित किया। Gelder ने इस सरल उक्ति को कष्ट-कल्पना द्वारा ढाँकने का प्रयास किया हैं।

समय पहले ही हमने बतलाया है कि कई स्थलों पर ऋषि का परिचय उनके अपने नाम से नहीं, बल्कि देवता के नाम से प्राप्त होता है। ये उसी अद्वैत-भावना के ही उदाहरण हैं। वाजसनेय संहिता की ईशोपनिषद् में सायुज्य-बोध कैसे जाग्रत होता है? उसकी एक सुन्दर छवि इस उक्ति में प्राप्त होती है - 'यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि'।[१] तैत्तिरीपनिषद् के त्रिशङ्कु का वेदानुवचन भी इसका एक सुन्दर उदाहरण है।[२] इन सब भावनाओं की ही परिणति सूत्र रूप में 'अहं ब्रह्मास्मि' अथवा 'शिवोऽहम्' इत्यादि महावाक्यों में देखते हैं।

ऋक्संहिता में ये आत्म-स्तुतियाँ इस प्रकार हैं :- विश्वामित्र [अग्नि][३], वामदेव [इन्द्र], त्रसदस्यु [इन्द्र-वरुण][५], लव [इन्द्र][६], अम्भृणकन्या [वाक्][७], शची[८]। इनमें वामदेव के अनुभव को उपनिषद् में एक स्वीकृति प्राप्त हुई है। बृहदारण्यक में हम देखते हैं कि वामदेव की इस उक्ति 'अहं ब्रह्मास्मि' की ही उपलब्धि के उदाहरण के रूप में व्याख्या[९] की गई है। परवर्ती सूक्त के प्रथम मन्त्र को[१०] ऐतरेयोपनिषद् में गर्भस्थ वामदेव के दिव्यज्ञान के निर्दशन के रूप में उल्लेख किया गया है।[११] ऐतरेय एवं बृहदारण्यक दोनों अतिप्राचीन उपनिषद् हैं। इनके

१. ईशोपनिषद् १।१६।
२. तैत्तिरीयोपनिषद् १।१०।
३. ऋक्संहिता ३।२६। ७-८।
४. ऋ. ४।२६।१-३।
५. ४।४२।१-६।
६. १०।११९।
७. १०।१२५।
८. १०।१५९
९. १।४।१०
१०. ४।२७।१
११. २।४।५

प्रमाण की अपेक्षा करके इन आत्म-स्तुतियों की अन्य प्रकार से व्याख्या करने के पीछे क्या युक्ति है? वह समझ में नहीं आती। यूरोपीय-पण्डितों ने इसी वामदेव्य-मण्डल में ही प्राप्त त्रसदस्यु की एक आत्मस्तुति[1] को इन्द्र-वरुण के संवाद रूप में ग्रहण किया है। किन्तु ध्यातव्य है कि सूक्त के अन्त में राजा त्रसदस्यु को इन्द्र के साथ उपमित करके 'अर्द्धदेव' की संज्ञा दी गई है। इस सूक्त में ही बतलाया जाता है कि त्रसदस्यु की माँ ने इन्द्र-वरुण की उपासना करके उन्हें सन्तान के रूप में प्राप्त किया था। कालान्तर में वही सन्तान इन्द्र-वरुण का सायुज्य प्राप्त करके अर्द्धदेव रूप में परिगणित होगी, इसमें आश्चर्य की क्या बात है।[2]

अतः, वामदेव्य-मण्डल से ही वामदेव की साधना एवं सिद्धि के सम्बन्ध में जो कुछ आभास हमें प्राप्त होता है, उससे प्राचीन ऋषिसङ्घ के बीच उनका वैशिष्ट्य सहजता के साथ ही दिखाई देता है। उनके द्वारा रचित सूक्तों के अनेक स्थलों पर ही एक दृप्त, तेजस्वी पौरुष का भाव है। उनकी अभीप्सा का सुष्ठु परिचय हमें इस ऋक् में प्राप्त होता है - "अधा मातुरुषसः सप्त विप्रा जायेमहि प्रथमा वेधसो नॄन्, दिवस्पुत्रा अङ्गिरसो भवेमाऽद्रिं रुजेम धनिनं शुचन्तः" अर्थात् हम फिर जननी उषा से जन्म लेंगे सप्त विप्र होकर, होंगे नरलोक के प्रथम वेद्धा, द्युलोक के पुत्र होंगे अङ्गिराओं जैसे, अग्नितेज से तोड़ेंगे धनधारी पाषाण की बाधा।[3] इन्द्र को लक्ष्य करके वामदेव कहते हैं- 'मर्यो न योषामभिमन्यमानो ऽच्छा विवक्मि पुरुहूतमिन्द्रम्' - जिस प्रकार तरुण तरुणी की भावना में डूब जाता है, उसी प्रकार सर्वजनाहूत इन्द्र के प्रति अपना आमन्त्रण

---

१. ऋ. ४।४२

२. इस प्रसङ्ग में स्मरणीय है इस युग में रामकृष्ण-विवेकानन्द की जन्मकथा। संहिता की भाषा में कहा जाए, तो दोनों ही अर्द्धदेव।

३. ४।२।१५; Geldner का मत है कि 'शुचन्तः' शब्द में हमें तपःशक्ति का एवं ध्यानतन्मयताजनित ताप एवं प्रकाश का परिचय मिलता है।

भेजता हूँ।[1] इस उपमा में शैव के पौरुष की दीप्ति है। ठीक ऐसी उपमा ऋक्संहिता में और दो स्थलों पर है।[2] किन्तु तरुण वहाँ मनुष्य नहीं, देवता है। इस दृष्टि से वामदेव का उपमा-प्रयोग उनकी अनन्यविशेषता को ही सूचित करता है।

फिर हम देखते हैं कि वामदेव कई ऋभु-सूक्तों के भी ऋषि हैं।[3] इन सूक्तों के अतिरिक्त ऋक्संहिता में और भी ऋभु-सूक्त हैं, जिनमें विश्वामित्र का एक, कुत्स के दो, मेधातिथि का एक, वसिष्ठ का एक एवं दीर्घतमा का मात्र एक सूक्त है।[4] ऋभुगण पहले मनुष्य थे, किन्तु आत्मशक्ति से वे देवता हुए थे एवं अनेक बाधाओं का अतिक्रमण करके अन्त में सोमपान का अधिकार प्राप्त किया था। उनके कीर्ति-कलाप अथवा कृतित्व के परिचायक कार्यों में योगविभूति का परिचय पाते हैं। वे वैदिक-धारा की पार्श्ववर्ती एक और अवैदिक आर्य-साधना के संवाहक हैं। उसे स्मरण करने का कारण है।[5] इन ऋभुओं के प्रति वामदेव का पक्षपात भी उनकी साधना के वैशिष्ट्य की ओर सङ्केत करता है।

बङ्गाल में हम शिव को कृषकदेवता के रूप में देखते हैं। इस कृषक शिव की आदिकथा को लेकर पण्डित-मण्डली में आज भी जल्पना-कल्पना होती रहती है। कृषि योग-साधना का रूपक है, उसका प्रमाण हमें रोहिणीपुत्र 'बलराम' को हलधर रूप में देखने पर प्राप्त होता है। वे शेषनाग अथवा ऐश्वर योगशक्ति के अवतार के रूप में सुपरिचित हैं। बौद्धों एवं नाथयोगियों ने आद्याशक्ति की कल्पना अस्पृश्या डोम अथवा चण्डालकन्या के रूप में की है। कृषक शिव का कुटनी या दूती के पीछे भागने का इस दृष्टि से एक तात्पर्य हो सकता है।, किन्तु

---

१. ऋ. ४।२०।५

२. १।११५।२, ९।९३।२।

३. ४।३३-३७।

४. क्रमानुसार ३।६०, १।११०, १११, १।२०, ७।४८, १।१६१।

५. द्र. ऋ. ३।६० भूमिका।

लक्षणीय है कि वामदेव का भी एक कृषि-सूक्त है[१], जिसका देवता 'क्षेत्रपति' है। ऋक्संहिता में यह एक ही कृषि-सूक्त है।[२] यह भी वामदेव की साधना के वैशिष्ट्य के प्रति इङ्गित करता है।

अन्त में सब मिलाकर हम देखते हैं कि वामदेव वरुण अथवा महाकाश के उपासक हैं। साधना में वे आत्मशक्तिवादी हैं। देवता के प्रति उनका भाव नारी का नहीं, पुरुष का है। उनकी सिद्धि देवसायुज्य एवं सर्वात्मभाव में है। वे क्षेत्र के कर्षक अथवा योगी हैं। एवं सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है कि वे उस वामदेव्य-व्रत के प्रवर्तक हैं, जो सामाजिक रीति-रिवाज़ की सीमा से बाहर है। अपनी आत्मकथा में उन्होंने स्वयं ही थोड़ा आभास दिया है। यह सब देखते हुए उन्हें शिव का अवतार एवं विशेषतया तन्त्र के 'वामाचार' के प्रवर्तक के रूप में स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती।

छान्दोग्योपनिषद् के द्वितीय अध्याय में ग्यारहवें से तेरहवें खण्ड तक तीन खण्डों में एक समग्र भावना का सङ्केत प्राप्त होता है। जिसका लक्ष्य है प्राण एवं अग्नि के तत्त्व को आयत्त या वश में करके मिथुन भाव अथवा शिवशक्ति के सामरस्य के अनुभव में प्रतिष्ठित होना।[३] यह साधना गार्हस्थ्यधर्म की परिपोषक है।

१. ४।५७

२. किन्तु 'क्षेत्र' की बात अनेक स्थलों पर अनेक रूपों में है। आधारक्षेत्र एवं उसके अन्तर्यामी क्षेत्रपति, अथवा क्षेत्रज्ञ यह सब पुरानी बातें हैं। ऋक्संहिता में साधक की एक साधारण संज्ञा 'कृष्टि' अथवा 'कृषक' है।

३. प्राण एवं अग्नि के साम्य का उल्लेख उपनिषद् में अन्यत्र भी है। शरीर का उत्ताप प्राण का लक्षण है। यह तत्त्व उसके मूल में है। नींद आ जाने के बाद हमारी इन्द्रिय एवं मन की क्रिया निरुद्ध हो जाती है। किन्तु उस समय 'प्राणाग्नियाँ' इस देहपुरी में जागती रहती हैं' (प्र. ४।३)। आहार-क्रिया को 'प्राणग्निहोत्र' मानना होगा (छा. ५।१८-२४) प्राणाग्नि की सात शिखाएँ ही हमारे शीर्षस्थित सात इन्द्रियद्वार से बाहर आ रही हैं (प्र. ३।५)। भूतगुण जब योगगुण में रूपान्तरित होता है, तब शरीर योगाग्निमय होता है (श्वे. २।१२), वह भी प्राण के ही आप्यायन का फल है। प्राणाग्नि को जाग्रत करके ही दाम्पत्यधर्म का पालन करना होगा। यहाँ यही सङ्केत है। यह भाव तन्त्र की कुलसाधना में भी है।

तत्पश्चात् पाँच खण्डों में क्रमशः बृहत्, वैरूप, वैराज्, शक्वरी एवं रेवती साम को आदित्य, पर्जन्य, ऋतु, लोक एवं पशु-इन सब में प्रतिष्ठित जानकर उपासना करने का विधान है। उपासना का अङ्गीभूत साधारण व्रत है कि आदित्य इत्यादि की कभी भी निन्दा नहीं करोगे। सूर्य का प्रकाश, वृष्टि की धारा, ऋतुचक्र का आवर्तन, विश्वभुवन का विस्तार एवं उसमें विचित्र जीवों का मेला - इन सबको ही एक विराट् सौषम्य के हिल्लोल के रूप में देखना होगा। उसके फलस्वरूप इनका छन्दोवीर्य या इच्छा-सामर्थ्य उपासक के अधीन होगा। भावना का तात्पर्य यही है।[१] व्रत है, एक वर्ष तक अथवा आजीवन मांसाहार न करना। परिणामतः कोई भी अङ्ग विकल नहीं होगा।[२]

१. इसके पहले सामावयव की उपासना में जो क्रम निर्दिष्ट हुआ था, यहाँ का क्रम बहुत कुछ उसके विपरीत है। वहाँ आदित्य में पर्यवसान था, यहाँ आदित्य से ही आरम्भ है। आदित्य के पश्चात् पर्जन्य अथवा आदित्य से ही पर्जन्य - इस क्रमविन्यास का एक रहस्य है। आधिभौतिक दृष्टि से उत्तरायण के चरम विन्दु में वर्षा शुरु होती है। दिन का प्रकाश जब सबसे अधिक होता है, तभी आकाश तोड़कर पानी गिरता है। आधिदैविक दृष्टि से यह वृत्र-वध के फलस्वरूप इन्द्र की विजय है, जिसका उल्लेख ऋक्संहिता में अनेक स्थलों पर है। इन्द्र, आदित्य, इन्द्र, अभिजित् (तैत्तिरीय संहिता ३।५।२।४, ४।४।१।२....)। अभिजित् नक्षत्रचक्र के बाहर अट्ठाईसवाँ नक्षत्र है, अथर्वसंहिता में उसका स्थान पूर्वाषाढ़ा के पहले है (१९।७।४)। आध्यात्मिक दृष्टि से यह घटना, चेतना के चरम प्रस्फोटन अथवा विस्फोरण से आधार पर द्युलोक की अमृतधारा का निर्झरण है (द्र. ऋ. पर्जन्यसूक्त ५।८३)। लोक के सम्बन्ध में निधन 'समुद्र' है, पशु के सम्बन्ध में निधन 'पुरुष' है। यह लक्षणीय है।

२. यह उपासना काय-साधन के अन्तर्गत है। निरामिषभोजी होने का विधान लक्षणीय है। मूल में वैकल्य को बतलाया गया है 'विहूर्छन' < √हुर् (टेढ़े-तिरछे होकर चलना; तु; 'जुहुराणमेनः' ऋ १।१८९।१) + छ (विकरण)। अङ्गों का अवैकल्य वस्तुतः नाड़ीतन्त्र में 'ग्रन्थि' न पड़ना, जिससे प्राणस्रोत उसके भीतर आसानी से यातायात कर सकें'। संहिता में इसे ही 'अध्वर' गति कहा गया है अग्नि उसका नेता है। यज्ञसाधना का भी वही लक्ष्य है।

बीसवें खण्ड में विश्वदेवता में प्रतिष्ठित राजन साम की उपासना है, जिसका फल है देवता के सालोक्य, सार्ष्टित्व एवं सायुज्य की प्राप्ति।[१] व्रत है, ब्राह्मण की निन्दा न करना, इसलिए कि देवरहस्य वे ही जानते हैं।

इक्कीसवें खण्ड में सामोपासना चरम बिन्दु पर उठ गई है। इस समय किसी निर्दिष्ट साम की उपासना नहीं, समस्त विश्व में ही साम की एक अश्रुत झङ्कार उभर रही है। उसकी ही उपासना का उल्लेख है। वेदविद्या ही उस साम का हिङ्कार है, पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक उसका प्रस्ताव है, इस लोकत्रयी के अधिष्ठाता अग्नि, वायु और आदित्य उसका उद्गीथ है। उद्गीथ में साम चरम पर होता है, प्रतिहार में उतर कर निधन में मिल जाता है। उद्गीथ में चेतना का स्वर आदित्य में उत्थान पर था। इस बार वह नक्षत्रों में झनककर आदित्यरश्मियों और पक्षियों के डैनों की थरथराहट में उतर आया। तत्पश्चात् पितृगणों, गन्धर्वों एवं सर्पों में समा गया। उपासकों की दृष्टि में समस्त विश्व साममय हो गया।[२]

---

१. उपनिषद् में सामीप्य एवं सारुप्य का उल्लेख नहीं. यह लक्षणीय है। 'सार्ष्टित्व' है देवता जैसा शक्तिमान् होना।

२. आदित्यरश्मि ब्रह्मरन्ध्र को वेधकर जीव में अनुप्रविष्ट हुई है; तुलनीय. 'नीचीना: स्थुरुपरि बुध्न एषामस्मे अन्तर्निहिता: केतव: स्यु:' (ऋ. सं. १।२४।७)। नक्षत्र लोकोत्तर का प्रतीक है (तु. अथर्व. 'ब्रह्मदेवाँ अनुक्षियति, ब्रह्म दैवजनीर्विश:, ब्रह्मेदम् अन्यन्नक्षत्रं ब्रह्म सत्क्षत्रमुच्यते' १०।२।२३। जो ब्रह्म यह सब कुछ हुए हैं, जो ब्रह्म देवजनों की समष्टि हैं, वे 'सत् क्षत्र' हैं, उनके ऊपर में 'नक्षत्र' हैं। तु. क. २।२।१५ वहीं अग्नि जिस प्रकार आदिम भाति अथवा दीप्ति है, उसी प्रकार नक्षत्र अन्तिम भाति या कान्ति है)। पक्षी ऊर्ध्वाभिसारी चेतना का प्रतीक है (तु. ऋ. १।२५।४...)। सूर्य एक सुपर्ण अथवा पक्षी – (ऋ. १।३५।७, १०५।१, १६४।४६, ५।४७।३....) वे 'हंस: शुचिपत्' हैं (ऋ. ४।४०।५)। जीव में उनकी ही किरण उतरती है, इसलिए जीव भी हंस। तैत्तिरीयोपनिषद् में जीवात्मा पक्षीरूप में कल्पित (२।१-५)। अग्निचयन में यज्ञ की वेदी को भी पक्षी का आकार दिया जाता है। इसलिए प्रतिहार के अर्थ में नक्षत्रलोक तक चेतना का अवनमन

फलस्वरूप वे सर्वमय, सर्वजित् हुए। उनका व्रत है 'मैं ही सब कुछ हूँ' – यह भावना करना।[१]

इस प्रकार ग्यारहवें से इक्कीसवें खण्ड तक सर्वात्मभाव-साधना की एक पूरी रूपरेखा है।

बाईसवें खण्ड में सात प्रकार के स्वरों का वर्णन एवं उनके अधिष्ठात्री देवता का उल्लेख करते हुए किस प्रकार सामगान करना होगा? उसका उपदेश है। यदि उच्चारण की कोई भूल होती है, तो उसके लिए क्या करना होगा? यह भी बतलाया गया है।[२]

समझना होगा। निधन में सामचेतना अन्तरिक्ष से पृथिवी के भीतर गहरे उतर गई। तैत्तिरीयोपनिषद् में गन्धर्वगण से ऊपर पितृगण (२।८)। सर्प पृथिवी के विवर में रहते हैं, उनकी अधिष्ठात्री देवी सर्पराज्ञी। ऋक्संहिता में वे अपान-शक्ति (१०।१८९।१), तैत्तिरीयब्राह्मण में वे पृथिवी १।४।६।६, २।२।६।२, 'मनसा' का मूल यहीं; ऐ. ब्रा. ५।२३)। प्रतिहार और निधन में इस प्रकार सामचेतना उतरकर आधार के भीतर कुण्डलित रूप में स्थित हुई।

१. इस अद्वैतोपलब्धि की तीन अलग-अलग भङ्गिमाओं या विभावों में एक विभाव या भङ्गिमा है – आत्मा = सब: अन्य दो विभाव हैं – 'ब्रह्म = सब': 'आत्मा = ब्रह्म'। तो फिर अद्वैतोपलब्धि सामोपासना का चरम फल है। यहाँ पञ्चावयव साम के प्रत्येक अवयव के आधार रूप में तीन-तीन के हिसाब से तत्त्वों का निर्देश दिया हुआ है। उससे कुल तत्त्व पन्द्रह हो जाते हैं। पुरुष षोडशकल है और उसकी शक्ति की पन्द्रह कलाएँ हैं (इस कारण पुरुषसूक्त में पन्द्रह अनुष्टुप् छन्द की ऋचाओं के पश्चात् जगती छन्द में एक और ऋचा है)। इसलिए मूल में बतलाया गया है कि इस पन्द्रह के पश्चात् और कुछ भी नहीं अर्थात् पन्द्रह कलाओं के अन्तर्गत ही विसृष्टि या सर्जना का सब कुछ है। षोडशकलपुरुष उसका अधिष्ठान है।

२. स्वरों के सात देवताओं को इस प्रकार सजाया जा सकता है- अग्नि, वायु, इन्द्र, सोम, बृहस्पति, प्रजापति, एवं वरुण (तु. तै. उ. २।८ : वहाँ इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति, वरुण यह क्रम पाया जाता है)। ऋक्संहिता में तीन देवता अग्नि, इन्द्र एवं सोम का प्राधान्य है। यास्क वायु एवं इन्द्र दोनों को ही अन्तरिक्ष के प्रधान देवता बतलाते हैं। ऋकसंहिता के प्रथम अनुवाक (जिसमें वैदिक देवविद्या की मूल

तेईसवें खण्ड में धर्म के तीन स्कन्धों के सम्बन्ध में चर्चा है। प्रथम स्कन्ध यज्ञ, अध्ययन एवं दान; द्वितीयस्कन्ध ताप और तृतीयस्कन्ध नैष्ठिक ब्रह्मचर्य है। इन सब धर्मों का जो पालन करते हैं, वे पुण्यलोक में जाते हैं। किन्तु जो ब्रह्मसंस्थ हैं, वे अमृतत्व प्राप्त करते हैं। इस ब्रह्म का वाचक ओङ्कार है। ये तीन व्याहृतियाँ - भूः, भुवः, स्वः- त्रयीविद्या का सार हैं। ओङ्कार उनका भी सार है। वृक्ष के पत्तों में जिस प्रकार शिराजाल व्याप्त है। उसी प्रकार ओङ्कार भी समस्त वाक् में व्याप्त है। यह सब जो कुछ है, ओङ्कार ही है।

चौबीसवें खण्ड में केवल यजमान सामगान द्वारा कैसे स्वयं ही पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक पर जय प्राप्त कर सकते हैं? उसका सङ्केत दिया गया है। पहले ही हम बतला चुके हैं कि सामगान का प्रयोग सोमयाग में होता है। याग के अन्त में तीन 'सवन' (सोमलता को कूट कर रस निचोड़कर निकालना) प्रातः, मध्याह्न और सायङ्काल होते हैं। यजमान प्रातःसवन के पूर्व ही गाहर्पत्य-अग्नि के पीछे उत्तरमुख बैठकर 'वासव' सामगान करते हुए अग्नि के प्रति आहुति देकर उनको मृत्यु के पश्चात् पार्थिवलोक में ले जाने के लिए कहेंगे। तब वसुगण उनको प्रातः सवन का फल प्रदान करेंगे। इसी प्रकार माध्यन्दिन-सवन में रौद्र-साम गाकर एवं वायु के प्रति आहुति देकर वे अन्तरिक्षलोक पर जय प्राप्त कर लेंगे, फिर तृतीय-सवन में आदित्य एवं वैश्वदेव सोम गाकर आदित्य एवं विश्वेदेव के प्रति आहुति देकर द्युलोक पर जय प्राप्तकर लेंगे। पृथिवी-जय का नाम 'राज्य', अन्तरिक्ष-जय का नाम 'वैराज्य' और

रूपरेखा प्राप्त होती है) में इन्द्र एवं वायु का एक साथ आवाहन किया गया है (१।२।४-६)। तो स्वरों को भी क्रमशः विनर्दि, मृदु, बलवत् श्लक्ष्ण, निरुक्त, क्रौञ्च, अनिरुक्त एवं अपध्वान्त इस प्रकार सजाया जा सकता है। देवसंस्थान की ओर दृष्टि रखने पर इसे चेतना का आरोह-क्रम कहा जा सकता है। इसके साथ तुलनीय है मार्ग सङ्गीत के सात स्वर और पशु-पक्षियों के स्वरों के साथ उनके सादृश्य की कल्पना। यहाँ केवल क्रौञ्च पक्षी का नाम पाया जाता है। वारुण स्वर का वर्णन करने के लिए कहा गया है - यह भी लक्षणीय है।

द्युलोक-जय का नाम 'स्वाराज्य' एवं 'साम्राज्य' है। यहीं द्वितीय अध्याय समाप्त होता है।[१]

१. इस खण्ड में वर्णित अनुष्ठान समग्र सोमयाग का सार है। क्रियाविशेष की बहुलता नहीं, ऋत्विकों की सहायता लेने का भी कोई प्रयोजन नहीं, बल्कि यजमान केवल विद्याबल से ही एक सरल एवं सङ्क्षिप्त कर्म के द्वारा समग्र याग का फल प्राप्त करते हैं (तुलनीय. मूल में - 'क्व तर्हि यजमानस्य लोक इति स यस्तं न विद्यात् कथं कुर्याद् अथ विद्वान् कुर्यात्' - २)। यह सङ्क्षेपण वैदिकभावना का एक वैशिष्ट्य है। पहले भी हमने देखा है कि साम किस प्रकार अन्त तक जाकर ओङ्कार में पर्यवसित होता है? अतएव क्रियाविशेष की बहुलता साधना का आरम्भ कहा जा सकता है, जो मन्दाधिकारी के लिए है।.....केनोपनिषद् में देखते हैं कि अग्नि, वायु एवं इन्द्र ब्रह्मसंस्पर्श के क्रमिक सोपान हैं। किन्तु यहाँ अग्नि, वायु, आदित्य एवं विश्वेदेव हैं। आदित्य अद्वैतचेतना है और विश्वेदेव उसकी विभूति है। तु. 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ. १।१६४।४६)। वसुगण एवं रुद्रगण क्रमशः अन्न (MATTER) और प्राण की अन्तर्यामी चित्शक्ति हैं, जो अग्नि और वायु की ही विभूति हैं। लोकद्वार का उल्लेख ऋक्संहिता के आप्री-सूक्तों में है। वहाँ उसका नाम 'देवीर्द्वारः' अथवा ज्योतिद्वार या दुवार है। समस्त अनुष्ठान का तात्पर्य चेतना का उत्तरायण अर्थात् पार्थिवचेतना से विश्वचेतना में व्याप्त हो जाना है। अन्त की इस चेतना को ही अध्यात्मसाधनशास्त्र में 'जीवन्मुक्ति' की संज्ञा प्राप्त है। मृत्यु के पश्चात् (मूल में 'परस्तादायुषः') यजमान एक चिन्मय सर्वात्मभाव लेकर एक ही समय पार्थिव, अन्तरिक्ष एवं दिव्यलोक के समूह में ही रहेंगे - यह लोकप्राप्ति का अन्तिम परिणाम है। गीता में जीवित अवस्था में 'ब्राह्मीस्थिति' एवं अन्तकाल में 'ब्रह्मनिर्वाण' है; यहाँ हमने एवं पहले भी देखा है, द्र. कौषीतकी-उपनिषत्प्रसङ्ग) - अनिर्वाण-आदित्यस्थिति पाते हैं। आकाश में प्रज्वलित सूर्य के साथ यजमान एकाकार होकर रहे - जैसे जीवन में, वैसे मरण में। यदि हम कहें कि सर्ववर्ण आदित्य की भूमिका अवर्ण आकाश है, यहाँ ही यजमान की उत्क्रान्ति का पर्यवसान है, तो यह बात निर्वाणवाद के अनुकूल होगी, किन्तु उपनिषत् आदित्य के 'शुक्लं भाः' और 'नीलं परःकृष्णम्' दोनों के बीच किसी विरोध की कल्पना नहीं करती है। दोनों ही हिरण्मयपुरुष की दिव्य विभूति हैं (छा. १।६-७)। ऋक्संहिता के सोममण्डल के उपान्त्य सूक्त में हम जिस अमृतलोक की विवृति पाते हैं, वहाँ 'अजस्रज्योति, आनन्द, तृप्ति एवं स्वधा' है। वह मुख्यतः आदित्य की शुक्ल भाति को ही लक्ष्य करता है, यद्यपि वहाँ लोकोत्तर का सङ्केत भी

छान्दोग्योपनिषद् के तृतीय अध्याय में उन्नीस खण्ड हैं। प्रथम ग्यारह खण्डों में मधुविद्या का वर्णन है। यह आदित्योपासना का ही नामान्तर हैं। उपासना के पाँच पर्व हैं, जिनमें चेतना के क्रमिक विकास की एक विवृति प्राप्त होती है।

यहाँ बतलाया जाता है कि अन्तरिक्ष एक मधुचक्र या मधुमक्खियों के छत्ते जैसा है। उसमें आदित्य का रश्मिजाल फैला है, उसकी रश्मियाँ मधुचक्र के मधुकोष हैं। यजमान जो वेदविहित कर्म करते हैं, उसका फल पुष्परस अथवा अमृत है। जिसके द्वारा मधुकोष पूर्ण होते हैं। यह अमृत ही आदित्य का विचित्र रूप अथवा आभा है। गणदेवता इस रूप से जागते हैं, इसका दर्शन करके तृप्त होते हैं और फिर उसमें ही मिल जाते हैं। जो यजमान इस रहस्य को जानते हैं, वे भी साथ-साथ गणदेवता का सायुज्य प्राप्त करते हैं।

रूपक के विना सीधे, शब्दों में कहें, तो आदित्य निर्मल अद्वयचेतना का प्रतीक है। वेदविहित कर्म साधक को इसी चेतना में पहुँचा देता है। किन्तु पहुँचने के रास्ते के उत्तरोत्तर पाँच धाप हैं। जिसमें साधनफल के उत्कर्ष का तारतम्य है। यह तारतम्य आदित्यरश्मि के दिग्विभाग एवं आदित्य के गतिविभाग द्वारा समझाया गया है। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर - इस प्रकार दक्षिणावर्त-क्रम से दिशाओं को रखकर सब के अन्त में ऊर्ध्वदिक् को रखा गया है, और फिर प्रत्येक दिशा को आदित्य के

(अवरोधनं दिवः) है। यहाँ हम पाते हैं सिद्धि के चार स्वर – राज्य, वैराज्य, स्वाराज्य एवं साम्राज्य। उसके साथ तुलनीय भूतजय, इन्द्रियजय एवं प्रकृतिजय (पात. ३।४४, ४७, ४८) ऋक्संहिता में है - अग्नि का राज्य (७।६।२), इन्द्र का स्वराज्य (१।८०), वरुण का साम्राज्य (१।२५।१०, ८।२५।८, १७)। वैराज्य शब्द नहीं है, किन्तु चतुष्पात्पुरुष के व्यक्त एकपाद से विराट् के आविर्भाव का उल्लेख है (१०।९०।४,५)। एक स्थान पर है - 'विराट् सम्राट् विभ्वीः प्रभ्वीः बह्वीश्च भूयसीश्च याः दुरो घृतान्यक्षरन्' (१।१८८।५)। वर्तमान प्रसङ्ग का बीज यहीं है।

उदयबिन्दु के रूप में चिह्नित करके गति-विभाग की कल्पना की गई है।

आदित्य की दो गति एक आह्निक या दैनिक और दूसरी वार्षिक गति का हमें पता है। दैनिक गति का एक ही पथ हम देख पाते हैं। जब आदित्य पूर्व से उठकर पश्चिम में अस्त हो जाते हैं। उनका यह गतिपथ अन्तरिक्ष के ऊर्ध्व गोलार्द्ध में है। अस्तमित आदित्य जब फिर पूरब में उठकर आते हैं, तब हम कल्पना कर सकते हैं कि खगोल के निम्न गोलार्द्ध से होता हुआ एक और पथ है। आदित्य की वार्षिक गति एक बार दक्षिण से उत्तर की ओर और एक बार उत्तर से दक्षिण की ओर है। जिसे हम उत्तरायण और दक्षिणायन कहते हैं। दोनों अयनों का परिमाण छह-छह महीने है। पुराण में उसे देवताओं का 'अहोरात्र' कहा गया है। यह अयनकालव्यापी अहोरात्र पृथिवी के सुमेरुवृत्त में अब भी होता रहता है।

आर्य ज्योति के उपासक हैं। आदित्य का प्रकाश हमें दिन में मिलता है, अतएव रात्रि की अपेक्षा दिन को साधना के लिए अधिक अनुकूल मान सकते हैं। उत्तरायण में दिन का प्रकाश बढ़ जाता है, दक्षिणायन में कम हो जाता है। इसलिए दक्षिणायन की अपेक्षा उत्तरायण साधना के लिए अधिक अनुकूल है।

साधना के पर्याय का विन्यास करते हुए उपनिषद् में पहले दो अनुकूलकाल का उल्लेख किया गया है। प्रथमतः जब आदित्य पूरब से उदित होकर पश्चिम में अस्त होते हैं, उनकी उपासना। तब मनुष्य का दिन होता है। दिन के प्रकाश में चेतना को आप्लुत अथवा सिक्तस्नात रखना 'वासवीसिद्धि' है। अग्नि वसुगणों में प्रमुख हैं, वे पृथिवी-स्थान देवता हैं। इसलिए इस सिद्धि को हम आग्नेयीसिद्धि भी कह सकते हैं। यहाँ अमृत-चेतना का अभ्युदय है, अतएव उसके रूप को उगते सूर्य जैसा लोहित मानकर कल्पना की गई है। इस सिद्धि का साधन ऋग्वेद है।

दूसरे पर्याय में है उत्तरायण के आदित्य की उपासना। उनकी गति दक्षिण से उत्तर की ओर होती है। यह देवताओं का दिवा भाग है। पहले की 'उज्ज्योतिः' हैं, यह 'उत्तरज्योतिः' है।[१] इस ज्योति को प्राप्त करना 'रौद्रीसिद्धि' है। रुद्रगण अन्तरिक्षस्थान देवता हैं, उनके प्रमुख इन्द्र हैं।[२] इसलिए इस सिद्धि को 'ऐन्द्रीसिद्धि' भी कहा जा सकता है। तब अमृतचेतना माध्यन्दिन-सूर्य की तरह भास्वर होती है। अतः, उसका रूप शुक्ल है। इस सिद्धि का साधन यजुर्वेद है।

किन्तु दिन के साथ युक्त है रात्रि, उत्तरायण के साथ दक्षिणायन, जो देवताओं की रात्रि है। लोगों की दृष्टि में दिन का प्रकाश बुझ जाता है, किन्तु आदित्य की दृष्टि में नहीं। इसलिए दिन यदि व्यक्तज्योतिः, तो रात्रि अव्यक्तज्योतिः है।[३] दिन की अपेक्षा रात्रि का रहस्य और भी गहरा है। इस रहस्य को प्राप्त किये बिना आदित्यविज्ञान सम्पूर्ण नहीं होता है। आदित्य में दिवा भी नहीं, रात्रि भी नहीं; किन्तु उसे समझने के लिए दिन के प्रकाश को पार करके रात्रि के अँधेरे में डुबकी लगानी होगी।[४]

साधना के तृतीय पर्याय में रात्रि के अन्धकार के भीतर से आदित्य गति का अनुसरण करना होगा। उस समय चेतना का मोड़ प्रवृत्ति से निवृत्ति की दिशा में मुड़ जाएगा। इसलिए प्राकृत-दृष्टि में आदित्य की

१. ऋ. सं. १।५०।१०
२. निरुक्त मतानुसार वायु (१०।२)। ऋक्संहिता के प्रथम मण्डल के प्रथम अनुवाक में अग्नि और वायु के पश्चात् ही इन्द्र-वायु देवतायुग्म का उल्लेख है (१।२।४-६)। बृहदारण्यकोपनिषद् में बतलाया जाता है कि पुरुष के दश प्राण एवं आत्मा को लेकर एकादश रुद्र (३।९।४)। तो फिर प्राणों के ऊपर आधिपत्य रौद्रीसिद्धि का बोधक है।
३. द्र. ऋ. रात्रिसूक्त : रात्री व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्यक्षभिः ......ज्योतिषा बाधते तमः (१०।१२७।१,२)।
४. इस प्रसङ्ग में स्मरणीय है मृत्यु अथवा यम के यहाँ अतिथि होकर नचिकेता का तीन 'रात्रि' व्यतीत करने का प्रसङ्ग। मृत्यु, प्रकृतचेतना की सुप्ति है; इसलिए अन्धकार है; किन्तु वस्तुतः वे 'वैवस्वत' अथवा नित्य भास्वर आदित्यचेतना से उत्पन्न हैं।

गति विपरीत जान पड़ेगी, जैसे वे पश्चिम में उगकर पूरब में अस्त हो रहे हों। आदित्य अस्त की ओर ही जा रहे हैं; किन्तु अस्त का अर्थ तब विलोप नहीं, बल्कि 'अस्तिता' बतलाया जा सकता है।[१] यह आदित्य चेतना की सिद्धि है। वरुण आदित्य-गण के प्रमुख हैं, इसलिए इसे 'वारुणीसिद्धि' भी कहा जा सकता है।[२] अमृतचेतना तब अविद्या-विनाश, असम्भूति अथवा मृत्यु के अन्धकार को चीरती हुई चलती है।[३] इसलिए उसका रूप कृष्ण है। इस सिद्धि का साधन सामवेद है।[४]

मानुषी-रात्रि को पार करने के पश्चात् साधना के चतुर्थ क्रम में दैवी-रात्रि के अन्धकार को पार करके जाना होगा।[५] यहाँ दक्षिणायन में

१. 'अस्त' गृह की प्राचीन संज्ञा। द्र. ऋ. सं. ३।५३।४ टीका। माथे के ऊपर उठकर आदित्य ढल जाते हैं – प्राकृत-चेतना का यह नियम है। इसका ही नाम जरा एवं मृत्यु है। किन्तु दिव्यचेतना अजर एवं अमृत। वह चेतना प्राप्त करने के लिए आदित्य के उस ढल पड़ने की स्थिति का निवारण करना होगा। निरोध का मार्ग पकड़ने पर वह किया जा सकता है। बाहर चेतना जितनी ही क्षीण होती जाती है, अन्तर की चेतना उतनी ही बलवती होती है। यह निरोधयोग का अनुभूत सत्य है। यही आदित्य का पश्चिम में उदय है। इस उदयन का प्रस्थान जिस अस्त की ओर हो रहा है, वह आदित्य चेतना के स्वधाम में अथवा नित्य प्राची में है। उसकी चर्चा एकादश खण्ड में की जाएगी।
२. संहिता में वरुण, रात्रि अथवा अव्यक्त ज्योति के देवता हैं। विशेष विवरण के लिए द्र. ऋ. सं. ३।५४।१८ टीका।
३. द्र. ईशोपनिषद् ९-१४; क. १२१।९।
४. 'अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भा : सैव ऋक्, अथ यन्नीलं तत् साम (छा. १।६।५)। साम का अर्थ है सुर, स्वर। भागवतजनों के परमदेवता आदित्य का यह 'नीलं परः कृष्णं भाः'; उनके भी हाथ में वेणु। उसके सुर अथवा स्वर-लहरी से वे यमुना के मृत्युस्रोत को ऊपर की ओर प्रवाहित कर देते हैं।
५. इस प्रसङ्ग में तुलनीय, सप्तशती की कालरात्रि एवं महारात्रि (१।७९)। स्थूलदृष्टि से रात्रि की तुलना यदि अविद्या के साथ की जाए, तो कालरात्रि को वेदान्त की परिभाषा में तूलाविद्या और महारात्रि को मूलाविद्या कहेंगे। अवचेतना एवं अचेतना की गहराई में छलाँग लगाकर प्रचेतना एवं अतिचेतना की कुण्डलित शक्ति को मुक्त करना निश्चय ही वीर-कर्म है।

आदित्य की उपासना। तब उनकी गति विपरीत होती है, अन्धकार पहले से भी गाढ़तर होता है।[१] अमृत-चेतना का रूप तब परःकृष्ण होता है। इसकी प्राप्ति को 'मारुती' अथवा 'सोम्यासिद्धि' कहते हैं।[२] इतिहास-पुराणरूप वेद उसका साधन है, जो अथर्वाङ्गिरस पर आधारित है।[३]

इन चार पर्यायों के पश्चात् आदित्य की जिस गति के बारे में बतलाया जाता है, वह ऊपर से नीचे की दिशा में है। स्पष्टतया यहाँ माध्यन्दिन-आदित्य ही उपास्य हैं। यहीं विष्णु का परमपद है, जहाँ पहुँचना वैदिक-साधना की सर्वोत्कृष्ट सिद्धि है।[४] यहाँ से ही चिज्ज्योति अथवा चैतन्यज्योति अनन्त धाराओं में सृष्टि के ऊपर झर रही है। यहाँ दिन-रात का भेद नहीं; किन्तु गति है, ऊपर से नीचे झर पड़ने की गति।

---

१. तु. ऋ. नासदीय सूक्त : तम आसीत्तमसा गूळहमग्रे १०।१२९।३।

२. मरुद्गण वस्तुतः अन्तरिक्षस्थान देवता हैं, विश्वप्राण उनका स्वरूप है। ऋक संहिता में मरुद्गण 'रुद्रियाः' अथवा रुद्रपुत्र हैं (द्र. १।३८।७, २।३४।१०, ३।२६।५, ५।५७।७, ७।५६।२२....) रुद्र भी अन्तरिक्षस्थान देवता हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से एकादश रुद्र, एकादश इन्द्रिय अथवा प्राणवृत्तियाँ हैं (बृ. ३।९।४)। उत्तरायण के आदित्य की उपासना द्वारा रौद्री-सिद्धि और दक्षिणायन की आदित्योपासना से मारुती-सिद्धि। यह व्यष्टिप्राण से समष्टिप्राण में उत्तरण की घटना है। रात्रि के अधिदेवता वरुण हैं; और फिर इस रात्रि में ही चन्द्रमा का प्रकाश होता है। इसलिए यह सिद्धि सोम्यासिद्धि है।

३. हमें पहले ही यह ज्ञात है कि अथर्वाङ्गिरस त्रयी के बाहर हैं, उसमें श्रौतकर्म का प्राधान्य नहीं। यह जनमानस के निकट है। इतिहास पुराण भी वही हैं। फिर ब्राह्मण ग्रन्थों की व्याख्या के अनुसार मरुद्गण भी देवताओं में वैश्य अथवा जनसाधारण जैसे हैं (ऐ. १।९; ता. ६।१०।१०, १८।१।१४; श. ४।५।२।१६; तै. १।८।३।३। शाङ्ख्यायन ७।८....)। तो क्या उपनिषद् का यही सङ्केत है कि दक्षिणायन का मार्ग मुख्यतः जनसाधारण का है? लक्षणीय है, वैदिक-अनुष्ठानों में दिन का प्राधान्य-यद्यपि अतिरात्रयाग का उल्लेख वैदिक-साधना में भी है। किन्तु तन्त्र के अनेक अनुष्ठान ही रात्रि के हैं। इसके अलावा तन्त्र भारतवर्ष का लोकप्रचलित धर्म है।

४. तु. ऋ. १।२२।२०,२१; १।१५४।५,६।

जिसके कारण इस भूमि पर अमृतचेतना का रूप 'ब्रह्मक्षोभ' है – अर्थात् जो प्रकाश माध्यन्दिन सूर्य के भीतर पारे की तरह प्रस्फुरित हो रहा है, वही अमृत-चेतना का रूप है। यह सिद्धि **साध्यगण** की आश्रित है।[१] ब्रह्म साध्यगण के प्रमुख हैं, और वे ही इस विद्या के साधन हैं। इस ब्रह्म का गुह्य आदेश के द्वारा आहरण किया जा सकता है।[२]

---

१. साध्यगण का उल्लेख ऋक्संहिता में पुरुषसूक्त (१०।९०) की अन्तिम ऋचा के अन्तिम चरण में है : 'ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।' नाक द्युलोक की परमभूमि है (द्र. ३।१५६ टी.)। साध्यगण वहाँ पूर्वदेव अथवा देवादिदेव के रूप में हैं। इस ऋक् की व्याख्या में ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि साध्यगण छन्द हैं : (१।१६)। शतपथ ब्राह्मण की दृष्टि में वे प्राण हैं (१०।२।२।३)। निघण्टु में उन्हें रश्मि कहा गया है (१।५), फिर द्युस्थान के देवगणों के मध्य भी उनका उल्लेख है (नि. ५।६।२८)। यास्क वहाँ निरुक्ति देते हैं, 'साध्या देवाः साधनात्'। व्याख्या में दुर्ग कहते हैं, 'ते हि सर्वमिदं साधयन्ति यदन्येन सर्वकर्मभिरसाधितं, तत् साध्या उच्यन्ते। ते च पुनः प्राणाः विश्वसृज ऋषयः (तु. 'तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ऋ १०।९०।७; यहाँ 'देवताओं में जो साध्य एवं ऋषि हैं' यह अर्थ भी किया जा सकता है) 'ये सहस्रे संवत्सरसत्रेणेदं विश्वमसृजन्त त एवैते अधिदैवं रश्मयः; विज्ञायते हि, प्राणा वै सप्त-ऋषयः साध्या विश्वसृज इति।' सङ्क्षेप में कहा जा सकता है कि विश्वसृष्टि के मूल में जिस महाप्राण की छन्दोलीला है, वही साध्य नामक देवगण हैं। परमपद से आदित्य-रश्मि के निर्झरण के साथ इस भावना की सङ्गति है।

२. वेद के सारभूत पाँच महावाक्य गुह्य आदेशों के रूप में जाने जाते हैं। जिनमें प्रचोदक अथवा प्रेरकशक्ति है। आदिशङ्कराचार्य ने अपने भाष्य में ऐसे एक आदेश 'लोकद्वारमपावृणु' (छा. २।२४।४) का उल्लेख किया है। इसी प्रकार एक आदेश केनोपनिषद् में है – 'यदेतद्विद्युतो व्यद्युतद् आ इति' इत्यादि (४।४-६); तैतिरीय में – १।११ (आचार्य का अनुशासन), २।३ (मनोमयपुरुष का आत्मा); छान्दोग्य में : आदित्यो ब्रह्म (३।१९।१), एक विज्ञान में सर्वविज्ञान (६।१।४,६) अहङ्कारादेश (७।२५।१), आत्मादेश (वही २) बृहदारण्यक में : नेति नेति (२।३।६)।

ब्रह्मक्षोभ के ऊपर भी एक भूमि है, जहाँ कोई गति नहीं। वहाँ आदित्य का उदय भी नहीं, अस्त भी नहीं - अर्थात् 'एकल' होकर मध्य में स्थिर रहते हैं।[१]

इस मधुविद्या को उद्दालक ने अपने पिता से प्राप्त किया था। बृहदारण्यक में एक और मधुविद्या है (२।५)।

बारहवें खण्ड में गायत्री की उपासना है।[२] गायत्री का स्वरूप :

१. अधिभूत-दृष्टि से यह सुमेरुबिन्दु के द्वारा लक्षित ध्रुवनक्षत्र है। वरुण के 'ध्रुवं सदः' का उल्लेख ऋक्संहिता में है (८।४१।९); अन्यत्र यह 'ध्रुवं सदः' उत्तम अर्थात् सर्वोच्च एवं सहस्रस्थूण है। (२।४१।५, ५।६२।६)। इससे ही अध्यात्मदृष्टि में 'शिरसि सहस्रार' की कल्पना आई है। वरुण ब्रह्म की अव्यक्तज्योति है। गति की साधना में चेतना के उत्कर्ष के साथ-साथ काल का परिमाण क्रमशः बढ़ता जाता है। यह भी लक्षणीय है।

२. सात प्रधान वैदिक छन्दों में गायत्री आरम्भ का छन्द है। यह आठ अक्षरों के तीन पादों में रचित चौबीस अक्षरों का छन्द है। ऋक्संहिता में इसकी संज्ञा 'गायत्र' है। दशम मण्डल में केवल दो बार गायत्री का प्रयोग है (१०।१४।१६, १३०।४)। गायत्री अग्नि का छन्द है। इसका उल्लेख ऋक्संहिता में है : अग्नेर्गायत्र्यभवत् सयुग्वा (१०।१३०।४), पुरोगा अग्निर्देवानां गायत्रेण समज्यते (१।१८८।११) इस अग्निसम्बन्ध से ही गायत्री के तीन समिध का उल्लेख दीर्घतमा के ब्रह्मोद्य सूक्त में है। (१।१६४।२५)। अन्यत्र देखते हैं कि अग्नि के तीन समिध में से एक ही मनुष्य के भोग में लगता है और दो लोकोत्तर में चले जाते हैं (३।२।९)। गायत्री के साथ गान या गीत का सम्बन्ध है, यह संज्ञा से ही समझ में आता है। (तु. ऋ. १।१६४।२४, २१।२, ३८।१४ ८।१।७, २।१४; ९।६०।१)। पहले ही बतलाया गया है सामयोनि ऋक अधिकांश ही गायत्री छन्द में रचित हैं। ऋक्संहिता के अनुसार एक श्येन (बाज पक्षी) द्युलोक से सोम का आहरण करके लाता है (द्र. ४।२६-२७)। ब्राह्मण के अनुसार गायत्री सुपर्णी होकर द्युलोक से सोम लेकर आती है (ऐ. ब्रा. ३।२५, श. ३।९।४।१०)। अन्यत्र हम गायत्री की जगह वाक् को पाते हैं, जो 'महानग्नी' होकर स्त्रीकाम गन्धर्वों को बहकाकर सोम ले आती है (ऐ. १।२७)। सायण अपने भाष्य में शाखान्तर से उद्धरण देते हुए दिखलाते हैं कि यह नग्निका एक वर्ष की लड़की है। संहिता एवं ब्राह्मण की इन समस्त उक्तियों से गायत्री का महत्त्व समझ में आएगा। सम्प्रति हम गायत्री के अर्थ में इस छन्द में रचित विश्वामित्र के एक सावित्री ऋक् को ही समझते हैं (३।६२।१०)। यहाँ गायत्री के अर्थ में उस ऋक् को ही लक्ष्य किया जा रहा है या नहीं, वह स्पष्टतया

अधिदैवत-दृष्टि में वे वाक्[१] और अध्यात्म-दृष्टि में वे प्राण हैं।[२] वाक्-प्राणरूपिणी गायत्री चतुष्पात् है। पुरुष भी चतुष्पात् है।[३] गायत्री और पुरुष एक ही हैं।[४] पुरुष का एकपाद यह सर्वभूत है और गायत्री का भी

समझ में नहीं आता। किन्तु बृहदारण्यक में गायत्रीप्रसङ्ग में विशेष रूप से सावित्री-गायत्री का ही उल्लेख किया गया है (गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयात् ५।१४।५; तु. श. ११।५।४।७)। किन्तु विश्वामित्र की उस ऋक् के अतिरिक्त भी ऋक्संहिता में गायत्री छन्द में रचित अन्य कई सावित्रमन्त्र हैं (१।२२।५-८, १।२४।३-४, ५।८२।२-९)। इस अन्तिम सूक्त का प्रथम मन्त्र अनुष्टुप् छन्द में रचित एक सावित्रमन्त्र है और बृहदारण्यक में यह मन्त्र ही उक्त गायत्री प्रसङ्ग में उद्दिष्ट है, वह स्पष्ट समझ में आता है। इसलिए छान्दोग्य में गायत्री छन्द को ही विशेष रूप से लक्ष्य किया गया है। इसका अनुमान निःसङ्कोच किया जा सकता है। किन्तु गायत्री छन्द में रचित अन्यान्य सावित्र-मन्त्रों का अतिक्रमण करके विश्वामित्र के मन्त्र ने ही धीरे-धीरे प्रधानता प्राप्त कर ली थी, उसका प्रमाण हमें तब मिलता है, जब देखते हैं कि तैत्तिरीयारण्यक के खिलकाण्ड में ठीक इस प्रकार ही अन्यान्य देवताओं की गायत्री रचित हुई है (१०।१।५-७)। इन देवताओं में पौराणिक देवता भी हैं। सामवेद के ग्राममेय गान के प्रारम्भ में ही विश्वामित्र के मन्त्र को स्थान दिए जाने से समझ में आता है कि अति प्राचीनकाल से ही इसमें एक विशेष महत्त्व आरोपित किया गया था। विशेषतया व्याहृतियुक्त करके वाजसनेय संहिता में भी इसका उल्लेख किया गया है (३६।३; तु. बृ. ६।२।६; मन्थ कर्म के विनियोग में)। यह भी इसके महत्त्व का एक प्रमाण है। सामवेद की जैमिनीयोपनिषद् में इस मन्त्र की ही व्याख्या की गई है (४।२७-२८)।

१. वाग् वै गायत्री १।

२. कण्डिका ३, ४। गायत्री ही प्राण है, इसका उल्लेख मूल में नहीं है; किन्तु अध्यात्म-साधना में प्राण का प्राधान्य उपनिषद् में बहुसम्मत है। तु. एवमेवैषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता सा हैषा गयांस्तत्रे , प्राणा वै गयास्तत् प्राणांस्तत्रे तद्यद् गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम (बृ. ५।१४।४)। प्राण को लेकर ही कहा जा सकता है कि गायत्री षड्विधा है (कण्डिका ५)।

३. ऋ. १०।९०।३।

४. ऋक्संहिता में वाक् और ब्रह्म के समानाधिकरण्य अथवा मिथुनीभाव का उल्लेख है (१०।११४।८)। ब्रह्म स्वरूपतः चेतना का विस्फोटन है, एवं वाक् उसका ही स्फुरण है। अतएव वाक् ब्रह्मशक्ति है। शक्तिमान् और शक्ति अभेद-अभिन्न हैं। यहाँ भी वही है।

वही है। पुरुष के अन्य तीन पाद पृथिवी, शरीर और हृदय हैं। अन्तर्मुखी दृष्टि यहाँ क्रमशः स्थूल से मूल की ओर जाती है। हृदय गायत्री का तुरीय अथवा चतुर्थ पाद है।[१] जो आकाश बाहर है, वही भीतर है, और भीतर का आकाश हृदय में घनीभूत हुआ है। यह हृदयरूपी आकाश ही गायत्री तथा ब्रह्म की परम प्रतिष्ठा है।[२] इस प्रतिष्ठा का स्वरूप है एक प्रवर्तनाहीन अचलप्रतिष्ठ पूर्णता का अनुभव।

तत्पश्चात् तेरहवें खण्ड में 'द्वारपा' उपासना है। उपनिषद् के अनेक स्थलों पर इन द्वारपालों का उल्लेख है। पिछले खण्ड में हमने देखा कि हृदय ही ब्रह्मपुर है। यहाँ ही ब्रह्म एवं ब्रह्मशक्ति की प्रतिष्ठा है। ब्रह्म के निकट पहुँचने के लिए इस हृदय में पाँच 'देवसुषि' अथवा ज्योति-द्वार हैं।[३] प्रत्येक द्वार पर एक-एक ब्रह्मपुरुष हैं, जो द्वार के रक्षी हैं। उनकी उपासना के द्वारा साधक ब्रह्म में पहुँच सकता है। अध्यात्म-दृष्टि में ये ब्रह्मपुरुष प्राण एवं इन्द्रियाँ हैं। एक प्राण की ही पाँच वृत्तियाँ या तरङ्गें हैं - जिन्हें प्राण, व्यान, अपान, समान एवं उदान कहते हैं। ये सभी प्रज्ञा की ही क्रियाशक्ति हैं।[४] प्राण की गति सामने की ओर और अपान की गति उसके विपरीत पीछे की ओर होती है। इसलिए दोनों में मेरु सम्बन्ध (POLARITY) अथवा ध्रुवत्व है। उसी प्रकार व्यान एवं समान में है, व्यान की गति विच्छुरण या छितराव-बिखराव में है और समान की गति

१. बृहदारण्यक में गायत्री के इस तुर्दरीय पाद के सम्बन्ध में बतलाया जाता है : 'एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति' (५।१४।३)। इसलिए गायत्री का तुरीय अथवा चतुर्थ पाद आदित्य है। आदित्य में जो पुरुष है, वही पुरुष इस हृदय में भी है, दोनों पुरुष ही एक हैं। इसका उल्लेख अन्यत्र उपनिषद् में है (द्र. ईशो. १६, तै. ३।१०।४....योगियों ने हृदय के आदित्य को 'हार्दज्योतिः' बतलाया है। गायत्री अग्नि के छन्द रूप में साधक को आदित्य...पहुँचा देती है। वैदिक यज्ञ साधना का वही तात्पर्य है।

२. द्र. दहरविद्या, छा. ८।१।

३. तु. ऋक्संहिता का 'देवीर्द्वारः'; द्र. आप्री सूक्त ३।४।५ टीका।

४. द्र. कौ. तृतीय अध्याय

संहरण में है। तो फिर परस्पर चारों गतियों का रेखाचित्र (+) इस योग-चिह्न जैसा हो सकता है। हृदय देहकाण्ड के मध्यभाग में है। उसे एक गोलक या वर्तुल के रूप में कल्पना करके उसके सामने की ओर प्राण के द्वार की स्थापना की जा सकती है। तो अपान का द्वार पीछे की ओर होगा। दाहिनी ओर यदि व्यान का द्वार होगा, तो बायीं ओर समान का द्वार होगा। और गोलक के केन्द्र से ऊपर की ओर उदान का द्वार होगा।

इन पाँच वृत्तियों के साथ क्रमशः पाँच इन्द्रियों को युक्त किया गया है। ग्यारह इन्द्रियों में से ब्रह्मप्राप्ति के साधन के रूप में पाँच इन्द्रियों का चयन किया गया है, जिनमें चक्षु, श्रोत्र, वाक्, मन एवं वायु मुख्य हैं।[१]

अधिदैवत-दृष्टि में ये पाँच प्राण एवं पाँच इन्द्रियाँ - क्रमशः आदित्य (सूर्य), चन्द्रमा (सोम), अग्नि, पर्जन्य एवं आकाश (द्यौः), पाँच देवता हैं। आदित्य दिव्यज्योति है, अग्नि पार्थिवज्योति है; चन्द्रमा दिव्य-अमृत है एवं पर्जन्य उसका ही मूसलाधार वर्षण है। इस प्रकार देवताओं में भी प्राणवृत्ति के अनुरूप मेरु-सम्बन्ध अथवा ध्रुवता का बोध होगा।

अध्यात्म-साधन के साथ उपासना करनी होगी, अर्थात् इन्द्रिय एवं प्राणवृत्ति का सहारा लेना होगा। निश्चय ही देवता का आनुकूल्य उसकी पृष्ठभूमि में होगा एवं उसके फलस्वरूप एक-एक उपासना में ब्रह्म की ही एक-एक दिव्य विभूति के अनुभव का स्फुरण होगा। फिर यह अनुभव जीवन में अभ्युदय का रूप धारण करेगा। आदित्य के अनुभव में प्राप्त होगा तेज एवं अन्नादत्व (जड़ का आत्मसात्करण ASSIMILATION), चन्द्रमा के अनुभव में श्री एवं यश (ईशना),

१. वायु स्पर्शेन्द्रिय का द्योतक है। अन्य विवरण में वायु के स्थान पर प्राण है। उदान की क्रिया मेरुदण्ड के भीतर से स्पर्शस्रोत की तरह अनुभूत होती है। इसलिए वायु की गति के साथ उसकी उपमा, एक नली में फूँक देने पर जिसप्रकार होता है। उस प्रकार दी गई है।

अग्नि के अनुभव में ब्रह्मवर्चस् (मन्त्रवीर्य) एवं अन्नादत्व, पर्जन्य के अनुभव में कीर्ति एवं व्युष्टि (अरुणोदय की झलझलाहट) एवं आकाश के अनुभव में ओज: एवं मह: (व्याप्तिचैतन्य की शक्ति)।

ब्रह्मज्योति जिस प्रकार लोकोत्तर एवं लोकात्मक है, उसी प्रकार देहगत भी है। विश्व में फैलकर, उससे अलग वह इस हृदय में सिमट कर समा गई है। उसका अनुभव इन्द्रियों एवं प्राणवृत्तियों द्वारा हृदय में ही करना होगा। अनुभव की दो पद्धतियाँ हैं, एक आहरण और एक विसृष्टि। नेत्र द्वारा ब्रह्मज्योति एवं श्रोत्र द्वारा ब्रह्मघोष का आहरण हम हृदय में कर सकते हैं और हृदय से ही उसे वाक् एवं मन द्वारा विसृष्ट कर सकते हैं।[१] नेत्र रूप को ग्रहण कर सकते हैं और श्रोत्र अरूप को। इसलिए नेत्र की अपेक्षा श्रोत्र का अनुभव सूक्ष्म होता है। उसी प्रकार वाक् की अपेक्षा मन की विसृष्टि भी सूक्ष्मतर होती है।

इसके अतिरिक्त प्राण का धर्म व्याप्ति है और अपान का धर्मसंहरण है।[२] उसी प्रकार व्यान और समान के बारे में भी व्याप्ति व्यान का धर्म है और संहरण समान का धर्म है। आध्यात्मिक दृष्टि से आधार में प्राणापान की क्रिया ऊपर-नीचे और व्यान-समान की क्रिया आस-पास होती है, किन्तु क्रियाओं का क्षेत्र ही वर्तुल है। ऊर्ध्वाध: अथवा ऊपर-नीचे की क्रिया को समतल पर लम्ब (PERPENDICULAR) के रेखाङ्कन द्वारा समझाया जा सकता है। यह उदान की गति-रेखा है और समतल प्राणापान एवं समान-व्यान की गति-रेखा के आधाररूप में रचित होगा। किन्तु इस ओर भावना के लिए प्राणापान की गति आगे और पीछे निर्दिष्ट की गई है। अर्थात् योग-चिह्न का रेखाचित्र पृथिवी के

१. यहाँ सिद्ध वाक् एवं सिद्धमन की ही बात हो रही है। वाक् और मन को साधन रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है।

२. इसे प्रश्वास एवं नि:श्वास के समय समझा जा सकता है। नि:श्वास में सङ्कुचन और प्रश्वास में प्रसार ; एक से देह के भीतर सिमट आना और एक से देह के बाहर फैल जाना।

ऊपर लम्बरूप में न होकर मानो समतल रूप में है। उदान की ऊर्ध्वगति के साथ-साथ समस्त समतल तब पृथिवी से द्युलोक की ओर धीरे-धीरे ऊपर उठ जाएगा।

व्याप्ति और संहरण की क्रिया को एक कोण के रेखाचित्र (<) द्वारा समझाया जा सकता है। दो कोण यदि विपरीत दिशा में स्थापित किए जाएँ, तो एक पूरण या गुणन-चिह्न × बनता है। इस गुणन-चिह्न को योगचिह्न के ऊपर स्थापित करने पर जो रेखाचित्र होगा, उसकी कल्पना प्राण-अपान एवं व्यान-समान की गति के चित्र के रूप में की जा सकती है। इस चित्र का केन्द्र-बिन्दु हृदय है।

भावना के समय चक्षुग्राह्य आदित्यज्योति को सामने की ओर से आकर्षित करके यदि हृदय के केन्द्र में संहृत अथवा एकत्र किया जाए तो वह वहाँ आकर चिदग्नि के कन्द में परिणत हो जाती है एवं वहाँ से वाक् अथवा मन्त्र का स्फुरण होता है। वाक्शक्ति विपरीत दिशा में हृदय के पीछे की ओर महाशून्य में फैल जाती है। और अग्नि वैश्वानर में रूपान्तरित हो जाता है। संहरण की क्रिया अपान द्वारा ही होती है, और व्याप्ति की क्रिया प्राण द्वारा। उस समय प्राणापान ओत-प्रोत अथवा अन्तर्व्याप्त होकर कार्य करते हैं।

यह प्राथमिक भावना है। इसके सिद्ध होने के पश्चात् अनुरूप पद्धति से द्वितीय भावना करनी पड़ती है। उस समय वायु की गति दाहिने-बायें होती है। आदित्य से ऊपर चन्द्रमा[१] और दिन के प्रकाश से परे रात की नीरवता है। इस नै:शब्द्य या नीरवता को जिस इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाए, वही 'दिव्य श्रोत्र' है। महाशून्य की व्याप्ति में जो स्पन्द है, उसे अनुरूप पद्धति से आकर्षित करके हृदय में लाना होता है। चन्द्रमा का अमृत-प्लावन पर्जन्य में संहत होता है और वहाँ से शिव-सङ्कल्पमय दिव्य मन स्फुरित होता है।[२] इस मन की शक्ति बायें

१. द्र. छा. ४।१५।५।

२. ऋ. खिल. ४।११।

रास्ते से धारा रूप में लगातार झरती हुई महाशून्य में फैल जाती है। ऋक् संहिता की भाषा में पर्जन्य रेतोधा होते हैं। प्राणापान की तरह व्यान-समान भी वहाँ अन्तर्व्याप्त होकर कार्य करते हैं।

इन क्रियाओं को अनुलोम-विलोम दो रूपों में ही किया जा सकता है। अर्थात् जिस प्रकार दर्शन से वाक् में एवं श्रवण से मन में जाया जा सकता है, उसी प्रकार वाक् से दर्शन में एवं मन से श्रवण में जाया जा सकता है।

हृदय के केन्द्र से मूर्द्धा की ओर एक और पथ है।[१] इस पथ में उदान की गति है। तब इन्द्रिय को वायु[२] और देवता को आकाश कहा गया है। साधना के पक्ष में यह मार्ग पकड़ना ही प्रशस्त अथवा श्रेष्ठ है। इसे पकड़कर अन्यान्य भावनाएँ भी की जा सकती हैं।

ब्रह्मज्योति को देखना, सुनना, प्राण द्वारा अनुभव करना, मन एवं वाक् में स्फुरित करना ही द्वारपा-उपासना की सिद्धि है।

तत्पश्चात् चौदहवें खण्ड में विख्यात शाण्डिल्य-विद्या है। ऋषि शाण्डिल्य का अनुशासन है – 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलानिति शान्त उपासीत' अर्थात् यह सारा जगत् ब्रह्म ही है। उसमें ही वह जन्मता है, लय होता है, उसमें ही जीवित रहता है। यह जानकर शान्तभाव से उपासना करोगे।[३] 'क्रतु' अथवा चिन्मय सृष्टि-सामर्थ्य के द्वारा अन्तर में

१. द्र. क. २।३।१६

२. यही अन्यत्र मुख्य प्राण।

३. यहाँ ब्रह्म विश्वात्मक है, किन्तु इस कारण वह विश्व में ही निःशेषित नहीं, बल्कि उससे परे भी वह है। ब्रह्म का लक्षण बतलाने के पश्चात् ही शाण्डिल्य का कथन है कि वह आकाशात्मा, अवाकी, अनादर अर्थात् आकाश की तरह ही शून्य, निस्तब्ध, निराग्रह है। यह उसके विश्वातीत स्वरूप का वर्णन है। वह विश्वात्मक होकर भी विश्वोत्तीर्ण, विश्वातीत है – यह भाव सर्वत्र है। ऋक्संहिता के पुरुष सूक्त में भी हम वही देखते हैं [१०।९०।१,३]। अतएव पाश्चात्य-पण्डितों का कल्पित PANTHEISM वेदान्त में कहीं नहीं है। शाण्डिल्य के सर्वब्रह्मवाद के

ब्रह्मबोध को इस प्रकार प्रतिष्ठित करना होगा – 'ब्रह्म मेरे हृदय में आत्मचैतन्य रूप में प्रतिष्ठित है, 'अणोरणीयान्' और 'महतो महीयान्' होकर। जो मनोमय प्राणशरीर चिज्ज्योति स्वरूप है, जो सत्य-सङ्कल्प, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, सर्वव्याप्त है। फिर जो आकाशात्मा, अवाकी या वाक्रहित, अनादर अथवा सम्भ्रमशून्य है, प्रेति में अर्थात् मर्त्यभाव का अतिक्रम करने के पश्चात् इसे ही मैं अवश्य प्राप्त करुँगा।'[१]

पन्द्रहवें खण्ड में कोशविद्या है। यहाँ सर्वगत ब्रह्म की भावना कोशरूप में की गई है। कोश का अर्थ है जिसमें कुछ रखा जाए। यहाँ एक हाँड़ी की कल्पना की गई है। हाँड़ी का तल या पेंदा पृथिवी है, पेट

निकट ही याज्ञवल्क्य का नेतिवाद है (तु. बृ. २।३।६ द्र. २।४)। वेदान्त की ये दो मुख्य धाराएँ हैं, जो क्रमशः दार्शनिक परिणामवाद एवं विवर्तवाद में स्वतः स्पष्ट हैं। केवल नेतिवाद पर बल देने से जगत् मिथ्या हो जाता है। साधक के निकट एक समय ऐसा होता भी है, किन्तु उससे जगत् का पूर्ण मिथ्यात्व प्रमाणित नहीं होता। फिर ब्रह्म के एक पाद में ही जगत् है और तीन पाद में जगत् नहीं है। यह भी सत्य है, किन्तु उससे भी जगत् का ऐकान्तिक मिथ्यात्व प्रमाणित नहीं होता, बल्कि एक पद में जगत् का सत्यत्व ही प्रतिष्ठित होता है। वस्तुतः द्वन्द्व या संविभ्रम मन का है विज्ञान का नहीं। विज्ञान की दृष्टि में वह विश्वातीत होकर भी विश्वात्मक है। इसमें अन्योन्य विरोध की कोई गुंजाइश ही नहीं। उसे विश्वातीत में जानने के लिए जगत् से परे जाना ही होता है। तभी नेतिवाद की प्रयोजनीयता है। वहाँ से लौटकर आने पर हम देखते हैं कि वही या ब्रह्म ही सब कुछ हुआ है। उस समय हम सर्वब्रह्मवाद पाते हैं। उत्तरण के समय नेतिवाद, जिसका पर्यवसान बुद्ध की सर्वशून्यता में है; और अवतरण के समय सर्वब्रह्मवाद जो उसका ही परिपूरक है। शाण्डिल्य भक्तिधर्म के प्रवर्तक हैं, ऐसी प्रसिद्धि है। भक्तिमार्ग के वेदान्त में परिणामवाद ही स्वीकृत है।

१. लौकिक अर्थ में प्रेति मृत्यु है। किन्तु राहस्यिक अर्थ में चेतना का उत्तरण है। उपनिषद् में यह अर्थ भी ग्रहण करना पड़ेगा, नहीं तो अध्यात्म-विज्ञान पूर्णाङ्ग नहीं होगा।

अन्तरिक्ष है, गला द्युलोक है। उसके कोणों को दिक् या दिशा की संज्ञा दी गई है।[१] पूर्व से दक्षिणावर्त मुड़ने पर चार दिशाओं के नाम हैं – क्रमशः जुहु, सहमाना, राज्ञी और सुभूता।[२] इन चारों दिक्शक्तियों के सङ्गम-स्थल पर वायु है, जिसे आध्यात्मिक-दृष्टि से प्राण कहते हैं। ब्रह्मकोश 'वसुधान' अर्थात् ज्योति से पूर्ण है।[३] शक्ति की दृष्टि से देखने पर वह प्राण से पूर्ण है। ज्योतिर्मय प्राण ही अजर एवं अमृत है। इसलिए ब्रह्मकोश 'अरिष्ट' अर्थात् जरा-मृत्यु द्वारा अहिंसित है। हम प्रतिदिन इस ब्रह्म को आलोक-दीप्त खगोल के उत्तरार्द्ध में देखते हैं। उसके सहारे ही चेतना, लोक से लोकान्तर में उत्तीर्ण हो सकती है। तीन लोक हैं – भूः, भुवः, स्वः अथवा पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः। और चेतना के भी क्रमसूक्ष्म तीन पर्व हैं – लोकचेतना, देवचेतना, और वेदचेतना। एक-एक लोक में

१. आकाश की शक्ति दिक् या दिशा है। आकाश सर्वव्यापी है, स्थाणु है। उसके शक्ति--स्पन्द की गति-रेखा ही दिक् है। अधिभूतदृष्टि से दिक् आदित्य की गति द्वारा निरूपित होती है।

२. नामों में साधन-जीवन का परिचय है। आर्य ज्योतिरग्र (ऋ. ७।३३।७), अर्थात् सदैव उनका मुख आलोक की ओर रहता है, इसलिए कि वे उसके पति आत्माहुति देंगे। आत्माहुति ही यज्ञ है। यज्ञ में जुहु द्वारा होमद्रव्य की आहुति दी जाती है। अतएव जुहू उत्सर्ग का प्रतीक है। सूर्य पश्चिम में अस्त होता है। यह उसकी वापसी या घर की ओर जाना है। दिन का उजाला रात के अँधेरे में मिल जाता है, मित्र का विश्राम वरुण में होता है। किन्तु मित्र और वरुण दोनों ही आदित्य हैं। जिनमें वरुण राजा है। आलोक का अन्धकार से ही उत्सारण होता है और अन्धकार में ही उसका निमज्जन। आत्माहुति में जो आलोक उद्दीप्त था, उसका भी निर्वाण उस महाशून्य के अन्धकार में होगा। अन्धकार ही आलोक का 'राजा' अथवा प्रशास्ता। और दक्षिणगामी आदित्य जराग्रस्त। उस जरा की बाधा को ठेलकर उसे उत्तर में जाना पड़ता है। सह् धातु का प्राचीन अर्थ था बाधा ठेलना या दूर करना, विरोधी शक्ति को अभिभूत करना। दक्षिण दिशा, में रहने पर 'सहमान' होकर वही करना होगा। उत्तर में जा पाने पर ही चेतना 'सुभूत' अथवा सुप्रतिष्ठित होगी।

३. वसु का प्राचीन अर्थ ज्योति, < √वस् (प्रकाश देना)।

एक-एक चेतना का प्राधान्य है। पृथिवी में चेतना लौकिक है, अन्तरिक्ष में देवमय है और द्युलोक में प्रज्ञानमय है। किन्तु प्रत्येक लोक में ही अन्य लोक का अनुप्रवेश है। यह जानकर 'सर्वभावेन' ब्रह्मकोश की शरण लेनी होगी।[१]

इसके पश्चात् सोलहवें और सत्रहवें खण्ड में पुरुष-यज्ञविद्या है। समस्त जीवन ही एक यज्ञ है – ऐसी भावना करनी होगी। यज्ञों में श्रेष्ठ सोमयाग है। यथार्थ याग अन्तिम दिन में सम्पन्न होता है, और चार दिन उसका उद्योग-पर्व है। प्रथम दिन दीक्षा और उसके पश्चात् तीन दिन का उपसत् है।[२] पाँचवाँ दिन 'सुत्या' अथवा सोमलता को कूट-छानकर रस निकालने का दिन है। तीन बार कूटना-छानना होता है – प्रातः, मध्याह्न और सायङ्काल। इसलिए अनुष्ठान का नाम है – प्रातःसवन, माध्यन्दिन-सवन एवं तृतीयसवन। इस दिन ही स्तोत्रगान एवं शस्त्रपाठ करना होता है। सोमयाग के द्वारा यजमान दिव्य जन्म प्राप्त करके अमृत होता है।[३] उसके पश्चात् सोमलिप्त पात्रों को जल में प्रवाहित कर दिया जाता है, उसे 'अवभृथ' कहते हैं।[४] अन्त में दक्षिणा देकर यज्ञ का समापन किया जाता है।

जीवन-यात्रा के साथ इन यज्ञों को मिला देने पर उपनिषत् का कथन है कि समस्त जीवन ही एक यज्ञ है। जीवन की कृच्छ्रता ही दीक्षा

१. यह कोशविद्या शाण्डिल्यविद्या का ही प्रपञ्चन या विस्तार है।

२. वस्तुतः, यह असुर-विजय अथवा अविद्यानाश की साधना है। जिसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। 'उपनिषत्' संज्ञा के साथ उसका सम्बन्ध है।

३. तु. ऋ. अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिर्विदाम देवान् (८।४८।३)। प्रथम दिन की दीक्षणीयेष्टि में ही यजमान को नवजन्म के लिए गर्भस्थ भ्रूण का अभिनय करना पड़ता है। (द्र. ऐ. ब्रा. १३)।

४. व्युत्पत्तिगम अर्थ में 'नीचे की ओर बहा ले जाना' अर्थात् भाटा के स्रोत में बह जाना। यह स्पष्टतः रूपक है। वस्तुतः अब से अमृतज्योति के स्रोत में बहते जाना। तु. बौद्ध 'स्रोतापत्ति'। दुर्गोत्सव पाँच दिन तक होता है। षष्ठी के दिन सङ्कल्प और विजया के दिन विसर्जन।

है। स्वाच्छन्द्य ही उपसत् है, आनन्द और प्रेम ही स्तोत्र-शस्त्र है, सन्तान का जन्म ही स्वयं का नवजन्म है और मरण ही 'अवभृथ' है। आजीवन जो तपः, दान, आर्जव अहिंसा और सत्याचरण है, वही 'दक्षिणा' है। प्राण की उपासना से ही अमृतत्व प्राप्त होता है। सोमयाग के तीन सवन की तरह जीवन को भी तीन भागों में विभाजित कर लेना होगा। प्रथम भाग चौबीस वर्ष तक। तब जीवन का छन्द गायत्री है, जिसके अधिष्ठाता वसुगण हैं। द्वितीय भाग और भी चौवालीस वर्ष तक - जिसका छन्द त्रिष्टुप् है और अधिष्ठाता रुद्रगण हैं। तृतीय भाग और भी अड़तालीस वर्ष तक - जिसका छन्द जगती है, और अधिष्ठाता आदित्यगण हैं।[1]

इस अभिनव यज्ञविद्या को आङ्गिरस घोर ने देवकीपुत्र कृष्ण को प्रदान किया था। अनुशासन सुनकर कृष्ण 'अपिपास'[2] अर्थात् निःस्पृह हो गए थे। ऋषि ने और भी कहा था - 'मृत्युकाल में आत्मा को सम्बोधित करते हुए इन तीन मन्त्रों का जप करोगे - तुम अक्षित (अक्षय), तुम अच्युत, तुम प्राण-संशित (विश्व प्राण के आवेश द्वारा सम्यक् तीक्ष्णीकृत)।' इतना कहकर दो ऋचाओं का उल्लेख किया था: - उसके पश्चात् वे सर्वादि उस विश्वबीज की झिलमिल ज्योति को देखते है; जो द्युलोक के उस पार जगमगा रही है।[3] हम उन्मुख होकर तमिस्रा के उस पार

---

१. वसुगण उन्मिषन्त ज्योति, ऊषा के आलोक की तरह। दोनों की व्युत्पत्ति एक है। यास्क की दृष्टि में वसुगण त्रिस्थान देवता - अग्नि, इन्द्र, आदित्य सभी वासव हैं, - (नि. १२।४१)। एक ही विश्वप्राण का आलोक आदित्य की उपांचीयमान दीप्ति होकर फूटता है। जीवन को आरम्भ से अन्त तक उसके ही छन्द में गाँथना होगा। यही है उपनिषत्। यही गीता का ज्ञानयज्ञ है (४।३३)।

२. 'अपिपास' यह विशेषण इस छान्दोग्य में ही अन्यत्र आत्मा के बारे में प्रयुक्त हुआ है (८।१।५, ७।१।३)। पिपासा अथवा कामना से ऊपर उठना होगा। इसके सम्बन्ध में गीता में अत्यधिक बल दिया गया है।

३. ऋ. ८।६।३०।

उत्तर ज्योति को देखते-देखते, उससे भी परे स्वर्ज्योति को देखते हुए देवगण के मध्य देदीप्यमान उस सूर्य में पहुँच गए, जो उत्तम ज्योतिः स्वरूप है'।[1]

तत्पश्चात् अठारहवें खण्ड में मनोविज्ञान है। मन की उपासना ब्रह्म रूप में करनी होगी। मेरे भीतर जिस प्रकार मन है, उसी प्रकार बाहर

---

१. ऋ. १।५०।१०। हेमचन्द्ररायचौधरी ने अपने ग्रन्थ Early History of the Vaishnava Sect (Calcutta 1936) में बतलाया है कि छान्दोग्य की इस यज्ञविद्या के साथ गीतोक्त दर्शन का इन सब विषयों में सादृश्य है - गीता में द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ को श्रेष्ठ बतलाया गया है (४।३३): उपनिषद् में जिन्हें दक्षिणा कहा गया है, उन्हें गीता में दैवसम्पद् के अन्तर्गत रखा गया है, यहाँ तक कि दोनों क्षेत्रों में ही संज्ञाओं का आक्षरिक मेल भी है (१६।१।२); उपनिषद् के मृत्युविज्ञान और गीता के मृत्युविज्ञान में भी इस प्रकार का मेल दिखाई देता है (८।५-१०)। इससे वे अपने इस विचार की पुष्टि करते हैं कि छान्दोग्य के देवकीनन्दन कृष्ण और भागवत के वासुदेव कृष्ण एक ही हैं (७८.८३)। रायचौधरी का सिद्धान्त बहुत ही ठीक जान पड़ता है। इस प्रसङ्ग में और भी लक्षणीय - अन्धभक्त वेदवादियों के प्रति कृष्ण की घोर अवज्ञा (२।४१-४४): विज्ञान उनके निकट प्लावन जैसा विशाल, और वेद उसके निकट एक छोटा पोखरा मात्र है (२।४६); अथच वेद-रहस्य को एकमात्र वे ही जानते हैं, वे ही वेदान्तकृत हैं (१५।१५); वे यज्ञ को कर्त्तव्य रूप में मानते हैं (१८।५) किन्तु उसे बिल्कुल ही नये रूप में और व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है (४।२३-३२)। क्रियाविशेष की बहुलता ही यज्ञ की सार्थकता नहीं है, यह बात वे ज़ोर देकर ही कहते हैं। इससे उलटे समस्त जीवन ही एक यज्ञ है। जिसकी शिक्षा उन्होंने घोरआङ्गिरस से प्राप्त की थी। यही नूतन उपनिषत् है अथवा नूतन वेदान्त है। इसलिए कृष्ण ने स्वयं को ही वेदविद् एवं वेदान्तकृत कहकर घोषणा की है। और भी लक्षणीय है - शतपथ-ब्राह्मण में नारायण के प्रति अनुष्ठित जिस 'पाञ्चरात्र' यज्ञ का विवरण है, उसका नाम पुरुषमेध है। भागवतधर्म का याज्ञिकरूप उसके ही अन्तर्गत पाते हैं। आङ्गिरस भी कृष्ण को जो विद्या प्रदान करते हैं। उसका नाम पुरुषयज्ञ-विद्या है।

आकाश है – दोनों ही ब्रह्म हैं। अतएव मेरी चेतना आकाशवत् है। इस भावना में ब्रह्म-विज्ञान होगा।[१]

मन चतुष्पात् है। उसके चार पद हैं- वाक्, प्राण, चक्षु एवं श्रोत्र।[२] इनमें प्रत्येक को दिव्यज्योति से भास्वर एवं तपस्वान् मानकर भावना करनी होगी। चिन्तन इस प्रकार करना होगा कि मेरी वाक् अग्निमय हो, मेरा प्राण वायुमय हो, मेरे चक्षु आदित्यप्रभामय हों, मेरे श्रोत्र दिङ्मय हों। इससे ही मनश्चेतना आकाश जैसी ब्रह्ममय होगी।[३]

इसके पश्चात् उन्नीसवें खण्ड में आदित्य में ब्रह्मदृष्टि की चर्चा है। यह एक आदेश है। आदित्य का आविर्भाव इस प्रकार हुआ है – आरम्भ में सब कुछ ही 'असत्' था; तत्पश्चात् वह सत् हुआ; उससे अण्ड की

---

१. यहाँ अध्यात्म एवं अधिदैवत दो संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है। जो मेरे भीतर है, वही अध्यात्म है; जो मेरे बाहर है, किन्तु चिन्मय है, वही अधिदैवत है। बाहर में विषय को यदि चिन्मयरूप में भावना न करूँ, तो फिर वह अधिभूत (Phenomenal) अथवा प्रातिभासिक मात्र है। यह प्राकृतदृष्टि है। बाहर जो कुछ है, एक दिव्यचेतना का प्रकाश या अभिव्यक्ति है, यह विज्ञानदृष्टि अथवा अधिदैव-दृष्टि है। बाहर-भीतर एक ही दिव्यचेतना का प्रकाश है – इस बोध में अध्यात्म और अधिदैवत-दृष्टि मिल जाने से बोध पूर्णाङ्ग होता है। अतएव अध्यात्म के पास ही अधिदैवत का उपदेश उपनिषद् के अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है।

२. ब्रह्म के पाँच द्वारपालों की चर्चा फिर पाते हैं।

३. चिन्मय विश्वप्राण ही वायु है। दिव्य श्रोत्र ब्रह्मघोष को ग्रहण करते हैं। तन्त्र में जिसे नाद कहा गया है। यह घोष आकाश का स्पन्द है। जो एक केन्द्र से कदम्बकेशर जैसा विच्छुरित होता है। विच्छुरण अथवा प्रकीर्णन की रेखाएँ ही दिक् या दिशाएँ हैं। इस प्रसङ्ग में तु. ऋ. 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः' (१।८९।८) यहाँ 'स्तुति' वाक् एवं 'आयु' प्राण है। यह दिव्य जीवनायन की छवि है। और भी तुलनीय. ऋ. दिशः श्रोत्रात् १०।९०।१४।

सम्भूति या उत्पत्ति हुई। उस अण्ड को विखण्डित करके आदित्य का आविर्भाव हुआ।[१]

तृतीय अध्याय यहाँ समाप्त होता है।

चतुर्थ अध्याय में सत्रह खण्ड हैं। प्रथम तीन खण्डों में रैक्व और जानश्रुति का उपाख्यान है। रैक्व जानश्रुति को जो उपदेश देते हैं, उसका नाम संवर्ग-विद्या है।[२] संवर्ग का अर्थ है लयस्थान। आध्यात्मिक-दृष्टि से प्राण संवर्ग है और अधिदैवत-दृष्टि से वायु है। समस्त इन्द्रियवृत्ति का लय प्राण में होता है – जिस प्रकार सुप्ति में होता है; उसी प्रकार सारा आलोक वायु में मिल जाता है।, जल भी सूखकर वायु में मिल जाता है। वैसे ही आत्मप्राण को विश्वप्राण में मिला देने पर ही अमृत हुआ जा सकता है।[३] रैक्व एक ब्रह्मचारी की कहानी द्वारा समझा देते हैं कि जो इस महाप्राण के साथ एकात्म हो गए हैं, वे ही अन्नाद, सर्वभुक् हो पाते हैं – वे किसी के भी द्वारा सम्भुक्त नहीं होते।[४]

तत्पश्चात् चतुर्थ से नवम खण्ड तक सत्यकाम जाबाल द्वारा ब्रह्म-विद्याप्राप्ति की कथा है। उनके आचार्य हारिद्रुमत गौतम हैं। सत्यकाम की

---

१. तु. ऋ. अघमर्षण सूक्त (१०।१९०): असत् से सत् का आविर्भाव ऋ. १०।७२।२,३: १२९।४) यहाँ अण्ड अव्यक्त महाप्रकृति अथवा ब्रह्मयोनि है; ऋक्संहिता में वे ही अदिति; उनके पुत्र आदित्य (तु. १०।७२।५,८,९)। असत् >सत् >सम्भूति आदित्य ; अतएव विलोम-क्रम से आदित्यब्रह्म भी चतुष्पात्। उनका एक पाद व्यक्त और तीन पाद अव्यक्त (तु. पुरुषसूक्त १०।९०।३,४) आदित्योपासना ही वैदिक-साधना का सार है।

२. रैक्व जानश्रुति को दो बार शूद्र कहकर सम्बोधित करते हैं। ब्रह्मसूत्रकार की दृष्टि में शूद्र यहाँ एक गाली है, किन्तु जानश्रुति की जाति शूद्र नहीं (ब्र. सू. १।३।३४-३५)।

३. यह भाव कौषीतक्युपनिषद् में विस्तारपूर्वक समझाया गया है।

४. ईशोपनिषद् में हम देखते हैं कि आदित्य के साथ सायुज्य में सिद्धपुरुष के निकट वायु 'अनिल अमृत' है (१७) ऋकसंहिता में वायु का उत्तम स्वरूप 'मातरिश्वा' अथवा अदिति में स्फीत विश्वप्राण का उच्छ्वास है (द्र. मातरिश्वा ३।२।१३ टीका)।

माँ को पता नहीं कि उनका बेटा किस गोत्र का है? इसलिए उन्होंने अपने नाम से ही पुत्र को आचार्य के निकट परिचय देने के लिए कहा। यह लज्जा की बात थी, किन्तु सत्यकाम ने निःसङ्कोच भाव से आचार्य के निकट सत्य ही कहा। आचार्य ने कहा – 'ब्राह्मण' के अतिरिक्त यह बात कोई कह नहीं पाता। तुम समिध लेकर आओ। मैं तुम्हारा उपनयन करा दूँगा। तुम सत्य से विच्युत नहीं हुए हो।"[१]

सत्यकाम गाय चराते समय अलौकिक उपाय से ब्रह्मविद्या प्राप्त करते हैं। चतुष्पात् ब्रह्म के एक-एक पाद का ज्ञान उन्होंने साँड, अग्नि, हंस और जलकाम (पनकौवा; एक जलचर पक्षी) के निकट प्राप्त किया। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर प्रत्येक दिशा में ब्रह्मप्रकाश रूप में आविर्भूत हैं। यह ब्रह्म का प्रथम पाद है। पृथिवी अन्तरिक्ष, द्युलोक एवं समुद्र के अनन्त विस्तार में ब्रह्म का आविर्भाव हुआ है। यह उनका द्वितीय पाद है। अग्नि, सूर्य, चन्द्र एवं विद्युत् की 'ज्योति' में वे स्फुरित हैं, यह उनका तृतीय पाद है। प्राण, चक्षु श्रोत्र एवं मन उनके ही 'आयतन' हैं, यह ब्रह्म का चतुर्थ पाद है।[२] प्रत्येक पाद चतुष्कल है, अतएव षोडशकल ब्रह्म को पाते हैं।

१ सत्यकाम को ब्रह्मवादी रूप में यज्ञाङ्ग विषयों में स्वतन्त्र विचार व्यक्त करते हुए ऐतरेय (८।७) एवं शतपथ ब्राह्मण (१३।५।३।१) में देखा जाता है। इस उपनिषद के ही अगले खण्डों में हम उन्हें उत्तरायण-गति के प्रवक्ता रूप में पाते हैं एवं प्राण-विद्या के प्रवक्ता के रूप में अगले अध्याय में (५।२।३)।

२. जीवन की नाना जटिलताओं के बीच भूले-भटके बिना यदि स्वयं को प्रकृति की गोद में पसार दिया जाए, तो व्याप्तिचैतन्य का बोध अनायास स्फुरित हो सकता है। यही सत्यकाम के सहज साधन का रहस्य है। पहले चेतना में विशुद्ध अस्तित्व का प्रकाश (मुण्डकोपनिषद् में इसे ही 'आविः' २।२।१) फिर उसका सम्प्रसारण, तत्पश्चात् भोर का आकाश जिस प्रकार धीरे-धीरे उजाले से भर जाता है, उसी प्रकार ज्योति का सन्दीपन- यहाँ तक साधना का आश्रय अधिदैवत है। तत्पश्चात् यह अस्ति, व्याप्ति और भाति-इन्द्रिय, प्राण और मन में निरूढ़ होकर आधार को भी दिव्य बना देती है, यह आध्यात्मिक सिद्धि है।

ब्रह्मवित् सत्यकाम की आँखों में और चेहरे पर एक दिव्य आभा देखकर आचार्य ने आश्चर्य के साथ प्रश्न किया, 'किसने तुम्हें उपदेश दिया?' सत्यकाम ने कहा, 'किसी मनुष्य ने नहीं, तब भी आप बतलाएँ। सुना है आचार्य के सान्निध्य में विद्या-ग्रहण करना ही सबसे अच्छा है।' आचार्य ने जब उन्हें उपदेश दिया; तब सत्यकाम ने देखा कि वे वही एक ही बात बतला रहे हैं।

इन्हीं सत्यकाम के शिष्य उपकोसल कामलायन हैं। उनके द्वारा आत्मविद्या और अग्निविद्या प्राप्त करने की कहानी अगले छह खण्डों में पन्द्रहवें खण्ड तक है।

उपकोसल बारह वर्ष तक गुरु के अग्नि की परिचर्या करते रहे, तब भी आचार्य ने उन्हें कुछ नहीं बतलाया। सत्यकाम की गृहिणी ने कहा – 'अरे! इस बेचारे को कुछ बतलाओ ना!' सत्यकाम तब भी बिना कुछ बोले बतलाए ही अन्यत्र चले गए। उपकोसल ने दुःखी होकर उपवास करना आरम्भ कर दिया, और आचार्य पत्नी के अनुरोध करने पर भी कुछ नहीं खाया। उस समय अग्नियों ने सदय होकर उनसे कहा – 'देखो, प्राण ही ब्रह्म है, कं ब्रह्म, खं ब्रह्म।' उपकोसल ने कहा – 'प्राण ब्रह्म, वह तो समझ में आया, किन्तु कं और खं क्या है? वह तो जानता ही नहीं। अग्नियों ने कहा – 'जो कं है, वही खं है। जो खं है, वही कं है। इतना बतलाकर प्राण और उससे जुड़े आकाश की बातें भी बतलाया।[१]

१. प्राणब्रह्म का उल्लेख हमें बार-बार प्राप्त होता है। जरा एवं मृत्यु में व्यष्टि-प्राण का अवक्षय हम स्पष्ट देखते हैं। किन्तु आत्मा इस अवक्षय को स्वीकार करना नहीं चाहता। अजर, अमर होने की उसकी पिपासा शाश्वत है। कहाँ है उस अजर एवं अमृत प्राण का उत्स? आदित्य में। आदित्य कहाँ प्रतिष्ठित है? आकाश में। महाशून्य में आदित्य की नित्य दीप्ति है, इस भावना में हम अजर एवं अमृत हो सकते हैं। तब भी देहस्थित प्राण का अवक्षय अनिवार्य है। हमारा मरण निश्चित है। किन्तु विज्ञानी की मृत्यु में आत्मा एक चरम प्रद्योतना से उस आदित्य में एवं वहाँ से महाशून्य में मिल जाएगा। अमृतत्व का आश्वासन यहाँ ही है। इस भावना को जीवन के प्रत्येक मुहूर्त में वहन करते हुए चलना ही हमारा परम पुरुषार्थ है। उपकोसल के उपाख्यान में इस तत्त्व की ही व्याख्या की गई है।

यहाँ हम दो मिथुन या युग्म का उल्लेख देखते हैं। एक युग्म प्राण एवं आकाश है और एक युग्म कं एवं खं का है। उससे भावना के दो सूत्र प्राप्त होंगे। आध्यात्मिक-दृष्टि से प्राण को प्राणवायु के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। अथवा प्राणक्रिया के अनुभवरूप में भी उसे ग्रहण किया जा सकता है। प्रत्येक साँस एवं उसके साथ-साथ प्राण की अनुभूति महाशून्य में लीन होती जाती है, यह भावना की एक धारा है। फिर कं का अर्थ सुख और खं का अर्थ शून्य है। सुख में चित्त विश्रान्त होता है। वह भी तो शून्यता है। जिस किसी सुख की अनुभूति चेतना को शून्यता की ओर ठेल देती है, यह भावना की एक और धारा है। दोनों युग्म में प्राण एवं कं अध्यात्म है और आकाश एवं खं अधिदैवत है। अध्यात्म को अधिदैवत में मिला देना, फिर अधिदैवत के द्वारा अध्यात्म को आविष्ट, जारित एवं सन्दीप्त करना - यह साधना का मूल सूत्र है। इसे अनेक स्थलों पर प्राणापान के छन्द के रूप में बतलाया गया है।

तत्पश्चात् अग्नियों ने उपकोसल को पृथक्-पृथक् उपदेश देना आरम्भ किया। तीन अग्नियों में गार्हपत्य-अग्नि मनुष्य की है, अन्वाहार्यपचन अथवा दक्षिणाग्नि पितृगण की है, आहवनीय-अग्नि देवगण की है। मनुष्य का आश्रय जड़ या अन्न है, पितृगण का प्राण है और देवगण का विज्ञान अथवा चित् है। अतएव गार्हपत्य-अग्नि जड़ की अधिष्ठात्री चित्शक्ति है, दक्षिणाग्नि प्राण की और आहवनीय विज्ञान की। अधिदैवत दृष्टि से इनका एक-एक स्वधाम या केन्द्र है, जहाँ वे 'पुरुष' अथवा चिद्घन विग्रह हैं। गार्हपत्य-अग्नि आदित्य पुरुष, दक्षिणाग्नि चन्द्रपुरुष, और आहवनीय विद्युत्पुरुष है।[1]

१. आदित्य के उस पार चन्द्र और चन्द्र के उस पार विद्युत्। इस प्रकार यहाँ चिद्भूमि का स्तर-विन्यास किया गया है। साधारणत: यह विन्यास कुछ अन्य प्रकार का है - अग्नि, विद्युत्, आदित्य, चन्द्रमा एवं नक्षत्र के क्रम से। मेघलोक की विद्युत् वहाँ लक्ष्य है। वह विद्युत् प्राणचेतना की है। और यहाँ की विद्युत् विज्ञान-चेतना की है। इस विद्युत् के बारे में अथर्वसंहिता में भृग्वङ्गिरा: कहते हैं, 'विद्म ते धाम परमं गुहा यत् समुद्रे अन्तर्निहितासि नाभि:' (१।१३।३। आन्तरिक्ष विद्युत् का प्रसङ्ग भी वहाँ है। तीनों पुरुषों को तैत्तिरीयोपनिषद् की परिभाषा के अनुसार विज्ञान-चेतना, आनन्दचेतना एवं आत्मचेतना कहा जा सकता है (२।४-६)।

इन धामों या केन्द्रों में क्रमश: पहुँचना होगा। आदित्य में पहुँचने के लिए प्रथम सोपान पृथिवी है। द्वितीय सोपान अग्नि है, जो पृथिवी का अधिष्ठान चैतन्य है। तृतीय सोपान अन्न अथवा विश्व जड़-शक्ति (Universal Matter) है।[1] उसी प्रकार चन्द्र में पहुँचने का सोपान अप्, दिक् एवं नक्षत्र है।[2] और विद्युत् में पहुँचने का सोपान प्राण, आकाश एवं द्यौ: है।[3]

उपदेश के अन्त में अग्नियों ने कहा - हमने तुम्हें अग्निविद्या और आत्मविद्या के सम्बन्ध में बतलाया। अब आचार्य तुम्हें गति की बात बतलाएँगे।[4] प्रवास से लौटने पर सत्यकाम ने उपकोसल को देखकर कुछ विस्मित होते हुए कहा - तुम्हारा मुख तो ब्रह्मवेत्ता की तरह दमक रहा है। किसने तुम्हें उपदेश दिया? उपकोसल ने कुछ इधर-उधर करते हुए सब नि:सङ्कोच बतला दिया। उनकी सारी बातें सुनकर सत्यकाम ने कहा - 'अग्नियों ने तुम्हें लोक अथवा चेतना की विभिन्न भूमि की ही बातें बतलायी हैं, मैं तुम्हें साधना का सङ्केत बतलाता हूँ।'

१. अध्यात्म-दृष्टि से पृथिवी देह है। इसे हम स्थूल बोध में ही पाते हैं। देह जिस ताप पर आश्रित है, वही सूक्ष्म बोधगम्य अग्नि है। फिर यह अग्नि जिस एक अव्यक्त कारण से आया है, वही जड़ शक्ति है। यह शक्ति आदित्य-चेतना की शक्ति है। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म कारण एवं चैतन्य इस क्रम के अनुसार तत्त्वों को यहाँ विन्यस्त किया गया है।

२. अध्यात्म-दृष्टि से अप् नाड़ी सञ्चारी प्राणस्रोत है। उसके मूल में दिक्शक्ति की प्रेरणा अथवा निगूढ़ चैतन्य की देशना अथवा निर्देश है। उससे भी गहरे अनेक होने की इच्छा में चित्शक्ति की परिकीर्णता है। जब चाँद नहीं रहता, तब भी तारे या नक्षत्र रहते हैं, इसे दृष्टि से चन्द्र के बाद नक्षत्र। नक्षत्र चन्द्र अथवा आनन्दचेतना के ही स्फुलिङ्ग हैं। इस दृष्टि से वे चन्द्र के आगे हैं।

३. यह प्राण चिन्मय है, आकाश का ही स्फुरण है। यहाँ व्याप्ति की भावना मुख्य है। नाड़ी स्रोत के साथ यहीं अन्तर है। और द्यौ: अव्यक्त ज्योति:शक्ति के पारावार जैसा है।

४. यह गति मृत्यु के पश्चात् उत्तरायण की गति है; किन्तु जीवन में उसकी भावना करने पर वह मृत्युकाल में प्राप्त नहीं होती।

'यह जो अक्षि (आँख) में पुरुष दिखाई देता है, वही आत्मा है।[१] वे अमृत, अभय, ब्रह्म, अपरामृष्ट हैं। वे संयद्वाम - अर्थात् समस्त वाम अथवा कल्याण उनमें ही केन्द्रीभूत हैं। वे वामनी-अर्थात् समस्त कल्याण के नायक हैं। वे भामनी - अर्थात् समस्त ज्योति के नायक हैं।[२]

'ब्रह्म को इस रूप में जो जानते हैं, मृत्यु के पश्चात् उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया हो या न हो, वे अर्चि में रूपान्तरित होते हैं।[३] अर्चि से

---

१. द्र. छा. १।७।५। इस अक्षिपुरुष अथवा चाक्षुषपुरुष का उल्लेख अन्यत्र भी है। छा. ८।७।४; बृ. २।५।५; ३।७।१८, ४।४।१; मैत्रि. ६।६,७, ७।११। आदित्यपुरुष और अक्षिपुरुष एक। आदित्यपुरुष वस्तुतः दृष्टि का द्रष्टा है।

२. दर्शन की भाषा में वाम आनन्द है और भाम चित् या चेतना है। यहाँ नाड़ी-विज्ञान का आभास है। अक्षिपुरुष के तीन विशेषणों द्वारा भ्रूमध्य स्थित एक त्रिवेणी की सूचना प्राप्त होती है। उसके बायें वाम धारा और दाहिने भामधारा, दोनों के 'संयम' अथवा सङ्गम में मध्यधारा की उत्पत्ति। नाड़ी-विज्ञान में बायीं ओर इड़ा अथवा चन्द्र, दाहिनी ओर पिङ्गला अथवा सूर्य और दोनों के बीच सुषुम्णा अथवा अग्नि है। यह अग्निशिखा ही अक्षिपुरुष एवं आदित्यपुरुष के बीच सेतु है। द्र. मैत्रि. ६।३०, ७।११।

३. अर्चि : , अग्निशिखा - अधियज्ञ एवं अध्यात्म दोनों दृष्टि से ही। बाहर का यज्ञ आन्तर-साधना का ही प्रतिरूप है। यज्ञाग्नि के साथ तादात्म्य-भावना में चेतना का उत्तरायण एवं प्रसारण होता है। अग्नियों के निकट से उपकोसल ने उनके जिस रहस्य को जानना चाहा था, उसमें यह बात ही बतलाई गई है। आत्मस्थ अग्नि नाड़ी-सञ्चारी है। एक नाड़ी हृदय से मूर्द्धा की ओर गई है, जिसे पकड़कर उठ जाने पर अमृतत्व प्राप्त हो सकता है (छा. ८।६।६; समस्त खण्ड ही द्रष्टव्य)। यह नाड़ी ही अग्निनाड़ी, हितानाड़ी अथवा सुषुम्णा नाड़ी है। सत्यकाम ने जिस अक्षिपुरुष की उपासना की चर्चा की है, उसकी सार्थकता इस अग्निनाड़ी के अवलम्बन पर निर्भर है। अग्निविद्या का भी यही मर्म रहस्य है। मृत्युकाल में दृष्टि को भ्रूमध्य में केन्द्रित करना होगा एवं हृदय प्राण को एकाग्र करके उस भ्रूमध्य-बिन्दु में खींच कर लाना होगा। उसके बाद भ्रूमध्य के ऊपर की ओर मूर्द्धन्य चेतना में उसका विस्फारण या प्रसारण होगा। (द्र. गीता ८।१०-१३)। अवश्य जीवित अवस्था में इसका अभ्यास न करने से मृत्युकाल में अग्निनाड़ी का आश्रय सम्भव नहीं होता। इसलिए उपनिषद् का कथन है कि 'यह लोकद्वार विद्वान् के पक्ष में खुला है, किन्तु अविद्वान् के लिए बन्द है (छा. ८।६।५)।

अहः अथवा दिन का प्रकाश, उससे शुक्लपक्ष की ज्योत्सना, उससे उत्तरायण की सौर-दीप्ति, उससे संवत्सर की दीप्ति, उससे आदित्य, उससे चन्द्रमा, उससे विद्युत् होते हैं।[१] विद्युत् रूप में सम्भूत होने के पश्चात् एक अमानव पुरुष आविर्भूत होकर उन्हें ब्रह्म में ले जाते हैं। यह देवपथ अथवा ब्रह्मपथ है। इस पथ पर जो चलते हैं, वे फिर मानव आवर्त में आवर्तित नहीं होते।[२]

---

१. अग्नियों ने उपकोसल को तीन सम्भूति के बारे में ही बतलाया था। संवत्सर तक चेतना का क्रमिक विकास होता है। तब तक आलोक और अन्धकार का द्वन्द्व रहता है, इसलिए अन्धकार का मार्ग छोड़कर आलोक का मार्ग पकड़ना पड़ता है। संवत्सर के अधिष्ठाता आदित्य हैं। वहाँ पहुँचने के पश्चात् चेतना द्वन्द्व के बाहर चली जाती है। इस अवस्था का वर्णन अन्यत्र है (द्र. तै. ब्रा. ३।११।७)।

२. तु. कौ. प्रथम अध्याय में पर्यङ्कविद्या। अन्यत्र देवयान का वर्णन है : छा. ५।१०।२. बृ. ६।२।१५, गी. ८।२४। तु. ऋ. सं. 'द्वे स्रुती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च' – अर्थात् दो स्रोतों में बहते रहने की कथा पितृगणकी सुना है मैंने, उनमें कोई देवता है अथवा कोई मर्त्य है; पिता और माता अर्थात् द्युलोक और भूलोक के बीच जो कुछ है, सभी उन दो स्रोतों में बहते-बहते एक स्थान पर आकर मिल जाते हैं (१०।८८।१५)। पितृगण में जो मानव आवर्त में पुनः आवर्तित नहीं होते, वे देव हैं और जो होते हैं वे मर्त्य हैं। छान्दोग्य में मिलन-स्थान को 'व्यावर्तना' अर्थात विच्छेदस्थान कहा गया है (५।१०।२)। कौषीतकी में यह चन्द्रलोक है, यहाँ सबको आना पड़ता है। (१।२) उसके पश्चात् विद्वान् और भी ऊपर की ओर जाते हैं, वे ही ऋक् संहिता में देव-पितृगण हैं; और अविद्वान् लौट आते हैं, वे मर्त्य-पितृगण हैं। देवयान की धारा में चलने का अधिकार पाने के लिए जीवित अवस्था में प्रथम उपचीयमान प्रकाश की जैसे भोर से दोपहर तक सूर्य के, दैनन्दिन प्रकाश की, शुक्लपक्ष के प्रकाश की एवं उत्तरायण के प्रकाश की भावना करनी होगी। प्रकाश की भावना में अँधेरे की भावना धीरे-धीरे नीचे उतर जाएगी, तब अँधेरे में भी उजाले का अनुभव किया जा सकेगा। यह संवत्सर को पाना है। उसके पश्चात् चेतना में तीन पुरुषों का बोध जाग्रत होगा। ये बातें तादात्म्य बोध से सम्बन्धित हैं। यह अग्नियों ने ही उपकोसल को स्पष्ट रूप से बतला दिया था (द्र. ४।११।१, १२।१, १३।१)। इस प्रकार ज्योति की उपासना में जिस सुख का अनुभव होगा, उसे शून्य में मिला देना होगा - तब प्रत्येक के होगा खं। शैव-दर्शन में इसे ही 'आनन्दो विश्रान्तिः' कहा गया है।

इसके पश्चात् दो खण्डों में सोमयाग के अध्यक्ष - ऋत्विक् ब्रह्मा के मौन-विधान एवं यज्ञ की अङ्गहानि होने पर व्याहृति मन्त्र की आहुति द्वारा उसके प्रतिकार या निवारण का प्रसङ्ग है।

यहीं चतुर्थ अध्याय समाप्त होता है।

तत्पश्चात् पञ्चम अध्याय में चौबीस खण्ड हैं। प्रथम दो खण्डों में प्राणोपासना है। उसके प्रवक्ता सत्यकाम जाबाल हैं।

प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र एवं मन - ये ब्रह्म के पाँच द्वारपाल हैं।[1] इनमें वाक् 'वसिष्ठ' अर्थात् उज्ज्वलतम[2], चक्षु प्रतिष्ठा, श्रोत्र सम्पत्[3], और मन आयतन अथवा समस्त वृत्तियों का आश्रय है। किन्तु प्राण सबसे ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ है। यह जब प्रमाणित हुआ, तब देखा गया कि और सबके बिना भी शरीर टिका रहता है, किन्तु प्राण के बिना नहीं।[4] अतएव मानना पड़ता है कि वाक्, चक्षु, इत्यादि प्राण की वृत्तियाँ हैं।

---

१. द्रष्टव्य: छा. ३।१३।६।
२. 'वसिष्ठ' < वस् (दीप्ति देना)। वाक् के साथ अग्नि का सम्बन्ध है, यह पहले ही बतलाया गया है (३।१३।३; तुलनीय, ऋ. मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च १०।९०।१३)। आधार के योगाग्निमय होने पर जिस वाक् का स्फुरण है, वही 'ऋक्' है, जिससे अग्निशिखा, सुर या स्वर एवं मन्त्र तीनों का ही बोध होता है (तु. 'अर्क', 'अर्चि' इस जगह ही अग्नि के साथ वाक् का सम्बन्ध है। पुनः तुलनीय - 'वसुरग्निः' ऋ. ५।२४।२, १।३१।३, २।७।१, ३।१५।३....; 'वसिष्ठः' २।९।१, ७।१।८।
३. अर्थात् सिद्धि। इन्द्रियों में श्रोत्र का स्थान सबसे ऊपर है, जिस प्रकार प्रमाणों में 'श्रुति' का है।
४. कौषीतकी के तृतीय अध्याय में यह विषय विस्तारपूर्वक आलोचित है, वहाँ दिखलाया गया है कि प्राण ही सर्वमूल है, किन्तु यह प्राण प्रज्ञात्मा है। बृहदारण्यक में भी यह प्रसङ्ग है कुछ अन्य रूप में (६।१)। तु. प्र. २, कौ. २।१४।

विश्व का सब कुछ ही प्राण का अन्न है[1] और जल उसका वास अथवा आच्छादन है।

यह प्राण ही महत् तत्त्व है।[2] इसे प्राप्त करने के लिए अमावस्या में दीक्षा लेकर पूर्णिमा की रात्रि में समस्त ओषधियों का मन्थ तैयार करके दही और मधु के साथ छानकर प्राण और उसकी वृत्तियों को लक्ष्य करके अग्नि में आहुति देनी होगी।[3]

---

१. इसलिए प्राण अन्नाद है (द्र. प्राणाग्निहोत्रविद्या. (५।१८...)। विश्व को जिस प्रकार प्रज्ञा की दृष्टि से दृक् एवं दृश्य में विभाजित किया जाता है। उसी प्रकार प्राण की दृष्टि से अन्नाद एवं अन्न में विभाजित किया जाता है। फिर अन्न जड़ की भी संज्ञा है। उपनिषद् के अनुसार जड़ वही है, जो उसकी अन्तर्निहित उत्तर शक्ति के स्फुरण का उपादान है (द्र. छा. ६।६) प्राणवादियों की दृष्टि में जड़ अन्न है और प्रज्ञावादियों के विचार से दृश्य है। इसे ध्यान में रखने पर जड़वाद के सम्बन्ध में इस देश की दृष्टि शुद्ध होती है।
२. मूल में है 'अथ यदि महज्जिगमिषेत्' यदि कोई महत् को प्राप्त करने की इच्छा करे। यह महत् विश्वप्राण है। साङ्ख्य का तत्त्व सङ्ख्यान स्मरणीय: - विश्व के मूल में पुरुष और प्रकृति युगनद्ध रूप में हैं। यही आकाश अथवा महाशून्य है। असङ्गपुरुष की शून्यता विज्ञानी के बोध में और अव्यक्ता प्रकृति की शून्यता प्रकृति की सुषुप्ति में स्फुटित होती है। प्रकृति का प्रथम विकास 'महत्' जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है ज्योति : शक्ति का विच्छुरण। इसे ही ऋक्संहिता में 'मातरिश्वा' कहा गया है - जो माँ के भीतर स्फीत हो उठे हैं (द्र. ३।२९।११)। इस प्रकार विसृष्टि के मूल में हम उपनिषद् की भाषा में आकाश और प्राण का एक मिथुन प्राप्त करते हैं। महत् अथवा प्राण ही तत्पश्चात् सब कुछ हुआ है।
३. यहाँ सोमदृष्टि से प्राण की उपासना करने के लिए कहा गया है। फिर प्राण. सूर्य अथवा आदित्य (द्र. १।५), प्राण अग्नि (द्र. ५।१८-२४) प्राण-अग्नि-सूर्य-सोमात्मक। तन्त्र की महाशक्ति भी वही है। अमावस्या से पूर्णिमा तक सोमकला का उपचय प्राण का ही उपचय है। यह भाव ही तन्त्र में षोडशी अथवा श्रीविद्या में प्रपञ्चित हुआ है। ओषधियाँ सोमरस से पुष्ट होती हैं (द्र. ऋ. 'ओषधीः सोमराज्ञीः' १०।९७।१८,१९; ओषधय : सं वदन्ते सोमेन सह राज्ञा २२; सोमावतीम् ७)। पञ्चामृत के दो अमृत दही एवं मधु हैं। पयः से चेतना का आप्यायन, दही में संहनन, घृत में प्रज्ज्वलन, मधु में आनन्दन और पुराने मधु के दाना बनने से शर्करा प्रतिष्ठा।

तत्पश्चात् हुतशेष मन्थ को अञ्जलि में लेकर जप करना होगा, 'तुम 'अम', तुम्हारे : साथ सभी हैं, तुम ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, राजा एवं अधिपति हो, मुझे ज्येष्ठत्व, श्रेष्ठत्व, राज्य एवं आधिपत्य दो। मैं ही यह जो कुछ है, सब हो सकूँ।'[१] उसके पश्चात् 'तत् सवितुर्वृणीमहे' इस ऋक् के एक-एक पाद का उच्चारण करके सारे मन्थ को पी लेना पड़ेगा।[२] तत्पश्चात् रात्रि में अग्नि के निकट सोकर स्वप्न में स्त्री-मूर्ति देखने के बाद समझना होगा कि यह क्रिया सिद्ध हो गई। समस्त काम्यकर्म के सम्बन्ध में स्वप्न में स्त्री-दर्शन सिद्धिसूचक है।[३]

इसके पश्चात् तृतीय से दशम काण्ड तक श्वेतकेतु - प्रवाहण संवाद है। इसका आलोच्य विषय पञ्चाग्नि-विद्या है।[४]

श्वेतकेतु आरुणेय जब राजा प्रवाहण जैवलि की सभा में गए, तब राजा ने उनसे पाँच प्रश्न किये, 'जानते हो, इस लोक से जीव कहाँ जाता

१. 'अम' शब्द यहाँ श्लिष्ट है। ऋक्संहिता में अम का अर्थ बल है: इसके अलावा 'अमा' का अर्थ सहचार या सङ्गी है। यहाँ दोनों अर्थों को ही ग्रहण करना होगा। आत्मप्राण को विश्वप्राण के साथ एक करने का उल्लेख प्राप्त होता है।
२. ऋ. ५।८२।१ यह एक सावित्री ऋक् है, किन्तु गायत्री छन्द में नहीं। बृहदारण्यक में इसका सङ्केत है।
३. यह मन्थ-कर्म कुछ और विस्तार के साथ बृहदारण्यक में पाया जाता है (६।३) वहाँ देखा जाता है कि सत्यकाम ने इसे आचार्य-शिष्य परम्परा-क्रम से प्राप्त किया था। परम्परा इस प्रकार है : - आदिप्रवक्ता उद्दालक आरुणि>वाजसनेय>याज्ञवल्क्य>पैङ्गमधुक>भागवित्ति चूल>आयस्थूण जानकि>सत्यकाम जाबाल। किन्तु सत्यकाम की मन्थविद्या के आचार्य हारिद्रुमत गौतम नहीं। उस समय विद्या ग्रहण करने के लिए विभिन्न आचार्यों का अन्तेवासी होने की साधारण रीति थी। इस कारण ब्राह्मण क्षत्रियों का शिष्यत्व ग्रहण करने में सङ्कोच-बोध नहीं करते थे। तु. बृ. ६।२।७)।
४. यह प्रसङ्ग प्राय: एक ही रूप में फिर बृहदारण्यक में प्राप्त होता है (६।२ देवयान-पितृयान की चर्चा कौषीतकी में भी है (१) किन्तु यहाँ राजा का नाम गाङ्ग्यायनि है। प्रवाहण को हम उद्गीथविद्या के प्रवक्ता के रूप में पाते हैं (छा. १।८,९ में)।

है? कैसे लौट कर आता है? देवयान और पितृयान कहाँ अलग हुए हैं? द्युलोक क्यों नही भर जाता? पञ्चम आहुति में अप् किस प्रकार पुरुष होता है? श्वेतकेतु किसी भी प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाए। राजा ने व्यङ्ग्य करते हुए कहा - 'तो फिर तुम्हारे पिता ने तुम्हें क्या सिखलाया? श्वेतकेतु को मानसिक आघात लगा और उन्होंने आकर अपने पिता से सब कुछ बतलाया। तब पिता गौतम ने कहा - 'यह सब तो मैं भी नहीं जानता, यदि जानता तो निश्चय ही तुम्हें बतलाता।' दूसरे दिन गौतम राजा के निकट उपस्थित हुए।[१] उन्होंने राजा से कहा - 'आपने मेरे पुत्र से जो कहा था, वह मुझे बतलाएँ।' राजा ने कहा - 'तो फिर दीर्घकाल तक यहाँ रहें।' गौतम ने वही किया। अन्त में राजा ने कहा - 'देखिए, आपसे पहले ब्राह्मणों में किसी ने इस विद्या को प्राप्त नहीं किया, इसीलिए तो सर्वत्र क्षत्रियप्रशासन है।'[२] यह कहकर प्रवाहण ने उद्दालक को उपदेश देना आरम्भ किया।

१. बृहदारण्यक के अनुसार ऋषि ने पुत्र को भी साथ ले जाना चाहा था, किन्तु श्वेतकेतु ने कहा - 'आप ही जाएँ।'
२. छान्दोग्य में राजा को अहङ्कारी रूप में अङ्कित किया गया है, किन्तु बृहदारण्यक में वे अत्यन्त विनीत भाव से ही वार्तालाप करते हैं। कौषीतकी के विवरण में बतलाया गया है कि देवयान पितृयान के सम्बन्ध में ब्राह्मणों को भी जानकारी नहीं थी। चतुर्थ अध्याय में हम देखते हैं कि सत्यकाम उपकोसल को देवयान के बारे में बतलाते हैं, किन्तु सत्यकाम, उद्दालक-आरुणि से बहुत पीछे के हैं (बृ. ६।३७)। यहाँ उद्दालक आरुणि (गौतम उनका गोत्र नाम है,) उनके पिता अरुण का उल्लेख वंश-ब्राह्मण में है, बृ. ६।५।३) को प्रवाहण के निकट विद्यार्थी रूप में देखते हैं, किन्तु बृहदारण्यक में प्रवाहण स्वयं ही श्वेतकेतु से कहते हैं कि 'हमने ऋषि की वाणी सुनी है', इतना कहकर ऋकसंहिता के 'द्वे स्रुती' इस मन्त्र (१०।८८।१५) का उल्लेख करते हैं। Keith ने अपने ग्रन्थ R P V U में इस उल्लेख को किस तर्क के आधार पर अप्रासङ्गिक बतलाते हुए अपना मन्तव्य प्रस्तुत किया, समझ में नहीं आता। संहिता की 'स्रुती' उपनिषद् में 'सृती' हो गई और गीता में भी वही है (८।२७)। ऋक् में प्रयुक्त 'समेति' शब्द से देवयान-पितृयान के सङ्गम-स्थान का बोध होता है, एवं यही फिर विच्छेद का स्थान भी है। अर्थात् जीव की उत्क्रान्ति का पथ लगता है। λ इस चिन्ह जैसा है। बायीं ओर झुकी रेखा

प्रवाहण ने अन्तिम प्रश्न का उत्तर सबसे पहले दिया - पञ्चम आहुति से अप् कैसे पुरुष होता है?

अप् जनयित्री शक्ति है।[१] उसे ही यहाँ हव्य रूप में ग्रहण किया गया है। समस्त सृष्टि की क्रिया ही एक यज्ञ है।[२] अतएव जीव-सृष्टि के मूल में भी यह यज्ञ है। एक यज्ञ नहीं, बल्कि क्रम से पाँच यज्ञ हैं। एक-एक यज्ञ का एक-एक अग्नि है। प्रत्येक यज्ञ के ही आहुतिकर्ता देवगण हैं अर्थात् चित्शक्ति के कर्त्तृत्व से ही यह जीव-सृष्टिरूप यज्ञ निष्पन्न होता है। यज्ञ की परम्परा को विलोम-क्रम से लेने के बाद समझने में सुविधा होगी, क्योंकि उससे हम दृष्टक्रिया से क्रमशः अदृष्ट की ओर जा सकेंगे।

अन्त तक गई है - यह अर्चिः पथ है; और दाहिनी ओर की रेखा मिलन-बिन्दु तक जाकर फिर वापस आ गई है - यह धूमपथ है। अतएव मृत्यु के पश्चात् जीव कहाँ जाता है? वापस आता है कि नहीं? देवयान और पितृयाण कहाँ जाकर मिलते हैं? - ये पुरानी बातें हैं। प्रवाहण की नयी बात है कि जीव का जन्म कैसे होता है? और देवयान एवं पितृयाणके अतिरिक्त भी कोई तृतीय गतिपथ है कि नहीं? अन्त का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है, उसकी चर्चा हम फिर करेंगे। इस उपनिषद् के ही छठे अध्याय में उद्दालक ने श्वेतकेतु को जो सब विज्ञान दिया था, उसका विस्तृत विवरण है। वहाँ वे मृत्युविज्ञान के सम्बन्ध में बतलाते हैं कि 'मुमूर्षु की वाक् मन में जाती है, मन प्राण में, प्राण तेज में, एवं तेज परमदेव में जाता है।' वहाँ सूक्ष्म रूप से और कुछ नहीं बतलाया गया है। यह एक प्राचीन विज्ञान है (द्र. ऋ. १०।१४-१९)। सूक्ष्म रूप से दोनों सृतियों का वर्णन प्रवाहण ने ही किया है, यहाँ तक चित्र ने भी कौषीतकी में वैसा वर्णन नहीं किया है। द्र. टीका १८३, २०३।

१. तु. ऋ. आपो जनयथा च नः १०।९।३; तस्याः (गौर्याः) समुद्रा अधि वि क्षरन्ति. ....ततः क्षरत्यक्षरम् १।१६४।४२; आपो....मातरः १०।१७।१०; सृष्टि के आदि में 'अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् १२९।३; अव्यक्त रात्रि से 'समुद्रो अर्णवः' उससे सृष्टि १९०।१।

२. ऋ. पुरुषसूक्त १०।९०।

प्राकृत जगत् में हम देखते हैं कि स्त्री में बीजाधान होने से जीवसृष्टि होती है। क्रिया यज्ञ के अनुरूप है। स्त्री यहाँ अग्नि है, हव्य रेतः है; किन्तु आहुतिकर्ता देवगण हैं। रेतः कहाँ से आता है? अन्न के परिपाक से। पुरुषरूप अग्नि में देवता अन्न की आहुति देते हैं, उसी से रेत की उत्पत्ति होती है। अन्न कहाँ से आता है? वृष्टि से। पृथिवी तब अग्नि और वृष्टि हव्य है। वृष्टि कहाँ से आती है? सोम से। तब पर्जन्य अग्नि और सोम हव्य है। सोम कहाँ से आता है? श्रद्धा से। तब द्युलोक अग्नि और श्रद्धा हव्य है। अब अनुलोम-क्रम से बतलाने पर श्रद्धा से सोम, सोम से वृष्टि, वृष्टि से अन्न, अन्न से रेतः और रेतः से पुरुष की उत्पत्ति होती है। उत्पत्ति के आधार क्रमशः द्युलोक, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष, एवं स्त्री - ये पाँच अग्नि हैं। देवता निमित्त हैं। यही है प्रवाहण की पञ्चाग्नि-विद्या।[१]

---

१. कौषीतकि में राजा चित्र एक बार कहते हैं कि चन्द्रमा से वृष्टि के भीतर से होकर जीव का जन्म होता है। फिर एक ऋक् को उद्धृत करते हुए बतलाते हैं कि चन्द्रमा से (पञ्चदशात् पित्र्यावतः) रेतः का आहरण किया जाता है, जिसे पुरुष स्त्री में निषिक्त करता है (१।२)। चित्र की व्याख्या में श्रद्धा एवं अन्न की चर्चा नहीं है। इसके अतिरिक्त चित्र प्रवाहण की तरह सुशृङ्खलित रूप में इस विषय को नहीं बतलाते हैं। ऐतरेय के अनुसार रेत की उत्पत्ति दिव्य अप् से होती है (ऐ. १।२।४)। अन्यत्र उल्लेख है कि रेतः पुरुष के सर्वाङ्ग से सम्भृत या एकत्र तेज है (१।४।१; तु. कौ. २।११; अ.सं. ५।२५।१)। ऋकसंहिता में गर्भाधान का जो मन्त्र है, उसमें देवताओं का आवाहन ही किया गया है, किन्तु जीव-सृष्टि कैसे होती है? उसका कोई भी सङ्केत वहाँ नहीं प्राप्त होता (ऋ. १०।१८४; तु. अ.सं. ५।२५।१)। इस दृष्टि से प्रवाहण इसे स्वकीय विद्या बतलाने का दावा नहीं कर सकते। वृष्टि, अन्न रेतः एवं गर्भ इनमें कार्य-कारण सम्बन्ध का अनुमान करना कठिन नहीं। ओषधि (=अन्न) के साथ सोम का सम्बन्ध ऋक्संहिता में भी प्राप्त होता है (१०।९७।७, १८, १९, २२)। फिर वृष्टि से ओषधि की पुष्टि, यह भी ज्ञात है। उससे ही सोम अप्मय अथवा जलमय - यह धारणा हो सकती है, विशेष रूप से याज्ञिकों का सोम जब लता का रस है, जिसका पान करने से मनुष्य अमृत होता है (ऋ. ८।४८।३) पार्थिव सोम ही आकाश में चन्द्र है, जिसका पान देवता करते

तत्पश्चात् प्रवाहण बतलाते हैं कि 'जो इस पञ्चाग्नि-विद्या को जानते हैं, एवं जो अरण्य में श्रद्धा, तप इत्यादि की उपासना करते हैं।

हैं। इन सब भावानुषङ्गों से ज्ञात हो सकता है कि सोम 'पित्र्यावान' अथवा पितृ-शक्ति का आधार है। सब जीव ही चन्द्र से आते हैं, फिर चन्द्र में ही जाते हैं (कौ. १/२)। किन्तु चन्द्र दो हैं - एक आदित्य के उस पार और एक इस पार (छा. ५।१०।२,४; तु. तै. ब्रा. ३।११।७।४)। दोनों ही अमृत-प्राण के आधार हैं, किन्तु एक से प्राण का प्रत्यावर्तन नहीं होता और एक से होता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण का कथन है कि आदित्य के नीचे जो लोक है, वह अन्तवान् एवं क्षयिष्णु है। आदित्य के उस पार का लोक अनन्त, अपार एवं अक्षय है (३।११।७।४)। लोक का नाम वहाँ नहीं है, किन्तु छान्दोग्य की भावना के साथ भावना का अधिक मेल है। इस लोकविद्या को क्षत्रियों के निकट से प्राप्त करने का कोई प्रमाण नहीं, क्योंकि यह भावना ऋक्संहिता के 'द्वे स्रुती' में ही आ सकती है। इस प्रकार हम जीव-जन्म का आदिबिन्दु खोजते हुए सोम तक पहुँचे। प्रवाहण बतलाते हैं कि उसके भी आदि में 'श्रद्धा' है आदिशङ्कराचार्य ने श्रद्धा को आस्तिक्य-बुद्धि बतलाया है, जो नचितकेता में आविष्ट हुई थी (कठ १।२।२ तु. ऋ. श्रदस्मै धत्त, स जना स इन्द्रः २।१२।५। ऋक्संहिता के श्रद्धासूक्त में बतलाया जाता है कि "श्रद्धा हृदय की आकूति द्वारा प्राप्त होती है (१०।१५१।४)। हृदय जब देवता के लिए आकुल हो उठता है, तब श्रद्धा आविष्ट होकर बतला देती है कि ये हैं। तो फिर श्रद्धा देवता का आवेश है। किन्तु आवेश जो अभी ही हुआ, वह तो नहीं। बल्कि जीव-जन्म के मूल में ही था, जो उनका ही आवेश है (द्र. छा. ६।३।२,३; तै. २।६; ऐ. १।३।१२)। यह आवेश ही काल-क्रम में श्रद्धा के रूप में हृदय में स्फुरित होता है। इसलिए श्रद्धा को चिद्बीज भी कहा जाता सकता है। जीव-जन्म के मूल में श्रद्धा है, प्रवाहण की इस भावना के साथ उपरोक्त भावना का मेल है। फिर प्रश्नोपनिषद् में हम देखते हैं कि सुकेशा भारद्वाज से जब राजपुत्र कौसल्य हिरण्यनाभ षोडशकल-पुरुष के बारे में पूछते हैं, तो वे उत्तर नहीं दे पाते। राजपुत्र ने उन्हें कुछ बतलाया भी नहीं। सुकेशा के प्रश्न करने पर ऋषि पिप्पलाद ने सोलह कलाओं के नाम गिनाने के क्रम में पहले ही प्राण एवं उसके बाद श्रद्धा का उल्लेख किया है। यहाँ भी जीव-जन्म के मूल में श्रद्धा है। हिरण्यनाभ यह जानते थे कि नहीं, समझ में नहीं आता। किन्तु पिप्पलाद जानते थे। इन बातों से यह प्रमाणित होता है कि जीव-जन्म के रहस्य के सम्बन्ध में अनेक भावनाएँ अनेक स्थलों पर बिखरीं थीं, प्रवाहण ने उन्हें एक सुव्यवस्थित सुदृढ़ रूप दिया। इतना ही उनका कृतित्व था। इससे उपनिषदों पर क्षत्रिय-प्रभाव की बात को बढ़ा-चढ़ा

वे मृत्यु के पश्चात् अर्चि में रूपान्तरित होते हैं।" इतना बतलाकर उन्होंने अर्चिः-पथ का एक विवरण दिया। सत्यकाम के निकट इस पथ का परिचय हमें पहले ही मिल चुका है, किन्तु याद रखना पड़ेगा कि सत्यकाम प्रवाहण से बहुत पीछे हुए हैं।

इसके बाद प्रवाहण ने देवयान-मार्ग के निकट एक और मार्ग के बारे में बतलाया। जो ग्राम में इष्ट (यज्ञ) पूर्त (जनहितकारी अनेक कार्य) एवं दान का अनुष्ठान करते हैं, वे मृत्यु के पश्चात् धूम में रूपान्तरित होते हैं। धूम से रात्रि होते हैं, रात्रि से कृष्णपक्ष, कृष्णपक्ष से दक्षिणायन होते हैं। वे फिर संवत्सर को नहीं पाते अर्थात् आदित्य-ज्योति में वे रूपान्तरित नहीं होते। उन्हें जिस प्रकाश का अनुभव होता है, वह क्षयिष्णु है; यद्यपि सामान्यतया एक व्याप्तिबोध उनमें भी रहता है। वह विदेह होने का एक स्वाभाविक परिणाम है। दक्षिणायन से वे पितृलोक में जाते हैं, वे वहाँ आकाश होते हैं, आकाश से चन्द्रमा होते हैं। यह चन्द्रमा देवताओं का अन्न है। जिसका ह्रास-विकास होता है।[१] वहाँ कुछ दिन रहकर वे फिर आकाश होते हैं, आकाश से वायु होते हैं, वायु से धूम, धूम से अभ्र (जलीय वाष्प), अभ्र से मेघ, मेघ से वृष्टि, वृष्टि से उद्भिद् (अन्न), उससे अन्नाद का रेतः और उससे मातृगर्भ में भ्रूण

कर कहने का कोई कारण नहीं पाया जाता। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही अभिजात हैं और ब्राह्मण्यधर्म मूलतः अभिजात-वर्ग का धर्म है। तत्त्व-जिज्ञासा में ब्राह्मण ही अग्रणी थे, किन्तु क्षत्रिय भी अधिक पीछे रहे, ऐसा नहीं था। तत्त्वमीमांसा जिस प्रकार यज्ञ-सभा में होती थी, उसी प्रकार राजसभा में भी होती थी। चिरकाल से ही वही होता आया है। किन्तु मीमांसा को सुविन्यस्त करके सूत्ररूप प्रदान करने का एवं सम्प्रदाय-प्रवर्तन करने का कार्य बराबर ब्राह्मण ही करते आए हैं। क्षत्रिय उनके पृष्ठपोषक रहे। दोनों में एक विरोध की कल्पना करना या एक पक्ष को बढ़ा-चढ़ा कर बतलाना किसी भी तरह तर्कसङ्गत नहीं जान पड़ता।

१. तन्त्र में हम देखते हैं कि चन्द्र की पन्द्रह क्षयिष्णु कलाओं के ऊपर षोडशी नित्य कला है। वेद का पुरुष भी षोडशकल है। लक्षणीय, सोमयाग के ऋत्विक् भी सोलह हैं।

होते हैं। शुभ कर्मों की प्रबलता से उनका जन्म उत्तम योनि में होता है, नहीं तो हीन या अधम योनि में होता है – यहाँ तक कि पशु-जन्म होना भी असम्भव नहीं।[१]

---

१. सत्यकाम ने उपकोसल को धूममार्ग के बारे में बतलाया था या नहीं, इसकी कोई सूचना प्राप्त नहीं। किन्तु बृहदारण्यक (६।२।१५-१६) के वर्णन के अन्तर्गत देवयान प्रसङ्ग में है – 'अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते', 'मासेभ्यो देवलोकम्' 'आदित्याद् वैद्युतम्' (चन्द्रमा का उल्लेख नहीं); 'पुरुषो मानस:' ('अमानव:' नहीं)। पितृमार्ग पर जो जाते हैं, वे 'यज्ञेन दानेन तपसा लोकान् जयन्ति' (तु. गी. : 'यज्ञदान तप: कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्, यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्। एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च, कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्' (१८।५-६)। छान्दोग्य में तपस्वी अर्चि:पथ पर जाते हैं, और यहाँ धूमपथ पर। प्रश्नोपनिषद् में पिप्पलाद देवयान-पितृयाण का एक अत्यन्त सङ्क्षिप्त वर्णन करते हैं – (१।९-१३)। वहाँ उत्तरायण और दक्षिणायन के सहारे आदित्य और चन्द्र में जाने का उल्लेख है। यह ऋक्संहिता के 'द्वे स्रुती' की व्याख्या के रूप में प्रतीत होता है। शुक्लपक्ष एवं कृष्णपक्ष तथा अहोरात्र के अन्तर की बात भी उठी है, किन्तु उत्क्रान्ति के प्रसङ्ग में नहीं। इसके कारण यह विवरण प्रवाहण के विवरण से प्राचीन माना जा सकता है। ऋक्संहिता में 'देवयान' शब्द का उल्लेख कई बार किया गया है, किन्तु 'पितृयाण' शब्द का उल्लेख केवल एक बार (१०।२।७) है। किन्तु देवयान के अर्थ में वहाँ सर्वत्र ही बतलाया गया है कि देवता जिस पथ से यहाँ आते हैं, वह देवयान है, किन्तु मनुष्य जिस पथ से उनके निकट जाते हैं, उसका उल्लेख नहीं है। किन्तु अग्नि दूतरूप में निश्चय ही उस देवयान-पथ से ही हव्य लेकर देवताओं के पास जाता है (१।७२।७,१०।५१।५, ९८।११)। सब आहुति ही आत्माहुति है। मृत्यु के बाद देह चिता पर उठाकर रखना चरम आहुति अथवा अन्त्या इष्टि है (तु. छा. ५।९।२)। जिन्होंने देवता को चाहा है, वे उस समय चिताग्नि की शिखा के सहारे इस पथ से ही देवता के निकट जाते हैं (तु. ऋ. १०।१६।४)। यह प्रेत का देवयान-पथ है। इस पथ से ही हमारे पितृपुरुष भी देवताओं के निकट गए हैं (१०।१४।२; ७ यम एवं वरुण के सहावस्थान का उल्लेख यहाँ है, अर्थात् मृत्यु और शून्यता जैसे एक है; ९ यहाँ अह:, अप् एवं रात्रि द्वारा शोभित विश्रामस्थान की बात बतलाई जाती है अर्थात् प्रेत की गति दिन के प्रकाश एवं कारण-समुद्र के भीतर से महाशून्य में होगी)। पितृपुरुष इस पथ से गए, इस कारण ऋकसंहिता में इस पथ का ही एक और

तत्पश्चात् प्रवाहण बतलाते हैं कि इन दोनों मार्गों में किसी पर भी जो नहीं जाते, ऐसे पुरुष भी हैं। वे क्षुद्र प्राणी होकर केवल बार-बार आवर्तित होते हैं। जन्म लेना और मर जाना ही उनका काम है। उनके लिए यह एक तृतीय स्थान है। यही कारण है कि द्युलोक भर नहीं पाता।

नाम 'पितृयाण' है (पन्थामनु प्रविद्वान् पितृयाणं द्युमदग्ने समिधानो वि भाहि १०।२।७)। अर्थात् 'अग्निष्वात्त' पितृगण देवयान-पथ से ही यातायात करते हैं (१०।१५।११)। किन्तु देवयान-पथ के अतिरिक्त एक और निजी पथ का उल्लेख भी एक ऋक् में है (परं मृत्यो: अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात् १०।१८।१)। स्थूलत:, ऋक्संहिता में हम देखते हैं कि प्रवाहण कथित अर्चि: पथ का ही प्राधान्य है, धूमपथ आभासित है। प्रवाहण बतलाते हैं कि इष्टापूर्त के द्वारा धूमपथ ही प्राप्त होता है, किन्तु ऋक्संहिता में बतलाया जाता है कि इष्टापूर्त का फल व्योम तक जाता है (सङ्गच्छस्व इष्टापूर्तेन परमे व्योमन् १०।१४।८)। मृत्यु के पश्चात् प्रेत की अध्यात्मसत्ता अधिदैवत-सत्ता में मिल जाती है। केवल उसका 'अजोभाग:' अथवा आत्मा को अग्नि अपनी अर्चि: द्वारा तप्त करके 'उरुलोक' में ले जाता है, वहाँ उसका दिव्य शरीर होता है – यह ऋक्संहिता में मरणोत्तर-अवस्था का विवरण है (१०।१६।३-५)। अध्यात्म-सत्ता के अधिदैवत् रूपान्तर का उल्लेख हम उपनिषद् में भी पाते हैं (तु. कौ. २।१३; छा. ६।१५।२ यहाँ उद्दालक साधारण रूप में ही पुरुष का उल्लेख करते हैं। इस तत्त्व को ही वे जानते थे। बृ. ३।२।१३ यहाँ आर्तभाग ने जो बतलाया, याज्ञवल्क्य ने उनकी अपेक्षा और भी अधिक कुछ बातें उन्हें गोपन में बतलाया। प्रवाहण कथित विद्या क्या यही है? बृ. ४।४।१-२....)। स्थूलत: हम देखते हैं कि देवयान-पितृयाण का प्रसङ्ग नया नहीं है। किन्तु दोनों गति-पथ के अतिसूक्ष्म वर्णन को प्रवाहण क्षात्रविद्या बतलाने का दावा अवश्य कर सकते हैं। संहिता और उपनिषद् में अन्यत्र मृत्यु के बाद अध्यात्मसत्ता के अधिदैवत-सत्ता में लीन हो जाने की ओर ही अधिक बल दिया गया है। यह भक्त रामप्रसाद के उस कथन जैसा है, जिसे वे गीत में व्यक्त करते हैं – जैसे जल का बिम्ब जल में उदय होता है और जल होकर जल में मिल जाता है' (तुलनीय : कठ. २।१।१५)। किन्तु प्रवाहण ने अगले प्रसङ्ग में इसके सम्बन्ध में एक नई बात सुनाई है।

इस तृतीय गति से कतरा कर चलना चाहिए। चोर, शराबी, गुरुपत्नीगामी, ब्रह्मघाती ये पतित हैं, इनके सङ्ग जो रहेगा, वह भी पतित है।[१]

यह तृतीय स्थान कहाँ है? अथवा चेतना की कौन सी भूमि है? प्रवाहण कथित मृत्युविज्ञान से उसका एक आभास प्राप्त हो सकता है। मूर्च्छा अथवा सुप्ति की तरह मृत्यु, चेतना का संहरण अथवा प्रत्याकर्षण है। सुप्ति में बाह्यचेतना लुप्त हो जाती है, तो क्या कोई चेतना रहती ही नहीं? उपनिषद् का कथन है कि रहती है; प्राणाग्नि तब भी देह को आश्रय बनाकर जागता रहता है (प्र. ४।३, कौ. ४।१९, कठ. २।२।८, बृ. ५।११।१....) इस प्राणचैतन्य का बोध एक स्निग्ध प्रसन्नता है। सुषुप्ति में मन की अगोचर अवस्था में उसका अनुभव निश्चित रूप से होता है। नींद से जागने के बाद कुछ क्षण तक उसका अनुरणन रहता है। जाग्रत की चेतना विविक्त अथवा पृथक् अर्थात् आत्मचैतन्य वहाँ विषय और विषयी में विभक्त हो सकता है। किन्तु सुप्तिचैतन्य अविविक्त है, वहाँ सब एकाकार है। हम इस एकाकार भाव को अन्धकार कह सकते हैं।

प्राकृत-चेतना में धूम अन्धकार है, मृत्यु भी वही है। दोनों ओर ही चेतना का संहरण है। चेतना संहृत होगी, किन्तु विलुप्त नहीं होगी, यह ध्यान में सम्भव है। ध्यान में समस्त विषय (ज्ञेयवस्तु) विषयी या ज्ञाता में सिमट आता है। तब केवल विषयी ही जागता रहता है। इस जागते रहने को हम आलोक कह सकते हैं। अन्धकार आता है, तब भी उसके भीतर आलोक को जगाए रखने की चेष्टा ही साधना है। कौन? कितना? या कितने क्षणों तक आलोक जगाए रख सकता है? वह उसकी साधन-शक्ति के ऊपर निर्भर करता है।

---

१. अर्थात् ये महापातकी हैं- ये सब उस तृतीय स्थान से ही लौट आते हैं। उसके ऊपर नहीं जा सकते। बृहदारण्यक में क्षुद्रप्राणियों के रूप में कीट-पतङ्ग, डाँस, बड़े मच्छर आदि का उदाहरण दिया गया है।

जिस प्रकार सोए, उसी प्रकार मरे। मरने पर सब अँधेरा ही अँधेरा। उपनिषद् में इसको ही रात्रि बतलाया गया है; किन्तु रात्रि के उतरने से पहले धुमहले उजाले का समय आता है, उपनिषद् में जिसे धूम बतलाया गया है।

प्रवाहण कहते हैं कि पितृयाण के मार्ग से जिन्हें जाना होता है, वे पहले धूम होते हैं, उसके पश्चात् रात्रि। तत्पश्चात् रात्रि में पूर्णचन्द्र का उदय होता है किन्तु उसकी ज्योत्सना धीरे-धीरे म्लान हो जाती है, फिर अमावस्या का अन्धकार उतर आता है। तत्पश्चात् उत्तरायण के चरम दिन एक झलक आती है, किन्तु वह उजाला भी धीरे-धीरे क्षीण हो जाता है। आलोक के साथ अन्धकार जुड़ा रहता है, सम्पूर्ण रूप से अपचयहीन सौरदीप्ति कभी भी नहीं फूटती।[१] इस अवस्था में जहाँ उन्हें रहना पड़ता है, उसे 'पितृलोक' कहते हैं। उसके बाद फिर आकाश की शून्यता उतरती है, फिर उसमें ज्योत्स्ना फूटती है और सम्भुक्त के आनन्द से दिव्यधाम का कुछ-कुछ आभास प्राप्त होता है। किन्तु, वह भी स्थायी नहीं होता। फिर आकाश की शून्यता में सब कुछ मिल जाता है। उस शून्यता में महाप्राण का स्पन्दन होता है। कृष्ण-पक्ष से शुरु करके वायु-भाव तक बीच-बीच में सब शून्य हो जाने पर भी ये अवस्थाएँ सचेतनता में ही कटती हैं।

किन्तु उसके बाद फिर सब धुएँ से ढँक जाता है और प्रकृति के शासन में विवश होकर अवसर्पिणी-धारा में उतर आना शुरु होता है।

कहा जा सकता है कि पितृयाण-पथ की रात्रि ही तृतीय स्थान है। इसके ऊपर जो नहीं उठ पाते, वे वहाँ से ही फिर धूम के भीतर से होकर पृथिवी पर उतर आते हैं। यह धूम पितृयाणियों को भी मिलता है।[२] यहाँ से जीव-जन्म के सोपान सबके लिए समान हैं।

---

१. प्रवाहण की भाषा में 'वे संवत्सर को कभी भी नहीं प्राप्त करते।'
२. ५।१०।५।

किन्तु इसके भीतर एक बात है। प्रवाहण की पञ्चाग्निविद्या की सार्थकता वहीं है। अभ्र>मेघ>वृष्टि>अन्न>रेतः>गर्भ – यह धारा अविद्वान् के प्राकृत-जन्म की धारा है। यदि कोई यह सोचता है कि "अभ्र श्रद्धागर्भ द्युलोक का आलोक है, और मेघ सोमगर्भ पर्जन्य है, ये सभी अग्निस्वरूप हैं, मैं उस अग्नि से ही उत्पन्न हुआ हूँ।"[१] तो फिर उसे भी लौट कर आना नहीं होता।

अर्चिःपथ, प्रकाश और अँधेरे का द्वन्द्व कुछ दूर रहने पर भी अन्ततः सभी प्रकाश है। इस पथ पर जो जाते हैं, उनकी मृत्यु अन्धकार नहीं, बल्कि एक ज्योतिर्मय विस्फारण है, एक प्रकाशमय फैलाव है। जिसे उपनिषद् में 'प्रद्योत'[२] का नाम दिया गया है। इस पथ की विस्तृत व्याख्या की आवश्यकता नहीं। आशा करते हैं कि हमने जो कुछ बतलाया, उससे ही मूल विषय का अनुधावन करना मुश्किल नहीं होगा।

प्रवाहण ने उत्क्रान्ति के सम्बन्ध में जो कुछ बतलाया, वह सभी ध्यान के द्वारा इस जीवन में ही अनुभव किया जा सकता है; क्योंकि मृत्यु जिस प्रकार चेतना का संहरण है, उसी प्रकार ध्यान भी वही है। सुप्ति, समाधि एवं मृत्यु एक पर्याय के सत्य हैं अर्थात् तीनों समान अर्थवांची हैं। विज्ञानी तीनों में ही जागते रहते हैं।

तत्पश्चात् ग्यारहवें से चौबीसवें खण्ड तक वैश्वानर एवं प्राणाग्निहोत्र-विद्या का विवरण है। उपदेष्टा राजा अश्वपति कैकेय हैं और विद्यार्थी हैं उद्दालक आरुणि प्रमुख छह ब्रह्मवादी। उनकी मीमांसा का विषय था कि-हमारा आत्मा कौन है? अथवा ब्रह्म ही क्या है? ये सभी वैश्वानर के उपासक थे। ये ब्रह्मवादी पहले उद्दालक के पास ही

---

१. तु० कौ. विचक्षणादृतयो रेत आभृतं इत्यादि १।२। यही है 'जन्मकथन्ता सम्बोध' अपने दिव्य-जन्म की सूचना प्राप्त करना। तु. गीता, ४।९।

२. बृ. ४।४।२

यह प्रश्न लेकर उपस्थित हुए थे, किन्तु उद्दालक ने कहा – मैं पूरा नहीं जानता। चलो, हम अश्वपति के पास चलें।[१]

अश्वपति के पास जाने के पहले उन्होंने प्रश्न करके यह जान लिया कि वे आत्मज्ञान अथवा तत्त्वज्ञान में किसकी उपासना करते हैं।[२] देखा गया कि प्रत्येक ब्रह्मवादी आत्मज्ञान में द्युलोक, आदित्य, वायु आकाश, अप् एवं पृथिवी की पृथक्-पृथक् उपासना करते रहे हैं।[२] अश्वपति ने कहा, 'आप सब पृथक्-भाव से आत्मरूपी वैश्वानर की ही

---

१. ऋक्संहिता में अश्वपति इन्द्र का विशेषण है ८।२१।३। यह आख्यान शतपथ-ब्राह्मण में है (१०।६।१)। छान्दोग्य के नामों का सामान्य प्रभेद वहाँ दिखाई देता है। उद्दालक आरुणि के स्थान पर वहाँ अरुण औपवेशि है। बृहदारण्यक के वंश-ब्राह्मण में दिखाई देता है कि उपवेशि से अरुण विद्या ग्रहण करते हैं और अरुण से उद्दालक (६।५।३)। उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु ने पिता के निकट ही विद्या ग्रहण की थी, जिसे हम जानते हैं। उद्दालक ने श्वेतकेतु को बतलाया था, उनके वंश में सभी वेदवित् थे (छा. ६।१।१)। इससे ज्ञात होता है कि उद्दालक ने भी अपने पिता के निकट विद्या ग्रहण की थी और उनके पिता ने अपने पिता के निकट से इत्यादि। अर्थात् इस क्षेत्र में योनिवंश और विद्यावंश एक है। तो फिर शतपथ के विवरण के अनुसार अश्वपति के निकट उद्दालक नहीं, बल्कि उनके पिता अरुण गए थे। शतपथ का यह विवरण ही प्राचीनतर जान पड़ता है। किन्तु राजा के पास पिता गए थे, न कि पुत्र गया था, इसे लेकर तर्क-वितर्क करने से विशेष कोई लाभ नहीं। उद्दालक स्वयं ब्रह्मविद् थे, किन्तु उनकी जिज्ञासा तनिक भी शान्त नहीं होती। जहाँ कहीं भी कुछ नये का सन्धान पाते। वहाँ ही मान-अभिमान का विचार किए बिना दौड़े चले जाते। उनके चरित्र की यह विशेषता श्रद्धा के योग्य है।

२. यह उपासना आत्मोपासना है अर्थात् अधिदैवत एवं अध्यात्म-दृष्टि को यहाँ मिला दिया गया है। जैसे प्राचीनशाल आत्मा के रूप में द्युलोक की उपासना करते हैं, तो फिर उनकी भावना का रूप होगा – 'मैं ही द्युलोक हूँ।' इसी प्रकार प्रत्येक उपासना में आत्मचैतन्य का उद्दीपन एवं विस्फारण हुआ करता है। शतपथ के विवरण में हम देखते हैं कि अश्वपति प्रत्येक से प्रश्न करते हैं – 'आप वैश्वानर के रूप में किसे जानते हैं?' अर्थात् वहाँ देवता को विश्व में देखने का प्रसङ्ग ही पहले उभरा है। उसके बाद अश्वपति विद्यार्थियों की दृष्टि को अध्यात्म में वापस लाते हैं।

उपासना करते आ रहे हैं, खण्ड-खण्ड करके।[१] वस्तुतः द्युलोक उनका मूर्द्धा है, तब वे सुतेजाः हैं, आदित्य उनका चक्षु है, तब वे विश्वरूप हैं, वायु उनका प्राण है, तब वे पृथग्वर्त्मा (अनेक दिशाओं में धावमान) हैं, आकाश उनका सन्देह (देहकाण्ड) है, तब वे बहुल (विराट्) हैं; अप् उनका वस्ति (मूत्रांशय) है, तब वे रयि हैं;[२] पृथिवी उनका पाद है, तब वे प्रतिष्ठा हैं। वे ही आप सबकी आत्मा हैं। उनकी प्रादेश मात्र एवं अभिविमान आत्मा के रूप में उपासना करने पर सर्वभूत में सर्वलोक में, एवं सर्वात्मा में अन्नाद हुआ जा सकता है।[३]

---

१. वैश्वानर के विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य ऋ.सं. ३।२ भूमिका

२. यह बात विशेष महत्त्वपूर्ण है। यहाँ हम अप् के साथ रयि का समीकरण देखते हैं (तु. श. ब्रा. १०।६।१।११)। रयि शब्द ऋकसंहिता में बहुप्रयुक्त है। निघण्टु में उसका अर्थ 'उदक' (१।१२), एवं 'धन्' दिया गया है। मन्त्रव्याख्याताओं ने विशेष रूप से यूरोपीय-पण्डितों ने पहले अर्थ की अपेक्षा करके दूसरे अर्थ पर बल दिया है। इससे अधिकांश क्षेत्रों में ही व्याख्या-विपर्यय घटित हुआ। (द्र. ऋ. स. ३।१।१९ टीका)। यहाँ अप्, रयि एवं वस्ति के समीकरण को रयि के प्रकृत अर्थ का विनिगमक कहा जा सकता है।

३. अर्थात् सर्वमय हुआ जा सकता है। वैश्वानर अन्नाद (तु. गी. १५।१४), विश्व उनका अन्न है। इस भावना का ही प्रतिरूप साङ्ख्य के प्रकृति-पुरुषवाद में हम पाते हैं, किन्तु साङ्ख्य में पुरुष उपद्रष्टा है, प्रकृति परिणामिनी है, यद्यपि प्रकृति का परिणाम पुरुष के लिए ही होता है। और अन्नाद अन्न को अपनी चित् सत्ता में रूपान्तरित करते जा रहे हैं, उनके आवेश से जड़ निरन्तर ही चिन्मय होता जा रहा है (तु. छा. ६।५-७)। ब्रह्मसूत्र में वैश्वानर को ब्रह्म प्रतिपन्न किया गया है (द्र. १।२।२४-३२ शाङ्करभाष्य)। यहाँ बतलाया जाता है कि वैश्वानर प्रादेश मात्र अर्थात् अध्यात्म-दृष्टि में एक वितस्ति या बारह अङ्गुल परिमाण (तु. अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति, ईशानो भूत भव्यस्य... 'ज्योतिरिवाधूमकः' कठ. २।१।१२-१३)। मध्य-आत्मा हृदय है। वे विश्वमय होने पर भी हृदय में प्रतिष्ठित हैं। हृदय से ऊपर की ओर एक बितस्ति या एक बालिश्त की दूरी पर मुख है। छान्दोग्य का कथन है कि उनका हृदय गार्हपत्य है और मुख आहवनीय (५।१८।२) है। आश्मरथ्य कहते हैं कि इतने में ही उनकी विशेष अभिव्यक्ति होती है, इसलिए वे प्रादेश मात्र हैं; बादरि कहते हैं कि उनकी अनुस्मृति भी इतने में ही चलती है; जैमिनि कहते हैं प्रादेश मात्र ही अधिदैवत एवं अध्यात्म-दृष्टि का साम्य (ब्रह्मसूत्र १।२।२९-३१) है। जैमिनि शतपथ-ब्राह्मण के विवरण को लक्ष्य में रखते हैं (श. १०।६।१।९-११)। वहाँ अश्वपति अधिदैवत-भावना को अध्यात्म-भावना में वापस लाते हैं यह बतलाकर कि 'जिन देवताओं की आप सब बाहर पृथक्-पृथक् उपासना करते हैं, यदि उनका अनुभव प्रादेशमात्र रूप में कर सकें, तो उनका परिचय भली-भाँति प्राप्त कर सकते हैं एवं वे वहाँ-यहाँ एक हो जाते हैं (अभिसम्पन्नाः)। मैं आप लोगों को उन्हें वहाँ-यहाँ एक करके बतला देता हूँ।' उसके बाद मस्तक को दिखलाते हुए कहा - 'यह अतिष्ठा वैश्वानर है।' दोनों आँखें दिखलाते हुए कहा - 'यह सुतेजा वैश्वानर है।' नाक के दोनों छिद्रों को दिखलाते हुए कहा - 'यह पृथग्वर्त्मा वैश्वानर है।' मुख के विस्तार (आकाश) को दिखलाते हुए कहा - 'यह बहुल (विराट्) वैश्वानर है।' मुँह के पानी को दिखलाते हुए कहा - 'यह प्रतिष्ठा वैश्वानर है।' अर्थात् शतपथ में चिबुक से माथे के ऊपर तक के परिमाण को प्रादेश मात्र बतलाया गया है। तत्पश्चात् अश्वपति ने बतलाया कि 'पुरुष भी जो है, वही यह अग्नि वैश्वानर भी है। जो इस अग्नि वैश्वानर को पुरुषरूप में पुरुष के भीतर प्रतिष्ठित जानते हैं। अर्थात् जो स्वयं को वैश्वानर पुरुष में रूपान्तरित अनुभव करते हैं तु. ऋ. ३।२६।७), वे पुनर्मृत्यु पर जय प्राप्त करके सर्वायु प्राप्त करते हैं। यहाँ आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक तीनों दृष्टियाँ ही मिल गईं। जो विश्व भुवनरूप में व्यक्त या प्रकाशित हैं, वे मैं रूप में भी व्यक्त हैं। यह वैदिक अद्वैतवाद की रहस्य-कथा है। हम उन्हें विश्व की प्रत्येक वस्तु में सर्वत्र देख रहे हैं - इस भाव को ही संहिता में प्रधानता मिली है। और ब्राह्मण-उपनिषद् में हम उन्हें अपने भीतर देखते हैं - इस भाव का ही प्राधान्य है। इसे ही छान्दोग्य में 'अभिविमान' कहा गया है।

तत्पश्चात् वैश्वानर के अखण्ड रूप का वर्णन करते हुए अश्वपति ने बतलाया - 'यह जो वैश्वानर हैं, वे ही आपकी आत्मा हैं। उनका मूर्द्धा ही सुतेजा है, चक्षु विश्वरूप है, प्राण पृथग्वर्त्मा है, देहकाण्ड बहुल है, मूत्राशय रयि है, पृथिवी चरण है, वक्षस्थल वेदी है, लोम बर्हि है, हृदय गार्हपत्याग्नि है, मन अन्वाहार्यपचन (दक्षिणाग्नि) है एवं मुख आहवनीयाग्नि है।[१]

---

१. यहाँ 'वैश्वानर आत्मा' बतलाकर अधिदैवत एवं अध्यात्म-दृष्टि को मिला दिया गया है। इसके अतिरिक्त 'उनका वक्षस्थल वेदी इत्यादि है - यह बतलाकर अधियज्ञ-दृष्टि को भी इस दृष्टि के अन्तर्गत कर लिया गया है। याज्ञिक को यह भावना करनी होगी कि 'यह वेदी जिस प्रकार वैश्वानर का वक्ष है, उसी प्रकार मेरा भी वक्ष है, क्योंकि वैश्वानर ही मेरा आत्मन् अथवा आत्मा इत्यादि है।' यह अधियज्ञ-भावना शतपथ में नहीं है।

वैश्वानर जिस प्रकार गार्हपत्यादि रूप में यज्ञाग्नि हैं, उसी प्रकार अध्यात्म-दृष्टि में वे प्राणाग्नि भी हैं। श्रौतयज्ञों में अग्निहोत्र सर्वापेक्षा सरल है। आहिताग्नि को प्रतिदिन उसका अनुष्ठान करना पड़ता है। कहते हैं, एक अग्निहोत्र के अनुष्ठान से ही सारे यज्ञों का फल प्राप्त होता है। अग्निहोत्र की आहुति बाहर प्रज्ज्वलित श्रौताग्नि में देनी होती है। किन्तु इस देह में भी तो आग प्रज्ज्वलित है, उसमें प्रतिदिन हम अन्न की आहुति भी देते हैं। यज्ञभावना में यह करने से ही वह 'प्राणग्निहोत्र' होता है।[१]

जिस प्रकार गार्हपत्य, दक्षिण, आहवनीय, सभ्य और आवसथ्य ये पाँच अग्नि यज्ञाग्नि हैं। उसी प्रकार प्राण, व्यान, अपान, समान और उदान ये पाँच प्राणाग्नि हैं। भोजन करते समय इन पाँच अग्नियों में प्रथम पाँच ग्रास अन्न की आहुति स्वाहा-मन्त्र द्वारा देनी होगी। 'प्राणाय स्वाहा' कहकर प्रथम ग्रास की आहुति प्राण में देने से चक्षु तृप्त होगा; चक्षु तृप्त होने से आदित्य तृप्त होगा; आदित्य तृप्त होने से द्युलोक तृप्त होगा; द्युलोक तृप्त होने से आदित्य एवं द्युलोक में अधिष्ठित सब कुछ तृप्त होगा। सबकी तृप्ति से आत्मा की तृप्ति एवं अभ्युदय होगा। इस प्रकार प्रत्येक आहुति के समय बोध करना होगा।[२] इस प्राणाग्निहोत्र का कङ्काल या ढाँचा अब भी द्विजातियों के बीच टिका हुआ है।

---

१. कौषीतक्युपनिषद् में राजा प्रतर्दन ने ऐसे ही एक आन्तराग्निहोत्र का उल्लेख किया है (२।५)। वह श्वास-प्रश्वास के साथ-साथ वाक् और प्राण का होम है। दोनों में ही क्रियाविशेष बहुल द्रव्ययज्ञ को सरल ज्ञानयज्ञ में रूपान्तरित करने का सङ्केत प्राप्त होता है।

२. यह भावना की धारा है। पाँच प्राणों को पाँच इन्द्रिय, पाँच देवता एवं पाँच लोक के साथ जोड़ा गया है। तु. द्वारपालोपासना (३।१३) वहाँ उदान का सम्बन्ध वायु और आकाश के साथ है। यहाँ त्वक् और वायु के साथ है - केवल इतना ही अन्तर है। उदान ही चेतना को ऊर्ध्वगामी करता है (द्र. छा. ३।१३।५, प्र. ४।४)। द्वारपालोपासना और प्राणग्निहोत्र का तत्कालीन लक्ष्य अलग है, इसलिए दोनों में उदान की क्रिया भी अलग है। एक में उदान वायु अथवा प्राण को आकाश में मिला देती है और एक में सारे शरीर में व्याप्त स्पर्शबोध (त्वक् को) को

अश्वपति की वैश्वानरविद्या के साथ-साथ पञ्चम अध्याय भी यहीं समाप्त होता है।

तत्पश्चात् छठा अध्याय सोलह खण्डों में है।[१] इस अध्याय का प्रतिपाद्य एक विज्ञान में सर्वविज्ञान है। इस एक को 'एकमेवाद्वितीयं सत्'[२] बतलाया गया है। यह एक आदेश है।[३] प्रसिद्ध 'तत्त्वमसि' महावाक्य इस अध्याय में ही प्राप्त होता है।[४] इस अध्याय के प्रवक्ता उद्दालक हैं, और श्रोता उनके पुत्र श्वेतकेतु हैं।[५]

दिव्यस्पर्श में (वायु में) रूपान्तरित करके अन्त में उसे आकाश में छितरा देता है। आहार को यज्ञ-भावना में भावित करने का यह चरम फल है। उसकी तृप्ति केवल जैव-तृप्ति नहीं, बल्कि एक दिव्यतृप्ति है, शून्यता का एक आनन्द है। प्राणाग्निहोत्र के फलस्वरूप जिस लोकचेतना का स्फुरण होगा, वह क्रमशः द्यौः, दिक्, पृथिवी, विद्युत् एवं आकाश है। अर्थात् चेतना विद्युत् की तरह द्युलोक, भूलोक में, प्रत्येक दिशा में फैलकर आकाश में मिल जाएगी। जिस किसी भी इन्द्रियभोग का पर्यवसान यदि इस रूप में होता है, तो फिर मनुष्य 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' - यहाँ ही ब्रह्म अथवा बृहत् का उपभोग कर सकता है (क. २।३।१४)।

१. ऋक्संहिता के पुरुषसूक्त की तरह इस अध्याय को सोलह खण्डों में विभक्त करने का तात्पर्य षोडशकल-पुरुष (६।७।१) की ओर सङ्केत करना है। पुरुष की षोडशी कला ही 'सन्मूल' (६।८।४) है। उसके उस पार 'असत्' (६।२।१), जिसे तन्त्र में सप्तदशी-निर्वाणकला कहा गया है।

२. ६।२।१।

३. ६।१।२,३।

४. ६।८।७, ९।४, १०।३, १२।३, १३।३, १४।३, १५।३; १६।३।

५. यहाँ हम उद्दालक को ब्रह्मविद् रूप में पाते हैं। प्रवाहण के साथ उनका संवाद उत्तरकालीन घटना है। उद्दालक को एक बार फिर जनक-सभा में देखेंगे। यहाँ भी वे स्वयं का परिचय रहस्यवेत्ता के रूप में देते हैं (बृ. ३।७।१)। श्वेतकेतु के अतिरिक्त उद्दालक के और भी दो पुत्रों का सन्धान प्राप्त होता है - कुसुरुविन्द (तै. स. ७।२।२।१), और वाजश्रवस (क. १।१।१, ११; असली नाम का पता नहीं, क्योंकि वाजश्रवा के पुत्र कुश्रि वाजश्रवस उद्दालक के प्रपितामह थे, द्र. (श. ब्रा. १०।५।५।१)। उद्दालक गौतमवंशीय हैं। यह वंश अत्यन्त प्राचीन है। इसी वंश

एक दिन उद्दालक ने अपने बारह-वर्षीय पुत्र श्वेतकेतु से कहा – 'वत्स! हमारे कुल में कोई वेदाध्ययन किए बिना ब्रह्मबन्धु[१] सा नहीं रहता। तुम आचार्य-गृह जाकर ब्रह्मचर्य की दीक्षा ग्रहण करो।' बारह वर्ष के पश्चात् पुत्र पाण्डित्य के अहङ्कार के साथ वापस आया, किन्तु घमण्ड इतना कि किसीके साथ बात ही न करे। पिता ने उससे कहा – "क्या बात है? किसीसे कुछ बात ही नहीं करते। अच्छा यह तो बतलाओ कि जिसे जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है, उस आदेश के सम्बन्ध में जिज्ञासा की थी क्या? – जैसे एक मिट्टी के ढेले को जान लेने से मिट्टी से निर्मित वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है, वस्तुतः विकार केवल वाणी पर अवलम्बित नाममात्र है, सत्य-वस्तु तो एक मात्र मिट्टी ही है?" श्वेतकेतु ने कहा – 'आचार्य इस आदेश को निश्चित रूप से नहीं जानते, यदि जानते तो अवश्य बतलाते। अब आप ही मुझे बतलाइए।'

उद्दालक श्वेतकेतु को बतलाने लगते हैं कि देखो– यह जो कुछ है, वह आदि में एक एवं अद्वितीय सत् ही था। कोई-कोई कहते हैं – नहीं, आदि में असत् ही था, उसी से सत् की उत्पत्ति हुई, किन्तु वह

के वामदेव गौतम, ऋक्संहिता के चतुर्थ मण्डल के द्रष्टा हैं एवं नोधा गौतम एक प्रकीर्ण मण्डल (१।५८-६४) के द्रष्टा हैं। स्वयं गोतम राहूगण भी एक और प्रकीर्ण मण्डल (१।७४-९३) के द्रष्टा हैं। विख्यात 'मधुवाता ऋतायते' इस तृच के द्रष्टा ये ही हैं। न्यायशास्त्र के प्रवर्तक भी एक गौतम हैं। बुद्धदेव भी गौतम हैं। वामदेव का उल्लेख पहले ही किया गया है। कह सकते हैं कि गौतमवंश भारतवर्ष के अध्यात्मदर्शन के इतिहास में अपनी एक छाप छोड़ गया है।

१. ब्राह्मण के साथ जिसका मात्र 'बन्धन' अथवा रक्त का सम्बन्ध ही हो, किन्तु ब्राह्मण का शील अथवा विद्या नहीं। ये समाज में हेय माने जाते हैं।

कैसे उत्पन्न हुआ? इसलिए बतलाता हूँ कि आदि में सत् ही था।[१] उस सत् ने ईक्षण किया, कि मैं एक से अनेक होऊँ, प्रजात होऊँ। उसने तेज की सृष्टि की। उस तेज ने ईक्षण किया, मैं बहुत होऊँ, प्रजात होऊँ।

१. तु. छा. ३।१९।१। उद्दालक के 'एकं सत्' का मूल ऋक्संहिता में है : 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति (१।१४६।४६) एकत्व का स्पष्ट उल्लेख केवल यहीं नहीं है और भी अनेक हैं, उसकी आलोचना हमने अन्यत्र की है। ऋक्संहिता में सद्वाद के आस-पास असद्वाद भी पाया जाता है : 'देवानां पूर्वे युगे असतः सदजायत, देवानां युगे प्रथमे असतः सदजायत (१०।१२।२,३); सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा (१०।१२९।४; तु. अस्थन्वन्तं यदनस्था विभर्ति १।१६४।४)। असत् की परिकल्पना प्रातःकाल के पहले के अन्धकार से उभरकर आई है : 'वि नूनमुच्छाद् "असति" प्रकेतुः' (१।१२४।११)। नासदीयसूक्त में इसे 'तमः' कहा गया है, अथच 'अप्रकेतं सलिलं' – प्रचेतनाशून्य प्राण जहाँ आन्दोलित है (१०।१२९।३)। देववाद की भाषा में असत् को अदिति और सत् को दक्ष बतलाया गया है। अदिति की गोद में ही दक्ष का जन्म (१०।५।७)। फिर अदिति को असत् की भी माता बतलाया गया है ; असत् तब 'मार्ताण्ड' मृत अण्डे जैसा, उपनिषद् की भाषा में 'असम्भूति' है, जो मृत्यु का ही एक और रूप है (१०।७२।८,९)। सूर्यास्त के समय जब वरुण अपनी 'अप्य योनि' में (जलमय उत्स में, कारण-सलिल में) चले जाते हैं, विश्व तब 'मार्ताण्ड' होता है (२।२८।८; 'विश्व' यहाँ सर्वनाम है, जिसका अर्थ है 'सभी', तु. ५।५०।१, ७।१८।४, 'विश्वकः' ८।८६।१-३। वरुण रात्रि के देवता हैं, रात्रि असत् का प्रतिरूप है। वरुण की शून्यता ही 'शून', जिसे ऋषि चाहते नहीं (माहं....वरुण आविदत् शूनमापेः' २।२७।१७, २८।११, २९।७)। सत् और असत् दोनों ही परमव्योम में हैं (१०।५।७); अथवा एक समय ऐसा था, जब सत् अथवा असत् कुछ भी नहीं था। (१०।१२९।१)। उद्दालक जिस विकल्प की चर्चा करते हैं, उसका समन्वय तैत्तिरीय उपनिषद् में है : 'वह असत् ही हो जाता है, यदि ब्रह्म को असत् रूप में जानता है, 'ब्रह्म अस्ति' यह जानने से उसे सत् रूप में ही जानता है (२।६ तु. २।७)।'

उसने अप् की सृष्टि की। उसने ईक्षण किया, मैं अनेक होऊँ, प्रजात होऊँ। उसने अन्न की सृष्टि की।[१]

'तेज, अप् एवं अन्न यही सर्वभूत के तीन बीज हैं। उनकी संज्ञा क्रमशः आण्डज (अण्डज), जीवज, उद्भिज्ज (उद्भिज) है।[२] वे भी देवता अर्थात् चिन्मय हैं, किन्तु परमदेवता के अनुप्रवेश के बिना वे सक्रिय नहीं होते। फिर उनके सक्रिय होने से ही जो अव्याकृत है, वह नाम और रूप में व्याकृत, विश्लेषित हो सकता है। इसलिए परमदेवता ने उनके भीतर चिन्मय प्राणरूप में (जीवेन आत्मना) अनुप्रविष्ट होकर

---

१. सत्>तेज>अप्>अन्न - यह सृष्टि की धारा है। ईक्षण सर्वत्र अनुस्यूत है, ईक्षण से सृष्टि (तु. ब्र. सू. १।१।५)। उसे ही दृष्टि-सृष्टि का नाम दे सकते हैं। भाव ही रूप किन्तु चिन्मय रूप है। तेज से अन्न तक एक क्रमिक घनीभाव है। तैत्तिरीय के पञ्चमहाभूत (२।१।३) को हम नहीं पाते, तीन को पाते हैं। ईक्षण अन्यत्र 'काम' है (ऋ. 'कामस्तग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' १०।१२९।४; अ.स. 'कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः ..... ९।२।१९, २५, तु. १९।५२)। तेज 'तपः' हैं (प्र. १।४; तै. २।६।१; मु. 'ज्ञानमयं तपः' अर्थात् ईक्षण और तप का समाहार १।१।९; तु. ऋ. सं. 'ऋतञ्च सत्याञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत' १०।१९०।१)। तेज, अप्, एवं अन्न इन तीनों को ही यहाँ देवता बतलाया जा रहा है अर्थात् ये तीनों सत् की चिद्विभूति हैं।

२. साधारणतया प्राणधारी जीवों को उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज एवं जरायुज कहा जाता है। यहाँ स्वेदज संज्ञा नहीं है। इसके अलावा प्राणियों की बात भी नहीं, बल्कि सर्वभूत बीज की चर्चा हो रही है। तीनों देवता ही बीज हैं, यह बात अगली कण्डिकाओं में स्पष्ट हुई है। इनकी उत्पत्ति सत् से हुई, अतएव सत् ही आण्ड, जीव एवं उद्भिद् है। वह सर्वप्रथम तेजोमय अण्डे के रूप में उत्पन्न हुआ (तु. छा. ३।१९।१)। इस अण्डे में ही सूक्ष्म भ्रूणरूप में जीवशक्ति विद्यमान है। उस भ्रूण के भीतर उद्भित्शक्ति निहित है अर्थात संहत या घनीभूत रूप से फूटकर बाहर निकलने की शक्ति ('निरभिद्यत' शब्द लक्षणीय ३।१९।१)। इन तीन शक्तियों का देवरूप तेज, अप् एवं अन्न है। किन्तु वे एक सत् से ही उत्पन्न होते है, अतएव वे आण्डज, जीवज एवं उद्भिज्ज कहलाते हैं।

प्रत्येक को त्रिवृत् किया, अर्थात् प्रत्येक में अन्य दोनों का आंशिक मिश्रण किया।

'अतः, प्रत्येक वस्तु में हम लोहित, शुक्ल एवं कृष्ण रूप में इन चित्-शक्तियों के मिश्रण का आभास पाते हैं। जैसे अग्नि, आदित्य चन्द्रमा और विद्युत् में। वस्तु की बीजशक्ति के रूप में ये तीन रूप ही सत्य, शेष सब विकार हैं। वाणी पर अवलम्बित नाम मात्र हैं। वस्तु के तत्त्व को इस प्रकार जान लेने पर और कुछ भी जानने के लिए शेष नहीं रहता। पूर्ववर्ती आचार्यों, श्रोत्रियों को यह ज्ञात था।[१]

---

१. यहाँ हम साङ्ख्य की त्रिगुणात्मिका प्रकृति की एक प्रतिच्छवि देखते हैं। किन्तु साङ्ख्य प्रकृति को पुरुष से अलग करके विश्लेषात्मक-दृष्टि से देखता है और उपनिषत् संश्लेषणात्मक-दृष्टि से प्रकृति को पुरुष की आत्म सम्भृति के रूप में देखती है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में साङ्ख्य-भावना का बीज इस मन्त्र में है : 'अजामेकां "लोहित शुक्ल कृष्णां" बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' (४।५)। मन्त्र का प्रथमार्द्ध उद्दालक की भावना का ही सङ्क्षिप्त रूप है। रजः, सत्त्व, तमः तीनों गुणों को क्रमशः लोहित, शुक्ल, कृष्ण रूप में देखने का तात्पर्य है, प्रकृति की गुण-क्रिया में वास्तविक चिज्ज्योति स्फुरित होती है। समस्त सृष्टि का यही लक्ष्य है। इस चित् स्फुरण का अधिभूत रूप सूर्योदय है। पहले अँधेरा लाल हो उठता है, उसके पश्चात् उजाले का आविर्भाव होता है। आकाश जब तक लाल नहीं होता, तब तक हम समझ नहीं पाते कि उजाला फूटेगा। इसलिए लाल रङ्ग अथवा रजः शक्ति को आदि में स्थान दिया गया है। यह रजःपुरुष की ईक्षा अथवा कामना का ताप है। सूर्य का उदय रक्तपिण्ड की तरह होता है, तत्पश्चात् वह धीरे-धीरे भास्वर हो उठता है। माध्यन्दिन-सूर्य की भास्वरता ही उसका सत्त्वरूप है, किन्तु भास्वरता टिकती नहीं, उजाला धीरे-धीरे अँधेरे के भीतर उतर जाता है। जीवन में अथवा सृष्टि में यह जरा और मृत्यु का अभिशाप है। उजाला, अँधेरा (काला) हो जाता है, शुक्ल, कृष्ण हो जाता है, किन्तु फिर उसी कृष्ण या श्याम रङ्ग को प्रतप्त एवं सुलोहित करके शुक्ल या श्वेत का आविर्भाव होता है। लोहित के आरम्भ में कृष्ण, अन्त में शुक्ल, कृष्ण के मध्य शुक्ल का आभास, फिर शुक्ल के मध्य कृष्ण की छाया - अर्थात् लोहित दोनों के मध्य ही सक्रिय है। यह त्रिवृत क्रिया-जगत् में सर्वत्र विद्यमान है। इसका प्रतिरूप हम जिस प्रकार सूर्योदय में देख पाते हैं, उसी प्रकार अग्नि-समिन्धन में भी देखते हैं। अग्निशिखाएँ भी 'काली कराली

'ये तीन चिद्विभूतियाँ जब सर्वत्र सक्रिय हैं, तब वे तुम्हारे भीतर भी सक्रिय हैं। तुम अन्न खाते हो; उसका स्थूल अंश मलरूप में बाहर निकल जाता है, मध्यम अंश मांस होता है और सूक्ष्मतम अंश मन होता है। उसी प्रकार जो अप् या जल पीते हो, वह भी क्रमशः मूत्र, रक्त एवं प्राण होता है। जो तेज खाते हो, वह अस्थि, मज्जा एवं वाक् होता है। तुम्हारा मन अन्नमय है, प्राण आपोमय है, वाक् तेजोमय है। ये तीनों उन्हीं चिद्विभूतियों के ही ऊर्ध्व परिणाम हैं।'

श्वेतकेतु ने कहा – 'ठीक से समझ नहीं पाया।' उद्दालक ने कहा – 'अच्छा, पन्द्रह दिन तक कुछ खाओ मत; किन्तु पानी पी सकते हो। उसके बाद मेरे पास आओ।'

सोलहवें दिन श्वेतकेतु के आने पर उद्दालक ने कहा – 'अब वेद-पाठ करके सुनाओ तो।' श्वेतुकेतु ने कहा – 'मुझे कुछ भी याद नहीं आ रहा है।' उद्दालक ने कहा – 'खाकर आओ, तभी याद आएगा।'

सचमुच वही हुआ। तब उद्दालक ने कहा – 'अब तो समझ पा रहे हो कि मैंने मन को अन्नमय, प्राण को आपोमय और वाक् को तेजोमय क्यों कहा था?[१]

च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी' (मु. १।२।४) होती हैं। ऋक्संहिता में अग्नि के सम्बन्ध में कहा गया है – 'कृष्णः श्वेतोऽरुषो यामो अस्य' १०।२०।९ – यहाँ भी वही एक ही भावना है। तीनों गुणों का और भी स्पष्ट इङ्गित है – 'असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि' (१०।८२।४; सूर्त<स्वर् 'उजाला')। वर्तमान प्रसङ्ग में उद्दालक ने पहले अधिदैवत रूप की लीला को ही दिखलाया, उनका उदाहरण अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा एवं विद्युत् है। ये स्पष्टतः ही ध्यान के आलम्बन हैं एवं इनके मध्य एक परम्परा भी है। रूप-लीला अथवा गुण-लीला चित्शक्ति का ही खेल है, यहाँ उसका ही सङ्केत है।

१. तो फिर उद्दालक की दृष्टि में वाक् राजस, प्राण सात्त्विक और मन तामस है, किन्तु यह प्रकृत धारणा के साथ मेल नहीं रखता। हम मन को सबसे ऊपर स्थान देते हैं। बहिर्जीवन में यह बात सच हो सकती है, किन्तु अन्तर्जीवन में अन्तर्मुखता

प्रथम सात खण्डों में श्वेतकेतु की शिक्षा का प्रथम पर्व समाप्त हुआ। तत्पश्चात् शेष नौ खण्डों में द्वितीय पर्व का विवरण है। सत् ही 'एकमेवाद्वितीयम्' – यह प्रसङ्ग ही चलता है, किन्तु उपदेश और भी गम्भीर है। प्रत्येक खण्ड के अन्त में एक टेक है – 'स य एष अणिमा, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत् सत्यं, स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो' – यह जो अणुभाव है, वही इस सब कुछ का आत्मा है, वही सत्य है, वही आत्मा है; हे श्वेतकेतु! वही हो तुम।' यह विशेष लक्षणीय है।

एक दिन उद्दालक ने श्वेतकेतु को बुलाकर कहा, 'सुनो, तुम्हें सुप्ति का रहस्य बतलाता हूँ। मनुष्य जब सोता है, तब वह सत् के साथ एक हो जाता है। मन अब तक इधर-उधर कर रहा था, नींद के समय वह अन्यत्र कहीं आश्रय न पाकर प्राण के भीतर पैठ गया, क्योंकि मन का वृन्त उस प्राण में है।[१]

'क्षुधा एवं तृष्णा का रहस्य भी तुम्हें बतलाता हूँ। हम जो खाते हैं, उसे जल पचाता है, अन्न, रस में रूपान्तरित होता है, इस रस को तेज सोखता है, रस तेज में रूपान्तरित होता है। तो फिर देह का मूल अन्न, अन्न का मूल अप् और अप् का मूल तेज और तेज का मूल वह सत्

के रास्ते में मन का यान्त्रिक आवर्तन कितनी बड़ी वाधा है, वह तो सभी जानते हैं। उस समय मन को तामस न कहने का कोई उपाय नहीं। वैदिक-दर्शन में वाक् को आद्याशक्ति के रूप में माना जाता है। वही सृष्टि की प्रवर्तिका (ऋ. सं. १।१६४।४१,४२) है। मन के शुद्ध होने पर हमारे भीतर वाक् का यथार्थ स्फुरण मन्त्र रूप में होता है (तु. ऋ. धीरा मनसा वाचमक्रत १०।७१।२, **यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्** – ३, **उतो त्वस्मै तन्वं** वि **सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः** – ४)। और वह वाक् ही हमें आदित्यरूपी चिन्मय महाप्राण अथवा ज्योतिः समुद्र में ले जाती है। उद्दालक की यह भावना इस दर्शन की अनुगामिनी है।

१. सचेतन रहकर इस प्रकार मन को प्राण में लय कर दे पाने पर 'निद्रा समाधि-स्थितिः' ही योगी की समाधि होती है।

है। मनुष्य जब मरता है, तब उसकी वाक् का लयन मन में होता है, मन का प्राण में, प्राण का तेज में और तेज का उस सद्रूपी परमदेवता में।

'यह सत् अणिमा अथवा सूक्ष्म तत्त्व है। वही सब कुछ का आत्मा है, वही आत्मा है, वही तुम हो।'

श्वेतकेतु ने कहा – "फिर से समझाइए।" उद्दालक ने कहा – 'अच्छा, तो बतला रहा हूँ।[1] देखो, मधुमक्खियाँ अनेक प्रकार के फूलों का रस लाकर मधु तैयार करती हैं, किन्तु मधु एकरस, उसमें इस फूल का मधु है या उस फूल का मधु है, उसका कोई भी सङ्केत नहीं रहता। उसी प्रकार मनुष्य जब सत् के साथ एकाकार हो जाता है।[2] तब उसे

---

१. क्षुधा-तृष्णा जाग्रत के व्यापार हैं। आहार द्वारा हम प्राण को पुष्ट करते हैं। प्राकृत-जीवन में इस प्राण के आश्रय में ही मन एवं वाक् का स्फुरण होता है। मन और वाक् की क्रिया चञ्चल होती है – यह हमारे जीवन की प्रवृत्ति का पक्ष है। किन्तु इस प्रवृत्ति के गहराव में निवृत्ति की प्रतिष्ठा है, प्राण वहाँ शुद्ध रूप में है (तु. प्र. ४।३; २।१३; क. २।३।२)। इस स्तब्धता के भीतर न डूब पाने से प्रवृत्ति का भी स्फुरण नहीं होता। इसलिए मनुष्य को प्राण के भीतर ही सो जाना पड़ता है। स्तब्ध प्राण ही 'सर्वाधार' है, वही सत् का स्वरूप है। हम जिस प्रकार निद्रा में, उसी प्रकार मृत्यु में सद्रूपी महाप्राण में ही लीन हो जाते हैं। जाग्रत की आहार-क्रिया को भी इस प्रकार यदि सत्-स्वरूप की स्तब्धता में लीन कर दिया जा सके, तो जीवन अमृतायमान होता है। देह अथवा मन दोनों के ही आहार का परिणाम 'तृप्ति' है। तृप्ति एक एकरस-प्रत्यय है, एक प्रतीति है। उसे सचेतन रूप में पकड़कर रख पाने से जाग्रत में भी सत् के साथ एक होकर रहा जा सकता है। प्राणाग्निहोत्र की अन्तिम आहुति में उसका सङ्केत है। यह हम पहले भी बतला चुके हैं। आहार-क्रिया के बारे में भी उद्दालक एक प्रकार से जानते थे, किन्तु प्रवाहण के निकट कुछ भिन्न प्रकार से सुना। मृत्यु-विज्ञान के सम्बन्ध में भी उद्दालक अलग तरह से जानते थे, किन्तु प्रवाहण ने उससे कुछ अलग तरह से बतलाया। सब कुछ ही मृत्यु के पश्चात् सत् में सम्पन्न होता है, प्रवाहण इस बात को नहीं मानते थे।

२. जैसे सुप्ति में, मृत्यु में अथवा समाधि में।

इसका बोध नहीं होता कि वह तो एकाकार हो गया है। वह जब वहाँ से लौट आता है, तभी वह बाघ अथवा सिंह अथवा कीड़े-मकोड़े जो होना है, वह होता है।[1] इसी प्रकार बहुत सी नदियाँ आकर एक ही समुद्र में मिल जाती हैं। यह सत् का सूक्ष्म तत्त्व है वही आत्मा है, वही तुम हो।

'एक वृक्ष के मूल या जड़ पर अथवा अग्रभाग में जहाँ कहीं भी आघात करो; यदि वृक्ष जीवित रहता है, तो फिर उससे रसस्राव होगा। आत्मा, जीव अथवा प्राणशक्ति के रूप में उसके सारे अङ्गों में व्याप्त है, इसके कारण ही वह आनन्दित है। उसकी एक डाल से प्राणशक्ति के निकल जाने पर वह डाल सूख जाती है, पूरे वृक्ष से निकल जाने पर सब कुछ ही सूख जाता है। प्राणशक्ति के निकल जाने पर देह ही मरती है, किन्तु प्राणशक्ति तो मरती नहीं।

'अच्छा सोम्य! इस बरगद का एक फल लेकर आओ। उसे फोड़ कर देखो, क्या देख पा रहे हो? छोटे-छोटे बीज? एक बीज तोड़कर देखो तो। कुछ भी नहीं देख पा रहे हो? किन्तु उस कुछ भी नहीं के भीतर ही इतना बड़ा वट-वृक्ष सूक्ष्म रूप में स्थित है।

'अच्छा सोम्य! सैन्धव नमक की एक डली आज पानी में डाल कर रख दो, कल सुबह मेरे पास लेकर आओ।...

'आ गए सोम्य! डली कहाँ गई? नहीं है? ऊपर से थोड़ा पानी मुँह में रखकर देखो, तो कैसा लगता है? नमकीन? इधर से देखो वह भी नमकीन? उधर से भी देखो वह भी नमकीन? तो फिर नमक सर्वत्र है, किन्तु उसे देख नहीं पा रहे हो। ऐसे ही वह सत् भी यहाँ ही है, किन्तु उसे तुम आँख से देख नहीं पा रहे हो।

---

१. तु. याज्ञवल्क्य का 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' (बृ. ४।५।१३); यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तम् इत्यादि। (क. २।१।१५)।

'तो फिर क्या उसे नहीं जाना जा सकता? अवश्य, जाना जा सकता है। मान लो, कोई किसी को गान्धार से आँख पर पट्टी बाँधकर लाए और जङ्गल में छोड़ जाए। तब तो वह गान्धार लौटकर नहीं जा सकता। एक बार पूरब की ओर जाएगा, एक बार पश्चिम की ओर जाएगा, किन्तु रास्ते की दिशा का कुछ भी पता नहीं चलेगा। फिर यदि कोई उसकी आँखों पर बँधी पट्टी खोलकर कहे "गान्धार इस दिशा में है, सीधे चले जाओ।" तब वह गाँव से गाँव तक पूछते-पूछते अन्त में गान्धार वापस आ जाता है। उसी प्रकार आचार्यवान् पुरुष सत् को जान सकते हैं। किन्तु देह के रहते ही जाना जा सकता है। देहत्याग के पश्चात् ही उसके साथ एक हो जाता है।

'मनुष्य मरने के पश्चात् सत् के साथ एकाकार हो जाता है, यह पहले भी बतला चुका हूँ।[1] ज्ञानी का मरण भी ठीक इस प्रकार ही होता है। उनकी वाक् मन में लीन हो जाती है, फिर मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज परमदेवता में लीन हो जाता है। तब वे भी कुछ नहीं जानते। किन्तु उस समय भी एक बोध रहता है, जो एक अणुभाव है। वही सब की आत्मा है। वही सत्य है, वही आत्मा है। वही तुम हो।[2]

---

१. द्र. ६।८।६
२. यहाँ की नचिकेता का प्रश्न है 'प्रेत्य' अर्थात् मृत्यु, सुप्ति अथवा समाधि के पश्चात् व्यक्ति का अस्तित्व रहता है या नहीं? तैत्तिरीय-ब्राह्मण का विवरण देते समय इसके सम्बन्ध में पहले ही आलोचना की गई है। यह एक चिरन्तन प्रश्न है। जिसके उत्तर में कोई कहता है कि मृत्यु के पश्चात् अस्तित्व रहता है और कोई कहता है, नहीं रहता। दोनों उत्तर ही सही हैं और एक साथ ही सत्य हैं। अस्ति, एक भावप्रत्यय है, जो नास्ति के परिमण्डल से आवृत है। यदि यह बोध या जानकारी न हो, तो अस्ति का ज्ञान विज्ञानरूप में नहीं उभरता। पुन: नास्ति एक अभाव-प्रत्यय है, किन्तु वह भी तो नि:शक्तिक नहीं, बल्कि अस्ति के उत्सारण एवं संहरण में ही उसकी शक्ति की सार्थकता है। उद्दालक भी इस बात को स्वीकार करते हैं, जब वे कहते हैं कि 'वट का बीज तोड़ने पर कुछ भी नहीं देख पा रहे हो, किन्तु उसके ही भीतर वह इतना बड़ा वट-वृक्ष विद्यमान रहा।' अस्ति और नास्ति के प्रत्यय को यदि क्रम से स्थापित किया जाए, तो अस्तिवादी

'किसी ने चोरी की है या नहीं, तो उसके हाथ में एक तप्त कुठार देकर उसकी परीक्षा की जाती है। यदि वह चोरी करके भी कहे कि 'मैं चोर नहीं हूँ' तो फिर उसका हाथ जल जाता है, किन्तु जिसने चोरी नहीं की है, उसका हाथ नहीं जलता; क्योंकि वह सत्याभिसन्ध है, उसने सत्य द्वारा ही आत्मा को आच्छादित कर रखा है। इसलिए वह राजपुरुषों के बन्धन से मुक्त हो जाता है। वैसे ही जो सत् को जानते हैं, वे सत्याभिसन्ध व्यक्ति कभी दग्ध नहीं होते। सद्रूप वस्तु ही सब कुछ की आत्मा है। वही सत्य है, वही आत्मा है, वही तुम हो।'

इस प्रकार श्वेतकेतु ने पिता के सान्निध्य में सद्वस्तु का विज्ञान प्राप्त किया, जिसे जानने के पश्चात् सब कुछ जाना जा सकता है।

छठा अध्याय यहीं समाप्त होता है।[1]

देखेंगे कि एक समय उनके सब कुछ को नास्ति आकर निगल रहा है, फिर नास्तिवादी भी देखेंगे कि एक समय नास्तित्व का वक्ष चीरकर अस्तित्व का आविर्भाव हो रहा है। यह पर्याय बोध ही द्वैत बीज है। ऋषियों ने अहोरात्र की उपमा देते हुए बतलाया है कि दिन रात में मिल जाता है और फिर रात के सीने को चीरकर उजाला फूटता है। इसके अतिरिक्त एक ऐसी जगह है, जहाँ दिन भी नहीं, रात भी नहीं, यद्यपि वही दिन-रात की प्रसवित्री है। हम उसे आदित्य कह सकते हैं (द्र. तै. ब्रा. ३।११।१०)। आदित्य में चेतना की स्थिति ही अमृतत्व है। आदित्य की द्युति विज्ञान है, किन्तु उसके भी गहरे आकाश का बोध होता है। यह आकाश ही सन्मात्र या शुद्ध सत्ता है। सुषुप्ति में अथवा मृत्यु में मनुष्य वहीं जाता है। प्राकृत जीव के जाग्रत में आकाश का बोध उज्ज्वल या सुस्पष्ट नहीं होता। उसे उजला कर लेना ही रहस्यविदों की भाषा में 'जीते जी मृत' होकर रहना कहा गया है। उद्दालक का 'सत्' इस शुद्ध अस्तित्व का बोध है। यह ब्रह्मसद्भाव एकरस है, निर्वर्ण है, इसके अतिरिक्त एक व्यापक अनुभव है। उद्दालक का झुकाव निरुपाधिक प्रत्यय की ओर है, यही लक्षणीय है। उद्दालक के शिष्य याज्ञवल्क्य हैं। उनके द्वारा यह सद्वाद स्वाभाविक रूप से सहज ही नेतिवाद में परिणत हुआ है।

१. पूरे अध्याय में ही उद्दालक के स्वकीय दर्शन की व्याख्या है। उस दर्शन का निष्कर्ष यह है कि जगत् का मूल असत् नहीं 'एकं सत्' है। चिन्मय सङ्कल्पशक्ति द्वारा यह एक एवं अद्वितीय सत् ही अनेक रूपों में प्रजात हुआ है। प्रजापति के मूल में उनकी चित्शक्ति का जो प्रवेग है, उसके तीन पर्व या खण्ड हैं - तेज (तप:),

तत्पश्चात् छब्बीस खण्डों में सप्तम अध्याय है। यह अध्याय नारद-सनत्कुमार-संवाद है, जिसका प्रतिपाद्य भूमा का विज्ञान है।[१]

नारद विद्यार्थी होकर जब सनत्कुमार के निकट गए, तब उन्होंने कहा – 'पहले यह बतलाओ कि तुम क्या जानते हो? उसके भी पश्चात् यदि कुछ रह जाए, तो मैं बतलाऊँगा।' नारद जो जानते हैं, उसकी एक लम्बी सूची[२] देकर कहते हैं 'इतना जानकर भी मैं मन्त्रवित् मात्र ही हूँ, आत्मवित् नहीं।' सनत्कुमार ने कहा – 'तुमने जो कुछ बतलाया, वह सभी नाम है। नाम भी ब्रह्म है।[३] तुम नाम की उपासना क्यों नहीं करते?

अप् (प्राण) एवं अन्न (जड़)। इन तीनों के पारस्परिक सम्मिश्रण से पञ्चभूत की सृष्टि हुई है। इसके साथ क्रमशः साङ्ख्य के रजः, सत्त्व एवं तमोगुण का मेल है। इनके ही सार-भाग से व्यक्ति में वाक्, प्राण एवं मन विकसित हुए। मन अन्न का ही विकार है। सत् को जानने से ही सब कुछ जाना जाता है। उसके स्वरूप को सुषुप्ति में ग्रहण किया जा सकता है। उस समय मनोलय होता है, किन्तु प्राण जागता रहता है। यह प्राण सूक्ष्मबोधमय, एकरस, सर्वव्यापी एवं अव्यक्त रूप में सबका कारण है। यह सत् का स्वरूप है। यही सबकी आत्मा है, यही सत्य है, यही आत्मा है, जीव का स्वरूप भी यही है। मृत्यु में मनुष्य इसके ही सङ्ग एक हो जाता है।

१. नारद का उल्लेख एक ब्रह्मवादी ऋषि के रूप में किया गया है – अ.सं. ५।१९।९, १२।४।१६, ४१, ४२, ४३; मै. सं. १।५।८, ८।२; ऐ. ब्रा. ७।१३।

२. तु. श. ब्रा. ११।५।६, १३।४।३; बृ. २।४।१०, ४।१।२, ५।११। नारद की तालिका में इतिहास-पुराण को पञ्चमवेद कहा गया है (तु. ३।४।१,२)। विद्याओं का अर्थ यह हो सकता है; वेद का वेद अर्थात् शिक्षा आदि छह वेदाङ्ग; पित्र्य अर्थात् परलोक श्राद्ध इत्यादि का तत्त्व; राशि अर्थात् अङ्कशास्त्र; दैव अर्थात् शकुन एवं फलित ज्योतिष का ज्ञान; निधि अर्थात् गुप्तधन का ज्ञान (गुप्तधन के अर्थ में ऋक्संहिता में निधि का प्रयोग है, तु. एष वेद निधीनाम् ८।२९।३...); वाकोवाक्य अर्थात् ब्रह्मोद्य, वादानुवाद; एकायन अर्थात् परमार्थ-तत्त्व, Metaphysics ('चरम आश्रय' के अर्थ में इस शब्द के अनेक प्रयोग उपनिषद् में हैं); देवविद्या अर्थात् देवता-विज्ञान (तु. वामदेव की उक्ति : 'गर्भे नु सन्तन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा' –ऋ. ४।२७।१); भूतविद्या अर्थात् जड़विज्ञान, अथवा प्राणीविज्ञान अथवा दोनों ही ; सर्पविद्या और देवजन-विद्या के लिए द्र. श. ब्रा. १३।४।३।९,१० (देवजन अर्थात् रक्षः पिशाच इत्यादि; किन्तु ऋक्संहिता में इसका अर्थ देवमण्डली है ९।६७।२७, तु. अ. सं. ६।५६।१,२ ११।१, १३।१...)।

३. मुण्डकोपनिषद् में इन्हें अपराविद्या कहा गया है (१।१।५)।

'किन्तु नाम से भी बड़ा क्या और कुछ नहीं? 'है – वाक्। बाहर जो नाम रूप में विकसित हुआ है, भीतर वही वाक् रूप में है।[१] वाक् का रहस्य जानने पर ही नाम का विज्ञान अथवा बोधिजन्य ज्ञान सम्भव है। इस बोधि द्वारा द्युलोक और भूलोक में जो कुछ जड़ अथवा चेतन है, उस सबके तत्त्व का ज्ञान होता है।[२] इसके अलावा तब विवेक का उन्मेष अथवा बोधोदय होता है। जिसके फलस्वरूप इष्टार्थ की चेतना जागती है, धर्म, सत्य एवं साधुता का बोध स्पष्ट होता है और कौन हृदयज्ञ है? कौन नहीं? उसका बोध होता है।[३] यह वाक् ही ब्रह्म है।'

'किन्तु वाक् से भी बड़ा क्या और कुछ नहीं?' 'है – मन। नाम और वाक् इस मन के अन्तर्गत हैं। मनुष्य जो कुछ करता है, मन की प्रेरणा से ही करता है।[४] यह मन ही ब्रह्म है।'

---

१. ऋक्संहिता के अनुसार 'वाक् के चार पद हैं, उसका पता मनीषी ब्राह्मण ही जानते हैं। उसके तीन पद गुहाहित हैं, वे व्यक्त नहीं हैं। मनुष्य जो बोलता है, वह वाक् का चतुर्थ पद है (१।१६४।४५)। तन्त्र में इसे ही वैखरी वाक् कहा गया है। सनत्कुमार ने नाम के अर्थ में उसे ही समझाया है।

२. यहाँ द्युलोक और देवगण के अतिरिक्त पञ्चभूत और मनुष्य से पेड़-पत्तों तक भूतग्राम अथवा पञ्चभूतों के समूह का उल्लेख किया गया है। इनको पूर्वोक्त भूत-विद्या के विषय के रूप में ग्रहण किया जा सकता है (तु. खण्ड ७, ८, १०)।

३. संहिता में 'हृदयज्ञ' के समान 'विपश्चित्' शब्द है, जो अधिकांश स्थलों पर ही देवता का विशेषण है। उसका अर्थ है 'विप्' अथवा जो भावकम्प्रता को जानते हैं। अर्थात् देवता के लिए साधक का हृदय जब उद्विग्न, उत्कण्ठित हो उठे, तब देवता उत्तर देते हैं। संहिता में यह संज्ञा साधक के रूप में उपचरित हुई है। यहाँ यह समझना होगा कि व्यक्ति जब तब बहिर्मुख होता है, तब तक ही अहृदयज्ञ होता है, उसका अपना हृदय क्या चाहता है? वह उसे ही नहीं जानता। जब उसे जान लेता है, तब वह हृदयज्ञ होता है।

४. यह मन इन्द्रियनिर्भर बहिर्मुख मन नहीं, बल्कि मनोमय पुरुषाधिष्ठित शुद्ध मन है, जिसका लक्ष्य ज्ञान-आत्मा की ओर है। सु. 'यच्छेद् वाङ् मनसि प्राज्ञस्तद् यच्छेज् ज्ञान आत्मनि' क. १।३।१३)। अपरोक्ष अनुभव उसकी वृत्ति है। विषय तब बाहर नहीं भीतर होता है। बाह्य-प्रत्यक्ष की अपेक्षा आन्तर-प्रत्यक्ष तब स्पष्टतर होता है। उस समय यह अनुभव होता है कि बाहर का सब कुछ भीतर की छाया सा लगता है। भावमय काया भीतर है, वस्तुमय छाया बाहर है। तब ऐसा अनुभव होता है कि बाहर-भीतर का सब कुछ जैसे मुट्ठी में हो।

'मन से भी बड़ा क्या कुछ नहीं?' 'है – सङ्कल्प। सब मन्त्र नाम में एकरूप हो जाते हैं, और कर्मों का अन्तर्भाव मन्त्र में हो जाता है।[१] सङ्कल्प ही सब कुछ का एकायन आत्मा एवं प्रतिष्ठा है। द्युलोक के आधार पर आकाश, वायु, तेज, अप् एवं पृथिवीरूप महाभूतों का जो परिणाम होता है, उसके भी मूल में सङ्कल्प है। भूत-सृष्टि के पक्ष में पञ्चमहाभूत का सम्पादन करने वाली क्रिया का परिणाम वृष्टि है। वृष्टि से अन्न, अन्न से प्राण, प्राण से मन्त्र, मन्त्र से कर्म (यज्ञ), कर्म से लोक अथवा चेतना की महाभूमि एवं उससे सर्वात्मभाव की परिणति – इस ऊर्ध्व-परिणाम के प्रत्येक पर्व में सङ्कल्प का प्रवेग है। यह सङ्कल्प ही ब्रह्म है। इसकी उपासना से मनुष्य ध्रुव एवं अचल-प्रतिष्ठ होकर सिद्ध होता है।'[२]

'क्या सङ्कल्प से बड़ा कुछ नहीं?' 'है – चित्त। चेतना से ही सङ्कल्प का आविर्भाव होता है। चित्त ही सब कुछ का अयन, आत्मा एवं प्रतिष्ठा है। कोई बहुज्ञ होकर भी यदि अचित्त होता है, तो उसका होना,

१. यहाँ मन्त्रशास्त्र के एक मूल रहस्य का सङ्केत प्राप्त हुआ। सङ्कल्प ही कर्म में सिद्ध होता है, यह आरम्भ की बात है। मन्त्र उस सिद्धि की साधना है। मन्त्रशक्ति नाम में निहित है। मन्त्र विस्तृत होते हैं, जैसे सूक्तों आदि में। नाम सङ्क्षिप्त होने पर भी वह वैखरी वाक् है। नाम की शक्ति सूक्ष्मतर वाक् में निहित है, जो तन्त्र के बीज की तरह स्पन्द मात्र है। उसके भीतर विशुद्ध मनःस्पन्द है। उससे भी गहरे सङ्कल्प है, जिसके साथ 'ईक्षा' का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन्त्र की सहायता से किसी सङ्कल्प को सिद्ध करने के लिए इन स्तरों के भीतर से होकर जाना होगा और वह सङ्कल्प भी विज्ञानी का सङ्कल्प होना चाहिए।

२. सङ्कल्प अन्तर्मुख बाधारहित मन में जागता है। सङ्कल्प रूपकृत् शक्ति है – (< √कल्प् सामर्थ्ये ; तु. 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत' ऋ. १०।१९०।३), समस्त विसृष्टि अथवा शक्ति के निर्झरण के मूल में एक अमोघ-अव्यर्थ प्रेरणा है। भावनिर्भर मन में ही सत्यसङ्कल्प का स्फुरण सम्भव है। ऊपर द्युलोक है, नीचे पृथिवी है, दोनों के बीच महाभूतों की शक्ति-परम्परा है। जिनमें ब्रह्म की सङ्कल्पशक्ति अनुस्यूत है। उसके ही प्रवेग से शक्ति की धारा उतरकर जड़ के भीतर प्राणस्पन्द जगाती है। प्राण के सङ्कल्प से मनन का छन्द जागता है, उससे चेतना की उत्तरभूमि समृद्ध होती है, और उससे सर्वात्मभाव जागता है।

न होना समान है। फिर यदि अल्पज्ञ होकर भी कोई चित्तवान् होता है, तो उसकी बातें सभी सुनना चाहते हैं। चित्त ही ब्रह्म है। चित्त की उपासना से मनुष्य ध्रुव एवं अचल-प्रतिष्ठ होकर सिद्ध होता है।'[१]

'क्या चित्त से उत्कृष्ट कुछ नहीं?' 'है – ध्यान। देखो, पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, जल, पर्वत सभी जैसे ध्यान कर रहे हों। देवमानव भी जैसे निरन्तर ध्यान ही करते हैं। मनुष्यों में वे ही महान् होते हैं, वे ही प्रभु हैं और लगता है वे मूर्तिमान् ध्यानफल हैं। जो क्षुद्र होते हैं, वे कलहप्रिय, चुगलख़ोर और परनिन्दक होते हैं। ध्यान ही ब्रह्म है।'[२]

'क्या ध्यान से भी उत्कृष्ट कुछ नहीं?' है – विज्ञान। पहले वाक् के माध्यम से जो जानकारी प्राप्त की[३] है, वह सभी यदि विज्ञान के द्वारा प्राप्त कर सको, तभी जानना सार्थक होगा। उस समय इस अन्न (अर्थात्

१. सङ्कल्प शक्ति है, जो अन्ध नहीं। उसके मूल में लक्ष्य की चेतना है। उसका ही आधार चित्त है। अपरोक्ष अनुभव जिस प्रकार मन की वृत्ति है, उसी प्रकार अपरोक्ष दर्शन चित्र की वृत्ति है। प्राकृत-ज्ञान की धारा का यहाँ विपर्यय घटता है – दर्शन के पश्चात् अनुभव नहीं, बल्कि अनुभव के पश्चात् दर्शन। जो वस्तु मन में भाव हो गई थी, वह भाव फिर चित्त में वस्तु हो गई। किन्तु प्राकृत वस्तु नहीं, बल्कि चिद्वस्तु। अन्तर्मुखी-दृष्टि में अव्यक्त के पर्दे पर विद्युत् की रेखा में चिन्मय रूप झलक उठता है। जिसे ऋकसंहिता में 'चित्ति' की संज्ञा दी गई है (द्र. ३।२।३ टीका)। इस अपरोक्ष दर्शन के बिना विद्या सार्थक नहीं होती।

२. ध्यान मानो प्रशान्त आकाश की स्तब्धता है। चित्त उसके वक्ष में विद्युत् का दीपन है। इस विश्व-ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, उसमें यह ध्यान परिव्याप्त है। वह अचित्त की दृष्टि में नहीं, बल्कि चित्तवान् की दृष्टि में दिखाई पड़ता है। अचित्त दुनिया भर में ओछा मन, ओछी बात, ओछा काम, केवल कलह, परचर्चा और परनिन्दा देखते हैं, किन्तु चित्तवान् उससे भी परे द्युलोक में, अन्तरिक्ष में, पृथिवी में बृहत् की ध्यानमयता की एक प्रशान्ति देखते हैं। पर्वत की उत्तुङ्ग स्तब्धता में निस्तरङ्ग जलाशय के वक्ष में यह ध्यान अविचल रूप में है। जो ध्यानी हैं, वे महान् हैं, वे ही जगत् के नियन्ता हैं।

३. द्र. ७।२।१.

जड़) के भीतर ही रस का सन्धान प्राप्त होगा, और इस लोक में ही लोकोत्तर का आनन्द प्राप्त होगा। यह विज्ञान ही ब्रह्म है।'[१]

१. यदि हम विज्ञान से अवरोह-क्रम में योगभूमि के क्रमों को देखते जाएँ, तो उसका स्वरूप स्पष्ट होता जाएगा। अस्तित्व की गहराई में ध्यानतन्मयता की एक निस्तरङ्ग प्रशान्ति विज्ञान की मुख्य वृत्ति है, जिसका अनुभव इष्ट के सम्प्रयोग अथवा सायुज्य में होता है। इस ध्यानचिन्नता में एक प्रभास्वरता है, जिससे अज्ञात फिर अज्ञात नहीं रहता, वह बिजली की कौंध में आँखों के सामने झलक उठता है। जिसका प्रस्फुटन होता है, वह निष्प्राण नहीं, उसमें एक रूपायणी शक्ति अथवा अरूप को रूपायित करने की शक्ति होती है, जिसे अन्तर्गूढ़ प्राणसंवेग रूपाभिव्यक्ति की ओर ले जाता है। शुद्ध मन में उसका ही प्रतिबिम्ब उभरता है, एक ऐसा अनुभव जागता है – जो वस्तु की दृष्टि से देखने पर अस्पष्ट है, किन्तु भाव की दृष्टि से अत्यन्त स्पष्ट है। वही अनुभव अन्तर्जगत् में वाङ्मय रूप धारण करता है। निःसन्देह यहाँ वाक् वैखरी वाक् नहीं, बल्कि ऋषि की भाषा में वह अन्तरिक्षचारिणी माध्यमिका वाक् अथवा 'गौरी' है। भाव जब रूप के भीतर मूर्त होना चाहता है, तब यह 'दिव्य' स्पन्द होता है। प्राकृत कवि भी हृदय की आकूति में और प्रत्यक्ष-अनुभूति में जिसका आभास पाते हैं। साधक के भीतर उस समय अज्ञात के छन्द में स्वतः, मन्त्र का स्फुरण होता है अथवा अकल्पित सत्य के व्यञ्जनावाही मन्त्रवर्ण का आविर्भाव होता है। यह वाक्-साधना की चरितार्थता है। आर्षदर्शन और वाणी का मूल यहीं है। तत्पश्चात् वाक् को जब नित्य व्यवहार्य या बोलचाल की भाषा का रूप दिया जाता है, तब वह नाम होती है। भाषा नितान्त नित्य व्यवहार्य ही होती है, ऐसा नहीं, बल्कि उससे भी ऋषियों के कथनानुसार 'नवीयो ब्रह्म' का स्पर्श बीच-बीच में प्रतीत होता है। तब भी ठाट या ढाँचा नित्य व्यवहार्य ही होता है, केवल विद्युत्गर्भ मेघ की तरह मन्त्रबल उसमें आहित रहता है। इसके पश्चात् शुरू हो जाती है प्राकृत मन की क्रिया। जो बोधिग्राह्य अथवा अन्तःप्रज्ञा द्वारा ग्रहण करने योग्य तत्त्व को प्राकृतबुद्धि की सहायता से गड्डमड्ड कर देती है, किन्तु नाम के जगत् में जो अपरा-विद्या है, वह विज्ञान-भूमि पर विद्या में रूपान्तरित होती है। इस कारण ही उपनिषद् के कथनानुसार वस्तुतः विज्ञान अथवा चेतना की सर्वतोभास्वर भूमि ही सर्वविद्या का मूलस्रोत है। अतः ब्रह्मविद्या से भूतविद्या या भौतिकविज्ञान तक समस्त विद्याओं को तीन भूमियों से देखा-परखा गया है। एक नाम की भूमि है, जहाँ शब्दों की मारपेंच और तर्क की किचकिच और निरर्थक दलीलें हैं, फिर एक वाक् की भूमि है, जहाँ विद्या के भीतर से मन्त्रशक्ति का स्फुरण होता है, और विज्ञान का सन्धान प्राप्त होता है। और सबसे अन्त में विज्ञान की भूमि है, जहाँ यह अपरा विद्या ही परा विद्या की विभूति में रूपान्तरित होती है।

नारद ने फिर प्रश्न किया – 'क्या विज्ञान से उत्कृष्ट कुछ भी नहीं?' सनत्कुमार ने कहा – 'है – बल।[१] एक बलवान् एक सौ विज्ञानियों को डरा-कँपा सकता है, जो दुर्बल है, वह कभी विज्ञानी नहीं हो सकता। बल रहने पर ही साधक के भीतर उद्यम दिखाई देता है।[२] वह तब आचार्य की परिचर्या करता है, और अभ्यास द्वारा तत्त्व के निकट पहुँचता है।[३] तत्पश्चात् वह तत्त्व का द्रष्टा, श्रोता, मन्ता एवं बोद्धा होता है।[४] तत्पश्चात् वह कर्त्ता होता है अर्थात् बुद्धिस्थ तत्त्व को कर्म में प्रतिफलित करता है। तभी वह यथार्थ विज्ञाता हो सकता है।[५] त्रिलोक में जो कुछ है, सबकी ही प्रतिष्ठा इस बल में है। अतः, बल ही ब्रह्म है।'

१. इतनी देर तक सनत्कुमार नाम से क्रमशः ऊपर की ओर जा रहे थे। अब विज्ञान से फिर नीचे की ओर उतरना शुरू किया। ऊपर की ओर जाने का मार्ग चेतना का था। किन्तु चेतना तो निःशक्तिक नहीं। कौषीतकी में भी हमने देखा है कि प्रज्ञा और प्राण अभिन्न हैं। शिव-शक्ति की नित्ययुक्तता का उल्लेख तन्त्र में भी है। वस्तुतः शक्ति के बिना शिवत्व में प्रतिष्ठा-प्राप्ति असम्भव है। मुण्डकोपनिषद् में भी हम देखते हैं कि 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' (३।२।४)। अब सनत्कुमार इस ओर ही नारद की दृष्टि आकर्षित करते हैं।

२. मूल में 'उत्थाता भवति' है। तु. उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत (क. १।३।१४)

३. मूल में 'उपसत्ता भवति' है। यह पहले ही बतलाया गया है कि इससे गुरु के निकट जाने का बोध नहीं होता, क्योंकि उसके पहले ही परिचर्या की बात है। यहाँ साधक की उपसत्ति का अर्थ 'उपासना' और देवता की उपसत्ति का अर्थ 'आवेश' हुआ। द्रष्टव्य : उपनिषत् शब्द की व्युत्पत्ति।

४. तु. आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् (बृ. २।४।५, ४।५।६)।

५. यह साधक की ओर से बतलाया गया, किन्तु बल सिद्ध का भी हो सकता है। साधक के पक्ष में बल कारण, विज्ञान कार्य है; और सिद्ध के पक्ष में विज्ञान कारण, बल कार्य है। उस समय बल विज्ञानी का योगबल है, आत्मशक्ति की स्वाभाविक बल क्रिया है। जो दूसरे के भीतर प्रकाश की बाधा दूर करने के लिए प्रयोग में लाई जाती है। वह बल-प्रयोग सविता की ज्योतिर्मय प्रचोदना अथवा प्रेरणा जैसा अनायास आत्मविकिरण है।

'बल से भी उत्कृष्ट कुछ भी नहीं?' 'है – अन्न। दस दिन बिना खाए यदि कोई जीवित रहता है, तो उसका दर्शन, श्रवण, मनन, बोध अथवा विज्ञान कुछ भी फिर स्फुरित नहीं होता। इसलिए कहता हूँ – अन्न ही ब्रह्म है।[१]

'तो क्या अन्न से श्रेष्ठ कुछ नहीं?' 'है – अप्। वृष्टिरूप अप् से ही तो अन्न पैदा होता है। इस त्रिलोक में जो कुछ है, सब अप् की मूर्ति है। इसलिए अप् ही ब्रह्म है।[२]

---

१. अर्थात् चैतन्य जड़ पर आधारित है। कौषीतकी में भी बतलाया गया है कि प्रज्ञामात्रा एवं भूतमात्रा एक दूसरे पर अवलम्बित हैं (३।८)। अन्न का अणिष्ठ अथवा सूक्ष्मतर भाग मन है। इसे उद्दालक ने भी श्वेतकेतु को बतलाया था (छा. ६।७) भूत अथवा द्रव्य को छोड़कर विज्ञान नहीं होता, फिर भूत को शुद्ध किए बिना भी तो विज्ञान का स्फुरण नहीं होता। इस भूतशुद्धि एवं उसके परिणाम की चर्चा श्वेताश्वतर में है (२।१२)। इस अध्याय के ही अन्तिम खण्ड में भूतशुद्धि को 'आहारशुद्धि' (अर्थात् राग, द्वेष, मोह आदि दोषों से असम्पृक्त विषय विज्ञान।) से 'सत्त्वशुद्धि' यानी अन्तःकरण-शुद्धि के अर्थ में बतलाया गया है। यहाँ से पञ्चभूत के जिस क्रमिक विकास या उत्कर्ष की बात कही जाएगी। वह इस भूतशुद्धि की दृष्टि से कही जाएगी। सर्वाधिक स्थूलभूत पृथिवी अन्न अथवा जड़ है, जो इस स्थूलदेह का उपादान है। उससे सूक्ष्म अप् और उससे सूक्ष्म तेज इत्यादि हैं। देहबोध की क्रमिक सूक्ष्मता के द्वारा भूत के योगगुण का आविष्कार करना होगा। तभी बल का स्फुरण होगा। यही आध्यात्मिकबल-विद्या है; जिसके आयत्त न होने पर विज्ञान सुप्रतिष्ठ एवं क्रियासाधक नहीं हो सकता।

२. मूर्त होने का अर्थ है संहत होना, घनीभूत होना। प्रश्नोपनिषद् में है 'मूर्तिरेव रयिः', 'रयिरेव चन्द्रमाः' (१।५) तो फिर चन्द्रमा, अप् एवं रयि एक पर्याय के हैं। देहबोध का स्थैर्य जिस प्रकार पृथिवी अथवा अन्न का योग गुण है, उसी प्रकार ग्रन्थिहीन द्रवभाव अप् का योग गुण है। उसमें बल और विज्ञान की व्यञ्जना और भी स्वच्छन्द, स्वाभाविक होती है।

'अप् से उत्कृष्ट क्या है?' 'तेज। देखो ना, तेज ही पहले अशनि-विद्युत् रूप में दिखाई देती है, उसके बाद वृष्टि होती है। अतएव, तेज ही ब्रह्म है।'[१]

'तेज से उत्कृष्ट क्या है?' 'आकाश।[२] देखो–अग्नि, विद्युत्, सूर्य चन्द्र और सारे नक्षत्र आकाश में ही हैं।[३] लोग आकाश द्वारा ही बोलते हैं, आकाश द्वारा ही सुनते हैं, फिर आकाश द्वारा ही प्रतिश्रवण करते हैं।[४]

---

१. अध्यात्मदृष्टि में यह तेज तपःशक्ति है। यही उसका योगगुण है। अप् के भीतर तेज का आविष्कार करना पानी में आग लगाना है। अप् ऐसी स्थिति में संहिता की भाषा में 'देवीरापः' है। देहबोध तब अग्निस्रोत जैसा होता है।

२. यहाँ वायु को छोड़ दिया गया है। तेज का रूप है, किन्तु आकाश और वायु दोनों ही एक अरूपयुग्म हैं। मृत्यु के समय तेज परमदेवता में मिल जाता है। इसे उद्दालक ने भी बतलाया था (६।८।६, १५।२); रैक्व ने अधिदैवत वायु एवं अध्यात्म प्राण को संवर्ग अथवा लयस्थान बतलाया था। (४।३।४)। दोनों भावनाओं में ही हम रूप का लय अरूप में देखते हैं। सनत्कुमार की भावना भी उसके ही अनुरूप है, यहाँ भूतशुद्धि के क्रम को यथावत् रखने के लिए वायु को जोड़ लेना होगा। इसके बाद निश्चय ही प्राणब्रह्म की चर्चा है (७।१५।१)। वायु का योगगुण स्पर्शवती प्रवृत्ति, और आकाश का निर्विषय प्रवृत्ति है (द्र. श्वेत. २।१२ भाष्य।)।,

३. अर्थात् वे आकाश में प्रकाशित होते हैं, आकाश में ही मिल जाते हैं। यह अधिदैवत दृष्टि है। ठीक इन्हीं पाँच ज्योतियों का उल्लेख क. २।२।१५, मु. २।२।१०, श्वेत. ६।१४ में है। अध्यात्म-भावना के आलम्बन के रूप में भी इनको ग्रहण किया जा सकता है।

४. यहाँ से अध्यात्म-दृष्टि। देवता का आवाहन और प्रत्युत्तर-प्राप्ति देवता से ही सम्बन्धित है। सुना हुआ शब्द या ध्वनि 'श्रुति' है, अर्थात् महाशून्य में चिन्मय स्पन्द का बोध। तो फिर आकाश वाक् का आश्रय है। आकाश ब्रह्म; वाक् उसकी शक्ति है। जो ऋक्संहिता में परमव्योम एवं सहस्राक्षरा गौरी है। (१।१६४।४१)।

आनन्द भी आकाश में है, और उसका अभाव भी आकाश में है।[१] सब कुछ आकाश से ही उत्पन्न होता है। और आकाश की ओर ही अग्रसर होता रहता है।[२] अतएव आकाश ही 'ब्रह्म' है।[३]

'आकाश से भी बड़ा कुछ है क्या?' 'है स्मर या स्मृति, देखते नहीं कि स्मृति की सहायता से ही लोक-व्यवहार चलता है। अतएव स्मृति ही ब्रह्म है।'[४]

---

१. तु० रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति, को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् (तै. २।७)। उसके पश्चात् ही उसके अदृश्य व अनात्म्य, अनिरुक्त, अनिलयन विभाव का उल्लेख है। अनुवाक के आरम्भ में उल्लिखित यही 'असत् ब्रह्म' है। यहाँ 'न रमते' (तु. 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' ब्र. सू. १।१।१२ शाङ्करभाष्य) उन्होंने वहाँ आनन्दवाद का खण्डन किया है। और भी तु. 'स वै आत्मा नैव रेमे, तस्मादेकाकी नैव रमते, स द्वितीयमैच्छत्' (बृ. १।४।३)।

२. एवं अन्त में आकाश में ही लय होता है। तु. आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता, ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा (छा. ८।१४।१)।

३. यहाँ यह लक्षण प्राप्त हुआ कि आकाश ही ज्योति, वाक्, आनन्द एवं नामरूप का आधार है। भूतशुद्धि की साधना का सङ्केत यहीं समाप्त हुआ। पञ्चभूत की क्रमिक सूक्ष्मता का ज्ञान भूतशुद्धि का उपाय है। प्रत्येक भूत का मौलिक आन्तर गुण है, उसी गुण की भावना करनी पड़ती है। पहले अन्न अथवा जड़ से शुरू करना होता है, जिससे इस स्थूलदेह की सृष्टि हुई है। उसका योगगुण स्थैर्य है। स्थैर्य की भावना से स्वच्छन्दता का बोध होता है, वही अप् का योगगुण है। हमारे देह-बोध के भीतर जो अड़चन होती है, वह उस समय टूट जाती है। प्रत्येक नाड़ी में प्राण-स्रोत निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। धीरे-धीरे जल का स्रोत अग्निस्रोत में रूपान्तरित हो जाता है। शरीर योगाग्निमय हो जाता है। उस अग्नि का ताप अलौकिक स्पर्शबोध के रूप में प्रत्येक दिशा में फैल जाता है। सनत्कुमार ने इस अंश को छोड़ दिया है। अन्त में सब कुछ महाशून्य के बोध में मिल जाता है। इस प्रकार भूतशुद्धि के फलस्वरूप सत्त्वशुद्धि अथवा आधार का रूपान्तर होता है।

४. आकाश में सब कुछ मिल जाता है, यहाँ उत्तरपन्था अर्थात् प्राकृत-भूमि से चेतना की ऊर्ध्वमुखी गति का अन्त है। किन्तु उत्तार के बाद अवतार की प्रक्रिया है, उसे आकाश के साथ ही यहाँ उतर आना। इस समय सनत्कुमार उसकी ही चर्चा कर रहे हैं। अवरोह-क्रम के प्रसङ्ग को वे अध्याय के अन्त में और भी स्पष्ट करते

'स्मर से भी बढ़कर कुछ है क्या?' 'है – आशा। आशा की आग जल उठने पर ही स्मरण जागता है। उससे ही मन्त्रमूल कर्म, कर्म से ही इहलोक अथवा परलोक में सिद्धि प्राप्त होती है। अतएव आशा ब्रह्म है।'[१]

'उससे भी परे कुछ है क्या?' 'उसके परे प्राण है। पहिये की तीलियाँ जिस प्रकार नाभि या केन्द्र में आकर जुड़ जाती हैं, उसी प्रकार सब कुछ आकर प्राण में एकत्र होता है। संसार में कर्ता, कर्म, करण सभी प्राण हैं, माँ-बाप, भाई-बहन, आचार्य-ब्राह्मण सभी प्राण हैं। प्राण

हुए बतलाएँगे। आकाश चेतना में जिस स्मृति का आविर्भाव होता है, वह ध्रुवा या स्थिर स्मृति है (७।२६।२)। जिसे शैव दर्शन में 'प्रत्यभिज्ञा' कहा गया है। यह स्वरूप का विज्ञान अथवा प्रभा है, यथार्थ ज्ञान है, अनुभव है। लौकिक स्मृति की तरह अनुभव वस्तु या विषय की अस्पष्ट छवि है, अतएव अप्रभा या अयथार्थ अनुभव नहीं। तब भी दो कारणों से उसकी तुलना लौकिक स्मृति के साथ की गई है। प्रथमतः ब्रह्मविद् आकाश के साथ लौट आने पर लौकिक जीवन ही यापन करते हैं, यद्यपि वह जीवन जीवन्मुक्त का दिव्य जीवन है। द्वितीयतः उस समय ब्रह्मविद् का अन्तःकरण अतीन्द्रिय विज्ञान प्रभास्वर होता है। विज्ञान, सत्त्व, स्वप्न, स्मृति, बुद्धि - ये सब चेतना की एक ही भूमि की वस्तुएँ हैं (तु. क. १।३।३, ९, १०; २।३।७; माण्डू. १०) लौकिक जीवन में स्मृति की प्रधानता बतलाते हुए यहाँ विज्ञान की प्रधानता ही बतलाई जा रही है (मूल में 'विजातीरन्' क्रियापद लक्षणीय है; पुत्र और पशु में भी ब्रह्मविद् का आत्मविज्ञान ही होता है)। ईशोपनिषद् का 'क्रतो स्मर कृतं स्मर' यह अनुशासन भी इस तात्पर्य का बोधक है (१।७)।

१. आशा, कामना अथवा ईक्षा ब्रह्मविद् का सत्य-सङ्कल्प है। सत्य-सङ्कल्प में अन्तःशक्ति या भव्यार्थ की छवि उभरती है। वह भी स्मृति अथवा दिव्यस्वप्न, हिरण्यगर्भ का स्वप्न है। स्वप्न की अपनी सृष्टि-क्षमता है (बृ. ४।३।१०)। ब्रह्मविद् का सङ्कल्प निष्फल नहीं, क्योंकि उसके भीतर प्रज्ञा और सङ्कल्प का सायुज्य है। इस कारण जो होगा, उसका ही सङ्कल्प उसमें उभरता है। इसलिए फलश्रुति में बतलाया जा रहा है कि 'आशया अस्य सर्वे कामाः समृद्ध्यन्ति, अमोघा हि अस्य आशिषो भवन्ति।' ब्रह्मविद् का जीवन रिक्त अथवा ऊसर-बञ्जर नहीं, बल्कि समृद्ध एवं अमोघ सिद्धिदायक होता है।

को कटुवचन द्वारा भी आघात नहीं पहुँचाना चाहिए। प्राण ही सब कुछ हुआ है। यह दर्शन, मनन एवं विज्ञान जिनकी पकड़ में है, वे ही अतिवादी अर्थात् अभाव और परमार्थ अर्थात् नाम-रूप आदि से परे यथार्थ तत्त्व के प्रवक्ता हैं। यदि कोई उनसे पूछे कि तुम क्या अतिवादी हो? तो वे आत्मगोपन नहीं करेंगे, बल्कि कहेंगे, हाँ मैं अतिवादी हूँ।'

इस प्रकार सनत्कुमार का ब्रह्मविचार सर्वात्मक प्राण में पर्यवसित हो गया।

साध्य की चर्चा के पश्चात् सनत्कुमार साधन की चर्चा करते हुए कहते हैं - 'देखो सत्य का अतिवाद या अतिक्रमण ही यथार्थ अतिवाद है।' नारद ने आग्रहपूर्वक कहा - 'मैं सत्य का ही अतिवादी अर्थात् स्पष्ट वक्ता होना चाहता हूँ।' 'तो फिर तुम्हारे पास सत्य का विज्ञान होना चाहिए।' मैं सत्य का विज्ञान ही चाहता हूँ।' 'किन्तु विज्ञान-वृत्ति को अधिगत न कर पाने पर तुम सत्य को जानोगे कैसे?'[१]

यह कहकर सनत्कुमार विज्ञान-प्राप्ति के सोपानों की ओर सङ्केत करते हुए कहते हैं - 'देखो, विज्ञान के लिए मनन और मनन के लिए श्रद्धा की ज़रूरत है। फिर निष्ठा के बिना श्रद्धा होती नहीं और कुछ न करने पर निष्ठा भी नहीं होती। फिर सुख-प्राप्ति के बिना लोग कुछ करना भी नहीं चाहते। किन्तु सुख है कहाँ? सुख अल्प में नहीं, भूमा में है। यदि सत्य प्राप्त करना चाहते हो, तो भूमा के विज्ञान के लिए ही साधना करो।' 'मैं भूमा का विज्ञान ही चाहता हूँ।'

---

१. ज्ञान इन्द्रियग्राह्य विशेष का ज्ञान है, जैसे हमने आँखों के द्वारा एक वृक्ष देखा। फिर वस्तु-शून्य ज्ञान भी ज्ञान है, जिसे पतञ्जलि ने श्रुतप्रज्ञा अथवा अनुमानप्रज्ञा कहा है (पातं. १।४९), जैसे किसी के निकट सुनकर अथवा तर्कबुद्धि की सहायता से ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हुआ। किन्तु विज्ञान सामान्य का अपरोक्ष अनुभव है, जिसे पतञ्जलि ऋतम्भरा प्रज्ञा की संज्ञा देते हैं (१।४८)। ब्रह्म होकर ब्रह्म को जानना विज्ञान है। विज्ञान, बोधिज अर्थात् मन-बुद्धि के ऊपर स्थित चेतना के स्वच्छ एवं सहज प्रकाश से उत्पन्न प्रत्यय है।

उस समय सनत्कुमार बतलाने लगे, 'भूमा क्या है, जानते हो? जहाँ अन्य कुछ का दर्शन, श्रवण अथवा विज्ञान नहीं होता, वही भूमा है, और जिसका दर्शन, श्रवण अथवा विज्ञान सम्भव है, वह अल्प है। भूमा ही अमृत है और अल्प मर्त्य है।' 'अच्छा, भूमा किसमें प्रतिष्ठित है?' किसमें फिर क्या? अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है। हाथी - घोड़े, रुपया-पैसा ज़र-जमीन की स्थिति को मैं महिमा नहीं कहता। भूमा का विज्ञान प्राप्त होने पर देखोगे कि भूमा ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, दायें-बायें सर्वत्र है - भूमा ही सब कुछ है। तब स्वयं को ही भूमा के रूप में जानोगे। अनुभव होगा, मैं ही ऊपर-नीचे आगे-पीछे, दायें-बायें सर्वत्र हूँ - मैं ही सब हूँ। यह अहङ्कारादेश है। फिर यही आत्मा देश में पर्यवसित होता है, उस समय अहं नहीं, केवल बोध रहता है। अनुभव होता है कि आत्मा ही ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, दायें-बायें सर्वत्र है, आत्मा ही सब है। उस समय आत्मा अथवा भूमा का ही दर्शन, श्रवण एवं विज्ञान होता है। तब पुरुष आत्मरति, आत्मक्रीड़, आत्ममिथुन और आत्मानन्द होता है - वही स्वराट् होता हैं। उस समय चेतना की जिस किसी भी भूमि पर उसकी अबाध गति होती है। और जो भूमा को नहीं जानता, वह दूसरों की प्रजा होता है। सभी भूमियों पर वह नहीं जा सकता। जहाँ जाता है, वहाँ से भी उसे नीचे उतर आना पड़ता है।'[१]

---

१. सनत्कुमार ने भावना के कई स्तरों को पार करके नारद को भूमानन्द में पहुँचा दिया। ये सारे स्तर द्रष्टव्य हैं। नारद उनके पास मन्त्रवित् के रूप में आए थे। वे तथाकथित ज्ञानी थे। सनत्कुमार ने पहले उन्हें शिक्षा दी कि किस प्रकार ध्यान चित्तता द्वारा ज्ञान को विज्ञान में परिणत करना होता है? यह प्रथम स्तर है। तत्पश्चात् उन्होंने बतलाया कि भूतशुद्धि द्वारा किस प्रकार विज्ञान में बलाधान करना होता है? यह द्वितीय स्तर है, भूतशुद्धि के चरम व्योमतनु के बोध को विज्ञान में बलाधान करने की तरह प्राणमय कर देना। एक स्तर के अन्त में विज्ञान, दूसरे में आकाश और एक के अन्त में प्राण है। आकाश और प्राण सिद्धचेतना में एक युग्म है, विज्ञान उसकी वृत्ति है। तीनों मिलकर भूमा है। यह अनन्त सत्ता का निरपेक्ष बोध है। यही उद्दालक की भी सत्सम्पत्ति अथवा सद्भाव है। आकाश-भावना में यह सहजतापूर्वक सिद्ध हो सकता है। किन्तु आकाश निःशक्तिक अथवा

अब तक सनत्कुमार उत्तारपन्था की ही चर्चा कर रहे थे, यद्यपि उसमें पहाड़ लाँघने जैसा कुछ उतार-चढ़ाव भी था। किन्तु इस बार विज्ञानी का आत्म-भाव कैसे दिव्य विसृष्टि का निमित्त होता है? वही

शक्तिशून्य नहीं, बल्कि उसे प्राण जकड़े हुए हैं। आकाश निथर, निस्पन्द है, इसके अतिरिक्त महाप्राण में स्पन्दित है। इस निस्पन्द के स्पन्दन के बोध से जिस चिद्वृत्ति का उन्मेष होता है, वही 'विज्ञान' है। एक मात्र विज्ञान द्वारा ही परम सत्य का ज्ञान सम्भव है। विज्ञानवृत्ति श्रद्धापूत मनन के फलस्वरूप जागती है। फिर निष्ठापूर्वक कार्य करते रहने से ही हृदय में चिदावेश रूप में श्रद्धा का स्फुरण होता है। मनुष्य सुख की आशा में कार्य करता है। किन्तु भूमा के बोध के बिना सुख कहीं भी नहीं। अतएव भूमा की प्रेरणा से ही मनुष्य के साधन जीवन का आरम्भ होता है। भूमा की भावना पहले निर्विशेष-निर्विषय रूप में करनी होती है। दर्शन, श्रवण और विज्ञान तीनों अध्यात्मबोध की मुख्य वृत्तियाँ हैं। इन तीनों को ही शून्यता में गहरे उतार देना होगा। उस समय संवर्तुल व्याप्तिचैतन्य के रूप में भूमा का आविर्भाव होगा। यह अनुभव पराक्वृत्त (objective) या वस्तुनिष्ट चेतना के क्षेत्र का अनुभव है। यही प्रगाढ़ होने पर प्रत्यक्वृत्त- (subjective) या आत्मनिष्ठ क्षेत्रज्ञ का अनुभव होगा। सनत्कुमार ने उसे अहङ्कारादेश की संज्ञा दी है। यह अहं प्राकृत अहं नहीं, बल्कि अनुभव के केन्द्र में एक बैन्दवी-सत्ता अर्थात् संहत और केन्द्रीभूत अवस्था का बोध है। तत्पश्चात् बिन्दु का धनभाव परिधि की अनन्तता में समव्याप्त होता है और अहं का रूपान्तर आत्मा में होता है। यह आत्मभाव महान् के रूप में सर्वावगाही-सर्वात्मकता के रूप में आलोकित होता है। आत्मा ही भूमा है। इस आत्मा को ही नारद ने जानना चाहा था। भूमा और सुख, आत्मा और आनन्द - एक ही अभिप्राय है। आत्मा पुरुष और आनन्द उसकी शक्ति है। आत्मानन्द एक मिथुन है, युग्म है, जब नित्य संसक्त एवं समरस, तब आत्मरति; जब चणकवत् द्विदल में विलसित तब आत्ममिथुन और जब विसृष्टि के रूप में उल्लसित तब आत्मक्रीड़ (तु. बृ. १।४।३-४; मु. ३।१।४)। विज्ञानी तब स्वराट् एवं कामचारी होता है। अपनी इच्छानुसार सर्वत्र जा सकता है। लक्षणीय; आरोह-अवरोह दोनों को मिलाकर सनत्कुमार एक अखण्ड-तत्त्व का उपदेश देते हैं। जिसका अनुभव रहस्यविदों, मर्मज्ञों की बोधि अथवा अन्तःप्रज्ञा में होता है। बौद्धिक अनुभव में आरोह के ऊपर ज़ोर देने के कारण अखण्ड-अनुभव खण्डित हो जाता है।

बतला रहे हैं। यहाँ पहले के सोपानों को ही वे अवरोह-क्रम से बतला तो गए, किन्तु याद रखना होगा कि अवरोहण के समय उत्तरभूमि की शक्ति अवरभूमि में सङ्क्रामित् होती है, उससे अवरतत्त्व उत्तरतत्त्व की अभिव्यक्ति का आधार होता है। अतएव उत्तरशक्ति के आवेश में उसका रूपान्तर होता है। एक साधारण दृष्टान्त से यह स्पष्ट हो सकता है। जब हम आत्मा की ओर उठ रहे होते हैं, तब देह, प्राण एवं मन बाधा की सृष्टि करते हैं; किन्तु आत्मभाव में प्रतिष्ठित रहकर जब उतर रहे होते हैं, तब मन, प्राण एवं देह आत्मज्योति के विच्छुरण के आधार होते हैं। अतएव वे फिर उस समय प्राकृत नहीं, चिन्मय होते हैं। यही सनत्कुमार कथित स्वाराज्यसिद्धि का फल है।

उतरते समय आत्मभाव प्राण द्वारा स्पन्दित होता है। वह स्पन्दन आशा में अथवा दिव्यकामना में रूपान्तरित होता है। इस कामना में नित्यसिद्ध वस्तु की जो छवि सम्भूति अथवा अखण्ड और सम्यक् रूपायणी-शक्ति के साथ उभरती है, वही 'स्मर' है। यहाँ तक एक पर्व या सन्धि है। इसके बाद रूपायन अथवा रहस्योद्घाटन का आयोजन होता है, जिसकी भूमिका आकाश है, जो भाव को रूप देने के लिए अपरिहार्य है। आकाश में स्मर तेज में घनीभूत होता है, जो रूपकृत अथवा शिल्पी-शक्ति है। तेज अप् में विगलित एवं अनायासकृत या स्वच्छन्द होता है। यहाँ तक एक और पर्व है। इसके बाद एक और शक्ति की क्रिया शुरू होती है। जिसके बारे में सनत्कुमार ने पहले नहीं बतलाया - यह है, 'आविर्भाव - तिरोभाव'। स्मर तक सम्भूति की व्याप्रिया या प्रक्रिया कारणरूप में और अप् तक सूक्ष्मरूप में है। इसके बाद स्थूल के आविर्भाव-तिरोभाव अथवा बनाने-बिगाड़ने का खेल शुरू होता है। जहाँ एक ओर देहत्व अथवा संहतत्व (Integration) या सङ्घटन है, और एक ओर शरीरत्व (Disintegration) या विघटन है। तत्पश्चात् अप् अन्न में संहत होता है। जो सम्भावित, वह मूर्त होता है। इस मूर्ति में शक्ति बल के रूप में प्रकट होती है और उसका आश्रय लेकर चैतन्य विज्ञान के रूप में व्यक्त होता है। अन्न से विज्ञान तक ऊर्ध्व-परिणाम

है अर्थात् जिस परिणाम के फलस्वरूप उत्कृष्टतर गुण और वैशिष्ट्य का आविर्भाव होता है। तत्पश्चात् फिर विज्ञान को नियामक-शक्ति के रूप में मान लेने से मन्त्र तक चित्शक्ति का निम्न-परिणाम है। मन्त्र की क्रिया में सिद्धि अथवा आशा की सार्थकता है।[१]

तत्पश्चात् सनत्कुमार ने कहा – 'आत्मा ही यह सब कुछ है – यह जो देखते हैं, वे "पश्यः" हैं।[२] पश्य सब देखते हैं; दुःख, रोग एवं मृत्यु को नहीं देखते।[३] वे एक होकर रहते हैं।

---

१. यह अवरोह-क्रम विज्ञानी का है। समस्त क्रम दो भागों में विभक्त है। सन्धि में आविर्भाव-तिरोभाव है। प्रथम भाग के आदि में आत्मा और द्वितीय भाग के अन्त में अन्न है। अन्न से ही 'इदं सर्वम्'। यह 'इदं' उपनिषद् की एक पारिभाषिक संज्ञा है, जिससे चिदाविष्ट जड़ का बोध होता है। ठोस जड़ क्रमशः सूक्ष्म होकर चैतन्य की ओर चला गया। शुद्धचैतन्य आत्मा है। जड़ उसकी ही विभूति एवं विग्रह है। अतएव आत्मा और इदं दोनों मिलकर एक युगनद्ध सत्ता है (द्र. १।१।१)। विज्ञानी की आशा धीरे-धीरे अप् में परिवर्तित होती है। तत्पश्चात् वह अन्न को सिद्ध सत्ता के रूप में ही प्राप्त करता है एवं वही सम्भावित मूर्ति का उपादान होता है। इसमें वह उसी प्रकार बलाधान करता है, जिस प्रकार प्रतिमा में प्राणप्रतिष्ठा की जाती है। तब मूर्ति चिन्मयी होती है। उसमें क्रम से स्फुरित होते हैं ध्यान, चित्त, सङ्कल्प एवं मन। इनके बारे में हमने पहले ही बतलाया है। तत्पश्चात् मन क्रमशः वाक्, नाम एवं मन्त्र की सहायता से सिद्धकर्म का प्रवर्तक होता है। तब मन्त्र सिद्ध-मन्त्र होता है। उसका बल अमोघ होता है। यह बल वस्तुतः आत्मबल है। नारद आत्मवित् न होकर मन्त्रवित् हुए थे, इसलिए उन्हें अनीश्वर या नास्तिक होकर शोक करना पड़ा था। आशा से जिस मूर्ति की सृष्टि होती है, वह अन्तश्चिन्तित स्वाभीष्ट मूर्ति है। उसका आविर्भाव-तिरोभाव है। इस आविर्भाव – तिरोभाव का पौराणिक उदाहरण हमें सप्तशती में प्राप्त होता है। इस देश की साधना के इतिहास में मूर्ति-रचना के एक युग का चित्ताकर्षक विवरण 'बौद्धसाधनमाला' में प्राप्त होता है।

२. यदि उल्लिखित उपाय से भाव को मूर्ति में रूपान्तरित करने का सामर्थ्य प्राप्त हो सके, तो यह देखना वीर्यशाली एवं चिद्घन होता है। पतञ्जलि ने इसे ही स्वाध्याय से इष्टदेवतासम्प्रयोग (पातं. २।४४) कहा है, जो मन्त्रसाधना का विशिष्ट लक्ष्य है।

३. तु. श्वे. २।१२।

फिर वे ही त्रिधा, पञ्चधा, सप्तधा, और नवधा होते हैं।[१] फिर वे ही ग्यारह, एक सौ ग्यारह, बीस हजार होते हैं।[२] समस्त ग्रन्थियों के विकीर्ण होने पर पश्य हुआ जाता है। ग्रन्थिमोचन ध्रुवा-स्मृति से होता है। ध्रुवा-स्मृति जागती है सत्त्वशुद्धि से। सत्त्वशुद्धि होती है आहार-शुद्धि से।

नारद-सनत्कुमार-संवाद के साथ-साथ यहाँ ही सातवाँ अध्याय समाप्त होता है।[३]

तत्पश्चात् पन्द्रह खण्डों में अष्टम अध्याय है। प्रथम छह खण्डों का प्रतिपाद्य 'दहरविद्या' है।[४] यह देह ही ब्रह्मपुर है।[५] उसमें 'दहर' अथवा एक छोटा-सा कमल का घर है[६], जो हृदय में है। उसके भीतर जो

---

१. त्रिधा प्राण, आशा और स्मर, अथवा तेज, अप्, अन्न, अथवा विज्ञान, ध्यान चित्त, अथवा सङ्कल्प, मन, वाक् अथवा वाक् नाम मन्त्र इत्यादि। पञ्चधा, पञ्चवृत्तिक प्राण रूप में। सप्तधा, सप्तव्याहृति, सप्तधाम इत्यादि रूप में। नवधा, जब तीन के भीतर तीन ओत-प्रोत रूप में रहता है – जैसे पृथिवी में अन्तरिक्ष एवं द्युलोक के आवेश से एक त्रिलोकी एवं इसी प्रकार और दो लोक में भी दो त्रिलोकी।

२. इन सङ्ख्याओं का तात्पर्य सुनिश्चित नहीं। आदिशङ्कराचार्य कहते हैं कि – 'न विद्वान् प्राक्सृष्टिप्रभेदाद् एकधैव भवति, एकधैव च सन् त्रिधादिभेदैः अनन्तभेद-प्रकारो भवति सृष्टिकाले।'

३. मूल में सनत्कुमार को 'स्कन्द' कहा गया है। यह स्कन्द ऋक्संहिता में 'द्रप्स' आदि सोमबिन्दु है, जो अच्युत रहकर ही च्युति का प्रवर्तक है। वे जब अच्युत, तब सनत्कुमार, अर्थात् 'चिरकुमार'; और जब वे च्युत, तब 'स्कन्द'। उनमें दोनों विभाव एक साथ हैं, वे अटल से ही टल होते हैं (द्र. ऋ. १०।१७।११-१३)।

४. दभ्र (केनोपनिशद् २।१) >दह्र (तै. संहिता ७।५।३।१) >दहर। 'दभ्र' ह्रस्व, अल्प (निघ. ३।२)।

५. तु. अ.सं. देवानां पुरयोध्या, तस्यां हिरण्यः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः १०।२।३१; पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ऐ. ३३। द्र.छां. ८।५।३, कौषीतकी १।३।५।

६. मूल में 'पुण्डरीकं वेश्म' है। अथर्वसंहिता में इस देह को ही 'पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावतम तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः" १०।८।४३। ऋक्संहिता में 'पुष्करं' है : तु. त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत, मूर्ध्नः ६।१६।१३ (यहाँ मूर्धन्य कमल का उल्लेख पाते हैं) ; और भी तु. 'विश्वेदेवाः पुष्करे त्वाददन्त ७।३३।११; निषिक्तं पुष्करे मधु ८।७२।११। अतः आधार में कमल की कल्पना अतिप्राचीन है।

आकाश अथवा शून्यता है, उसमें ही सब कुछ समाहित है।[१] इस आकाश को खोज निकालना ही हमारा परम पुरुषार्थ है। इस हार्दाकाश का बोध ही आत्मबोध है। यह आत्मा अपहतपाप्मा, विजर, विमृत्यु एवं विशोक है। जिसमें पिपासा नहीं, किन्तु वह सत्यकाम है एवं सत्यसङ्कल्प है। इस आत्मा को प्राप्त करने पर ही सब प्राप्त होता है। आत्मबोध में ही सङ्कल्पसिद्धि है, इसलिए कि हमारा जो काम्य है, वह वस्तु नहीं बोध है। बोध रूप में सब कुछ हमारे हृदयाकाश में ही है। वस्तु रूप में वह बाहर का है, यह समझना ही मिथ्या है।

कामना की परितृप्ति में जो सुख है, उसका स्वरूप चित्त की विश्रान्ति है। उसका सही परिचय सुषुप्ति में प्राप्त होता है। सुषुप्ति का आनन्दघन एकरस प्रत्यय ही ब्रह्मबोध है। यहाँ आत्मचैतन्य और ब्रह्मचैतन्य एक है। प्रत्येक जीव प्रतिदिन इस देह के क्षेत्र में ही सुषुप्ति के समय ब्रह्मलोक में संविष्ट होता है, किन्तु क्षेत्रज्ञ[२] न होने के कारण ही वह ब्रह्म को जान नहीं सकता।

अतएव आत्मानुभव अथवा ब्रह्मानुभव इस हृदय की गहराई में अहर्निश सुविश्रान्त सुषुप्ति का अनुभव है। जो यह अनुभव प्राप्त करते हैं, उनकी संज्ञा 'सम्प्रसाद' है।[३] क्या जीवन में, क्या मरण में, सम्प्रसाद जब विदेह, तब वे परमज्योति में उपसम्पन्न होते हैं। यही उनका स्वरूप है। यही हमारे आत्मचैतन्य का परिचय है। यह आत्मा ही ब्रह्म है। इस अनुभव में न भय है, न मृत्यु है।

आत्मा अथवा ब्रह्म हृदय में स्थित हैं, इस कारण, वे ही 'हृदय' हैं। अमृत एवं मृत्यु दोनों के ही संयन्ता के रूप में वे ही 'सत्य' हैं।

---

१. यहीं पिण्ड-ब्रह्माण्डयोग का मूल है।

२. तु. ऋ. क्षेत्रविद्धि दिश आहा विपृच्छते ९।७०।९; अक्षेत्रवित् क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः १०।३२।७; गीता. १३।२,३।

३. द्र. बृ. ४।३।९-१८, २।१।१८-१९। 'प्रसाद' चेतना की स्वच्छता (द्र. गी. २।६४)

यह आत्मचैतन्य सेतुरूप में सब कुछ को जोड़े हुए है। उसके भीतर न उजाला है, न अँधेरा है, न जरा, न मृत्यु अथवा शोक, और नहीं है सुकृत-दुष्कृत। इस अनुभव में द्वन्द्वबोध न होने के कारण पाप भी नहीं। यहाँ पहुँचने पर समस्त न्यूनता की पूर्ति से रात, दिन में बदल जाती है।

इस ब्रह्म को ब्रह्मचर्य द्वारा प्राप्त किया जाता है। ब्रह्मचर्य की साधना भी विचित्र है। यज्ञ, इष्ट, अथवा सत्रायण - यह भी जिस प्रकार ब्रह्मचर्य है उसी प्रकार मौन, अनशन अथवा अरण्यायन यह भी ब्रह्मचर्य है।[१]

सारे उपायों द्वारा ही चेतना को बृहत् किया जा सकता है और आत्मचैतन्य को ब्रह्मचैतन्य में रूपान्तरित किया जा सकता है। वही ब्रह्मचर्य है।

हृदय की गहराई में पैठने के लिए नाड़ी-तत्त्व[२] को जानना जरुरी है। आदित्यरश्मि नाड़ी-मार्ग से होती हुई हृदय तक प्रसारित है। नाड़ी में जो चेतना है, वह हमारी प्राकृत-चेतना का अन्तःपुर है। सुषुप्ति में सहज ही समस्त चेतना नाड़ी में सिमट आती है। सुषुप्ति में जो जागते रह सकते हैं, वे सम्प्रसन्न होकर अपहतपाप्मा आत्मा की महिमा का अनुभव हृदय में करते हैं। यह अनुभव आवेश का है, हृदय में आदित्य-तेज के समूहन का अनुभव है।[३]

---

१. साधना की दो धाराओं के बारे में बतलाया जा रहा है। पहली देववादियों की धारा है और दूसरी आत्मवादियों की। दोनों ही ब्रह्मचर्य है।

२. नाड़ीविज्ञान के लिए द्र. क. २।३।१६; मु. २।२।६; कौ. ४।१९ (यहाँ वर्ण की चर्चा है); बृ. २।१।१९, ४।२।३, ३।२० (वर्ण का उल्लेख) ऋक्संहिता में नाड़ियाँ नदी - तु. एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्रात् ४।५८।५; अपामनीके समिथे ११। सुषुम्णा वहाँ 'सुषोमा' नदी अथवा 'सुषोम' धाम।

३. समूहन में अथवा सिमट आने या बटुर जाने में तेज, और व्यूहन में अथवा फैलने-बिखरने में 'रश्मि' द्र. ईशो. १६।

तत्पश्चात् जब मृत्यु अथवा महासुषुप्ति का क्षण आता है; तब विद्वान् पुरुष हृदय से ही आदित्यरश्मि के सहारे ओङ्कार के उच्चारण द्वारा मन को आदित्य-मण्डल[1] में ले जाते हैं एवं लोकद्वार[2] के भीतर से ब्रह्म में प्रपन्न होते हैं। हृदय में एक सौ एक नाड़ियाँ आकर मिली हैं। उनमें से एक नाड़ी मूर्द्धा की ओर चली गई है। इसको ही पकड़ कर विद्वान् अमृत की ओर उठ जाते हैं।[3]

दहरविद्या के पश्चात् बारहवें खण्ड तक इन्द्र-विरोचन-प्रजापतिसंवाद है।[4] प्रजापति ने कहा था कि 'जो आत्मविज्ञानी होते हैं, उनकी सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं, उन्हें सारे लोक प्राप्त होते हैं।' यह सुनकर

---

१. द्र. गीता : मृत्युविज्ञान ८।१०-१२।
२. द्र. छा. २।२४।
३. क. २।३।१६
४. विरोचन असुरों के राजा। नाम का व्युत्पत्तिगत अर्थ है, 'जो झलमलाता है। तु. सप्तशती में 'शुम्भ', 'निशुम्भ', जो 'शुभ्र' का ही नामान्तर है। ऐतरेय के अनुसार असुर द्युलोक में भी हिरण्यमयी पुरी का निर्माण करके रहते हैं (ऐ. ब्रा. १।२३)। अर्थात् दिव्यचेतना में भी आलोक का आवरण रह सकता है। इस रूप को तोड़ने पर यह अर्थ प्राप्त होता है। उसे ही ईशोपनिषद् में विद्या का अन्धतमः कहा गया है (९)। अथर्वसंहिता में विरोचन 'प्राह्लादि' अथवा प्रह्लाद का पुत्र (८।१०।२२; तु. तै. ब्रा. १।५।९।१)। कौषीतकी में इन्द्र बतलाते हैं कि 'द्युलोक में मैंने प्रह्लादीयों का वध किया था (३।१)' यह भी उस हिरण्मय-आवरण को विदीर्ण करने का वर्णन है। पुराण के अनुसार हिरण्यकशिपु का पुत्र प्रह्लाद; हिरण्यकशिपु विष्णुद्वेषी था और प्रहलाद विष्णुभक्त। विष्णु नृसिंह रूप में प्रह्लाद की ओर से हिरण्यकशिपु की आँत चीरकर उसका वध करते हैं। यहाँ प्रह्लाद स्पष्टतः आनन्दतत्त्व है। और हिरण्यकशिपु बुद्धितत्त्व है। बुद्धि की आँतों पर आघात नहीं लगने से आनन्दचेतना बाधामुक्त नहीं होती। प्रह्लाद के साथ कठोपनिषद् के नचिकेता का सादृश्य है। इन्द्र प्रह्लाद का विनाश नहीं करते, बल्कि उसके उपसर्ग आसुरभाव की विरोचनता के साथ उनका विरोध है। आनन्द के इस उपसर्ग की दार्शनिक संज्ञा 'रसास्वाद' है। अनेक लोग उसे निर्विशेष सत्योपलब्धि के अन्तराय या प्रतिबन्धक के रूप में समझते हैं।

देवताओं में इन्द्र और असुरों में विरोचन सब छोड़कर समित्पाणि होकर स्वतन्त्र रूप से प्रजापति के निकट उपस्थित हुए। बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पालन के पश्चात् प्रजापति ने उनसे पूछा, 'तुम लोग यहाँ क्यों आए हो?' उन दोनों ने कहा – 'हम आपके निकट आत्मविज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं।' प्रजापति ने कहा – 'चक्षु में जो पुरुष[1] है, वही आत्मा है, वही अभय-अमृत आत्मा है।' 'जल में और दर्पण में जिसका प्रतिबिम्ब देखते हैं, क्या वह भी आत्मा है?' 'हाँ, सबके भीतर ही आत्मा है। जलपात्र में क्या देख रहे हो?' 'नख-लोम सहित आत्मा का ही तो प्रतिरूप देख रहे हैं।' 'इस बार परिष्कार रूप में सज-सँवरकर फिर देखो कि क्या देख रहे हो?' 'अपनी ही परिष्कृत एवं सुसज्जित छाया।' 'यही तो आत्मा है।'

यह सुनकर इन्द्र और विरोचन शान्तहृदय से चले गए। विरोचन ने असुरों में प्रचार किया कि 'यह देह ही आत्मा है। इसकी सेवापूजा ही पुरुषार्थ है।' इसे ही आसुरी-उपनिषत् कहते हैं। अतः असुर वस्त्रभूषण और भोग्य-वस्तु द्वारा मृतदेह का संस्कार करते हैं, और मानते हैं कि इससे ही परलोक पर विजय प्राप्त करना होगा।[2]

किन्तु रास्ते में इन्द्र के मन में संशय उभरा कि 'देह ही यदि आत्मा है, तब तो देह के साथ आत्मा का भी नाश होगा। यह कैसे?' इन्द्र फिर प्रजापति के पास लौटकर आ गए।

प्रजापति ने कहा – 'अरे! लौट आए!' इन्द्र ने अपने संशय को स्पष्ट किया। प्रजापति ने कहा ' – ठीक समझा है। अच्छा और भी बत्तीस वर्ष यहाँ रहो।'

---

१. द्र. छा. १।७।५, ४।१५।१, बृ. २।३।५, बृ. ५।५।४, कौ. ५।१६,१७।
२. मृत-संस्कार की ऐसी प्रथा इजिप्ट, पैलेस्टाइन, फिनीशिया, सीरिया, बेबीलोनिया और असीरिया में प्रचलित थी (द्र. HERE, Babylonians & Assyrians, Death & Disposal of the Dead इत्यादि) इससे आसुरी-संस्कृति का एक अभिज्ञान प्राप्त हुआ। विशेष रूप से इस प्रथा का प्रचलन इजिप्ट में था।

बत्तीस वर्ष बाद प्रजापति ने कहा – 'स्वप्न में जो महिमावान् होकर विचरण करता है, वही आत्मा है।[१] इन्द्र प्रसन्न होकर चले गए।

किन्तु उनके मन में फिर संशय जागा कि 'जाग्रत का दुःख स्वप्न में सङ्क्रामित नहीं हो सकता, किन्तु स्वप्न पुरुष का भी तो अपना दुःख है।' इन्द्र इस बार भी प्रजापति के पास लौटकर आ गए।

और भी बत्तीस वर्ष बाद प्रजापति ने कहा – 'सुषुप्ति में सब कुछ समेटे जो सम्पन्न होकर स्वप्न भी नहीं देखता, वही आत्मा है।' इन्द्र इस बार शान्त होकर चले गए।

किन्तु फिर उनके मन में विचार आया कि 'सुषुप्ति तो विनाश का बोध है, उस समय स्वयं को भी नहीं जानता और सब कुछको भी नहीं जानता। क्या यह एक आत्मबोध है?'[२]

फिर उन्हें प्रजापति के पास लौटकर आना पड़ा। इस बार प्रजापति ने उन्हें केवल पाँच वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन करने के लिए कहा। उनके ब्रह्मचर्य का साधन कुल एक सौ एक वर्ष का रहा।[३]

तब प्रजापति ने कहा – 'देखो, शरीर मृत्यु के वश में है। वह अशरीर एवं अमृत आत्मा का अधिष्ठान मात्र है।[४] जो शरीर से परे हुए

१. द्र. बृ. ४।३।७,९,१०,१६,१८.....। तु. मा. 'स्वप्नस्थानपुरुष' ४।
२. योग की भाषा में इसका नाम 'प्रकृतिलय' है। इसके भीतर जागते रहना ही परमपुरुषार्थ है। फिर यह विनाश ही मृत्युतरण का मार्ग है (ईशो-१४)। कठोपनिषद् में यह नचिकेता की तृतीय रात्रि है।
३. मूल में 'एक सौ' वर्ष है। पुरुष शतायुः ; अतएव तात्पर्य यह हुआ कि समस्त जीवन ही ब्रह्मचर्य में व्यतीत करने पर आत्मबोध की प्राप्ति होती हैं। तु. महिदास ऐतरेय की पुरुष-यज्ञविद्या (छा. ३।१६)। वहाँ ११६ वर्ष का उल्लेख है। अन्त के १६ वर्ष षोडशकलपुरुष का दिव्य-जीवन।
४. संहिता, ब्राह्मण एवं उपनिषद् में जरा एवं मृत्यु को अतिक्रम करना ही वैदिक-साधना का लक्ष्य है। उसका उपाय है, जो अजर एवं अमृत, उसमें अवगाहन करना। उसका प्रतिरूप आकाश है। कोई उसे सत्स्वरूप बतलाता है अथवा कोई असत्स्वरूप। 'सम्पत्ति' की दृष्टि से वह 'सत्' है और 'निर्वाण' की दृष्टि से 'असत्'।

हैं, उन्हें सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते। अभ्र या बादल, विद्युत्, वायु, मेघगर्जन – ये भी अशरीरी हैं।[१] आकाश से उठकर ये परमज्योति में उपसम्पन्न होते हुए फिर स्वरूप में लौट जाते हैं। उसी प्रकार सम्प्रसाद रूप आत्मा भी शरीर से उठकर परमज्योति में उपसम्पन्न होकर फिर स्वरूप में लौट जाता है। वही उत्तमपुरुष है।[२] वह भोजन करता है, क्रीड़ा करता है, यान अथवा सगोत्रों भाई-बन्धुओं के साथ रमण करता है, विचरण करता है। पृथिवी पर उपजात या उत्पन्न इस शरीर की स्मृति तब उसमें नहीं रहती। यान में युक्त वाहन की तरह यह प्राण भी शरीर से युक्त मात्र है। वाक्, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण एवं मन[३] जिसके संवेदन के साधन हैं, वही आत्मा है। मन उसका दैवचक्षु है।[४] इस चक्षु द्वारा ही वे ब्रह्मलोक में समस्त काम्यवस्तु का दर्शन करके रममाण होते हैं। इस

१. ये सब आत्मभावना के साधन हैं। तु. श्वे. २।११। अभ्र पतले झीने मेघ की सञ्ज्ञा। भावना के उत्कर्ष के अनुसार इनमें एक क्रम दिखाई देता है। रूपबोध से आत्मचेतना का अभियान अरूप की ओर अग्रसर होता है। और अन्त में वह आकाशवत् हो जाता है। तु. 'आकाशशरीरं ब्रह्म' तै. १।६।२।
२. यह 'उत्तमपुरुष' ही अवतारवाद के प्रभाव से भागवतों की भावना में 'पुरुषोत्तम' हुआ है। गीता के अनुसार 'अस्मिल्लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः (१५।१८)'। किन्तु 'पुरुषोत्तम' सञ्ज्ञा संहिता, ब्राह्मण और प्राचीन उपनिषदों में नहीं है। यहाँ उसका बीज प्राप्त होता है। 'स तत्र पर्येति जक्षत क्रीड़न् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं' यह उक्ति कृष्ण के सम्बन्ध में अधिक सही और उपयुक्त है। इसके साथ स्मरण रखने योग्य है कि देवकीपुत्र कृष्ण का उल्लेख हमें छान्दोग्य में ही प्राप्त होता है (३।१७।६।)
३. यहाँ हम प्राण की जगह घ्राण पाते हैं। कौषी. में दोनों ही पाठ प्राप्त होते हैं (१।७, ३।५)।
४. मन यहाँ इन्द्रिय नहीं, बल्कि मनश्चेतना है। द्र. छा. ३।१९। वहाँ मन के अर्थ में आकाशवत् चेतना का बोध होता है। संहिता में भी मन का इसी व्यापक अर्थ में प्रयोग किया गया है। पुरुष के मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति (ऋ १०।९०।१३); इसलिए मन की षोड़शी नित्यकला ही ब्रह्म अथवा दैवचक्षु, काम मन का प्रथम रेतः (ऐ. १२९।४) इत्यादि उक्तियाँ विवेच्य।

आत्मा का विज्ञान या बोध जिसे होता है, उसके वश में सारे लोक और सभी कामनाएँ होती हैं।' यहाँ ही इन्द्र-विरोचन-प्रजापति-संवाद का अन्त होता है।

त्रयोदश खण्ड में ब्रह्मात्म-भावना का एक मन्त्र है – 'मैं श्याम से शबल का आश्रय प्राप्त करता हूँ, और शबल से श्याम का आश्रय प्राप्त करता हूँ।[१] शरीर को विधूत करके, झाड़कर निर्मल होकर ब्रह्मलोक में अभिसम्भूत होता हूँ, नित्य ब्रह्मलोक को प्राप्त होता हूँ।'

चतुर्दशखण्ड में ब्रह्मचैतन्य को आकाश बतलाया गया है। इस आकाश से ही नाम और रूप का निर्वाह होता है।[२] यह आकाश ही प्रजापति की सभा और सदन है।[३] तत्पश्चात् प्रजापति के इसी धाम को प्राप्त करने की प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि 'ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के यश को मैं प्राप्त करुँ। प्राप्त करुँ उस यश का यश, वह अदन्त शुभ्रता।[४] योनि में फिर और वास न करना पड़े।

---

१. श्याम से पर:कृष्ण का बोध होता है (छा. १।६।५) अथवा लोकोत्तर का बोधक है तथा शबल चित्रवर्ण अथवा रङ्ग-बिरङ्गा यह जगत् (तु. श्वे. यो एकाऽवर्णो बहुधा शक्ति; योगाद् वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति ४।१; संहिता में 'पुरुरूप' 'विश्वरूप'। असीम से सीमा में आना फिर सीमा से असीम में जाना ही अनुभव की पूर्णता है।

२. तु. ऋ. असच्च सच्च परमे व्योमन् १०।५।७; देवानां पूर्व्ये युगे असतः सद्जायत ७२।२; सतो बन्धुमसति निरविन्दन् १२९।४।

३. यहाँ प्रजापति और ब्रह्म एक, यद्यपि अन्यत्र प्रजापति के पश्चात् ब्रह्म को पाते हैं। (कौ. १।३; तै. २।८......। इस सभा को अन्यत्र 'प्रभुविमितं हिरण्मयम्' (छा. ८।५।३) कहा गया है, 'प्रभुप्रमितम्' (कौ. १।३)। यही संहिता में 'परमव्योम', विष्णु का 'परमपद', मित्रावरुण का 'ध्रुवंसदः सहस्रस्थूणम्' ऋ. २।४१।५।) है।

४. मूल में 'श्येतमदत्कम्' है। भगवत्पाद आदिशङ्कराचार्य उसका अर्थ बतलाते हुए कहते हैं – 'श्येतं वर्णतः पक्कवदररामं रोहितं, तथा अदत्कं भक्षयितृ स्त्रीव्यञ्जनम्, तत्सेविनां तेजोबलवीर्यविज्ञानधर्माणाम् अपहन्तृ विनाशयितृ इत्येतत्।' यह शब्द उपनिषद् में अन्यत्र कहीं नहीं है। ऋ. सं. में अग्नि के विशेषण के रूप में (१।७१।४, ७।४।३.) प्रयुक्त है। शतपथ-ब्राह्मण में उदय एवं अस्त के समय हम

तत्पश्चात् पञ्चदश खण्ड में विद्या-सम्प्रदाय का उल्लेख है। यह ब्रह्मविद्या ब्रह्मा ने प्रजापति को प्रदान की थी, प्रजापति ने मनु को, मनु ने प्रजा-जनों को। आचार्यकुल से गुरु-सेवा द्वारा यह विद्या ग्रहण करनी पड़ती है। तत्पश्चात् उसका अनुशीलन, चर्चा; अभ्यास संसार में होता है। जीवन के समस्त कर्त्तव्यों की इति के पश्चात् आत्मा में सभी इन्द्रियों को संहत करके अहिंसाव्रती रूप में जीवन के शेष समय को काटना होगा। इस प्रकार की जीवनचर्या के फलस्वरूप मनुष्य को ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। और फिर वह ब्रह्मलोक से लौटकर नहीं आता।

यहाँ ही छान्दोग्योपनिषत् का समापन होता है। कर्माङ्गोपासना के साथ-साथ इस उपनिषद् में हम अनेक विद्याओं का उपदेश प्राप्त करते हैं। कर्माङ्गोपासना का भी पर्यवसान प्रणवोपासना में होता है। कर्म की परिसमाप्ति ज्ञान में होती है, यह तत्त्व उसमें परिस्फुट हुआ है। उपदिष्ट विद्याओं में मधुविद्या, शाण्डिल्यविद्या, कोशविद्या, पुरुषयज्ञविद्या, संवर्गविद्या, चतुष्पाद ब्रह्मविद्या, अग्निविद्या, पञ्चाग्निविद्या, वैश्वानर-विद्या, सत्सम्पत्तिविद्या, भूमिविद्या, दहरविद्या, एवं पुरुषोत्तमविद्या प्रधान विद्याएँ हैं। बृहदारण्यक में जिस प्रकार याज्ञवल्क्य प्रधान-स्थान के अधिकारी हैं, उसी प्रकार इस उपनिषद् में आरुणि एक प्रधान-स्थान के अधिकारी हैं।

सविता (सूर्य) को श्येत पाते हैं (५।३।१।७)। इससे जान पड़ता है कि श्येत अरुण वर्ण है, किन्तु अथर्वसंहिता में हम पाते हैं 'एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहिणी द्वे' (६।८८।२); वहाँ 'श्येनी' और 'रोहिणी' निश्चय ही अलग वर्ण के हैं। वाजसनेयसंहिता के अनुसार 'श्येतः श्येताक्षोऽरुणः' (२४।३); महीधर एवं उव्वट दोनों ही श्येत = श्वेत बतलाते हैं। जान पड़ता है, इस शब्द का प्रयोग दोनों ही अर्थों में होता रहा। अग्नि, सविता या पूषा अरुण से श्वेत होते हैं, इस व्यञ्जना के प्रकाश में 'श्येत' शब्द का प्रयोग असङ्गत नहीं लगता। प्राशित्रभक्षण के फलस्वरूप पूषा अदन्त हुए थे। हमें यह कथा शतपथ-ब्राह्मण में प्राप्त होती है (श. १।७।४।७)। पूषा ही हिरण्मय-पात्र के आवरण को हटाकर आदित्य के साथ सायुज्यप्राप्ति का उद्बोधक है (ईशोपनिषद् १५, १६)।

तत्पश्चात् कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीयोपनिषद्, कठोपनिषद् एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् का सङ्क्षिप्त विवेचन।

तैत्तिरीयोपनिषद्, यह उपनिषद् तैत्तिरीयारण्यक के सप्तम से नवम तक तीन प्रपाठकों में लिपिबद्ध है। उसके भी पश्चात् दशम प्रपाठक नारायणोपनिषत् है। आचार्यों ने इसकी गणना खिल के रूप में की है। आरण्यक के तीन प्रपाठक इस उपनिषद् में शीक्षावल्ली, ब्रह्मवल्ली और भृगुवल्ली नाम से सङ्कलित हैं।

शीक्षावल्ली में बारह अनुवाक हैं। शिक्षा एक वेदाङ्ग है, जिसका प्रतिपाद्य मन्त्रोच्चारण का विज्ञान है।[1] गुरु-गृह में वेदाभ्यास के द्वारा शिक्षार्थी का जीवन आरम्भ होता है। तत्पश्चात् वेद के रहस्य एवं उपनिषत् को आयत्त करके अपने परिवार में लौट आना पड़ता है। शिक्षा वल्ली में कई सङ्क्षिप्त एवं बलिष्ठ रेखाओं में गुरुगृह की उज्ज्वल छवि का अङ्कन किया गया है।

प्रथम अनुवाक में शान्तिपाठ है, जिसमें वायु को प्रत्यक्षब्रह्म कहा गया है।[2] वायु अन्तरिक्षस्थान देवता है। यजुर्वेद, अन्तरिक्ष अथवा प्राणलोक का साधन है।[3] वायु उसका अधिष्ठात्री देवता है।

---

१. विशेष विवरण वेदाङ्ग-परिचय में द्रष्टव्य।
२. वैदिक चिन्मयप्रत्यक्षवाद का एक उज्ज्वल दृष्टान्त। ब्रह्म को इन्द्रिय द्वारा भी उपलब्ध किया जाता है। इससे ही उपनिषद् का 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा. ३।१४।१)। उस समय अधिभूतदृष्टि अधिदैवतदृष्टि में रूपान्तरित होती है। बृहदारण्यक में वायु अमूर्त (२।३।३) - यह अधिभूतदृष्टि है। किन्तु ऋक्संहिता में वह 'दर्शत' (१।२।१)। यह अधिदैवतदृष्टि है।
३. तु. प्र. ५।७।

द्वितीय अनुवाक में बतलाया गया है कि शिक्षा का अध्येतव्य विषय क्या-क्या है? सन्तान अथवा संहिता ही उनमें प्रधान है।[1]

अतः तृतीय अनुवाक में संहिता की उपनिषत् अथवा निगूढ़ तत्त्व की व्याख्या की गई है। संहिता के पाँच अधिकरण - लोक, ज्योति, विद्या, प्रजा एवं आत्मा अथवा शरीर में हैं।[2] ये ही महासंहिता के आधार हैं। विशेष रूप से महासंहिता का विज्ञान ही मनुष्य के समस्त पुरुषार्थ का साधक है।[3]

चतुर्थ अनुवाक में आचार्य की प्रस्तुति है। जो विद्या प्रदान करेंगे, उन्हें विद्या-दान का अधिकार होना चाहिए। वे अमृत के आधार होंगे। विद्या उनमें आविष्ट होकर देह को भी 'विचर्षण' अर्थात् शक्ति की विद्युत्-तरङ्ग से तरङ्गित करेगी।[4]

---

१. अध्येतव्य विषय के प्रथम तीन का सम्बन्ध वाक् के साथ है, शेष तीन का सम्बन्ध वक्ता के साथ है। सन्तान या संहिता का लक्ष्य ऐकपद्यप्रत्यय का उत्पादन है। उससे मन्त्र की व्यञ्जना व्याहृति में और व्याहृति की व्यञ्जना ओङ्कार में पर्यवसित होती है। तत्पश्चात् तुरीया अथवा वैखरी वाक् को गुहाहित और तीन पदों में क्रमशः उठा लेना ही 'उच्चारण' अथवा शिक्षा-विज्ञान का रहस्य है (द्र. ऋ. १।१६४।८५; मा. ८।१२)
२. प्रत्येक लोक की ही अधिष्ठात्री चेतना ज्योती है। विद्या की सहायता से इस ज्योति को अपने आधार अर्थात् वाक् में उतार लाना होगा। तत्पश्चात् सम्प्रदाय अथवा परम्परा को अटूट रखने के लिए उसे शिष्य अथवा सन्तान में सञ्चारित करना होगा। इस प्रकार वेदाध्ययन अनन्त-देशकालव्यापी एक अखण्ड-प्रत्यय का साधक होगा।
३. फलश्रुति में पाँच पुरुषार्थों का उल्लेख है। अन्न, पशु एवं प्रजा अर्थात् देह-प्राण की पुष्टि सभी चाहते हैं। जो धीर हैं, वे इससे कुछ अधिक ब्रह्मवर्चस् एवं सुवर्ग्य-लोक अथवा परमपद चाहते हैं।
४. तु. 'शरीरं मे विचक्षणं' ऋ. (खिल) ४।८।५। ऋक्संहिता में 'विचर्षणि' है (द्र. ३।२।८ टीका)। निघण्टु पश्यति कर्मा (३।११); किन्तु यह शब्द √चर् से उत्पन्न; जिसका अर्थ है विचरणशील; यहाँ अन्नमय आधार में प्राणस्पन्द का बोधक है। तु. सात्त्विक विकार।

विद्या के साथ श्री भी चाहिए, नहीं तो अन्तेवासियों का भरणपोषण किस प्रकार होगा? आचार्य को भीतर-बाहर चारों ओर से प्रस्तुत रहना पड़ेगा।

प्रस्तुति के पश्चात् ब्रह्मचारियों के लिए आचार्य ने प्रत्येक दिशा में आह्वान भेज दिया कि 'तुम सब आओ।' किशोर-प्राण के निकट यह आह्वान सहस्ररश्मि आदित्य की द्युति से परिव्याप्त चेतना का आह्वान है।[1] समग्र वैदिक-साहित्य में इस छवि की तुलना नहीं।

तत्पश्चात् कई अनुवाकों में गुरुगृह में अनुशीलित विद्या की विवृति है। पञ्चम और षष्ठ अनुवाक में व्याहृतिविद्या है। जिसके प्रवक्ता ऋषि माहाचमस्य हैं। व्याहृति सृष्टि का मन्त्र[2]। मन्त्र-भूः, भुवः स्वः-इस तीन व्याहृति से अपरार्द्ध का आविर्भाव होता है। चतुर्थी व्याहृति 'महः' परार्द्ध की द्योतक है। महः ब्रह्म, महः आत्मा है। आत्मचैतन्य की महिमा ही ब्रह्मचैतन्य है[3]। देवगण इस चैतन्य के अङ्ग अथवा विभूति हैं। इन चारों व्याहृतियों को लोक, ज्योति, विद्या एवं आत्मा अथवा आधार-इन चार दृष्टियों से देखा जा सकता है।[4] अतः हमें ब्रह्मपुरुष के सोलह अवयव प्राप्त होते हैं। वेद का पुरुष षोडशकल है।

१. गृह्यसूत्र में ब्राह्मणकुमारों को आठ वर्ष की आयु में उपनयन-संस्कार देने का उल्लेख है। सोलह वर्ष तक भी दिया जा सकता है (आश्व. १।१९।१-६; तु. मनु. २।३६, ३८)। इसके साथ तु. औपनिषद पुरुष षोडशकल। सोलह वर्ष तक कैशोर-किशोरावस्था। मर्त्य-तनु में दिव्यचेतना का आवेश इस उम्र में ही हो सकता है, यह अध्यात्म-साधना का एक निगूढ़ रहस्य है। कठोपनिषद् और छान्दोग्य उपनिषद् में नचिकेता और सत्यकाम जैसे दो सत्यार्थी किशोरों की अद्भुत कथा है।
२. ब्राह्मण में व्याहृति के अनेक प्रसङ्ग हैं: द्र. ऐ. ५।३२, ८।७; तै. २।२।४।३; श. २।१।४।१०......। इन तीनों व्याहृतियों का सार प्रणव है (ऐ.ब्रा. ५।३२)। तु. तै. सं. ५।५।५।३।
३. तु. 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ. २।५।१९, ४।४।५)।
४. पहले की दो व्याहृति में अधिदैवत (objective) दृष्टि है, अन्य दो में अध्यात्म (subjective)। बाहर -भीतर महिमा का अनुभव ही तुरीयसम्पत्ति अथवा ब्रह्मानुभव है।

वही पुरुष हृदय के भीतर जो आकाश है,[1] उसमें मनोमय, हिरण्मय, अमृतरूप में स्थित है।[2] इस देह में ही अन्तरावृत्त होकर उसका अनुभव किया जा सकता है। तालु के भीतर से होकर सुषुम्णा नाड़ी मूर्द्धा की ओर चली गई है। उसका दूसरा नाम इन्द्रयोनि है।[3] इस मार्ग के सहारे ऊर्ध्वस्रोता चेतना शिरःकपाल विदीर्ण करके महाशून्य में मिल जाती है। ऊर्ध्वगति के समय एक-एक व्याहृति के प्रतिपाद्य एक-एक दिव्यज्योति का आविर्भाव होता है। अग्नि, वायु एवं आदित्य को पार करके ब्रह्म को पाते हैं।[4] यह पाना ही 'स्वाराज्य' है। पुरुष उस समय वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन एवं विज्ञान का पति होता है।[5] तब वह आकाश शरीर, सत्यात्म, प्राणाराम, मन आनन्द, शान्ति समृद्ध अमृत-स्वरूप होता है।

१. हृदय ही आध्यात्मिक उपलब्धि का उत्तम स्थान है, इसका उल्लेख उपनिषद् के अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। हृदय से ही नाड़ी-मार्ग द्वारा प्राण ऊर्ध्वरेता होकर आदित्य की ओर चला जाता है। इस भाव का मूल ऋक्संहिता में है : 'एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्रात् ।५८।५). अन्तः समुद्रे हृद्यन्तरायुषि, अपापनीके समिथे (११)। उपनिषद् में जिसप्रकार हृदयाकाश, उसी प्रकार संहिता में हृद्यसमुद्र । तु. ऋ. इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा (१।६१।२)।
२. तु. मु. २।२।७। पुरुष मनोमय - यह उसके सङ्कुचन का परिचय नहीं। उत्तरापन्था में मन का अतिक्रमण करके जाना होता है। इसका उल्लेख बाद में (२।३-४) है। किन्तु आकाश में प्रतिष्ठित होकर फिर अनुभव करता हूँ कि वे ही देह, प्राण, मन में सर्वत्र हैं (तु. १।६।२); शाण्डिल्यविद्या छा. ३।१४।१-२; बृ. ४।४।५, ५।६।१)। यह अनुभव अवतरण का है।
३. 'इन्द्रयोनि' इन्द्र अथवा ब्रह्मोपलब्धि का मार्ग है। जिसे ऐतरेयोपनिषद् में 'विदृतिर्नाम द्वाः' अथवा 'नान्दन' कहा गया (१।३।१२) है। ऋक्संहिता के आप्री-सूक्तों में इस दुवार या द्वार का नाम 'देवीर्द्वारः' (द्र. ३।४।५ टीका) है। वहीं उपनिषद् में 'लोकद्वार' (छा. २।२४, ८।६।२-६) है। नान्दन और सुषुम्ण समानार्थक शब्द हैं। इन्द्रयोनि ही योगशास्त्र का ब्रह्मरन्ध्र है।
४. तु. के. ३, ४। आदित्य के स्थान पर हम वहाँ इन्द्र को पाते हैं, किन्तु इन्द्र भी आदित्य हैं। वृत्रवध द्वारा वर्षा करवाना और उजाला करना दोनों ही उनका कार्य है।
५. यहाँ हम प्राण के स्थान पर विज्ञान पाते हैं। कौषीतकी में देखा है कि प्राण और प्रज्ञा में कोई भी भेद नहीं (२।१४, ३।९)।

तत्पश्चात् सप्तम अनुवाक में **पाङ्क्त** ब्रह्मविद्या है। **पङ्क्ति** एक पञ्चाक्षर छन्द है। सब कुछ उस छन्द में ग्रथित है, सब पाँच का खेल है।[१] अधिभूत-दृष्टि में जिस प्रकार पृथिवी इत्यादि पञ्चलोक, अग्नि इत्यादि पञ्चदेवता अथवा पञ्चज्योति,[२] अप् इत्यादि पञ्चभूत देखते हैं उसी प्रकार अध्यात्म-दृष्टि में प्राण इत्यादि पञ्चवायु, चक्षुः इत्यादि पञ्चेन्द्रिय[३] एवं चर्म इत्यादि पञ्चधातु देखते हैं। सब मिलाकर जिस प्रकार अधिभूत विषय या आधिभौतिक वस्तु पन्द्रह हैं, उसी प्रकार अध्यात्म विषय भी पन्द्रह हैं। पन्द्रह विषयों के अधिष्ठाता रूप में षोडशकल पुरुष हैं। पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड उनकी ही विभूति है। उनके ही पाँच का खेल है, वे ही सब हैं – यही उपनिषत् है।

तत्पश्चात् अष्टम अनुवाक में प्रणवविद्या है। ओम् ही ब्रह्म, ओम् ही सब कुछ है।[४]

नवम अनुवाक में ब्रह्मनिष्ठ गृहस्थ के जीवनादर्श की विवृति है। उन्हें स्वाध्याय एवं प्रवचन द्वारा विद्या के अनुशीलन एवं सम्प्रदान की धारा को अव्याहत रखना होगा। ऋत, सत्य, तपः, दम एवं शम उनका आश्रय होगा। उन्हें अग्न्याधान करके अग्निहोत्री होना होगा। अतिथि-

---

१. तु. तै. ब्रा. १।१।१०।४ (पञ्चाग्नि प्रसङ्गमें); वृ. १।४।१७

२. परम्परा या क्रम लक्षणीय। उसके भीतर से चेतना का उत्तरायण सूचित होता है। कठोपनिषद् में वायु के स्थान पर विद्युत् (२।२।१५) है।

३. प्राण के स्थान पर त्वक् है। त्वक् स्पर्शेन्द्रिय है। अध्यात्म-प्राण अथवा अधिदैवत-वायु का गुण भी स्पर्श है। ऋक्संहिता में यह स्पर्श 'पृश्नि' है, वहाँ मरुद्गण पृश्निमातरः (१।२३।१०,३८।४, ८५।२, ५।५७।२....)।

४. प्रणवविद्या सर्वविद्या का सार है, प्रायः सभी उपनिषदों में उसका प्रसङ्ग है। यहाँ ब्रह्म के अर्थ में शब्दब्रह्म एवं परब्रह्म दोनों का ही बोध होता है। संहिता में 'ब्रह्म' विशेष रूप से शब्दब्रह्म का ही बोधक है। जो शब्दराशि वेद अथवा ज्ञान का वाहन है, वह ब्रह्म है। उस शब्दराशि का सार व्याहृति, उसका सार प्रणव है (ऐ. ब्रा. ५।३२)। व्याहृति लोकसृष्टि का मन्त्र है, अतः प्रणव आकाश में सृष्टि का आदिस्पन्द है। ऋक्संहिता की भाषा में गौरीरूपिणी एकपदी वाक् है, जिसके हम्बारव अथवा रँभाने की ध्वनि से कारणसलिल व्याकृत हुआ (१।१६४।४१)।

सत्कार एवं लोगों के प्रति यथा कर्तव्य करना होगा। सन्तानोत्पादन करके गार्हस्थ्यजीवन सुव्यवस्थित करना होगा।[१]

इन सब साधनाङ्गों में राथीतर के मत से सत्य ही श्रेष्ठ है, पौरुशिष्टि के मत से तप एवं मौद्गल्य के मत से – स्वाध्याय एवं प्रवचन।

तत्पश्चात् दशम अनुवाक में ऋषि त्रिशङ्कु के वेदानुवचन में ब्रह्मात्म भाव की गम्भीर व्यञ्जना का उल्लेख है।

एकादश अनुवाक में गुरुकुल से समावर्तन के समय अन्तेवासी के प्रति आचार्य के अनुशासन का प्रसङ्ग है। आचार्य कहते हैं 'अप्रमत्त रहो, सत्य से, धर्म से, कुशल से,[२] भूति से स्वाध्याय एवं प्रवचन से कभी भी विच्युत मत होना। मातृदेव, पितृदेव, आचार्यदेव, अतिथिदेव होओ। इनके साथ देवबुद्धि रखकर आचरण करो। तुम्हारा कर्म अनवद्य हो। सुचरित का अनुशीलन करना। ब्रह्मविद् का सम्मान करना। श्रद्धा, श्री, ह्री, (लज्जा) भय और संवित् के साथ दान करो। ब्रह्मविदों के आचरण से जीवन की समस्याओं का समाधान खोजो।'

भारतीय-समाज इस अनुशासन का यथासाध्य पालन करने की चेष्टा करता आया है।

द्वादश अनुवाक में शान्तिपाठ की अनुवृत्ति द्वारा शीक्षावल्ली का समापन किया गया है।

---

१. ब्राह्मण का जीवन ब्रह्म-प्राप्ति की ही प्रस्तुति है। गृहस्थ ब्रह्मविद् नहीं हो सकते, इस तरह की कोई चर्चा प्राचीन उपनिषदों में नहीं पाई जाती। यह भाव परवर्ती-काल का है। जान पड़ता है, वह अवैदिक मुनि-सम्प्रदाय के प्रभाव का परिणाम है।

२. 'अप्रमत्त रहोगे' यह बुद्धदेव का भी अन्तिम उपदेश है। 'कुशल' बौद्धधर्म में एक पारिभाषिक संज्ञा है। और बतलाया गया है कि कुशल का करण, अकुशल का अकरण एवं चित्तशुद्धि – ये तीनों ही बुद्धानुशासन के सार हैं।

तत्पश्चात् नौं अनुवाकों में ब्रह्मवल्ली है। उसके प्रथम अनुवाक में ही ब्रह्म का लक्षण बतलाते हुए कह गया है – 'सत्यं ज्ञानम्, अनन्तं ब्रह्म।'[१] यह ब्रह्म परमव्योम में गुहाहित है।[२] उसे जानना ही हमारा पुरुषार्थ है एवं उसी से समस्त कामनाओं की परितृप्ति होती है और यह ब्रह्म ही हमारा आत्मा है।

तत्पश्चात् षष्ठ अनुवाक तक आत्मचैतन्य किस प्रकार ब्रह्मचैतन्य में विस्फारित या प्रसारित हो सकता है? उसकी व्याख्या है।

चैतन्य अथवा चेतना का विस्फारण या प्रसारण अन्तरावृत्ति के द्वारा होता है। यहाँ पुरुष की कल्पना एक ऐसे पक्षी के रूप में की गई है, जो अनन्त की ओर उड़ता जा रहा है।[३]

लौकिक-दृष्टि से पुरुष को हम पहले अन्नरसमय अथवा जड़मय देख रहे होते हैं। उस समय उसकी देह ही उसके आत्मा अथवा निजत्व

१. वेदान्त में ब्रह्म का स्वरूपलक्षण, सत्-चित्-आनन्द है। उपनिषद् में इन तीनों को एक स्थान पर कहीं भी नहीं पाया जाता। इसलिए कतिपय विद्वानों का प्रस्ताव है कि 'सत्य ज्ञानम्, अनन्तं ब्रह्म' के स्थान पर 'सत्यं ज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म' पढ़ा जाए। किन्तु इस क्षेत्र में पाठान्तर की कल्पना निष्प्रयोजनीय है। इस वल्ली के अन्त में आनन्द का प्रसङ्ग विस्तृत रूप में ही है। अतः समस्त वल्ली को ही वेदान्तिक सच्चिदानन्द की भावना का बीज कहा जा सकता है. उसके लिए आनन्त्य की भावना को काटने-छाँटने की कोई आवश्यकता नहीं। याद रखना होगा कि ब्रह्म अथवा बृहत् की चेतना की प्रतिष्ठा ही आनन्त्य में है।

२. 'परमव्योम' ऋक्संहिता में परिभाषित चेतना की उत्तम भूमि है। जिसके अन्य नाम हैं – नाक, ऊरुलोक, परमपद, अनिबाध इत्यादि। उपनिषद् में वही आकाश है। गुहा हार्दाकाश। परमव्योम को हृदय में अनुभव करने के कारण ही कहा जा सकता है 'अयमात्मा ब्रह्म'।

३. यह कल्पना संहिता एवं ब्राह्मण की सुपरिचित कल्पना है। अग्निचयन की वेदी का आकार पक्षी जैसा होता है। इस भावना का अनुसरण उपनिषद् में किया गया है। आदित्य हंस अथवा सुपर्ण (ऋ. ४।४०।५; १।३५।७...)। आदित्य में जो पुरुष है, वही फिर गुहाहित पुरुष (तै. २।८।५)। यह पुरुष भी एक पक्षी है। दो पक्षी सदा एक साथ रहने वाले सखा जैसे एक ही वृक्ष पर वास करते हैं (ऋ. १।१६४।२०)।

के बोध का आधार है। देह अन्न का विकार है। अन जड़ है, किन्तु जानना होगा कि यह अन्न भी ब्रह्म है।[१]

किन्तु सच तो यह है कि अन्नमय देह ही पुरुष का सब कुछ नहीं, बल्कि इस अन्नमय 'मैं' के भीतर प्राणमय 'मैं' है। उस प्राण ने देह को पूर्ण करके रखा है, वस्तुतः वही देह का आत्मा है। उसका अपना आत्मा आकाश है। यह प्राण भी ब्रह्म है।[२]

इस प्रकर प्राणमय पुरुष के भीतर मनोमय पुरुष है। आदेश उसका आत्मा है।[३] मनोमय पुरुष के भीतर विज्ञानमय पुरुष है, योग उसका

१. अन्न जड़ अथवा MATTER। किन्तु यह संज्ञा MATTER की अपेक्षा अधिक व्यञ्जनावह है। उपनिषत् सत्ता के दो भाग करती है। एक भाग अन्न और दूसरा भाग अन्नाद है। अन्नाद अन्न को आत्मसात् करता है. अन्न ही अन्नाद में रूपान्तरित होता है। इस आत्मसात्करण (ASSIMILATION) की परम्परा ही सृष्टि के अन्तर्गत ऊर्ध्व परिणाम की धारा है। अतः अन्न केवल जड़ नहीं, बल्कि चैतन्य में रूपान्तरित होने वाला सामर्थ्ययुक्त जड़ है। उसके आधार पर चेतना का क्रमिक उत्कर्षण सृष्टि का रहस्य है। अन्न से आत्मा तक यह क्रम ही यहाँ विवृत हो रहा है। जीव अन्नाद है, किन्तु परम अन्नाद वह परमचैतन्य है। तु. देवीसूक्त 'मया सो अन्नमत्ति' ऋ. १०।१२५।४)।

२. अन्नरसमय, आत्मचैतन्य के अनुभव को प्राणमय आत्मचैतन्य की गहराई में ले जाना होगा। यह धारा सर्वत्र है। प्राण का आत्मा अथवा अधिष्ठान आकाश अर्थात् प्राण आकाश का ही स्पन्द मात्र है। आकाशप्राण, शिव-शक्ति जैसा एक युग्म है। इस प्राण का अनुभव सुषुप्ति में प्राप्त हो सकता है, जब चेतना निर्विषय होती है। अतएव आकाशवत् (तु. प्र. ४)।

३. 'आदेश' प्रचोदिका अथवा प्रेरयित्री वाक् (द्र. पादटीका १३५)। मन में ऊर्ध्व-चेतना के आवेश के कारण यह स्फुरित होती है। यह 'मनोजवा' अग्निशिखा के साथ तुलनीय (मु. १।२।४; तु. 'हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु' ऋ. १०।७१।८)।

आत्मा है।[१] उसके भीतर आनन्दमय पुरुष है। आनन्द ही उसका आत्मा है।

इस आनन्द को जानना ही परम पुरुषार्थ है। वही ब्रह्म को जानना है। इस जानने के दो रूप हैं – असद् ब्रह्मरूप में, फिर अस्ति ब्रह्मरूप[२] में। दोनों ही आनन्द हैं।

जो ब्रह्म को जानते नहीं अथवा जो जानते हैं, चेतना के संहरण अथवा मृत्यु[३] में वे दोनों ब्रह्म में ही जाते हैं।[४] किन्तु आनन्द का उपभोग विद्वान् ही करते हैं।[५]

इस आनन्दब्रह्म को प्राप्त करने पर ही सृष्टि का रहस्य समझ में आता है। सृष्टि की इच्छा या कामना ब्रह्म के आनन्द का एक रूप है।

---

१. पातञ्जल-दर्शन के अनुसार विज्ञानभूमि ही योग का प्रवर्तक है। चित्त तब एकाग्र होता है। संहिता में यह 'धीयोग' है। उसके सूचक कई मन्त्र श्वेताश्वतरोपनिषद् (२।१-५) में प्राप्त होते हैं। विशेष आलोचना द्र. ऋ. ३।३।८ टीका 'धीनाम्'।

२. सद्ब्रह्म का प्रतीक आदित्य, असद्ब्रह्म का प्रतीक आकाश। इसी आधार पर साधना में ऋषिधारा और मुनिधारा का प्रवर्तन। संहिता में वे दोनों मित्रावरुण। दर्शन में वेदान्त एवं साङ्ख्यप्रस्थान। उपनिषद् के अनेक स्थलों पर दोनों के विरोध की नहीं, बल्कि समन्वय की ही बात है। द्र. 'ब्राह्मण' – प्रसङ्ग में नचिकेता का उपाख्यान।

३. सुषुप्ति जिस प्रकार चेतना का संहरण है, उसी प्रकार मृत्यु भी। समाधि भी वही है। समाधियोग में इच्छासुप्ति अथवा इच्छामृत्यु सम्भव है।

४. यहाँ ब्रह्म निर्विशेषचैतन्य है। प्राकृत-चेतना के निकट वह तमोमय अव्यक्त है, किन्तु योगचेतना में ज्योतिर्मय व्यक्त है।

५. मूल में चेतना के संहरण अथवा प्रत्याकर्षण को 'प्रेत्य' कहा गया है। यह शब्द उपनिषद् में बहुप्रयुक्त है। अविद्वान् के पक्ष में उसका अर्थ मृत्यु, और विद्वान् के पक्ष में चेतना का उत्तरण – चाहे वह जीवन में ही हो अथवा मृत्यु में ही हो। 'प्रेत्य' आनन्द का सम्भोग या उपभोग होता है। वह सम्भोग अनिर्वचनीय है। अतः मुनिपन्थियों का कथन है कि उसका लक्षण दुःखाभाव, दुःख का अभाव है, वह संज्ञा भी नहीं, असंज्ञा भी नहीं। अर्थात् सचेतनता भी नहीं, अचेतनता भी नहीं।

सृष्टि वस्तुतः उसका प्रजनन है। उसके मूल में तपः है।[१] सृष्टि में अनुप्रविष्ट[२] होकर ब्रह्म सत् एवं त्यत् अर्थात् व्यक्त एवं अव्यक्त हुआ। वही सत्य है।[३] जो असत्, उसने ही सद् रूप में स्वयं को व्याकृत किया, विचित्र या विशिष्ट रूप में अभिव्यक्त किया। यही उसकी सुकृति है। अतएव उसका नाम 'सुकृत' है, वह स्वयंकृत, सुनिर्मित है।

वह रस है। रस-स्वरूप की उपलब्धि ही आनन्द है। आकाशरूप आनन्द ही वह आनन्द है, जो निखिल प्राण का मूलाधार है। इस अव्यक्त आकाश में प्रतिष्ठित होना ही आनन्द है। आनन्द अभय है, आनन्द परमसाम्य में है। उससे किञ्चित् विच्युत होने से ही भय। भय अविद्याग्रस्त का, भय देवता का। और देवता का भय प्रशासन का।

तत्पश्चात् अष्टम अनुवाक में आनन्द-मीमांसा है। मनुष्य के सर्वकामतर्पण के आनन्द से लेकर अकामहत श्रोत्रिय के ब्रह्मानन्द तक आनन्द के कई स्तर हैं। मनुष्य के आनन्द से बढ़कर मनुष्यगन्धर्व का आनन्द है और उससे बढ़कर देवगन्धर्व का आनन्द है। गन्धर्व का आनन्द प्राणतर्पण या प्राण को तृप्त करने में है। उससे बढ़कर मन की

---

१. इस काम के सम्बन्ध में ऋक्संहिता में कहा गया है – 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं तदासीत' (१०।१२९।४)। यही छान्दोग्य में आदित्य के अन्तर्गत 'क्षोभ' (३।५।३)। आदित्य का ताप ही 'तपः' (Radiation) है। वही सृष्टि के मूल में है (तु. ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात् तपसो अध्यजायत (१०।१९०।१)। तब तो सृष्टि, परमपुरुष का आत्मविकिरण है, आत्मदीप्ति है (तु. ऋ. पादोऽस्येहाभवत् पुनः, ततोविष्वङ् व्यक्रामत् (१०।९०।४)।

२. सृष्टि में ब्रह्म का अनुप्रवेश ही उसकी 'माया' है (तु. ऋ. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव. ....इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते ६।४७।१८)। इस माया से ही वह 'एवं वा इदं विबभूव सर्वम्' (ऋ. ८।५८।२), वह 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् (१०।१९०।१) अर्थात् सारे शीर्ष ही उसके शीर्ष हैं, सारी आँखे ही उसकी आँखें हैं, सारे चरण ही उसके चरण हैं।

३. कुछ काट-छाँटकर या छोड़कर नहीं, बल्कि सब लेकर एक अखण्ड सत्य है। तु. छा. ८।३।५, बृ. ५।५।१; द्र. ऋ. ३।६।१० टीका 'सत्ये')।

तृप्ति में पितृगण का आनन्द है। उससे भी बढ़कर विज्ञान का दिव्य आनन्द है। उसके छह स्तर हैं। अन्त के स्तर पर प्रजापति का आनन्द है। उससे भी बढ़कर आनन्द का आनन्द वा ब्रह्मानन्द है।

इस आनन्द में अनुभव होता है कि जो इस हृदय में है, और जो उस आदित्य में है। दोनों ही एक है।[१] तब अनुभविता की चेतना आत्मचेतना की सभी भूमियों पर अन्नमय से आरम्भ करके आनन्दमय तक सङ्क्रान्त या व्याप्त होती है। इस प्रकार ब्रह्म के आनन्द को जान लेने पर फिर कहीं भी भय नहीं रहता। 'पुण्य किया या कि पाप किया', यह ताप भी उस समय नहीं रहता।[२]

यहाँ ब्रह्मवल्ली समाप्त होती है। तत्पश्चात् दश अनुवाकों में भृगुवल्ली है।

प्रथम छह अनुवाकों में भार्गवी वारुणीविद्या अथवा ब्रह्मविद्या का उपदेश है। वरुण[३] भृगु को बतलाते हैं कि अन्न अर्थात् अन्न रसमय

१. तु. ईशो. १५-१६। यह सायुज्य हुआ। संहिता में भी उसकी उदात्त अभिव्यक्ति है (द्र. छान्दोग्य विवृति ३।१३)।

२. तु. बृ. ४।४।२२. कौ. ३।१। अखण्ड-ब्रह्मचेतना पाप-पुण्य के बोध से ऊपर है। साधना के प्रथम पर्व में यह बोध रहता है, रहना भी उचित है। उस समय हम अधर्म का प्रत्याख्यान करते हुए धर्म की साधना करते हैं। तत्पश्चात् धर्म में प्रतिष्ठित होकर देखते हैं कि सत्य धर्म-अधर्म से परे है। (तु. क. १।२।१४)। यह कुछ ऐसे है– जैसे काँटे से काँटा निकालना और फिर दोनों ही काँटों को फेंक देना। पहले भी देखा है कि सापेक्ष सत्य एवं अनृत या असत्य दोनों को लेकर ही परमसत्य का अस्तित्व है। आर्यभावना में सत्-असत् दोनों ही उसकी विभूति हैं, किन्तु सेमिटिक भावना दोनों के बीच विरोध को अन्त तक बचाए रखना चाहती है। अखण्डाद्वैत की दृष्टि से पाप-समस्या का समाधान एकमात्र भारतीय-भावना का ही वैशिष्ट्य है।

३. ब्रह्मविद्या को वारुणीविद्या बतलाया जा रहा है। वरुण ब्रह्म। संहिता में उसका प्रतीक आकाश है, विशेष रूप से अव्यक्त ज्योतिर्मय रात्रिकालीन आकाश। यह आकाश उपनिषद् में ब्रह्म की साधारण सञ्ज्ञा है। वरुण के सम्बन्ध में द्रष्टव्य, तृतीय अध्याय 'वरुण'।

शरीर, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन एवं वाक् – ये सब ब्रह्मोपलब्धि के द्वार हैं।[१] ब्रह्म सर्वभूत की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कारण है, यह उसका लक्षण है।[२] ब्रह्म को तप के द्वारा जाना जाता है।[३] इस विज्ञान का क्रम है। वह क्रम ब्रह्मवल्ली में उल्लिखित क्रम के अनुरूप है अर्थात् अन्न, प्राण, मन, विज्ञान एवं आनन्द रूप में ब्रह्म को जानना होगा।

तत्पश्चात् तीन अनुवाकों में अन्न की प्रशस्ति है। अन्न जड़ है, अन्नाद अर्थात् जो अन्न को आत्मसात् करता है, वह चैतन्य है। दोनों ओत-प्रोत एवं अन्योन्य प्रतिष्ठित हैं। प्राण एवं शरीर, अप् एवं तेज, पृथिवी एवं आकाश, इन तीन युग्मों के बीच यह सम्बन्ध है। भौतिक शरीर भी अन्नाद अथवा चेतनायुक्त है। तपस्या के कारण प्राण की उदान गति में वह आकाश-शरीर होता है। इस प्रकार अन्न भी ब्रह्म-प्राप्ति का द्वार होता है। अतएव अन्न की निन्दा नहीं करोगे, उसकी उपेक्षा नहीं करोगे, उसे संवर्द्धित करोगे।

तत्पश्चात् दशम अनुवाक के आरम्भ में बतलाया जा रहा है। कि कोई आश्रय चाहे तो अस्वीकार नहीं करोगे। अन्न सबके साथ मिल बाँटकर खाओगे।[४] यह जान-मान कर चलो कि जिस प्रकार दोगे, उसी प्रकार पाओगे।

१. पाँच प्रसिद्ध साधनों के अतिरिक्त अन्न को भी यहाँ ब्रह्म का साधन बतलाया जा रहा है। जिस प्रकार बृहदारण्यक में हृदय को भी बतलाया गया है।

२. वेदान्त में यही ब्रह्म का तटस्थलक्षण है (ब्र.सू. १।१।२)। पराक् अथवा वस्तुनिष्ठ (Objective) दृष्टि से तटस्थलक्षण, प्रत्यक् अथवा आत्मनिष्ठदृष्टि से स्वरूपलक्षण – सत्-चित्-आनन्द। यहाँ तटस्थ लक्षण के आधार पर अग्र्या बुद्धि द्वारा स्वरूपलक्षण की ओर बढ़ जाने का सङ्केत है।

३. 'तपः' ब्रह्मोपलब्धि का मुख्य साधन है। एक और साधन श्रद्धा है (तु. छा. ५।१०।१)। पतञ्जलि ने भी इन्हें योग का उपाय बतलाया है। योगसूत्र १।२०)। तु. ऋ. त्वं तपः परितप्याजयः स्वः (तुर्यज्योतिः) १०।१६७।१; तपसा ये स्वर्ययुः १५४।२।

४. तु. ऋ. मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी (१०।११७।६)। इससे ही पञ्चमहायज्ञ के अन्तर्गत नृयज्ञ का अनुशासन।

तत्पश्चात् सर्वत्र ब्रह्मानुभव का उपदेश है। ब्रह्म को भीतर-बाहर सर्वत्र अनुभव करना होगा। अपने भीतर उसका अनुभव करना 'मानुषी-समाज्ञा' अथवा 'अध्यात्म-विज्ञान' है। वह तुम्हारे वाक्य में क्षेम रूप में, प्राणापान अथवा प्रश्वास-निश्वास में योग-क्षेम रूप में, हाथ में कर्म रूप में, चरण में गति रूप में और वायु में विमुक्ति रूप में है।[१]

उसी प्रकार फिर उसे बाहर अनुभव करना 'दैवी समाज्ञा' अथवा 'अधिदैवत-विज्ञान' है। वह वृष्टि में तृप्ति रूप में, विद्युत् में बल रूप में, पशु में यश अथवा ईशना रूप में, नक्षत्रों में ज्योति रूप में, उपस्थ में प्रजनन, अमृत एव आनन्द रूप में है।[२] आकाश रूप में वह सब कुछ हुआ है। वह प्रतिष्ठा है, वही महः अथवा महिमा है[३], वही मन अथवा मान है, और वही प्रणति है।

---

१. पाँच कर्मेन्द्रियों में यहाँ चार का उल्लेख है। उपस्थ को उसके महत्त्व को ध्यान में रखकर दैवी समाज्ञा के अन्तर्गत रखा गया है।

२. सुप्रजनन को वेद में अत्यन्त पवित्र दृष्टि से देखा जाता है। बृहदारण्यक में गर्भाधान का विस्तृत विवरण है (६।४।१३-२२)। गर्भाधान को पुत्रमन्थ कहा जाता है। इसके अतिरिक्त और भी दो मन्थ-कर्म हैं - एक श्रीमन्थ (छा. ५।२, बृ. ६।३), और एक ऊर्ध्वमन्थ (तु. 'वातरशना...श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनः' तै. आ. २।७।१; द्र. मुनिसूक्त ऋ. १०।१३६)। इन तीनों मन्थ-कर्मों का लक्ष्य है, क्रमशः प्रजा या सन्तान, श्री एवं आत्मा को प्राप्त करना। बृहदारण्यक के कई गर्भाधान-मन्त्र ऋक्-संहिता से लिये गए हैं (१०।१८४; तु. १०।१८३)। कई यजुःमन्त्र दिव्यभाव से पूर्ण हैं, वहाँ आदिमिथुन द्यावा-पृथिवी के साथ दम्पती की तुलना की गई है। नारी के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा का परिचय हम इस मन्त्रांश में पाते हैं - 'जायेदस्तं मधवन् त्सेदु योनिः' (ऋ. ३।५३।१४; तु. १०।८५।४६)।

३. महः, विस्तार ज्योतिः एवं शक्ति इन तीनों के समन्वय का बोधक है। संहिता में वही 'मघ' है। साङ्ख्य-साधना में महात्मा में ज्ञानात्मा के नियमन के मूल में भी यही भाव है (क. १।३।१३)। तु. चतुर्थी व्याहृति (तै. १।५)।

हम जिसे अनिर्वचनीय 'तत्' कहते हैं[१], वही ब्रह्म है। जो ब्रह्मवान् होते हैं, उनके इर्द-गिर्द ब्रह्मद्वेषी रह नहीं सकते। उस समय इस पुरुष में और उस आदित्य में उसी एक का अनुभव होता है।

इस प्रकार जो ब्रह्म को जानते हैं, उनकी चेतना अन्न से आनन्द तक सभी भूमियों पर व्याप्त होती है। वे कामान्नी, कामरूपी, कामचारी होकर आनन्द में गाते फिरते हैं - 'मैं ही अन्न हूँ, मैं ही अन्नाद हूँ, मैं श्लोककृत हूँ।[२] मैं ऋत एवं देवताओं का भी पूर्वज हूँ।[३] मैं अमृत की नाभि हूँ।[४] जो मुझे देता है, वही मुझे पाता है। मैं अन्नाद का भी अत्ता[५] हूँ अर्थात् परमचैतन्य हूँ। मैं ही विश्वभुवन का प्रशास्ता हूँ। मैं ज्योति अर्थात् सूर्य की ज्योति जैसा हूँ।'

तैत्तिरीयोपनिषद् का यहीं अन्त होता है। इस उपनिषद् में हमने शिक्षा एवं जीवनादर्श का एक सुन्दर चित्र प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त व्याहृतिविद्या एवं पाङ्क्तविद्या के माध्यम से षोडशकल पुरुष का सन्धान, अन्न से आनन्द तक ब्रह्मचैतन्य का क्रमिक-विकास एवं आनन्द-मीमांसा का परिचय प्राप्त किया। अन्न को भी ब्रह्मविद्या के साधन के रूप में ग्रहण करना इस उपनिषद् का एक लक्षणीय वैशिष्ट्य है।

---

१. तत् अथवा त्यत् अनिरुक्त का बोधक है (तै. २।६), जिसकी एक और सञ्ज्ञा 'अतिष्ठाः' है (बृ. २।१।२; तु. ऋ. स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् १०।९०।१)। उसे ही संहिता में 'तदेकं देवानां श्रेष्ठम् वपुषाम् ऋ. ५।६२।१, 'किमपि स्विदेकम्' १।१६४।६ बतलाया गया है।

२. श्लोक।। श्लोक = श्रुति अथवा वाक् का गुहाहित पद (ऋ. १।१६४।४५)।

३. देवताओं के पहले अदिति अथवा असत् था (ऋ. १०।७२।२,३,५)। देवताओं का प्रतीक सूर्य (तु. ऋ. १।११५।१) और पृष्ठभूमि में जो आकाश है, वही अदिति, अथवा असत् अथवा 'असुर' वरुण है।

४. 'नाभि', केन्द्रबिन्दु, ग्रन्थि। तु. ऋ. ९।७४।६ वहाँ द्युलोक के नीचे चार अमृत से भरी नाभियों का उल्लेख है।

५. अर्थात् चेतन का भी चेतन (क. २।२।१३) अथवा परमचैतन्य। समस्त मन्त्र साम-संहिता से लिया गया है (६।१।९)।

तत्पश्चात् **कठोपनिषत्।** इस उपनिषद् के दो अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में तीन-तीन वल्ली सङ्कलित हैं। दोनों अध्यायों के उपसंहार का विवेचन करने पर समझ में आता है कि द्वितीय अध्याय प्रथम अध्याय का विस्तार एवं परवर्ती संयोजन है। प्रथम अध्याय के आरम्भ में आख्यायिका के कई गद्य-वाक्यों के अतिरिक्त समग्र उपनिषत् ही पद्य में रचित है।

नचिकेता का उपाख्यान अत्यन्त प्राचीन है। ऋक्संहिता में ही उसका कथा-बीज प्राप्त होता है, जैसा कि तैत्तिरीय-ब्राह्मण के आलोचना-प्रसङ्ग में हमने उस पर प्रकाश डाला है। वहाँ इस उपाख्यान का दूसरा रूप हमें दिखाई देता है।[१] यह उपनिषत् निश्चय ही कृष्णयजुर्वेद की काठक-शाखा के अन्तर्गत थी। एक समय इस शाखा का अधिक प्रचार था।[२] इस समय केवल काठकसंहिता ही उपलब्ध है, उसका ब्राह्मण उपलब्ध नहीं। इसके साथ उपनिषद् का प्राचीनतर रूप भी सम्भवतः लुप्त हो गया है।

यह उपनिषत् यम और नचिकेता का कथोपकथन है।[३] नचिकेता के पिता का नाम वाजश्रवस, किन्तु यथार्थ नाम पता नहीं चलता। ये गौतमवंशीय थे। इस वंश के पुरुषों की ख्याति बुद्धिवादियों के रूप में थी। नचिकेता का मूल प्रश्न भी बुद्धिवाद से सम्बन्धित है। इस दृष्टि से उपनिषद् में आत्मविद्या अथवा मृत्युविद्या एवं योग-विधि की व्याख्या की गई है। ये सब बातें यज्ञविद्या का अतिक्रमण करके उससे भी परे की हैं।[४]

---

१. द्र. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।११।८

२. तु. ग्रामे-ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते (पा. म. ४।३।१०१)।

३. नचिकेता मनुष्य, यम देवता - जिस प्रकार संहिता में कुत्स और इन्द्र, वसिष्ठ और वरुण को पाते हैं। पौराणिक कल्पना नर-नारायण, ऐतिहासिक उदाहरण वासुदेवार्जुन।

४. द्र. २।३।१८। सर्वसाधारण की साधना होने पर भी योग के विशेषज्ञ मुनिगण हैं। पतञ्जलि चित्तवृत्ति के निरोध को योग का लक्षण बतलाते हैं। उसका अनुभव होगा शून्यता अथवा विनाश, अथवा असद्ब्रह्म। स्वभावतः मृत्यु अथवा यम उसके प्रवक्ता होंगे।

नचिकेता नाम का अर्थ है 'जो नहीं जानता'[१]। जानता नहीं, किन्तु विद्या की अभीप्सा उसके भीतर है।[२] कुमार एवं किशोर के रूप में उसका वर्णन किया गया है।[३] पिता का वित्त-शाठ्य देखकर उसकी किशोर-चेतना आहत हुई और उसके भीतर श्रद्धा का आवेश हुआ।[४] उस आवेश में उसकी आँखों के सामने पुनर्मृत्यु का चित्र अथवा ब्रह्मचक्र का आवर्तन[५] तैरने लगा। शुरू हो गया उसका मृत्युतरण अभियान।[६]

---

१. इस सञ्ज्ञा की और एक व्यञ्जना हो सकती है 'जानने के क्रम में जो जानने के बाहर चला गया।' संहिता में एक ऐसी सञ्ज्ञा है 'नवेदाः' (१।३४।१, ७९।१, १६५।१३, ४।२३।४), न वेदसो अमृतानामभूम १०।३१।३), निःसन्देह जिसका अर्थ है 'पूर्णप्रज्ञ'। सम्पूर्ण जानना नहीं हो सकता, यही जानने की अन्तिम बात है (तु. क. २।१-३)। नासदीयसूक्त के अन्त में यही ध्वनित हुआ है, 'सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद' (ऋ. १०।१२९।७)। नचिकेता के तृतीय प्रश्न का उत्तर भी इसी प्रकार है।

२. द्र. १।२।४

३. अध्यात्म-चेतना का परिपूर्ण स्फुरण किशोरावस्था में ही हो सकता है। इसे आधुनिक मनोविज्ञान भी बतलाता है। सत्यकाम, ध्रुव, प्रह्लाद ये सभी किशोर थे। औपनिषद पुरुष भी षोडशकल अथवा किशोर। इसलिए भागवत-जनों का कथन है - 'वयः कैशोरकं ध्येयं'। किशोरावस्था पार करने पर भी उसे फिर वापस लाना होता है, नहीं तो सायुज्य सिद्ध नहीं होता है। यह अध्यात्म-साधना का एक रहस्य है। प्राज्ञम्मन्य पितृचैतन्य के साथ इस किशोरावस्था का विरोध है, जिसे उपनिषद् के आरम्भ में ही कौशल के साथ दिखलाया गया है।

४. श्रद्धा, योग का प्रथम उपाय (यो. सू. १।२०) है। यह श्रद्धा जब हृदय के आशय, अभिलाष अथवा आकूति से जागती है, तभी मनुष्य को प्रकाश मिलता है (ऋ. १०।१५१।४)। 'आवेश' प्रसाद अथवा शक्तिपात की वैदिक सञ्ज्ञा (तु. ऋ. स मा धीरः पाकमत्राविवेश १।१६४।२१; २।२७।११ यही नचिकेता का भाव) है।

५. तु. श्वे. १।६। ब्राह्मण में पुनर्जन्म के स्थान पर पुनर्मृत्यु का उल्लेख है। एक बार मरकर यदि विवस्वान् पुरुष को हम नहीं पाएँ, तो फिर मरना और जनमना होगा। तु. वशिष्ठ की कातर प्रार्थना : 'मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्। मृळा सुक्षत्र मृळय' (ऋ. ७।८९।१; 'मृन्मयं गृह' देह, तु. 'गहकारक' धम्मपद-१५३-५४, यूरोपियन अवश्य क़ब्र अथवा मृतास्थि-पात्र कहते हैं)।

६. इसको ही ईशोपनिषद् में 'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा' कहा गया है। (१४)।

इस अभियान में उसे तीन रातों के अँधेरे को पार करना पड़ा।[१] तत्पश्चात् उसने वैवस्वत यम को देखा।[२]

मृत्यु के सम्मुख होना कभी भी व्यर्थ नहीं हो सकता। वही तो जीवन का परम पुरुषार्थ है। इसलिए यम ने नचिकेता को तीन वर देना चाहा।

प्रथम वर में नचिकेता ने मर्त्यलोक के निकट मृत्यु-मुख से प्रमुक्त चेतना के विश्वास की कामना की।[३] द्वितीय वर में अग्नि-रहस्य का विज्ञान जानना चाहा।[४] यम ने प्रसन्न होकर उसे दो वर प्रदान किया। और

१. जाना होगा 'मह:' अथवा आदित्यलोक में (तै. १।५)। उसके पहले तीन लोकों को पार करना होगा। उनके सन्धिस्थान पर एक-एक रात्रि अथवा अव्यक्त का अनुभव होगा। इसलिए स्मृति में चतुर्थी तिथि को श्राद्ध की व्यवस्था का उल्लेख है। तु. ऋ. तिस्रो द्याव: सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट् १।३५।६; यह अन्त का यम एक ओर आतप और एक ओर छाया।

२. यम का व्युत्पत्तिगत अर्थ संहरण और व्याप्ति दोनों ही है। अविद्वान् की मृत्यु में चेतना सिमट जाती है, इसलिए पुनर्मृत्यु सम्भव होती है। क्योंकि आवर्तन प्रकृति का साधारण नियम है। इससे जुड़कर आवर्तन चाक्रिक, प्राण में कम्बुरेख (SPIRAL)। पुनर्मृत्यु की सम्भावना इस प्राकृतिक-नियम के ऊपर प्रतिष्ठित है। विद्वान् की मृत्यु में चेतना आदित्यदीप्ति में प्रस्फुरित होती है। इसलिए उनकी दृष्टि में मृत्यु 'वैवस्वत (तु. 'मृत्यु' ॥ 'मृत्' जड़त्व ॥ मरुत्' ज्योतिर्मय दिव्यप्राण। √यम की तरह। 'मृ' के भी दो अर्थ हैं - मर जाना और झिलमिलाना)।

३. मृत्यु ही अमृत का द्वार है। परम मृत्यु अथवा असम्प्रज्ञान के पश्चात् साधक जब व्युत्थित अर्थात् चित्त की क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त अवस्था से ऊपर होते हैं, तब उनकी चेतना का रूपान्तर होता है - जो जाता है, वह फिर लौटकर नहीं आता। किन्तु प्राकृत-चेतना का जगत् जैसे चलना चाहिए, वैसे चलता रहता है। रूपान्तरित चेतना को वह पहचानेगा कैसे? किन्तु योगी की अभिलाषा है कि संसार इस चेतना का परिचय प्राप्त करे। नचिकेता के प्रथम वर में यह आशय ही ध्वनित हुआ है।

४. अग्नि-रहस्य ही यज्ञविद्या का सार है। यहाँ जिस अग्निचयन की चर्चा की गई है, उसका एक विस्तृत वर्णन शतपथ-ब्राह्मण के सप्तम से दशम काण्ड तक प्राप्त है। अन्तिम काण्ड में अग्नि-रहस्य की व्याख्या है। व्याख्या की गम्भीरता के कारण यह उपनिषत् तुल्य है। जिसकी आलोचना हम यज्ञवाद के प्रसङ्ग में करेंगे।

कहा 'अबसे तुम्हारे ही नाम से इस अग्नि का नाम नाचिकेत-अग्नि होगा।'[१]

तब नचिकेता ने तृतीय वर में 'प्रेत्यसंज्ञा' का विज्ञान जानना चाहा।[२] उसका प्रश्न यह है कि मर्त्यलोक का अतिक्रमण कर जाने पर चेतना का अस्तित्व[३] रहता है कि नहीं? मृत्यु का अनुभव क्या है? वह मृत्यु

नाचिकेत-अग्नि के विवरण के लिए द्र. तै. ब्रा. ३।११। यहाँ उसकी उपनिषत् दो श्लोकों में बतलाई गई है (१७-१८)। पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक - चेतना की इन तीन भूमियों पर अग्निचयन करना होगा अर्थात् चेतना को समेट कर केन्द्रित करना होगा। एक भूमि से दूसरी भूमि पर उठ जाने के बावजूद तीनों के बीच सन्धि अथवा योग-सूत्र अव्याहत रहेगा। फलत: उसी पुरुष का परिचय प्राप्त होगा, जो 'ब्रह्मज-ज्ञ' अथवा ब्रह्मज एवं ज्ञ (तु. प्र. ५।६, श्वे. ६।२, १७) अर्थात् ब्रह्म अथवा ओङ्कार से उत्पन्न (तु. १।२, १५, १७) एवं साक्षीचेता (श्वे. ६।११) है। 'ब्रह्मजज्ञ' का पदच्छेद हो सकता है, 'ब्रह्मजज्ञ' जो ब्रह्म को जानते हैं (तु. ऐ. ब्रा. ६।३५, तत्र 'जज्ञ' = ज्ञ। अधिदैवत-दृष्टि में यह पुरुष आदित्य (तु. श. ब्रा. १०।५।२)। अब नचिकेता का प्रश्न होगा कि 'उसके भी परे कुछ है कि नहीं?

१. तै. ब्रा. में कुल चार प्रकार के अग्निचयन - सावित्री, नाचिकेत चातुर्होत्र, एवं वैश्वसृज की विवृति (३।१०।१२) है।

२. उपनिषद् में 'प्रेत्य' एक बहुप्रयुक्त शब्द है, जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'आगे जाकर'। सूर्य के उदयन की तरह प्राण का धर्म ही अग्रगति है। आपातत: यह अग्रगति मृत्यु में व्याहत होता है। माध्यन्दिन-सूर्य अस्त की ओर ढलकर अन्त में बुझ जाता है, निर्वाणप्राय हो जाता है; किन्तु विद्वान् की अन्तर्ज्योति मृत्यु में भी अनिर्वाण रह सकती है। तो फिर अविद्वान् के पक्ष में 'प्रेत्य' का अर्थ या तात्पर्य हुआ 'मरकर' या प्रयाणकर और विद्वान् के पक्ष में 'लोकोत्तर में उत्तीर्ण होकर' (तु. के. शाङ्करभाष्य 'प्रेत्य व्यावृत्य ममाहं लक्षणाद् अविद्यारूपादस्मात् लोकाद् उपरम्य सर्वात्मकात्मभावम् अद्वैतमापन्ना: सन्त:' १।५)। चेतना के इस उत्तरण को ऋक्संहिता में 'प्रेति' कहा गया है। अग्नि उसका प्रवर्तक अथवा नेता है। इसलिए वहाँ उसकी सञ्ज्ञा 'प्रेतीषणि' (६।१।८) है। द्र. टीका २३३, तै. ब्रा. विवरण।

३. इसी से आस्तिकता और नास्तिकता का भेद। जो तत्काल कहते हैं कि परलोक नहीं अर्थात् चेतना का उत्तरण सम्भव नहीं, वे नास्तिक (क. १।२।६) और जो कहते हैं कि लोकोत्तर में सञ्ज्ञा या चेतना रहती नहीं, वे भी नास्तिवादी अथवा नास्तिक (द्र. तै. ब्रा. विवरण)। वेदपन्थी साधारणत: ऐसा नहीं कहा करते थे, किन्तु मुनि कहा करते थे (तु. वेद न मानने पर बुद्ध नास्तिक हुए)। जो ईश्वर को मानते नहीं, वे नास्तिक - यह लोकोक्ति मात्र है।

में अवगाहन करके ही जाना जा सकता है। यदि वह मृत्यु विद्वान् की वैवस्वत मृत्यु हो, तो।[१]

मृत्यु के निकट से मृत्यु का रहस्य प्राप्त करना सहज नहीं। जीवन का ऐश्वर्य देकर मृत्यु ने नचिकेता को फुसलाना चाहा।[२] किन्तु नचिकेता भुलावे में आने वाला बालक नहीं।

उसने कहा, "काम इन्द्रिय-तेज को जीर्ण ही करता है, वह मैं नहीं चाहता। तुम वित्त देकर मनुष्य को तृप्त नहीं कर सकोगे। महान् साम्पराय का रहस्य ही मैं तुमसे जानना चाहता हूँ। अन्य वर मैं नहीं चाहता।"

प्रथम अध्याय की प्रथम वल्ली यहाँ समाप्त होती है। द्वितीय वल्ली से अध्याय-समाप्ति तक यम का अनुशासन है।

नचिकेता के भीतर अभीप्सा की दृढ़ता देखकर यम प्रसन्न होकर कहने लगे, "प्रेय और श्रेय के बीच जो विवेक[३] से काम लेता है, वह धीमान् है। काम तुमको लुभा नहीं सका, उसीसे मैंने समझा कि सचमुच तुम्हारे भीतर विद्या की अभीप्सा जागी है। जो अविद्याग्रस्त होते हैं, वे ही वित्तमोह में मूढ़ता के साथ प्रेय को जकड़े रहते हैं। साम्पराय उनके निकट प्रतिभात नहीं होता।[४] वे मानते हैं कि इहलोक अथवा मृत्युलोक के पश्चात् और कुछ भी नहीं है। इसीसे वे बारम्बार मेरे द्वारा कवलित होते हैं।

१. द्र. छा. ८।६।५-६.
२. तु. कौ. १।४; योग की मधुमती भूमि यो. सू. भाष्य ३।५१। निरोधाभिमुख चित्त में विभूति का आविर्भाव योग-साधना का एक स्वाभाविक परिणाम है। किन्तु योगी को इस प्रेय के प्रलोभन का त्याग करके श्रेय की ओर जाना होगा (तु. क. १।२।१-४)।
३. संहिता में विवेक की सञ्ज्ञा 'विचय' है : 'चित्तिमचित्तिं चिनवद्विविद्वान' (ऋ. ४।२।११)। चित्ति एवं अचित्ति वहाँ क्रमशः विद्या एवं अविद्या-स्थानीय हैं। √चित् से 'सञ्ज्ञान' (Perception) का बोध होता है।
४. < सम्पराय; तु. तै. ब्रा. नावेदविन्मुते तं बृहन्तं सर्वानुभूमात्मानं सम्पराये ३।१२।९।७ प्रेति का समानार्थक (तु. परा √इ. ऋ. १०।१४।१, २, ७)।

"किन्तु इहलोक से परे भी जो रहता है, वह आत्मचैतन्य है। आत्मविज्ञान की धारणा सहज नहीं। उसके वक्ता एवं श्रोता दोनों ही अद्भुत, आश्चर्यमय और कुशल होते हैं। यह विज्ञान तर्क[१] द्वारा नहीं प्राप्त होता। किसी कुशल व्यक्ति द्वारा बतलाए जाने पर ही इसके रहस्य का ज्ञान होता है।

"वित्त अनित्य है, मैं जानता हूँ। यह भी जानता हूँ कि अध्रुव या अनित्य द्वारा उस ध्रुव या नित्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। तभी तो मैंने नाचिकेत-अग्नि का चयन किया। और उसी से अनित्य द्रव्य द्वारा ही नित्य को प्राप्त किया।[२]

"किन्तु उसके लिए लोकैषणा को भी छोड़ना पड़ता है एवं हर्ष-शोक का द्वन्द्व भी छोड़ना पड़ता है।[३] गुहाहित, गहरे गह्वर में स्थित

१. यह शब्द संहिता, ब्राह्मण अथवा प्राचीन उपनिषदों में नहीं है। पारस्कर-गृह्यसूत्र (२।६।५) और गौतम-धर्मसूत्र (११।२५) में है। निरुक्त-परिशिष्ट में पाते हैं - 'अयं मन्त्रार्थ चिन्ताभ्यूहः अभ्यूळ्होऽपि श्रुतितोऽपि तर्कत.....मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन को न ऋषिर्भविष्यतीति. तेभ्य एतं तर्कम् ऋषिं प्रायच्छन् (१३।१२)। यहाँ श्रुति (मीमांसा) एवं तर्क दो प्रस्थानों का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। और यह भी स्पष्ट दिखाई देता है कि तर्क की प्राचीन सञ्ज्ञा 'ओह' अथवा 'ऊह' (< √ऊह वितर्के) है। ब्राह्मणों में जो विचार-प्रवण, उनकी सञ्ज्ञा 'ओहब्रह्म' (ऋ. १०।७१।८)। ऊह एवं तर्क में कुछ सूक्ष्म अन्तर है। ऊह अथवा ओह वस्तुतः मनन है, जिसके मूल में श्रद्धा है; उसका ही परिणाम 'मीमांसा' है। तर्क के मूल में संशय है। इससे मीमांसा और तर्क - यही मनन की दो धाराएँ हैं; जिसकी चर्चा हम पहले भी कर चुके हैं। ऊह अथवा ओह के सम्बन्ध में द्रष्टव्य Geldner, DER ṚGVEDA 1.61.10। तु. GK eucho mai, I Pray, eucho, a Prayer। तर्क।। तर्कु 'टाकु' (CP GK atraktos, Lat. torquere 'to twist, bend'; नि, २।१)।
२. जो अनित्य के द्वारा नित्य को प्राप्त करते हैं, वे रहस्यवेत्ता हैं। तु. ऋ. १०।८५) ३-४; ऐ. आ. पुरुषे त्वेवाविस्तरमात्मा स हि प्रज्ञानेन सम्पन्नतमः .....मर्त्येनामृतमीप्सति एवं सम्पन्नः २।३।२; मु. तदेतत् सत्यम् १।२।१, फिर २।१।१, द्र. तै. ब्रा. विवृति।
३. यहाँ से वैदिक-दर्शन का एक मोड़ शुरू होता है और अधिदैवत-दृष्टि के साथ अध्यात्म-दृष्टि जुड़ जाती है। जो वहाँ है, वही यहाँ भी है। यह दृष्टि ऋक्संहिता में भी है : 'न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव' १०।८२।७; तु. अ. स. १०।८।३२ (ऋ. 'अन्तिदेव' १।१८०।७)।

उस दुर्दर्श देवता[१] को जानने के लिए अध्यात्म-योग[२] का आश्रय लेना पड़ता है।

'इस धर्मसङ्गत अणुप्रमाण-बोध को जो प्राकृतबोध से बाहर कर ले सकते हैं, वे ही आनन्द का सन्धान पाते हैं। नचिकेता! जान पड़ता है कि घर का द्वार खुल गया।[३]

अत्यधिक आग्रह के साथ नचिकेता ने कहा – 'वहाँ क्या देख रहे हो, मुझे बताओ। धर्म, अधर्म, भूत, भविष्य से परे वह कोन सा रहस्य है?'

यम ने कहा – 'सङ्क्षेप में तुम्हें बतलाता हूँ। वह है ओम्।[४] यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही आलम्बन है। इसे जान लेने से ही ब्रह्मलोक की महिमा[५] प्राप्त होती है।

'इस ओङ्कार को जानना ही आत्मा को जानना है, जो प्रत्येक जीव में गुहाहित है– "अणोरणीयान् महतो महीयान्" होकर अज, नित्य, शाश्वत एवं पुराण रूप में। जो अशोक, जो अक्रतु है, वही धातुप्रसाद[६] के फलस्वरूप आत्मा की महिमा को उपलब्ध कर सकता है। फिर

---

१. देवता गुहाहित है, यह ऋकसंहिता का भी भाव है (तु. २।११।५ [३।३९।६, १०।१४८।२], 'गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन् त् सत्यमन्त्राः' ७।७६।४...)।

२. यह अध्यात्म-योग ही संहिता में धीयोग (द्र. ऋ. ३।३।८ टीका) है।

३. इस ज्योति-द्वार के खुल जाने का उल्लेख ऋक्संहिता के प्रत्येक आप्रीसूक्त में ही है (द्र. ३।४।५ टीका)। तु. छा. २।२४, ८।६।५; ईशो. १५।

४. यही नचिकेता की दीक्षा है, गुरु यम हैं।

५. संहिता में ब्रह्मलोक 'परमव्योम', 'उरुलोक', 'उरु-अनिबाध' है; जहाँ 'अंह' अथवा क्लिष्टता से चेतना की मुक्ति होती है।

६. 'धातु' उपादान (तु. ऋ. ५।४४।३), 'प्रसाद' स्वच्छता। बौद्धदर्शन में दोनों सुपरिचित सञ्ज्ञाएँ हैं। उपनिषद् में धातुप्रसाद = सत्त्वशुद्धि (तु. छा. ७।२६।२); श्वेताश्वतर में उसका वर्णन है (२।१२)। धातुप्रसाद के कारण शरीर योगाग्निमय होता है। ऋक्संहिता में है कि इन्द्र ने अपाला को 'सूर्यत्वच्' किया था; उसे तीन बार पूत (पवित्र) करके (८।९१।७)। तन्त्र में धातुप्रसाद को भूतशुद्धि कहा गया है।

बतलाता हूँ कि मेरे अतिरिक्त इस मदामद देवता को कौन जान सकता है?[१] अथवा यह बतला सकता हूँ कि इस आत्मा को प्रवचन, मेधा अथवा श्रुति के द्वारा नहीं जाना जा सकता है। वह जिसे वरण करता है, वही उसे पाता है, उसके ही निकट अपने स्वरूप को प्रकट करता है।[२]

'किन्तु उसके लिए भी दुश्चरित से विरत होकर, शान्त-समाहित और शान्तमानस होकर प्रस्तुत होना पड़ता है। ऐसी स्थिति में प्रज्ञान द्वारा इस आत्मा को प्राप्त किया जाता है।[३]

'किन्तु उसके रहस्य को कौन जानता है?[४] ब्रह्म और क्षत्र दोनों ही उसके ओदन और मृत्यु ही उसका उपसेचन है!'[५]

---

१. 'मदामद' मद + आमद (भृशार्थे) अथवा मद+अमद ('सहर्षः अहर्षश्च' शङ्कर) शङ्कर का अर्थ ही सङ्गत प्रतीत होता है। नचिकेता ने जो दूसरे वर में पाया है, वह 'मद' है (तु. १।१।१२-१३, संहिता में मद सोमपानजनित मत्तता है। उसकी एक उज्ज्वल वर्णना ऋ. २।१५ में है। तीसरे वर का ईप्सित तत्त्व जो उसके भी उस पार है, वह 'अमद' है। लक्षणीय, मुनिपन्थियों में अनेक ही परमार्थ को 'सुख' कहने के लिए सहमत नहीं, उनका कथन है सुख से भी परे दुःखाभाव मात्र। उपनिषद् में यह असद्ब्रह्म है, जो मृत्यु में अवगाहन न करने पर प्राप्त नहीं होता। अमृतसम्भाग उसका अयत्नसिद्ध परिणाम है। (तु. क. लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्वा १।१।२७; ईशो. १४)।

२. संहिता में भी हम देखते हैं कि वाक् भी इसी प्रकार अपने तनु को उघार देती है (ऋ. १०।७१।४), वह जिसको चाहती है, वही उसे प्राप्त करता है (१०।१२५।५)।

३. दुश्चरित संहिता में बहुप्रयुक्त 'दुरित' है। तु. ज्योतिर्वृणीत तमसो विजानन्नारे स्याम दुरिता दभीके ऋ. ३।३९।७। बौद्धसाधना में भी हम देखते हैं कि शील से समाधि, उससे प्रज्ञा।

४. तु. ऋ. १०।१२९।६-७; के. १।३, २।१-३; बृ. न प्रेत्य संज्ञास्ति २।४।१२।

५. ब्रह्म एवं क्षत्र का साहचर्य वैदिक-भावना में सर्वत्र है। विशेष निदर्शन निवित्-मन्त्रों में प्राप्त होता है। अध्यात्मदृष्टि में ब्रह्म, बोधि अथवा प्रज्ञा है और क्षत्र साधन-वीर्य। उसी प्रकार : उपनिषद् के श्रद्धा-तपः, पतञ्जलि के श्रद्धा-वीर्य। दर्शन में यही ऋषिधारा एवं मुनिधारा में विवर्तित हुआ। किन्तु परमतत्त्व मृत्यु अथवा शून्यता है। वह एक रहस्यमय अनुभव है (ऋ. १०।१२९।७)।

द्वितीय वल्ली यहीं समाप्त होती है। तृतीय वल्ली में यम इसी तत्त्व की साधना की व्याख्या कर रहे हैं-

'जो पञ्चाग्नि एवं त्रिणाचिकेत हैं, वे ब्रह्मविद् छायातप की बात करते हैं, जो लोक में ऋतपायी, किन्तु लोकोत्तर परम परार्द्ध में गुहाहित है।[1]

'नाचिकेत अग्नि' ही यह परब्रह्म है। अध्यात्म-योग द्वारा इस अग्निरहस्य को जानना होगा, उस अग्नि का चयन करना होगा।[2]

'अध्यात्म-योग का आधार अध्यात्म-ज्ञान है। उसका स्वरूप इस प्रकार है - यह देह मानो एक रथ, इन्द्रियाँ उसके अश्व, मन लगाम, बुद्धि सारथी एवं आत्मा रथी है। इन्द्रियाँ दुष्ट अश्वों की तरह यदृच्छ्या मनमाने तौर पर विषय में विचरण करती हैं। मन की लगाम तानकर उन्हें शासन की सीमा में लाना होगा। उससे समनस्कता एवं शुचिता का

---

१. अध्यात्म-साधना में पञ्चाग्नि क्रमशः अग्नि, विद्युत्, सूर्य, चन्द्र, एवं तारका या नक्षत्र - यही चेतना के उत्तरायण की पाँच भूमियाँ हैं (क. २।२।१५)। तीन सन्धि अथवा तीन लोकों में तीन बार नाचिकेत-अग्नि चयन करना पड़ता है (१।१।१७-१८)। आतप लोक, एवं छाया लोकोत्तर; संहिता में क्रमशः मित्र एवं वरुण; पुराण में सूर्य की दो पत्नी - सञ्ज्ञा एवं छाया। ऋतपायी = मध्वद (२।१।५; तु. पिप्पलाद ऋ. १।१६४।२०)। परमपरार्द्ध संहिता का परमव्योम।

२. तु. १।२।१२; इस अध्यात्मयोग को लक्ष्य करके ही हम ब्राह्मण की फलश्रुति पाते हैं 'य एवं वेद'। आध्यात्मिक-दृष्टि में अग्निचयन इन्द्रिय-संहरण। साङ्ख्य में जो इन्द्रिय, वेद में वह प्राण। तै. सं. में सात शीर्षण्य प्राणों का उल्लेख है (५।१।८।१) अर्थात् दो चक्षु, दो श्रोत्र, दो घ्राण अथवा 'प्राण' एवं वाक्। इनके साथ मन को जोड़ लेने से ही हम उपनिषद् के 'द्वारपा' को पाते हैं (छा. ३।१३।६)। ये सब 'ख' इन्द्रियरूप छिद्र पराक्, बहिर्मुख हैं 'आवृत्तचक्षुधीर' उन्हें समेटकर प्रत्यगात्मा का दर्शन करते हैं (क. २।१।१) सात इन्द्रिय, प्राणाग्नि की सात शिखा (प्र. ३।५, मु. २।१।८, बृ. २।२।३)। इन शिखाओं को मूर्द्धन्य चेतना में 'सञ्चित' करना होगा। यह वैदिक-धीयोग की मुख्य साधना है।

विकास होगा।[1] उस समय विज्ञान सारथी[2] मनुष्य को मार्ग के अन्त तक, विष्णु के परम पद में ले जाएगा।[3]

'भोग्यवस्तु इन्द्रियों को आकर्षित करने के कारण इन्द्रियों से श्रेष्ठ, किन्तु इससे भी श्रेष्ठ मन, मन से श्रेष्ठ बुद्धि और बुद्धि से श्रेष्ठ महान् आत्मा। उससे भी श्रेष्ठ अव्यक्त है। अव्यक्त से श्रेष्ठ पुरुष है। पुरुष से श्रेष्ठ और कुछ नहीं।[4]

'सर्वभूत में यह पुरुष गूढ़ात्मा रूप में है।[5] एकमात्र अग्र्या बुद्धि द्वारा ही उसे देखा जा सकता है। उसके लिए वाक् को मन में स्थिर, संयत करना होता है, मन को ज्ञान-आत्मा में, फिर उसे महान् आत्मा में एवं उसे भी शान्त-आत्मा में।[6]

---

१. शुचिता अग्नि का विशेष गुण। अग्नि दाहक एवं पावक है, इसलिए 'शुचि' (तु. ऋ. १।९७ इसकी टेकः 'अप नः शोशुचदघम'। 'आत्मा शुचिषद्' (क. २।२।२=ऋ. ४।४०।५)। 'समनस्कता' संहिता में 'मन्यु' (द्र. ऋ. १०।८३-८४) जो तपः शक्ति है, जिसकी सहायता से हम 'विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ' (१०।८४।५)। योग में यही संवेग और ध्यानचित्तता है।

२. 'विज्ञान' संहिता में धी अथवा मनीषा।

३. तु. ऋ. १।२२।१६-२१, १।१५४।४-६।

४. यहाँ बुद्धि-महान् आत्मा - अव्यक्त अर्थात् ज्ञानात्मा - महात्मा - शान्तात्मा (१३) संहिता की भाषा में यही अग्नि - मित्र - वरुण। सब मिलकर आदित्यपुरुष अथवा सूर्य (ऋ. १।११५।१)। इस पुरुष का एक पार्श्व 'शुक्लं भा : और दूसरा पार्श्व 'नीलं परःकृष्णम्' (छा. १।६५।७।४)। एक पार्श्व आतप और एक पार्श्व छाया। दोनों मिलकर पुरुषोत्तम।

५. विश्वबन्धुशास्त्री की दृष्टि में गूढ़ात्मा = गूढ़ + अत्मा। इसलिए आत्मा = आ+अत्मा अर्थात् आधार में जो आ-गत अथवा आविष्ट हो। द्र. 'वैदिक पदानुक्रम कोशः'। संहिता में अग्नि 'विशाम् अतिथिः' (द्र. ऋ. ३।२।२ टीका) अथवा 'आत्मा'। दोनों सञ्ज्ञाएँ एक ही धातु से निष्पन्न।

६. ज्ञानात्मा हमारे भीतर धी अथवा व्यक्तिचेतना के रूप में। वही आदित्य की तरह महान् आत्मा में विस्फारित होता है। जो शान्त होकर अस्त में अथवा शून्य में मिल जाता है।

'तुम सब उठो, जागो।[1] वरेण्य[2] पुरुषों को पाकर प्रबुद्ध बनो। छुरे की तेज़ धार जैसे उस पथ की दुर्गमता की बात कविगण बतला गए हैं।

'और वह तत्त्व शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध से विहीन, अनादि, अनन्त, नित्य, ध्रुव एवं महत् के उस पार है। उसे जान लेने पर ही मृत्युमुख से प्रमुक्ति होती है।'

तत्पश्चात् फलश्रुति द्वारा अध्याय समाप्त होता है।[3]

उसके बाद द्वितीय अध्याय में तीन वल्ली सङ्कलित हैं। हम पहले ही बतला चुके हैं कि यह प्रथम अध्याय के ही मूल प्रतिपाद्य का विस्तार है। इस अध्याय में मृत्युविज्ञान की अनेक साधनाओं का वर्णन है। एक महावाक्य – 'एतद् वै तत्' सर्वत्र अनुस्यूत है। जिसका अर्थ है – यह वही है या यही वह है। एक श्लोक में इस बात को ही कुछ विस्तार के साथ कहा गया है – 'जो यहाँ है, वही वहाँ है और जो वहाँ है, वही यहाँ अनुवृत्त हुआ है।'[4] सर्वत्र एक अस्तित्व की उपलब्धि ही

---

१. तु. ऋ. उदीर्ध्वं जीव असुर्न आगात् (१।११३।१६)।

२. संहिता में 'क्षेत्रवित्' : तु. ऋ. क्षेत्रविद्धि दिश आहा विपृच्छते ९।७०।९): अक्षेत्रवित् क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः १०।३२।७; १।१६४।७; क. न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयः १।२।८।

३. ब्राह्मण की दृष्टि में मृत्युमुख से प्रमुक्ति 'पुनर्मृत्यु' पर जय प्राप्त करना है। मृत की तरह मरना एक बार ही जिससे हो – उसकी ही आजीवन साधना। इस मृत्यु का वर्णन द्र. ऋ. १०।१४।७-९, १६।३-५। यहाँ लक्ष्य वरुणदर्शन (ऋ. १०।१४।७), उपनिषद् की भाषा में जिसकी विवृति अध्याय-समाप्ति के १५वें श्लोक में है। वरुण महाशून्य की अव्यक्त ज्योति है। 'प्रेत्य अस्ति अथवा नास्ति' की मीमांसा उसके प्राप्त हो जाने पर होती है। अध्याय के अन्त में है 'प्रयतः श्राद्धकाले। 'प्रयतः' यहाँ षष्ठी का एकवचन-यम का पथ पकड़कर जो चला जाता है (तु. १०।१४।२) उसके श्राद्धकाल में यह उपनिषत् सुनानी होगी, जिससे लोकान्तर में उसके पथ को दिशा मिले। तु. तिब्बतियों का Bando Thodel (EVANS-WENTZ, The Tibetan book of the Dead)।

४. तु. 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्०' ईशो. शान्तिपाठ।

अमृतत्व है। यह अस्तित्व आलोक एवं अन्धकार के उस पार है। उसमें निमज्जन ही जीवन का परमार्थ है। प्रत्येक वल्ली के अन्त में घुमा-फिरा कर इसकी ही चर्चा है।

प्रथम वल्ली में बतलाया गया है कि लोग बाहर की ओर ही देखते हैं, भीतर की ओर कोई नहीं देखता। कदाचित् कोई अमृत की पिपासा में अन्तर्मुख होकर स्वयं की ओर देखता है। जो देखता है, वह सम्मुख आत्मा को देखता है।

यह आत्मा, बोध का बोध है। जिस प्रकार विषय और इन्द्रिय के संयोग से जाग्रत में बोध होता है, उसी प्रकार स्वप्न में, सुषुप्ति में बोध होता है, किन्तु समस्त बोध के पीछे आत्ममहिमा का बोध है। इस बोध में ही तुम मध्वद हो।[1] तुम भूत-भविष्य के शास्ता हो, तुम अजुगुप्स अथवा असङ्कुचित हो।

यह बोध ही उस प्रथमज परम पुरुष का बोध उभारता है, जो प्रत्येक भूत में गुहाहित होकर देख रहा है; यह बोध ही उस प्राणरूपा परमा प्रकृति अदिति का बोध उभारता है, जो प्रत्येक भूत में गुहाहित होकर गतिमान् है; यह बोध ही अँधेरे में निगूढ़ उस चिदग्नि का बोध उभारता है, जिसे उजागर करना ही मनुष्य की साधना है।[2]

सूर्य का उदयास्त जिस परम व्योम में होता है, वही सबका अवसान है।[3] यह तो वही है। जो यहाँ, वह वहाँ है; जो वहाँ, वही यहाँ

---

१. तु. ऋ. यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णाः १।१६४।२२, उसके पहले ही है 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' (२०)। जो मध्वद है, वही पिप्पलाद है।

२. यहाँ वरुण ('यः' ६) अदिति एवं अग्नि – इन तीन देवताओं को लेकर एक त्रयी। तु. ऋ. ७।८८।७, वहाँ वरुण और अदिति का सहचार देखते हैं। यह त्रयी ही पुराण में शिव-शक्ति-कुमार। तु. ऋ. अदितिर्माता स पिता स पुत्र : १।८९।१०।

३. तु. जै. ब्रा. २।२८ ब्राह्मण में यही वारुणी-रात्रि की शून्यता (तु. तै. ब्रा. १।७।१०।१।

है। इस मन के माध्यम से ही इसे समझना होगा। यहाँ अलग-अलग रूप में कुछ भी नहीं। अलग-अलग जो देखते हैं, वही मरते हैं।[१]

वही अखण्ड, अद्वय अस्तित्व ही अङ्गुष्ठमात्र पुरुषरूप में है। इस देह के भीतर भूत-भव्य का शासक होकर अधूमक-ज्योति की तरह जल रहा है। वह आज भी है, कल भी रहेगा। यह तो वही है।

एक को ही देखो। अनेक को देखने के लिए मन को इधर-उधर मत फेंको-फैलाओ। जो मुनि हैं,[२] जो विज्ञानी हैं; उनका आत्मा शुद्ध जल की तरह शुद्ध जल में मिल जाता है।[३]

उसके पश्चात् द्वितीय वल्ली में है कि ग्यारह द्वारों की इस पुरी[४] में वही अज अवक्रचेता पुरुष है।[५] यहाँ अनुस्यूत रहकर भी उसे शोक नहीं; फिर जब वह मुक्त है, तब मुक्त ही है।[६] वही आदित्य रूप में हंस

---

१. 'नाना' अथवा पृथक् भाव यहाँ नहीं है; क्योंकि सब कुछ उसी एक की ही विभूति है। वस्तुपरक-दृष्टि से केवल विभूति को देखने के साथ आत्मपरक-दृष्टि से सर्वानुस्यूत एक को न देखना ही मरण से मरण में जाना है। विभूति मिथ्या, किन्तु नानात्व अथवा अनेकता का बोध मिथ्या है।
२. 'मुनि' तु. GK. MONOS अकेला, निःसङ्ग। द्र. ऋ. १०।१३६।
३. क्या जीवन में? क्या मरण में? - यह एक नित्यावस्था है। रामप्रसाद ने कहा था, मृत्यु में 'जल का बिम्ब, जल में उदय होता है, जल होकर, वह जल में मिल जाता है।' इसलिए व्यक्ति का अमृतत्व नहीं, बल्कि अमृत अधिष्ठान का अमृतत्व। यह जानना ही मृत्युविज्ञान है। उद्दालक ने इसे सत्सम्पत्ति बतलाया है (छा. ६।८।१, १५।२); तु. याज्ञवल्क्य का 'प्रेत्य' सञ्ज्ञाभाव (बृ. २।४।१२)।
४. अ. सं. में नवद्वारों के पुर का उल्लेख है : अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पुरयोध्या तस्यां हिरण्यः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः १०।२।३१; पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्, तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् ८।४३। आद्यशङ्कराचार्य बतलाते हैं कि नाभि एवं ब्रह्मरन्ध्र को लेकर एकादश द्वार।
५. चेतना की अवक्रता ही संहिता में अध्वर (= अकुटिल) गति। तु. 'युयोध्यस्मज्जुहुराणम् एन : ऋ. १।१८७।१।
६. अर्थात् जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति एक ही है।

है, फिर वही जीव रूप में 'ऋतं बृहत्' है।[१] प्राण के विकर्षण और अपान के आकर्षण के मध्य वह वामन रूप में है।[२] आकर्षण और विकर्षण जब थम जाता है, तब शरीर की विस्रस्ति के साथ-साथ वह भी मुक्ति में फैल जाता है। तब क्या और कुछ शेष रहता है?[३]

जानते हो मृत्यु के पश्चात् क्या होता है? कोई नये शरीर के लिए योनि का आश्रय लेता है, या फिर कोई स्थाणु हो जाता है।[४]

सर्वभूतान्तरात्मा, अग्नि, वायु एवं सूर्य की तरह[५] रूप-रूप में प्रतिरूप हुआ है, फिर सब कुछ पार कर गया है। वही सुप्तावस्था में कामनाओं के स्रष्टा के रूप में जाग्रत है। वही एकरूप को विश्वरूप करता है।[६] वह नित्य का नित्य अथवा शाश्वत है। त्रिकालव्यापी है, चेतन का चेतन है। जो उसे आत्मस्थ जानते हैं। वे ही शाश्वत सुख और शाश्वत-शान्ति प्राप्त करते हैं।

वही यह हुआ है। उस अनिर्वचनीय परम सुख को कैसे जानूँगा? वह क्या प्रतिभात होता है, अथवा नहीं होता?[७]

---

१. द्र. ऋ. ४।४०।५, ९।१०७।१५, १०८।८.....।
२. द्र. ऋ. अन्तश्चरति रोचनाऽस्य प्राणादपानती (सार्पराज्ञी); तु. कुण्डलिनी) १०।१८९।२। वामन 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' (क. २।१।१२, १३)। तु. श. ब्रा. - 'वामनोह विष्णुरास ७१।२।५।५।
३. अतएव विज्ञानी की मृत्यु शून्यता है।
४. अप्रबुद्ध का स्थाणुत्व; सम्यक् सम्बुद्ध का भी वही। ईषत् प्रबुद्ध का जन्मान्तर। उसके अतिरिक्त प्रबुद्ध का 'सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वम् (क. २।३।४)।
५. अग्नि, वायु, सूर्य तीन लोक में अथवा चेतना की तीन भूमि में।
६. तु. ऋ. रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परिस्वाम् ३।५३।८; रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय, इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ६।४७।१८। फिर 'स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' १०।९०।१।
७. तु. ऋ. १०।१२९।६-७; के. १।३; क. १।२।२५।

वहाँ अग्नि, विद्युत्, सूर्य, चन्द्र, तारे कुछ भी प्रकाशित नहीं होते। ये सभी उसकी ही प्रभा की अनुभा हैं।[१]

उसके पश्चात् तृतीय वल्ली में है कि ब्रह्म सर्वाश्रय, सर्वाधार, अमृत-ज्योति है। वह ऊर्ध्वमूल, अवाक्शाख, सनातन, अश्वत्थ-वृक्ष है।[२] वह एक ओर जिस प्रकार सर्वप्रस्रवण प्राण है, उसी प्रकार दूसरी ओर उद्यत वज्र की तरह महाभय है।[३]

इस देह के रहते ही यदि उसे जाना जाए, तो फिर विसृष्टि की परम्परा या क्रम में दिव्यशरीर धारण करने का सामर्थ्य जन्म लेता है। उस समय उसे गन्धर्वलोक में जल में प्रतिबिम्ब की तरह, पितृलोक में स्वप्नचित्र की तरह, ब्रह्मलोक में छायातप की तरह अनुभव किया जाता है;[४] किन्तु आत्मा में दर्पण के प्रतिविम्ब की तरह दर्शन होता है।

इस आत्मा को कैसे प्राप्त किया जाए? इन्द्रियों को अन्तर्मुख करके। पाँच इन्द्रियाँ सभी अलग-अलग और बहिर्मुख हैं। किन्तु उनका केन्द्र एक है। उस एक में ही जाना होगा। इन्द्रिय के पश्चात् मन तत्पश्चात् 'सत्त्व', फिर अव्यक्त और अव्यक्त के पश्चात् अलिङ्ग-व्यापक पुरुष है।[५] अन्तर्मुखता के फलस्वरूप जब इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि स्थिर

१. पतञ्जलि की भाषा में यही असम्प्रज्ञातयोग है। तु. तै. 'असद्ब्रह्म' २।६। संहिता में 'शुन्' अथवा शून्यता; तु. ऋ. २।२७।१७, २८।११, २९।७, १०।३७।६...।

२. यही ब्रह्मवृक्ष अथवा वारुणवृक्ष। कहीं वह अश्वत्थ (छा. ८।५।३) कहीं इल्य (< 'इरा' अग्निशक्ति? कौ. १।३)। कहीं न्यग्रोध (बौद्ध-अनुशासन में तु. 'नैचाशाख' ऋ. ३।५३।१४ टीका), कहीं कदम्ब। अध्यात्मदृष्टि में नाड़ी-तन्त्र, मस्तिष्क तब 'ऊर्ध्व बुध्न'। **'बुध्न' शब्द श्लिष्ट, बोध का भी द्योतक है।** मस्तिष्क बोध का आधार है। द्र. ऋ. अबुध्ने राजा वरुणो वनस्योर्ध्वं स्तूपं ददते पूतदक्षः नीचीनाः स्थूरुपरि बुध्न एषामस्मे अन्तर्निहिता केतवः स्युः १।२४।७। तै. आ. ऊर्ध्वमूलमवाक् शाखम् वृक्षं यो वेद सम्प्रति १।११।१५।

३. भय उसके प्रशासन का (तु. परवर्ती श्लोक; बृ. ३।८।९; तै. २।८।१)।

४. यह सब योगी की मृत्यु के पश्चात् विभूति का वर्णन है (तु. बृ. ४।४।४, ३।९।१४-१६)। लोक : चेतना की भूमि है (द्र. तै० २।८)।

५. तु. क. १।३।१०-११; द्र. टीका ३२९। ज्ञानात्मा यहाँ 'सत्त्व'।

हो जाते हैं, तब यह आत्मा दिखाई देता है, किन्तु चक्षु द्वारा नहीं, बल्कि शुद्ध मन, शुद्ध बुद्धि एवं हृदय द्वारा।[१] आत्मसंवित् की स्थिर भूमि पर रहकर उदयास्त का खेल देखते जाना ही योग है।[२]

विशुद्ध अस्तित्व के बोध की ओर जाना होगा।[३] उदयास्त का तत्त्व उसी जगह है। विशुद्ध अस्तित्व में कामना नहीं। कामना ही हृदय की ग्रन्थि है। जो अकाम है, वह निर्ग्रन्थ है।[४] मर्त्य होकर भी वह अमृत है, यहाँ ही उसका ब्रह्मसम्भोग है।

अस्ति में समापन्न पुरुष मृत्युकाल में मूर्द्धन्य-नाड़ी पकड़कर अमृतत्व में अवगाहन करता है।[५]

परमपुरुष अङ्गुष्ठ रूप में हृदय में निहित है।[६] उसे इस शरीर से बाहर निकाल कर अमृतज्योति रूप में जानना होगा।

यहाँ ही यह उपनिषद् समाप्त होती है। नचिकेता के तृतीय प्रश्न का सीधा उत्तर हमें द्वितीय अध्याय में प्राप्त होता है (२।२।६-७; ३।४-५)। प्रथम अध्याय के अन्त में यह आभासित था। सङ्क्षेप में यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि जिस अस्ति में सब कुछ का उदयास्त है, उसमें स्थित होने पर 'प्रेत्य अस्ति अथवा नास्ति' का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव अस्ति में समापन्न होना ही अमृतत्व है। अमृतत्वप्राप्ति के लिए श्रेय एवं

१. तु. ऋ. इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रत्नाय पत्ये धियो मर्जयन्त १।६१।२।

२. प्रत्याहार ही योग बीज है। संहिता में उसकी वर्णना : 'हृदि प्रतीष्या मनीषा' प्राप्त होती है (ऋ. १०।१२९।४)।

३. संहिता में 'एकम् सत्' (ऋ. १।१६४।४६, १०।११४।५)।

४. भागवत में मुनियों को आत्माराम एवं निर्ग्रन्थ कहा गया है (१।७।१०)। बौद्ध-साहित्य में जैनियों को निर्ग्रन्थ कहा गया है।

५. छा. ८।६।६।

६. अङ्गुष्ठमात्र छान्दोग्य में प्रादेशमात्र ५।१८।१। संहिता यह पुरुष 'बष्कयः वत्सः' (१।१६४।५) जो शिशु अग्नि (३।१।४, ४।१५।६, ५।९।३, ६।७।४..., पुराण में 'कुमार') 'शयुः कतिधा चिदायवे' १।३१।२)।

देवता नित्य, शाश्वत, शक्तियुक्त है।[१] शक्ति गुणमयी[२] होते हुए गुणातीता है। इस शक्ति में जो ब्रह्मचक्र[३] घूम रहा है, उसमें हंसरूपी जीव[४] बँधा हुआ है।[५] देवता के प्रसाद[६] से सायुज्य-बोध द्वारा उसकी मुक्ति होती है।

क्षर-अक्षर, व्यक्त-अव्यक्त, अज्ञ-ज्ञ, अनीश-ईश, प्रधान-पुरुष (हर)- इस द्वैत का भर्ता वह परमदेवता है। ब्रह्म तीनों का समाहार एवं समन्वय है। जीव के भीतर वही भोग्य, भोक्ता एवं प्रेरक है।[७] वह एक में तीन

---

१. ऋक्संहिता में हम पाते हैं द्यावा-पृथिवी, वरुण-अदिति, इन्द्र-शची, ब्रह्म-वाक् इत्यादि। युगल का एक प्रतीक वृषभ एवं धेनु (तु. १०।५।७) है। संहिता में समस्त प्रधान देवता ही शक्तियुक्त हैं।
२. तीन गुणों का उल्लेख अथर्वसंहिता १०।८।४३; बन्धनरज्जु के अर्थ में गुण का प्रथम उल्लेख तै. सं. 'यथा गुणे गुणमन्वस्यति' ७।२।४।२ तु. ऋक्संहिता में वरुण के तीन पाश १।२४।१५। वरुण का पाश एवं माया दोनों ही प्रसिद्ध। अध्यात्म-दृष्टि में जो पाश अथवा गुण है, अधिदैवत-दृष्टि में वही माया है (तु. श्वे० ४।१०)।
३. ब्रह्मचक्र के विवरण में जिन सब सङ्ख्याओं का उल्लेख है, उनका तात्पर्य सर्वत्र सुस्पष्ट नहीं (द्र. टीका ६८७)। एक ब्रह्मचक्र का उल्लेख गीता में है (३।१४, १६)। यहाँ का ब्रह्मचक्र समग्र सम्भूति अथवा विसृष्टि का बोधक है ('सर्वजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते' १।६। चक्र की भावना आदित्य की गति से आई है।
४. तु. ऋ. ४।४०।५; बृ. हिरण्मय: पुरुष एक हंस : ४।३।११-१३; श्वे. ३।१८, ६।१५।
५. द्र. टीका ४३४। संहिता में 'अंह' (चेतना का सङ्कुचन) तम:', 'एनस्', 'दुरित', 'मृत्यु' ये सभी पाश। मुक्ति की व्याकुलता अनेक स्थलों पर व्यक्त हुई है। तु. ऋ. अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षु मुमुग्ध्यस्मान् निधयेव बद्धान् १०।७३।११ बाधस्व दूरे निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेन: प्र मुमुग्ध्यस्मत् १।२४।९; उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत अवाधमानि जीवसे १।२५।२१ दामेव वत्साद् वि मुमुग्ध्यंहो २।२८।६; एवास्मदग्ने वि मुमुग्धि पाशान् ५।२।७ उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ७।५९।१२.....।
६. मूल में है 'जुष्टस्तेन'। उनके द्वारा सम्भुक्त होकर। तु. क. १।२।२३
७. तु. ऋ. १।१६४।२० पिप्पल पिप्पलाद एवं द्रष्टा। दृष्टि से ही प्रेरणा आती है।

और तीन में एक है। उसे जान लेने से ही पाप से मुक्ति, जन्म-मृत्यु से छुटकारा एवं देहान्त में विश्वैश्वर्य तथा आप्तकाम कैवल्य की प्राप्ति होती है।[१]

ईंधन में अग्नि जिस प्रकार निगूढ़ है, उसी प्रकार इस देह में ही आत्मा निगूढ़ है। स्वयं की देह को अधरारणि एवं प्रणव को उत्तरारणि करके बार-बार ध्यान निर्मन्थन के द्वारा उसे देखना होगा।[२]

प्रथम अध्याय यहीं समाप्त होता है।

द्वितीय अध्याय के आरम्भ में ही संहिता से पाँच मन्त्र उद्धृत हैं। प्रत्येक मन्त्र में ही योग का सङ्केत है।[३] लगता है यह संहिता के आधार पर योगविधि की भूमिका है।

उसके पश्चात् कई श्लोकों में योगाचार का एक सङ्क्षिप्त किन्तु सुस्पष्ट विवरण दिया गया है।[४] कुछ योग सम्बन्धी दर्शन की बातें हैं एवं अन्त में कायसम्पत् और योगाग्निमय अमृत शरीर-प्राप्ति का उल्लेख है।[५]

---

१. विश्वैश्वर्य ही कठोपनिषद् में 'सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वम्' २।३।४। संहिता में 'लोकायत्र ज्योतिष्मन्त:' (ऋ. ९।११३।९: समस्त सूक्त ही द्रष्टव्य।)
२. तु. ऋ. अरण्योर्निहितो जातवेदा: .... दिवे दिवे ईड्यो जागृवद्भिर्मनुष्येभि: ३।२९।२।
३. चौथे एवं पाँचवें मन्त्र के अतिरिक्त शेष मन्त्र यजु:संहिता के हैं। सविता की प्रेरणा से मन एवं धी को बृहज्ज्योति अथवा ब्रह्मज्योति के साथ जोड़ना होगा - यही तात्पर्य है। इस अभिध्यान का फल द्र. ईशो. १६।
४. कठोपनिषद् की योगविधि के साथ तुलनीय। वहाँ साङ्ख्य-भावना का प्राधान्य है, उपाय नियमन (१।३।१३)। किन्तु नाड़ी-विज्ञान का प्रसङ्ग है (२।३।१६)। यहाँ वह नहीं, बल्कि योग-भावना के अनुकूल आसन, प्राणायाम, धारणा एवं ध्यान की चर्चा है।
५. प्रत्येक भूत का जो विशेष गुण है उसमें संयम करके उसके अन्तर्निहित, योगगुण का आविष्कार कर लेने पर शरीर योगाग्निमय होगा, फिर उसमें जरा, व्याधि मृत्युरूप वैकल्य नहीं रहेगा (तु. पतञ्जलि का भूतजय (यो. सू. ३।४४)। यह दैहिक अमृतत्व है, पुराण की भाषा में सशरीर स्वर्ग जाना। योग की कायसाधना का बीज यहाँ है।

उसके पश्चात् बतलाया जाता है कि इस प्रकार ही योगी आत्मतत्त्व के प्रदीप द्वारा ब्रह्मतत्त्व का दर्शन करेंगे। अन्त में फिर संहिता के दो मन्त्रों में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए इस अध्याय का समापन कि‌ा गया है।[1]

तृतीय अध्याय के आरम्भ में ही बतलाया जाता है कि जो जालवान् ईशनी समूह द्वारा जगत् का ईशान होकर प्रतिष्ठित है, उद्भव एवं सम्भव में जो एक है, उसे जो जानते हैं, वे अमृत होते हैं।[2]

उसके पश्चात् संहिता से कई मन्त्रों को उद्धृत करके यह ईशान 'रुद्र' नाम से चिह्नित किया गया है। एक मन्त्र ऋकसंहिता के विश्वकर्म-सूक्त से लिया गया है। एक मन्त्र में पुरुष-विज्ञान की उदात्त घोषणा है।[3] तत्पश्चात् अध्याय के अन्त तक इस परमपुरुष का ही वर्णन है। उसके दो मन्त्र पुरुषसूक्त से लिए गए हैं। वही सब कुछ हुआ है एवं अङ्गुष्ठमात्र पुरुष के रूप में सबके हृदय में स्थित है; इन दो भावों के ऊपर ही विशेष रूप से बल दिया गया है।

चतुर्थ अध्याय में तृतीय अध्याय की ही अनुवृत्ति है, उसी प्रकार संहिता से मन्त्रों का उद्धरण दिया गया है। नई बात के रूप में देखते हैं कि परमदेवता जिस प्रकार रुद्र है, उसी प्रकार शिव भी है। रुद्र के रूप में वह भय उत्पन्न करता है, किन्तु शिवरूप में पाश से मुक्त करके परमशान्ति प्रदान करता है।[4] शिव-रूप में वह सर्वभूत में अप्रकाश्य है,

१. दोनों श्लोक यजु:संहिता के हैं (वा. स. ३२।४; तै. सं. ५।५।९।३। संहिता का 'देव:' उपनिषद् में ब्रह्म।
२. संहिता में जिस प्रकार वरुण का पाश, उसी प्रकार इन्द्र का जाल (अ.स. ८।८।५-८; अयं लोको जालामासीच्छक्रस्य महतो महान्) वरुण का पाश जिस प्रकार माया, उसी प्रकार इन्द्रजाल भी माया (तु. निर्ऋति का जाल अथवा पाश, मै. सं. ३।२।४)। अतएव जालवान् = मायावी। संहिता में यह विशेषतया वरुण का विशेषण है। वरुण।। शिव, यह पहले ही बतला चुके हैं। यहाँ ईशान जालवान्। जाल माया (४।१०) अथवा ईशनी उसकी शक्ति।
३. ३।८ = वा. सं. ३१।१८। पुरुषसूक्त के अन्तर्गत।
४. तु. रुद्र १२, २१, २२ : शिव १४-२०।

किन्तु सब कुछ के परे है। जिसके भीतर दिन भी नहीं, रात भी नहीं, सत् भी नहीं, असत् भी नहीं।[1] उसकी प्रतिमा कहीं भी नहीं। वह आँख से नहीं दिखाई देता, किन्तु मन द्वारा, हृदय द्वारा हृदय में प्राप्त होता है। जीव और माया का प्रसङ्ग भी इस अध्याय में स्पष्टतर है। ऋकसंहिता के एक मन्त्र के अनुसार जीव का वर्णन पिप्पलाद के रूप में किया गया है। इस प्रसङ्ग में दो श्लोकों में उसकी बद्ध एवं मुक्त अवस्था की चर्चा की गई है।[2] उसे जानने से ही मुक्ति प्राप्त होगी। जो अक्षर परमव्योम होकर भी मायिरूप में विश्व का स्रष्टा है। यह मायी ही महेश्वर; माया उसकी प्रकृति है।[3]

१. तु. ऋ. नासदासीन्नौ सदासीत् तदानीम्....आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यत्र पर: किञ्चनास (१०।१२९।१....२)।
२. ६ = ऋ. १।१६४।२०। उसके पहले का श्लोक साङ्ख्यबीज (तु. छा. ६।४।१; द्रष्टव्य, टीका २२६)। अगले मन्त्र में (तु. मु. ३।१।२) संहिता के मन्त्र का जो भाष्य किया गया है, वह संहिता की भावना के साथ मेल नहीं खाता। संहिता में पिप्पलाद सुपर्ण को 'मध्वद' बतलाया गया है 'अनीशया शोचति मुह्यमान:' यह भाव वहाँ बिल्कुल ही नहीं है (द्र. ऋ. १।१६४।२०-२२)। वस्तुत: यह 'स्वादु' - पिप्पलभोजी सुपर्ण हमारे भीतर का सत्य एवं सनातन जीव है, जो कठोपनिषद् में अङ्गुष्ठमात्र: पुरुष:' है (२।१।१२-१३), 'मध्वद जीवात्मा' (२।१।५) संहिता में इस नित्य या सनातन जीव को 'अजो भाग:' कहा गया है (ऋ. १०।१६।४)।
३. विश्व-मूलतत्त्व के रूप में माया का उल्लेख प्राचीन उपनिषदों में और कहीं भी नहीं है। प्रश्नोपनिषद् में 'माया' (१।१६) छलना के अर्थ में है। किन्तु ऋक्-संहिता में माया का उल्लेख अधिक है (द्र. ३।२०।३ टीका) आसुरी माया के उल्लेख के बावजूद अधिकांश क्षेत्रों में ही माया वहाँ दैवीमाया, अर्थात् देवता की अनिर्वचनीय निर्माणप्रज्ञा है (तु. 'योगमाया', 'महामाया') कालान्तर में बौद्ध-प्रभाव के कारण माया और अविद्या वेन्दान्त में एक हो गई। इस उपनिषद् में ही माया का प्रयोग दो अर्थों में हुआ। (४।९।१०)। संहिता में हम पाते हैं कि त्वष्टा स्वयं विश्वरूप, उसका पुत्र वृत्र भी विश्वरूप। इन्द्र इस वृत्र का हन्ता है अर्थात् विश्वरूप अवरोध अथवा आवरण हटाकर सत्य को हमारी चेतना में उजागर करता है (तु. ईशोपनिषद् का 'हिरण्मय पात्र')। इस भावना में हमें मायावाद का बीज प्राप्त होता है यद्यपि वेद में यह वाद उग्र रूप में नहीं दिखाई देता (द्र. ऋ. ३।४।९ टीका में 'त्वष्टा' का प्रसङ्ग)।

पञ्चम अध्याय दार्शनिक दृष्टिकोण से रचित है, इसमें संहिता का कोई भी मन्त्र नहीं। ईश्वर और जीव का स्वरूप एवं दोनों का सम्बन्ध इसका प्रतिपाद्य है। प्रसङ्गतः ईश्वर-शक्ति की चर्चा करते हुए उसे 'योनि' की संज्ञा दी गई है। शक्ति की क्रिया को समझाने के लिए गुण शब्द का बहुल प्रयोग लक्षणीय है।

परमपुरुष सर्वव्यापी, सब कुछ का अधिष्ठान, कर्ता एवं अधिपति है। वही जीव हुआ है। बाह्यदृष्टि से आच्छादित प्रतीत होने पर भी प्रत्येक जीव में वह 'अङ्गुष्ठमात्रः रवितुल्यरूपः' है। जीव स्त्री भी नहीं, पुरुष भी नहीं, नपुंसक भी नहीं। उसका स्वरूप अत्यन्तसूक्ष्म है। कर्म के अनुसार विविध शरीर धारण करता है। उसे जानने के पश्चात् शरीर-बन्धन से उसकी मुक्ति होती है।

षष्ठ अध्याय में समस्त उपनिषत् का उपसंहार है। प्रथम अध्याय की तरह ही आदिकारण की जिज्ञासा के साथ इसका आरम्भ होता है। उसके पश्चात् परमदेवता को ही विश्व-कारण बतलाते हुए पूरे अध्याय में उसके स्वरूप एवं महिमा का परिचय दिया गया है। इस प्रसङ्ग में संहिता से मात्र एक मन्त्र आंशिक रूप में उद्धृत हुआ है।[१] उसकी शक्ति परा एवं विविधा है तथा उसके ज्ञान और बल की क्रिया स्वाभाविक है। इसका स्पष्ट उल्लेख लक्षणीय है। जिस प्रकार वह विश्वरूप है, उसी प्रकार 'निष्कलं, निष्क्रियं, शान्तं, निरवद्यं, निरञ्जनम्' है। वहाँ वह अतिष्ठा है। सर्वातीत है, वहाँ कोई भी, किसी की भी भाति नहीं, दीप्ति नहीं। उसकी ही भाति से, प्रभा से सबकी अनुभा है।[२]

---

१. १५ उत्तरार्द्ध = वा. सं. ३१।१८।
२. तु. क. २।२।१५, मु. २।२।१०; बृ. ४।४।१६।

अन्तिम श्लोक में कहा गया है कि जिसकी भक्ति परमदेवता में एवं गुरु में भी समान रूप से होती है, उसी महात्मा के निकट ही यह सब प्रकट होता है। उपनिषद् में भक्ति का उल्लेख यहीं प्रथम है।[१]

अनेक विद्वानों का कथन है कि उपनिषत् की रचना अत्यन्त विशृङ्खल है। इस अभियोग में सच्चाई नहीं है, वह थोड़ा लक्ष्य करने पर ही समझ में आता है। श्रुति के साथ न्याय के समन्वय की चेष्टा उपनिषद् का एक वैशिष्ट्य है।[२] उससे वेदार्थ-विज्ञान की एक धारा का परिचय प्राप्त होता है, जिसका परिणतरूप हम उत्तरमीमांसा में पाते हैं।

तत्पश्चात् शुक्लयजुर्वेद की **ईश एवं बृहदारण्यक-उपनिषत्।**

ईशोपनिषत् संहिता के अन्तर्गत है। यह वैशिष्ट्य अन्य किसी उपनिषद् को प्राप्त नहीं।[३] इसके मात्र अठारह मन्त्रों में ऐसी कुछ बातों का उल्लेख है; जो उपनिषद्-साहित्य में अतुलनीय हैं।

---

१. संहिता में भक्ति के देवता 'भग' हैं, जो भागवतों के भगवान् हैं। हम उनके द्वारा भक्त अथवा आविष्ट हैं (तु. १।२४।५. वहाँ 'भगभक्त रयि' अर्थात् भक्ति के देवता द्वारा आविष्ट शक्ति-प्रवाह का उल्लेख है, जो स्रोत के प्रतिकूल प्रवाहित हो रहा है)। इस आवेश से हमारे भीतर श्रद्धा जागती है (तु. क० – 'कुमारं....श्रद्धाविवेश १।१।२)। इस श्रद्धा के पश्चात् ही भक्ति।....प्राचीन उपनिषदों में 'गुरु' सञ्ज्ञा का प्रयोग बहुत ही कम है (छा. ५।१०।९, ८।१५।१; मु. १।२।१२), उसकी जगह 'आचार्य' सञ्ज्ञा प्राप्त होती है। ऋषिपन्था में 'आचार्य' और मुनिपन्था में, 'गुरु' – कुछ ऐसा है क्या? क्या विद्वान् व्रात्य ही गुरु है? नेपाल में आज भी देवपूजकों को 'देभाजु' और गुरुपूजकों को 'गुभाजु' कहते हैं। इसमें भी साधना की दो धाराओं की सूचना मिलती है।
२. यही इतिहास-पुराण अथवा स्मृति का भी एक वैशिष्ट्य है।
३. कृष्णयजुर्वेद के पश्चात् शुक्लयजुर्वेद – अर्थात् यातयाम कृष्णकर्म का अयातयाम शुक्लकर्म में उत्तरण। उसका पर्यवसान औपनिषदपुरुष के विज्ञान में। इस विन्यास में हमें वैदिक-भावना का एक रूपायन प्राप्त होता है। यही याज्ञवल्क्य की कीर्ति है। कृष्णद्वैपायन के प्राक्तन समन्वयाचार्य वही हैं।

अनुशासन द्वारा इस उपनिषत् का आरम्भ होता है। फिर कहा जाता है कि जगती में जो जगत् है[१], जो गतिमय है, उस सब को ईश[२] द्वारा उद्भासित देखोगे[३]। त्याग के द्वारा ही इसका भोग करो,[४] किसी के धन के प्रति लोभ मत करो।[५] कर्म करके ही यहाँ सौ वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करो।[६] जब तुम इस प्रकार कर्म करते रहोगे, तब फिर इसमें अन्यथा कुछ नहीं। जो नर उनमें कर्म-लिप्त नहीं होता।[७]

---

१. ऋक्संहिता में जगती कहीं भुवन (१।१५७।५, ६।७२।४), कहीं छन्द (विश्वान् देवाञ्जगत्या विवेश (१०।१३०।५)। यह विश्वेदेवता का छन्द है। अतएव जगती में ईश्वरी महाशक्ति की व्यञ्जना है। जगत् उसके ही अन्तर्गत है। 'चलन्त' इस अर्थ में इसका प्रयोग संहिता में अधिक है। ईश, जगत, जगत् - यह एक त्रिपुटी प्राप्त होती है।

२. ईश ।। ईशान ; यह ईशान संज्ञा ही संहिता में बहुप्रयुक्त है। 'ईश्वर' ऋक्संहिता में नहीं, यजुःसंहिताओं में है, किन्तु परमपुरुष की पारिभाषिक संज्ञा के रूप में नहीं। अथर्वसंहिता में पुरुषसूक्त का जो रूप प्राप्त होता है। उसमें ही हम देखते हैं कि 'अमृतत्वस्येशान:' के स्थान पर 'अमृतत्वस्येश्वर:' (१९।६।४) है। वहाँ भी यह प्रयोग पारिभाषिक नहीं।

३. संहिता में णिजन्त वस् धातु का अर्थ है उद्भासित करना (तु. ऋ. ३।१।१७, ७।३, १७।५, ३२।२, ७।९१।१; 'रूपैरवासयत्' १।१६०।२ - यहाँ आच्छादन अर्थ उपयुक्त है। यह अर्थ ही यहाँ सङ्गत है।

४. 'त्यक्तेन' त्याग के द्वारा (भाव में क्त-प्रत्यय); ऋक्संहिता में त्याग शब्द है, जिसका अर्थ है 'आहुति'। 'भुञ्जीथा:' आत्मनेपद में, अतएव भोग अर्थ ही उपयुक्त है। त्याग के द्वारा भोग का याज्ञिक प्रतिरूप यज्ञ के अन्त में 'इडाभक्षण' है (तु. गी. ३।१३)।

५. 'मा मृध:' : तु. बौद्ध 'गर्ध'; अशनाया वै पाप्माऽमति: ऐ. ब्रा. २।२।

६. शतायु की प्रार्थना तु. ऋ. २।२७।१०, ३।३६।१०, १०।१८।४, ८५।३९, १६१।३,४ अ. १९।६७।

७. तु. बृ. ४।४।२३, छा. ४।१४।३, ५।१०।१०; कौ. ३।१। धर्म-अधर्म से परे होना ही इस देश की धर्मसाधना का चरम लक्ष्य एवं अनन्य वैशिष्ट्य है।

जो आत्मघाती, वे प्रेति के पश्चात् अन्धतमस् से आवृत असूर्य लोक में ही जाते हैं।[१] देवचेतना के उस पार आत्मा एक है। और सब कुछ धावमान, वेगवान् है। किन्तु आत्मा स्थिर है। इसके अलावा वह सबका अतिक्रमण कर जाता है।[२] मातरिश्वा उसके ही भीतर अप् को निहित करता है।[३] वह कम्पित होता है और कम्पित भी नहीं होता; वह दूर है, वह पास भी है, वह इस सब कुछ के भीतर है, और बाहर भी है। इस आत्मा में सर्वभूत को देखना होगा, अथवा सर्वभूत को ही आत्मा के रूप में देखना होगा, जानना होगा। सर्वभूत के भीतर आत्मा को देखना होगा। यही एकत्व का अनुभव है।[४]

---

१. लगता है, यहाँ असद् ब्रह्मवाद अथवा शून्यवाद की ध्वनि है। जो अनात्मवादी, वे ही 'आत्महन:' 'असूर्या लोका:' वारुणी रात्रि अथवा शून्यता। यह एक प्रकार से असम्भूति अथवा विनाश की उपासना है, जो इस उपनिषद् का अभिप्रेत नहीं। तु. १२-१४)।

२. इसलिए वह 'अतिष्ठा:' (तु. ऋ. १०।९०।१)।

३. 'मातरि-श्वा' माता अथवा अदिति के भीतर उच्छ्वसित विश्वप्राण (द्र ऋ ३।२।१३ टीका : 'मातरिश्वा यदमिमीत मातरि' ३।२९।११। अप् विश्वशक्ति की धारा (द्र. ऋ. ७।४७, ४९, १०।९, १९, ३०। तु. गौरी का सलिल-लक्षण (ऋ. १।१६४।४१)।

४. आत्मानुभव की यह त्रिपुटी ही वेदान्त का सार है। प्रथम अनुभव में आत्मा सब कुछ का अधिष्ठान है, द्वितीय में अन्तर्यामी है और तृतीय में सर्वात्मरूप में अनुभव की पराकाष्ठा है। संहिता में आत्मा = पुरुष। पुरुष भी अधिष्ठान : 'द्यावा भूमि जनयन् देव एक: .....अध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्' ऋ. १०।८१।३-४; 'स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ९०।१; विश्वा जातानि परि ता बभूव १२१।१०; विश्वे. द् उ' ता ; परिभूर्ब्रह्मणस्पति: २।२४।११; अग्ने ता विश्वा परिभूरसित्मना ३।३।१....। पुरुष भी अन्तर्यामी : प्रथमच्छदवराँ आ विवेश १०।८१।१; य आत्मदा १२१।२; अग्निर्मर्तेष्वाविशन् ५।२५।४; वास्तोस्पते विश्वा रूपाण्याविशन् ७।५५।१ (९।२५।४); अस्मे अन्तर्निहिता केतव: १।२४।७...। और पुरुष ही सब कुछ हुआ है : १०।८१।३, ९०।१; पुरुष एवेदं सर्वम् २; विश्वरूप अमृतानि तस्थौ ३।३८।४; रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ६।४७।१८... संहिता की दृष्टि बहिर्मुखी है, उपनिषद् की दृष्टि अन्तर्मुखी है; किन्तु अनुभव एक ही है।

वह शुक्र है, वह अकाय, अव्रण है, वह अस्नाविर, शुद्ध और अपापविद्ध है। वही चतुर्दिक फैला हुआ है, व्याप्त है। तब वह एक साथ कवि एवं मनीषी है, स्वयम्भू एवं परिभू है – शाश्वतकाल से अर्थ का विधान करता आ रहा है।[१]

जो अविद्या अथवा असम्भूति की उपासना करता है, वह अन्धतम में प्रवेश करता है। किन्तु उसकी अपेक्षा वह भी अन्धतम में प्रवेश करता है, जो विद्या अथवा सम्भूति में रत है।[२] धीर पुरुषों का कथन है कि विद्या अथवा सम्भूति से कुछ और मिलता है और अविद्या अथवा असम्भूति से कुछ और मिलता है।[३] किन्तु जो दोनों को मिलाकर प्राप्त करता है, वह अविद्या अथवा विनाश के द्वारा मृत्यु का अतिक्रम करके विद्या अथवा सम्भूति द्वारा अमृत का उपभोग करता है।[४] तत्पश्चात्

१. जिस प्रकार आकाश में आदित्य। संहिता में वरुण एवं मित्र।
२. अध्यात्मदृष्टि से विद्या एवं अविद्या, अधिदैवत-दृष्टि से सम्भूति एवं असम्भूति। साधना की दो धाराओं की चर्चा हो रही है; जिनमें एक इतिभावना की धारा है और दूसरी नेतिभावना की। ऋषिपन्था में पहली धारा की प्रधानता है और मुनि-पन्था में दूसरी धारा की। दोनों धाराओं को मिला देना ही याज्ञवल्क्य का कृतित्व एवं इस उपनिषद् का वैशिष्ट्य है तु. बृ. ४।४।१०,११।
३. पहली प्राप्ति है सारे वर्णों के समाहार आदित्य को पाना, दूसरी प्राप्ति है अवर्ण आकाश को पाना। लोकोत्तर की प्राप्ति के बिना लोक-प्राप्ति प्रतिष्ठित नहीं होती।
४. यहाँ प्राकृत अथवा असंस्कृत चित्त की अविद्या को लक्ष्य नहीं किया जा रहा है। जानते-जानते जानना भी अन्ततः समाप्त हो जाता है – यह मर्मज्ञों-रहस्यविदों की वही अविद्या (के. १।३।४, २।१-३; ऋ. १०।१२९।६-७) है। यही तैत्तिरीय का असद्ब्रह्मवाद २।६ (तु. बौद्धनिर्वाण)। 'विनाश' संज्ञा श्लिष्ट है – अर्थात् खो जाना अथवा चरमप्राप्ति दोनों का ही बोध होता है (√ नश् 'to attain' संहिता में)। ताण्ड्यब्राह्मण में विनशन-तीर्थ का उल्लेख है' 'जहाँ सरस्वती की धारा मरुभूमि में लुप्त हो गई। सरस्वती का आदि एवं अन्त दिखाई पड़ता है, किन्तु बीच का जो अंश नहीं दिखता; वही विनशन है। ता. ब्रा. के अनुसार विनशन से घोड़े की सवारी द्वारा चौवालीस दिन का (त्रिष्टुप् छन्द की अक्षर सङ्ख्या ४४; यह इन्द्र का छन्द है – अर्थात् जो वज्रसत्व एवं मनोवासित प्राण का देवता है; उपनिषद् में रुद्ररूपी प्राण की सङ्ख्या ग्यारह; अतएव ४४ दिन में नचिकेता की तरह मृत्यु के द्वार से होकर तीन प्राणों की भूमि पार करने पर चौथी प्राणभूमि के अन्तिम छोर के समीप अमृत का उत्स प्राप्त होगा– यह ध्वनि है) रास्ता है। 'प्लक्ष प्रास्रवण'; पृथिवी से स्वर्ग भी उतनी ही दूर। सरस्वती सम्मित पथ से स्वर्ग में जाना होता है और ऊपर की ओर उठते हुए स्रोत के प्रतिकूल जाना होता है २५।१०।१, १२, १६)। तात्पर्य यह है कि सरस्वती विद्या की धारा है, जो आदित्य में अथवा अखण्ड चेतना में पहुँचा देती है (वा. २५।१०।११)। प्राकृतचेतना के विपरीत ऊपर की ओर उठते हुए जाना होगा। कुछ दूर जाकर जब धारा लुप्त हो जाती है, तब याज्ञवल्क्य की भाषा में सञ्ज्ञा नहीं रहती (बृ. २।४।१२)। कठोपनिषद् में यह वैवस्वत यम की पुरी में नचिकेता का त्रिरात्र वास है। तत्पश्चात् दिव्यचेतना के साथ लौट आना। तब अमृत का उपभोग। जिसे रहस्यविदों की दृष्टि में 'सब छोड़े, सब पावे' कहा जाता है। पुरुष तब संहिता की भाषा में 'नवेदाः'।

प्रार्थना[१] : सत्य का मुख ढँका हुआ है हिरण्मय पात्र द्वारा।[२] हे एकर्षि पूषन्! हे यम! हे प्राजापत्य सूर्य![३] तेज को समूढ़ करो, एकत्र करो, और

१. = बृ. ५।१५ (अध्याय समाप्ति)
२. तु. ऋ. विभद्र द्रापिं हिरण्ययं वरुणो वस्त निर्णिजम् १।२५।१३। 'हिरण्यय द्रापि' अथवा हिरण्मय-पात्र वरुण की शून्यता को घेरे आलोक का आवरण है। छा. में यही आदित्य का 'शुक्लं भाः' एवं 'नीलं परःकृष्णम्' (१।६।६), दार्शनिक-भाषा में सद्ब्रह्म एवं असद्ब्रह्म। आदित्यबिम्ब के उस पार सत्य है, उसके लिए सूर्यद्वार को भेद कर जाना होगा (तु. मु. १।२।११; छा. 'लोकद्वार का अपावरण' (२।२४; ८।६।५-६)।
३. चेतना के उत्तरायण के तीन स्तरों पर तीन सम्बोधन। पहले हम उसे प्राजापत्य सूर्य के रूप में देखते हैं – जो 'विवस्वान्' रूप में आत्मचैतन्य की व्याप्ति एवं दीप्ति है। उसके पश्चात् ही यम अथवा मृत्यु का अन्धकार उतर आता है। उसके पश्चात् पुनः एकर्षि पूषा का सन्धानी आलोक फूट पड़ता है। तु. सरस्वती की धारा टीका. ४७१। निरुक्त के दैवतकाण्ड में अश्विद्वय से विष्णु तक विष्णु की सप्तपदी का जो वर्णन है, उसमें सूर्य का स्थान पाँचवाँ है और पूषा का छठा स्थान है। योग की दृष्टि से एक विशुद्धचक्र है और एक आज्ञाचक्र है। दोनों के बीच यम एक सेतु है। ऋकसंहिता में पूषा का एक वैशिष्ट्य देखते हैं कि वह 'नष्ट' अर्थात् खोए हुए पशुओं को वापस लाता है, वह हमारी 'गवेषणा'...का सहायक है।

रश्मिसमूह को व्यूढ़ करो[१], व्यूहित करो। तुम्हारा जो कल्याणतम रूप है, मैं वही देखूँगा।[२] वही हाँ, वही जो पुरुषरूप है, वही मैं हूँ।[३]

उसके पश्चात् सिद्ध का अनुभव और सङ्कल्प[४] इस प्रकार है – 'मेरे निकट वायु, अनिल, अमृत और यह शरीर भस्मान्त है।[५]

अर्थात् जो चेतना विनाश के अँधेरे में गहरे उतर जाती है, उसे फिर पूषा जगा देता है। यही योग की भाषा में भ्रूमध्य में चेतना का बैन्दवसंहनन है। एकर्षि विशेषण से वही सूचित होता है। 'ऋषि' शब्द श्लिष्ट है, जिससे अग्र्या बुद्धि की सूचीमुख या सुई की नोक जैसी दृक्-शक्ति का बोध होता है (√ऋष्, देखना, विद्ध करना)। संहिता में एकर्षि का यह परिचय : स्कम्भ ब्रह्म में वह अर्पित अथवा संहत (अ. १०।७।१४); 'यमं यो विद्यात् स क्रयाद् यथैकर्षि विजानते' – अर्थात् यम को जानने पर ही एकर्षि जैसा विज्ञान प्राप्त होता है (का. ४०।११।५); तै० आ. ६।५।२, वहाँ सायणभाष्य बृहदारण्यक के वंश-ब्राह्मण में एकर्षि का उल्लेख है : ब्रह्मविद्या एकर्षि से प्रध्वंसन में सञ्चारित हुई। प्रध्वंसन से यम में, यम से अथर्वा इत्यादि में, (२।६।३)। प्रश्नोपनिषद् में प्राण व्रात्य एवं एकर्षि (२।११; तु. मु० ३।२।१०)। यहाँ जिस प्रकार 'एकर्षि' उसी प्रकार ईशान भी 'एक व्रात्य' (अ. १५।१।६), इन्द्र 'एकवीर' (ऋ. १०।१०३।१)। एकर्षि पूषा छान्दोग्य में 'अमानव पुरुष' (४।१५।५, ५।१०।२), बृहदारण्यक में मानस पुरुष (६।२।१५)।

१. विकीर्ण रश्मि के संहत होने पर ही तेज उत्पन्न होता है। वह तेज ही फिर सन्धानी आलोक की तरह ऊपर की ओर फैल जाता है।
२. यह रूप आदित्यमण्डल के मध्यवर्ती हिरण्मयपुरुष अथवा पुरुषोत्तम का (छा. १।६।६) है।
३. इस सायुज्य का अनुभव ही वैदिक साधना की परमासिद्धि है।
४. साधारणतः मृत्युकालीन प्रार्थना के रूप में इन दोनों मन्त्रों की व्याख्या की जाती है। वस्तुतः यह सत्यधर्म को (१५) देखकर पुनः यहाँ नचिकेता की तरह लौट आने का वर्णन है।
५. 'भस्मान्त' अग्निष्वात्त, योगाग्निमय। साधुओं के शरीर में राख मलने का भी यही तात्पर्य है।

हे क्रतो! स्मरण करो, कृत को स्मरण करो।[१] हे अग्नि! हमें सुपथ द्वारा रयि के मध्य ले चलो, तुम पथ की सारी खबर रखते हो। हे देवता! सर्पिल पाप को दूर करो, तुम्हारे प्रति बार-बार हमारा नमस्कार।[२]

यहाँ ही इस उपनिषद् का उपसंहार। भावना की ये विशेषताएँ लक्षणीय हैं : ईश्वरचैतन्य के द्वारा सब कुछ उद्भासित देखना होगा। त्याग और भोग के बीच विरोध नहीं। जीवन हेय नहीं। किन्तु निर्लिप्त होकर कर्म करते रहना होगा। आत्मानुभव का चरम – अर्थात् आत्मा ही सब कुछ है। अविद्या एवं विद्या का तथा असम्भूति एवं सम्भूति का सामञ्जस्य, सहवेदन चाहिए। जिस प्रकार आलोक का आवरण हटाकर सत्य को देखना होगा, उसी प्रकार उस परमपुरुष के कल्याणतम-रूप को भी देखना होगा। वह और मैं एक। अमृत-जीवन में मैं उसका ही क्रतु अर्थात् सृष्टि-सङ्कल्प हूँ।[३]

उसके पश्चात् शतपथ-ब्राह्मण की **बृहदारण्यकोपनिषद्।** यह उपनिषत् ब्राह्मण की तरह ही आयतन में एवं गुरुत्व में यथार्थतः बृहद् है। कुल छह अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय कई ब्राह्मणों की समष्टि है। सम्प्रदायविदों ने दो-दो अध्यायों को लेकर एक-एक काण्ड अर्थात् मधुकाण्ड, मुनिकाण्ड अथवा याज्ञवल्क्यकाण्ड की कल्पना की है।[४] काण्व एवं माध्यन्दिन दोनों शाखाओं में ही यह उपनिषत् उपलब्ध है।

---

१. 'क्रतु' सृष्टि का सङ्कल्प। 'कृत' सत्य (तु. प्र. १।९, ऋ. १०।१११।१; गीता. साङ्ख्ये कृतान्ते १८।१३); पाँसे के चार बिन्दु भी 'कृत' (द्र. ऐ. ब्रा. ७।१५; छा. ४।१।६, ३।८; तो फिर 'कृत' = चतुष्पात् अथवा 'सत्य'। द्युलोक में जो सिद्ध है, उसकी साधना पृथिवी पर चलेगी।
२. = ऋ. १।१८९।१। 'रयि' प्राण संवेग।
३. यही याज्ञवल्क्य का परिपूर्ण जीवन-दर्शन है। मूल भावों को हम बृहदारण्यक में ही पाते हैं।
४. लक्षणीय, प्रत्येक काण्ड के अन्त में ही एक वंश-ब्राह्मण है।

आद्यशङ्कराचार्य ने अपने प्रसिद्ध भाष्य की रचना काण्व-शाखा के ऊपर की है।[१]

प्रथम अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में अश्वमेध-याग की अश्वोपासना का उल्लेख है।[२] अश्व विश्वरूप का प्रतीक है 'समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः'।[३]

द्वितीय ब्राह्मण[४] में अश्वमेध-रहस्य की ही अनुवृत्ति - सन्धाभाषा में इस प्रकार है-

'पहले यहाँ कुछ भी नहीं था। यह मृत्यु अथवा अशनाया द्वारा आवृत था। अशनाया ही मृत्यु है।[५] उसके पश्चात् मन में आया[६], मैं आत्मवान् होऊँ। वह प्रज्ज्वलित होकर जलते-जलते चलता रहा।[७] उससे अप् उत्पन्न हुआ। यह अप् ही अर्क है।[८] उसके ऊपर जो गाढ़ी परत

१. यह उपनिषत् काण्वशाखा का सत्रहवाँ काण्ड। माध्यन्दिन में शुरु १४।४ से; पहले के तीन अध्याय प्रवर्ग्याधिकरण। व्याख्या में काण्वशाखा का अनुसरण किया जा रहा है।
२. माध्यन्दिन में यही १०।६।४, अग्निचयन के अन्त में। द्र. अश्वस्तुति ऋ० १।१६२, १६३; प्रथम में क्रिया का प्राधान्य है, द्वितीय में तत्त्व का।
३. 'त्रीणि त आहुर्दिवि बन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे' १।१६३।४; 'सुरादश्वं वसवो निरतष्ट' २। अन्यत्र अश्व, ओज का प्रतीक (ऋ. १०।७३।१०)।
४. = माध्यन्दिन १०।६।५।
५. तु. तै. ब्रा. ३।९।१५।२; शतपथ ब्राह्मण. अशनाया वै तमः ७।२।२।२१; ऐ. ब्रा. अशनाया वा पापमाऽमति : २।२। संहिता में यह कामः तु. ऋ. कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् १०।१२९।४। अतएव मृत्यु एवं अशनाया एक युग्म है; अर्थात् अव्याकृत ही कामना अथवा नित्य परिणाम की उन्मुखीनता। यहाँ हमें असद्वाद की सूचना प्राप्त होती है (तु. ऋ. १०।१२९)।
६. मूल में है 'मनोऽकुरुत' तु. प्र. 'मनः कृतेन' ३।३ ईक्षा का बोध होता है।
७. मूल में 'अर्चन्'; तु. अर्चिः। संहिता में यह अर्थ अनेक स्थानों पर है।
८. अर्क ।। तपः (तु. तुच्छ्येनाभ्व पिहितं यदासीत् तपस्तन महिनाजायतैकम १०। १२९।३; ऋतञ्च सत्याञ्चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत १९०।१)। उसका ही दूसरा रूप कारण-सलिल है, जिसमें निहित है (तु. गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षती १।१६४।४१; अपां गर्भो नृतमो यह्वो अग्निः ३।१।१२....)।

जमी, वही पृथिवी हुई। तब मृत्यु ने पृथिवी के साथ श्रम करना शुरू किया। उसके श्रम एवं तप से तेजोरस प्रकट हुआ, वही अग्नि है।"[१]

अप् में प्रतिष्ठित यह अग्नि प्राणरूप में सर्वमय है। उसने स्वयं को अग्नि, वायु एवं आदित्यरूप में तीन प्रकार से व्याकृत या अभिव्यक्त किया।[२]

मृत्यु ने फिर चाहा कि मेरा द्वितीय आत्मा जन्म ले।[३] तब मन ही मन मिथुनीभूत वाक् के साथ[४] सङ्गत होने से जो रेतः पात हुआ, वही संवत्सर हुआ, उसके पहले संवत्सर नहीं था।[५] संवत्सर काल-भरण के पश्चात् वही बीज कुमार रूप में जन्मा। मृत्यु ने मुख फाड़कर उसे निगलना चाहा। कुमार भय से 'भ्याँ' शब्द कर उठा। वही शब्दवाक् हुआ।[६] मृत्यु ने देखा कि इसे खाने से पेट कितना भरेगा? तब अपने इस

१. मूल में 'अश्राम्यत्' श्रम किया, energised himself तु. 'श्रमण' (तै. आ० २।७।१)। यह अग्नि ही संहिता में वैश्वानर (द्र. ऋ. ३।२ भूमिका; तु. ऋ. १०।८५।१)।
२. तु. वा. स. 'विद्मा ते अग्नि त्रेधा त्रयाणि १२।१९; श. ब्रा. अग्निर्वायुरादित्य एतानि हास्य त्रेधा त्रयाणि ६।७।४।४। त्रिभुवन की सूचना।
३. प्रथम आत्मा वैश्वानर अग्नि, द्वितीय 'विराट्' (तु. ऋ. १०।९०।५)।
४. वाक् से सृष्टि। संहिता में यह वाक् 'गौरी' (तु. ऋ. गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षती. ...तस्याः समुद्रा अधिवि क्षरन्ति.....ततः क्षरत्याक्षरं तद् विश्वमुपजीवति १।१६४।४१-४२)। एकपदीवाक् ओम्; आकाश का आदिस्पन्द है। उसीसे सृष्टि। अतएव प्रजापति को 'वाचस्पति' एवं 'विश्वकर्मा' की सञ्ज्ञा दी गई है (१०।८१।७)।
५. संवत्सर काल का प्रतीक है, इसलिए कि यही वस्तुतः हमारी प्राकृतचेतना में कालमान की व्याप्ततम इकाई है (तु. समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत (ऋ. १०।१९०।२)। 'रेतः' ।। 'रयि' प्रवेग (तु. 'मनसोरेतः' ऋ. १०।१२९।४)।
६. यह जातक 'विराट्' (ऋ. १०।९०।५) इस बार गुहाहित वाक् की अभिव्यक्ति होती है (तु. १।१६४।४५)। मृत्युग्रस्त होकर ही सृष्टि में सब कुछ का विस्तार हो रहा है।

द्वितीय आत्मा और उसके उसी वाक् द्वारा उसने सब कुछ रचा।[१] फिर जो कुछ, जितना कुछ रचा, वह सब कुछ ही लील लिया।[२]

उसके पश्चात् मृत्यु ने एक महायज्ञ करना चाहा।[३] फिर उसने श्रम किया, फिर तप किया। फलतः उसका यश अथवा वीर्य[४] ऊर्ध्वगामी हुआ। प्राण की ऊर्ध्वगति से शरीर स्फीत हो उठा।[५] किन्तु उसका मन शरीर में ही था।[६]

फिर उसने चाहा कि मेरा यह शरीर मेध्य हो। मैं इसे लेकर आत्मवान् होऊँ।[७] उसका वही शरीर ही अश्व हुआ।[८] फिर उसे उसने

१. मृत्यु का सङ्गम गुहाहित अथवा अव्यक्त वाक् के साथ हुआ और विराट् का सङ्गम अभिव्यक्त वाक् के साथ। एक कारणावस्था है और एक कार्यावस्था है।
२. अतएव मृत्यु ही अन्नाद अथवा परमचेतना है, वही अमृत है। कठोपनिषद् में भी मृत्यु का यही परिचय प्राप्त होता है। और भी तु. बृ. १।२।७।
३. यही मृत्युतरण अश्वमेधयज्ञ हुआ। अश्वमेध के अश्व के सम्बन्ध में कहा गया है – 'न वा उ एतन् म्रियसे न रिष्यसि, देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः' (ऋ. १।१६२।२१)। यह बात यजमान के पक्ष में भी उपयुक्त है। इसलिए कि अश्व यजमान का ही निष्क्रय है।
४. मूल में 'यशो वीर्यम्। दोनों समानार्थक हैं। संहिता में भी वही। 'यश': < √ (विशेष प्रणिधान योग्य) यश् ।। ईश् (जिस प्रकार √यज्।। ईज् तु. ईजान : (विशेष प्रणिधान योग्य) क. १।३।२।)
५. यह योग का स्वाभाविक अनुभव है। अध्यात्मदृष्टि से अश्वमेध ओजःशक्ति को ऊर्ध्वगामी करने की साधना है। तु. तै. एतत्ततो भवति, आकाशशरीरं ब्रह्म १।६
६. मन यहाँ षष्ठ इन्द्रिय नहीं; आत्मा (SPIRIT) है। यह अर्थ ही प्राचीनतर है (तु. बृ. १।४।१७)। इसलिए उपनिषद् में अनेक स्थानों पर 'मनोमय' ब्रह्म का विशेषण है।
७. तृतीय बार आत्मन्वी होने का अर्थ है दिव्य शरीर प्राप्त करना, जो यज्ञ से उत्पन्न होता है।
८. अब तुलनीय प्रथम ब्राह्मण।

अवरुद्ध नहीं किया। संवत्सरकाल तक इस रूप में रखकर अपने निकट ही उसका आलम्भन किया।[१]

आदित्य ही अश्वमेध है और इस अश्वमेध की अग्नि ही अर्क है। और वह एकमात्र देवता मृत्यु है। आदित्य, अग्नि अथवा मृत्यु इन तीनों का जो एक देवता है, वह पुनर्मृत्यु को जीत लेता है – इसलिए कि मृत्यु ही उसका आत्मा हो जाता है।[२] वह मृत्यु को प्राप्त नहीं होता।

तत्पश्चात् तृतीय ब्राह्मण[३] में प्राणोपासना[४] है। आधाररूप में सनातन देवासुर-सङ्ग्राम द्वारा प्रकरण का आरम्भ किया गया है। देवता और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान हैं। असुर सङ्ख्या में अधिक हैं, देवता कम। दोनों में गुत्थमगुत्था चलता ही रहता है। देवताओं ने निर्णय किया कि हम यज्ञ में उद्गीथ[५] द्वारा असुरों को पराजित करेंगे।

यह यज्ञ अध्यात्मयज्ञ है, वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र एवं मन उद्गाता ऋत्विक् हैं।[६] उन्होंने उद्गान करते हुए देवताओं के लिए भोग और अपने लिए कल्याण की कामना की।[७] उसी भोगाकाङ्क्षा के छिद्रपथ से आकर असुरों ने उन्हें पापविद्ध किया, और जीवन-यज्ञ निष्फल हो गया।

१. अर्थात् दिव्यचेतना को सर्वत्र प्रसारित करके पुनः उसे अपने भीतर समेट लिया। यह सहज समाधि की साधना है।
२. अग्नि आत्मचैतन्य, आदित्य विश्वचैतन्य और यम (मृत्यु) विश्वातीत चैतन्य। तु. ऋ. अग्निं यमं मातरिश्वानम् आहुः (१।१६४।४५)। उसके पहले ही अग्नि-इन्द्र-सविता मित्र-वरुण का उल्लेख है। फिर, अग्नि-सविता-मित्र-वरुणरात्रि का उल्लेख (१।३५।१)। सर्वत्र एक ही भाव है। अश्वमेध का अश्व यजमान का ही प्रतीक है, उसकी गति परम सधस्थ की ओर है (ऋ. १।१६३।१३)।
३. यहाँ से माध्यन्दिनशाखा में उपनिषद् का आरम्भ १४।४।
४. तु. छा. १।२।३; कौ. ३; प्र. २। संहिता की अधिदैवत-दृष्टि में यह प्राण, वायु अथवा मातरिश्वा है।
५. तु. छा. १।१-९।
६. इस प्रकार द्रव्ययज्ञ ज्ञानयज्ञ में रूपान्तरित होता है (तु. गी. ४।२५-३३)।
७. इन्द्रियों का भोग दिव्य एवं कल्याण होने पर भी वह प्रेय की ही उपासना है (तु. क. १।२।१-३) अतएव वह परम पुरुषार्थ नहीं।

तब देवताओं ने मुख्य प्राण को उद्गाता नियुक्त किया।[१] उस पर आक्रमण करने पर असुर विध्वस्त हो गए। मुख्य प्राण ने तब वाक् इत्यादि से पाप अथवा मृत्यु को अपसारित करके उन्हें अमृत कर दिया। तब वाक् हुई अग्नि, प्राण वायु, चक्षु आदित्य, श्रोत्र दिक् एवं मन सोम हुआ।

यह मुख्य प्राण ही आङ्गिरस है, वही बृहस्पति ब्रह्मणस्पति साम अथवा उद्गीथ है।

जब प्रस्तोता पवमानस्तोत्र का गायन आरम्भ करें; तब यजमान को जप करना होगा, 'मुझे असत् से सत् की ओर ले चलो, 'मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो', 'मुझे मृत्यु से अमृत अथवा अमरत्व की ओर ले चलो'। जिस की संज्ञा है अभ्यारोह।[२]

उसके पश्चात् चतुर्थ ब्राह्मण में सर्वात्मक आत्म-विद्या और ब्रह्म-विद्या तथा प्रसङ्गतः विश्व-सृष्टि का विवरण इस प्रकार है–

'आरम्भ में यह सब पुरुषरूप में आत्मा ही था।[३] इस आत्मा ने अनुवीक्षण, पर्यालोचन करके स्वयं के अतिरिक्त अन्य किसी को भी

---

१. मूल में 'आसन्य प्राण' है। यह प्राण अग्निस्वरूप है (प्र. ४।३) उसकी सात शिखाएँ ऊर्ध्वस्रोता होकर शीर्ष का आश्रय ग्रहण करती हैं, इसलिए आसन्य अथवा मुख्य प्राण को शीर्षण्य भी कहा जाता है (श. ब्रा. ११।२।६।४; तै. ब्रा. १।२।३।३; ...)। प्राणाग्नि की सात शिखाएँ ही 'सप्तार्चिः' प्र० ३।५; तु. ऋ. सप्तरश्मिमग्निं १।१४६।१; वह्नय : (सप्तजिह्वाः ३।६।२) आस्य अथवा मूर्द्धा में सात इन्द्रियपथ से बाहर आती है। इसलिए मुख्य प्राण को आश्रय करने का अर्थ है ऊर्ध्वस्रोता मूर्द्धन्यचेतना का आश्रय ग्रहण करना। (द्र. गीता. ८।१२)। तब वहाँ वैश्वानर अग्नि का आविर्भाव होता है (तु. ऋ. आसन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ६।७।१)। वह ही अमृतस्वरूप आसन्य प्राण (ऋ. अमृतं म आसन् ३।२६।७)।

२. अर्थात् चेतना का उत्तरायण, प्राण को ऊर्ध्वस्रोता करना। यहाँ यह एक विशेष विधि है, किन्तु इसका प्रयोग सामान्य रूप में किया जा सकता है।

३. इस पुरुषविधता का परिचय हमें ऋक्संहिता के पुरुषसूक्त में प्राप्त होता है (१०।९०)। पुरुष की एक और सञ्ज्ञा है 'विश्वरूप' (द्र. ऋ. ३।३८।४, ५५।१९, ५६।३ ६।४१।३....)। द्वितीय ब्राह्मण में मृत्यु अथवा असत् को हमने जगत्-मूल के रूप में देखा था, यहाँ हम आत्मा अथवा सत् को देखते हैं। दोनों ही मत थे। (तु. छा. ६।२।१-२)

नहीं देखा। इसलिए वह शुरू में ही बोल पड़ा, – 'सोऽहमस्मि' – मैं वह हूँ। वह अहंनामा 'अहम्' नाम वाला हुआ। उसने इस सब कुछ के पूर्ववर्ती एवं समस्त पापों को उषित-दग्ध कर दिया है, इसलिए उसकी सञ्ज्ञा 'पुरुष' हुई।[१]

एकाकी होने से उसे भय का बोध हुआ। किन्तु जब देखा कि उसके अतिरिक्त और कुछ है नहीं, तब उसका भय दूर हो गया।[२]

किन्तु एकाकी होने से उसे तुष्टि प्राप्त नहीं हुई। एक और की कामना की। इस प्रकार वह ऐसा हो गया, जैसे स्त्री-पुरुष निविड आनन्द में युगनद्ध हों।[३] तब उसने स्वयं इस देह को पति-पत्नी रूप में विभाजित किया। याज्ञवल्क्य ने कहा– जब हम एक, तब एक-एक जन अर्द्धबृगल अथवा द्विदल अन्न के आधे भाग जैसा है।[४] इसीलिए तो यह आकाश स्त्री द्वारा पूर्ण होता है।[५]

इसके पश्चात् आत्मा पत्नी[६] के साथ सङ्गत हुआ। उसने सोचा यह क्या? स्वयं से मुझको जन्म देकर फिर मुझसे समागम कर रहा है। तो

---

१. अध्यात्मदृष्टि से यह चेतना के उत्तरायण का चित्र है। पाप अथवा द्वैतबुद्धि का (तु. छा. १।२।१-८) अतिक्रमण करके इस आदितम अवस्था में पहुँचा जा सकता है।

२. आध्यात्मिक-दृष्टि से यह मोक्ष भीति है, सुषुप्ति से जाग उठने पर आरम्भ में जैसा होता है।

३. तु. बृ. ४।३।२१। अर्द्धनारीश्वर का सामरस्य। ऋक्संहिता में वाक् और ब्रह्म का मिथुन (१०।११४।८), उसी प्रकार धेनु और वृषभ का (१०।५।७, ३।३८।७; और भी तु० माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हिजग्मे १।१६४।८।

४. मूल में 'स्वः' क्रियापद < अस् + लट् वस् (Limaye & Vadekar)। आत्मा में पति-पत्नी एक; तु. बृ. याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद २।४।५, अ. स. १४।२।७२; बृ. ६।४।२०; ऋ. समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ १०।८५।४७।

५. तु. केनोपनिषद्. तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम ३।१२।

६. पत्नी कौन? आदिशङ्कराचार्य बतलाते हैं शतरूपा। वरन् वाक् कहना अच्छा (तु. बृ. १।२।४; ऋ. १०।११४।८, वाचस्पतिं विश्वकर्माणम् ८१।७।

मैं पलायन करूँ।[१] तत्पश्चात् मानवीरूप त्यागकर वह जो भी रूप धारण करती, आत्मा पुरुष होकर उससे समागम करता। इस प्रकार चींटियों तक स्त्री-पुरुष जोड़े की सृष्टि हुई।[२]

तब आत्मा ने जाना कि मैं ही तो यह सृष्टि हूँ। उसके बाद हाथ द्वारा मन्थन करके मुँह से उसने अग्नि की सृष्टि की।[३] समस्त देवता इस अग्नि की ही विसृष्टि हैं[४]। आत्मा ने रेत: से सोम की सृष्टि की।[५] अग्नि अन्नाद हुआ और सोम अन्न हुआ। अग्नि सोम के आवेश से जगत् की मर्त्यधारा अमरत्व की ओर चल पड़ी।[६] अतएव इस धारा का नाम अतिसृष्टि हुआ।

---

१. तु. श. ब्रा. प्रजापतिर्हवै स्वां दुहितरमभिदध्यौ, दिवं वा उषसं वा, मिथुनी एनया स्यामिति तां सम्बभूव १।७।४।१; ऋ. स्वायां देवो दुहितरि त्विषिं धात् १।७१।५ (८) ३।३१।१, १०।६१।७, १।१६४।३३। शक्ति पुरुष की आत्मशक्ति, अतएव आत्मजा, फिर उस पुरुष और शक्ति का संयोग ही सृष्टि है।

२. यह अवरोह-क्रम है, विसृष्टि अथवा व्याकृति। आरोह-क्रम का प्रसङ्ग इसके पश्चात् है, जो अतिसृष्टि है।

३. यही आध्यात्मिक-दृष्टि से ऊर्ध्वमन्थ (तु. तै. आ. २।७।१) है। इसको अन्न द्वारा अतिरोहण भी कहा जाता है (ऋ. १०।९०।२; तु. अभ्यारोह बृ. १।३।२८)। 'मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च' (ऋ. १०।९०।१३)।

४. यह वैश्वानर अग्नि द्र. ऋ. ३।२ भूमिका; तु. अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य १०।५।७)।

५. तु. प्र. रयिरेव चन्द्रमा : १।५ : रयि।। रेत: < √री।

६. द्र. ऋ. १।९३। आरोह-क्रम में, अग्नि अभीप्सा की ऊर्ध्वशिखा है और सोम अमृत की दिव्यधारा है; पुन: अवरोह-क्रम में अग्नि दिव्यचेतना का आवेश है, सोम पार्थिव आनन्द का उच्छलन है, छलकन है (आन्यं दिवो मातरिश्वा जभारामथ्नादन्यं परि श्येनो अद्रे:'। ऋ. १।९३।६। अग्नि पुरुष है, सोम प्रकृति है। दोनों में ओत-प्रोत। तन्त्र में अग्निसोमात्मक। संहिता में हम देखते हैं दोनों मिलकर 'अविन्दतं ज्योतिरेकं बहुभ्य: ....उरुं यज्ञाय चक्रथुरु' लोकम.....दीदयतं बृहत् ऋ. १।९३।४, ६, १०।

सब कुछ अव्याकृत था, उसके बाद इसी प्रकार नाम और रूप व्याकृत अथवा आकारित हुए। आत्मा सबके भीतर अनुप्रविष्ट[१] होकर विश्वम्भर अग्नि की तरह स्थित है। वह प्राणन, वचन, दर्शन, श्रवण, मनन के कारण क्रमश: प्राण, वाक्, चक्षु, श्रवण एवं मन है। किन्तु यह उसका खण्ड-खण्ड परिचय है। आत्मा के रूप में ही समग्र-भाव से उसकी उपासना करनी होगी। आत्मा के अन्तर्गत सब एक रूप में है।[२] यह आत्मा अन्तरतम है, जो पुत्र से, वित्त से और सब कुछ से अधिक प्रिय है।[३]

उसके पश्चात् ब्रह्मविद्या। लोग सोचते हैं कि ब्रह्मविद्या से हम सर्वेसर्वा होंगे। किन्तु ब्रह्म क्या जानकर सर्वमय हुआ?

आदि में यह सब ब्रह्म ही था। उसने स्वयं को ही 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप में जाना। उसीसे वह यह सब हुआ।[४] फिर देवता, ऋषि अथवा मानवों में जिसे ही प्रतिबोध[५] होता है, वही ब्रह्म होता है।[६] वामदेव भी वही हुए थे।[७] 'अहं ब्रह्मास्मि' यह बोध जिसे होता है, वह सब होता है। वह देवताओं का आत्मा होता है।[८] इसलिए उनका कोई अधिकार उसके ऊपर नहीं रहता। 'देवता अलग, मैं अलग' इस ज्ञान के द्वारा जो उपासना करते हैं, वे देवताओं के पशु अर्थात् भोग्य हैं। इसलिए देवता चाहते नहीं कि लोग ब्रह्मविद्या की जानकारी प्राप्त करें।

---

१. तु. ऋ. १०।८१।१; छा. ६।३।३; तै. २।६, ऐ. १।३।१२.......।

२. तु. कौ. तमेतमात्मानमेते आत्मानोऽन्ववस्यन्ति ४।२०

३. अतएव पुत्रैषणा एवं वित्तैषणा को छोड़ना होगा (बृ. ३।५।१)।

४. यह होना ही 'सम-भूति'; विभूति उसका अगला धाप है। तु. समूहन में तेज, व्यूहन में रश्मिजाल (ई. १६)। और भी तुलनीय ऋ. दश शता सह तस्थुस्तदेकं देवानां श्रेष्ठं वपुषामपश्यम् ५।६२।१; अहमेव.....आरभमाणा भुवनानि विश्वा.....एतावती महिमा 'सम् बभूव' १०।१२५।८; एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ८।५८।२।

५. के. २।४; बृ. ४।४।१३।

६. तु. मु. ३।२।९

७. द्र. ऐ. २।५; ऋ. ४।२६।१, २७।१।

८. तु. ऋ. १।१६४।४६

एक ब्रह्म की ही विभूति यह सृष्टि है।[१] पहले देव-सृष्टि, उसके पश्चात् उसी आदर्श के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र रूप में मनुष्य-सृष्टि होती है।[२] उसकी अतिसृष्टि धर्म है[३], जो श्रेयोरूप है। धर्म और सत्य दोनों एक हैं।[४]

तत्पश्चात् फिर आत्मविद्या का प्रसङ्ग है :

आत्मा ही सबका स्वलोक अथवा स्वधाम है। इस स्वधाम की ही उपासना करोगे। जो ऐसा करते हैं, उनके कर्म का क्षय नहीं होता।[५] जो चाहते हैं, इस आत्मा से ही उसकी सृष्टि होती है।[६]

आत्मा ही सर्वभूत का लोक या धाम अथवा आश्रय है। आत्मज्ञ का जो होम और याग है, वही देवलोक है, वेदानुवचन ऋषिलोक है, पितृतर्पण और पुत्रोत्पत्ति पितृलोक, लोगों को आश्रय और आहार देना नृलोक तथा सर्वभूत के लिए बलिप्रदान भूतलोक है।[७] अर्थात् वह सर्वमय है।

---

१. तु. ऋ. ८।५८।२, ३।३८।४, ६।४७।१८......।
२. तु. पुरुष सूक्त ऋ. १०।९०।१२।
३. तु. ऋ. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् १०।९०।१६; तो फिर प्रथम अथवा आदिमधर्म यज्ञ अथवा आत्मत्याग है। देवयज्ञ विसृष्टि और उसके ही अनुसरण से मनुष्ययज्ञ उत्सृष्टि (उत्सर्ग) है, जिसके मूल में देवता की ही प्रेरणा है। इस कारण उसे यहाँ 'अतिसृष्टि' कहा गया है। दोनों यज्ञ-भावना ओतप्रोत है (तु. गी. ३।१०-११)।
४. तु. ई. सत्यधर्माय दृष्टये १५। सत्य ही विश्वमूल है : तु. ऋ. सत्येनोत्तमिता भूमिः १०।८५।१; ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत १९०।१ द्र. ऋ. ३।६।१० टीका।
५. किन्तु प्रति तुलनीय. मु. क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे २।२।८। यह अकर्ता की अवस्था है, किन्तु अकर्ता का भी कर्म रहता है। वह है दिव्यकर्म (तु. ई. २ गीता. ३।२२, ४।९,१८, ५।७)।
६. तु. छा. ७।२५।२, ८।२।१०, क. १।२।१६.....।
७. आत्मवित् ब्रह्मनिष्ठ गृहस्थ का चित्रण है। द्र. पञ्चमहायज्ञ श. ब्रा. ११।५।६।१-२।

उपक्रम की तरह उपसंहार में पुनः कहा जा रहा है :

आदि में एक आत्मा ही था। उसने चाहा, मेरी पत्नी हो, मैं प्रजात होऊँ। मेरा वित्त हो, मैं कर्म करूँ। कामना की यही सीमा है। मनुष्य की भी यही कामना है। आत्मज्ञ की यह कामना जब पूर्ण होती है, तब उसका मन आत्मा, वाक्, जाया, प्राण प्रजा, चक्षु मनुष्यवित्त, श्रोत्र दैव-वित्त और शरीर कर्मसाधन होता है। तब वह पशुरूप में, यज्ञरूप में, पुरुषरूप में पाङ्क्त है। यह सभी तो पाङ्क्त है। जो यह जानता है, वह सब पाता है।[१]

पञ्चम ब्राह्मण में कई प्रकरण हैं। प्रथम प्रकरण सप्तान्न-विद्या है। मुखबन्ध अथवा भूमिका में कई श्लोकों का उद्धरण देते हुए उसके बाद उसकी व्याख्या की गई है।

मेधा[२] एवं तपस्या के द्वारा परमपिता ने सात अन्नों को जन्म दिया। एक अन्न सर्वसाधारण है, जिसे सभी खाते हैं, यह मिश्र है, इसकी उपासना से मुक्ति होती नहीं।[३] देवताओं के दो अन्न हैं, जिन्हें हुत और

---

१. आत्मज्ञ के मन इत्यादि पाँच साधन ही तब चिन्मय हैं। मन और वाक् का एक युग्म है : मन ब्रह्मचैतन्य है, वाक् उसकी स्मृति है। तु. ऋ. १०।११४।८)। इस युग्म से प्रजापति प्राण उत्पन्न हुआ, संहिता की भाषा में 'मातरिश्वा' (तु. ऋ. ३।२९।११; ई. ४)। चक्षु एवं श्रोत्र दिव्यज्ञान की इन्द्रियाँ हैं : चक्षु विश्व के प्रतिष्ठारूपी आदित्य को देखता है, कान प्रतिष्ठारूपी आकाश को सुनता है (तु. ऋ १।१८९।८)। योगाग्निमय शरीर ही कर्म साधन है। पशु ही यज्ञ के भीतर से पुरुष अथवा देवता होता है (तु. ऋ. अश्वमेध सूक्त १।१६२।२१, १६३।६,७,१३; पाङ्क्त पशु : अ. सं. ११।२।९, श. ब्रा. १।२।३।६)।
२. मेधा < मनस् √ धा ।। अवेस्ता मज्दा, किसी भी कुछ में मन को निविष्ट करना, परिणामतः 'समाधि'। संहिता में इसीलिए समाधिमान् पुरुष की सञ्ज्ञा 'मन्धाता' है (तु. ऋ. १।११२।१३, १०।२।२ अग्नि का विशेषण) द्र. अ. स. मेधा सूक्त ६।१०८ (तु. ऋ. 'सनिं' मेधामयासिषम १।१८।६ इसलिए मेधा-प्राप्ति का द्वार)।
३. जो आत्मपाकी (गी. ३।१३) अथवा केवलादी (ऋ. १०।११७।६), वे पापी (तु. तै. ३।१०; मभा. १२।२९४।४)।

प्रहुत[१] की संज्ञा दी गई है। कोई इन्हें दर्श और पूर्णमास कहते हैं। जो भी हो, सकाम या काम्य इष्टियाग नहीं करोगे। पशुओं का अन्न पयः-दुग्ध है और शैशव में तो मनुष्यों का भी है। अप्राण-सप्राण, निर्जीव-सजीव सभी इस पय में प्रतिष्ठित हैं, इसलिए कि यही होम का साधन है (और यज्ञ से ही सृष्टि होती है)।[२] होम द्वारा ही मनुष्य अभी-अभी पुनर्मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है।[३] यह अन्न अक्षय है, इसलिए कि अन्नाद पुरुष भी अक्षय है; वह सर्वदा ही अपनी धी एवं कर्म के द्वारा अन्न-सृष्टि करता जा रहा है।[४] जो इस अक्षिति अर्थात् क्षयहीनता के तत्त्व को जानता है, वह प्रतीक[५] के द्वारा अन्न-आहार करता है, वह देवता हो जाता है, ऊर्ज्[६] के साथ जीवित रहता है।

---

१. एक बाह्य-याग, दूसरा आन्तर-याग।
२. द्र. ऋ. पुरुषसूक्त १०।९०। सृष्टि देवयज्ञ।
३. और मनुष्य-यज्ञ सृष्टि के ऊपर उठ जाने का साधन है, उसी से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। तु. ऋ. यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि....यमस्य जातममृतं यज्ञा....महे १।८३।५; अपाम सोमममृता अभूम अगन्म ज्योतिरविदाम देवान् ८।४८।३ यज्ञ सूक्त १०।१३०)।
४. अन्नाद पुरुष है, अन्न प्रकृति है। आत्मज्ञ पुरुष प्रति मुहूर्त्त अपनी आन्तर-भावना द्वारा और बाह्य-कर्म के द्वारा प्रकृति का रूपान्तर करता जा रहा है। यह उसका 'कृतम्' है (तु. ईशोपनिषद् १७)।
५. प्रतीक ।। प्रत्यच्, जो समाने है। अनुरूप सञ्ज्ञा 'प्रतिरूप' है। परमपुरुष ही जगत् हुआ है, अतएव जगत् उसका प्रतीक, प्रतिरूप अथवा प्रतिभास (PROJECTION) है। इसलिए प्रतीक में न्यूनता का आरोप अविद्या का ही परिचय है। वैष्णवों का भी कथन है कि प्रतिमा में शिलाबुद्धि नहीं रखनी चाहिए।
६. संहिता में 'इष्' एवं 'ऊर्ज' अनेक स्थानों पर साथ-साथ प्रयुक्त है। 'इष' एषणा और 'ऊर्ज्' चेतना को मोड़ देने की शक्ति (< √वृज् 'मोड़ दे देना, घुमा देना')। उसकी चेतना यहाँ रहकर भी हमेशा ऊर्ध्वस्रोता होती है।

मन, वाक् और प्राण-तीनों आत्मा के अन्न हैं। मन की नाना वृत्तियाँ, तरङ्गें हैं। प्राण की पाँच हैं। आत्मा वाङ्मय, मनोमय, प्राणमय है। वाक्, प्राण, मन ही सब है। अनन्त रूप में इनकी उपासना करने पर अनन्त लोक जीते जा सकते हैं।[१]

उसके पश्चात् षोडशकल-पुरुष की चर्चा है। यह संवत्सर ही षोडशकल प्रजापति है।[२] जिन पन्द्रह कलाओं में ह्रास-वृद्धि है, वे रात्रि हैं। एक और कला है ध्रुवा, वही षोडशी है। अमावस्या की रात्रि उसी षोडशीकला के साथ समस्त प्राणियों में अनुप्रविष्ट होकर दूसरे दिन प्रातःकाल पुनः वह जन्म लेता है।[३] इसे जो जानता है, वह भी षोडशकल पुरुष होता है। वित्त ही उसकी पन्द्रह कलाएँ हैं और आत्मा षोडशीकला है। वित्त बढ़ता-घटता है, वह चक्र की परिधि जैसा है और आत्मा चक्र की नाभि की तरह ही ध्रुव है।[४]

---

१. तु. १।४।१७ चक्षु और श्रोत्र को छोड़ दिया गया है। भावना का सूत्र यह है - मन द्युलोक, वाक् पृथिवी, दोनों के सङ्गम से इन्द्ररूपी प्राण की उत्पत्ति होती है; 'प्राण अद्वितीय (१।५।११-१२)।
२. प्रजापति आदित्य है, उसके बिम्ब में ह्रास-वृद्धि नहीं। इसलिए वह पुरुष है, किन्तु उसके ही अन्तर्गत प्रकृति में ह्रास-वृद्धि होती है। यही व्यक्त जगत् है। उसके ऊपर अव्यक्त की नित्या षोडशीकला है। वहाँ प्रकाश और अन्धकार एक साथ है, इसलिए वह अमावस्या है। एक-एक करके मन की कला क्षीण होने पर अमनी-भाव की षोडशीकला में तत्त्व का 'दर्शन' होता है। इसलिए अमावस्या का याग 'दर्शयाग' है। उस समय चन्द्र अथवा मन नहीं, किन्तु आदित्य पुरुष है, वही है (द्र. श. ब्रा. ११।२।४।१...)।
३. षोडशीकला अव्यक्त चिद्बीज। इसके साथ तुलनीय गर्भाधान मन्त्र ऋ. १०।१८४।२; वहाँ सिनीवाली और सरस्वती, फिर तमोभाग और ज्योतिर्मय भाग आश्विद्वय का उल्लेख है।
४. नाभि अथवा केन्द्र और परिधि में क्रमशः शक्ति का सङ्कोच एवं प्रसार होता है। सङ्कोच में आत्मभाव और प्रसार में ब्रह्मभाव। दोनों मिलकर पुरुष। तु. आदित्य के समूहन में तेज और व्यूहन में रश्मिजाल (ई. १६)।

उसके पश्चात् मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक--इन तीन लोकों का प्रसङ्ग है। उनमें देवलोक ही श्रेष्ठ है। यह लोक विद्या के द्वारा प्राप्त होता है।

उसके पश्चात् सम्प्रत्ति-प्रकरण है। पिता मरते समय पुत्र को सब कुछ देकर जाता है, जिसकी संज्ञा है सम्प्रत्ति अथवा सम्प्रदान।[१] पिता पुत्र को अपने निकट बुलाकर कहता है, 'तुम ब्रह्म, तुम यज्ञ, तुम लोक हो। पुत्र कहता है, मैं ब्रह्म, मैं यज्ञ, मैं लोक हूँ। इस स्वीकृति में पिता का प्राण पुत्र में अनुप्रविष्ट होता है और पिता की साधना की अनुवृत्ति पुत्र में होती है। एक ओर जिस प्रकार इहलोक में वह पुत्र में प्रतिष्ठित रहता है, दूसरी ओर उसी प्रकार उसके भीतर अमृत दैवप्राण आविष्ट होता है।[२] पृथिवी एवं अग्नि से उसमें दैवी वाक्, द्युलोक एवं आदित्य से दैव मन, अप् एवं चन्द्रमा से[३] दैवी प्राण आविष्ट होता है। वह वाक् सिद्ध होती है, वह मन नित्यानन्द वह प्राण अव्यथित एवं अरिष्ट होता है। परमदेवता की तरह ही वह सर्वभूतात्मा अपापविद्ध होता है।[४]

उसके पश्चात् व्रत-मीमांसा है। अर्थात् किसकी साधना करनी होगी? उस पर विचार किया गया है। वस्तुतः, सारी इन्द्रियाँ ही मृत्यु-स्पृष्ट होने के कारण श्रान्त हो जाती हैं।[५] एकमात्र मध्यम-प्राण ही अश्रान्त, अक्लान्त, अजर एवं अमृत है। अतएव उसकी ही उपासना

---

१. तु. कौ. २।१५ वहाँ वर्णन और भी विस्तृत है।
२. तु. ऐ. २।१।४ (द्र. टीका २७)।
३. यह चन्द्रमा सूर्यद्वार भेदने पर प्राप्त होता है (तु. मु. १।२।११)।
४. इसी प्रकार विज्ञानी की मृत्यु में पुत्र अथवा शिष्य में शक्ति सङ्क्रामित होकर सम्प्रदाय का प्रवर्तन करती है। सिद्धचेतना के सम्पूर्ण रूपायन न होने तक पुत्र 'प्रजा' और सम्यक् रूपायन में 'विजा' (द्र. ऋ. ३।१।२३ टी.)। पुत्र जब तक 'प्रजा' है, तब तक ही पितृलोक की सार्थकता है।
५. तु. क. सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः १।१।२६।

करनी होगी। इस अध्यात्म-प्राण का ही अधिदैवतरूप वायु है। सारे देवता वायु में अस्त हो जाते हैं, किन्तु वायु अनस्तमित है।[१]

अतएव 'पापरूपी मृत्यु मुझे कहीं पकड़ न ले'? इस विचार या निश्चय के साथ प्राण और अपान की क्रिया करोगे - यही एक मात्र व्रत है।[२]

उसके पश्चात् षष्ठ ब्राह्मण में फिर आत्मविद्या का उपदेश है। वस्तुपरक-दृष्टि से यह जो सब कुछ है, उसको नाम, रूप एवं कर्म कहते हैं। आत्मपरक-दृष्टि से ये ही फिर वाक्, चक्षु एवं आत्मा है। जो पराक् अथवा वस्तुपरक है, उसका उत्स सामान्य है एवं जो प्रत्यक् या आत्मपरक है, बिभर्ता है।[३] तीनों आत्मा में एक हो गए। आत्मा एक होते हुए भी वही तीन हुआ है। आत्मा अमृत प्राणस्वरूप है; जिसे आच्छन्न[४] या आच्छादित कर रखा है सत्यरूपी[५] नाम और रूप ने।

प्रथम अध्याय यहीं समाप्त होता है। उसका प्रतिपाद्य है– अश्वमेध-रहस्य, प्राणोपासना, आत्मविद्या, ब्रह्मविद्या, सृष्टिरहस्य, सप्तान्नरहस्य, षोडशकल-पुरुष-तत्त्व, पिता-पुत्रीयसम्प्रदान, प्राण और वायुतत्त्व।

---

१. तु. वायु प्रत्यक्षब्रह्म. तै. १।१; संवर्गविद्या छा. ४।३।१-४; श्वे. वायुर्यत्राधिरुध्यते... ..तत्र सञ्जायते मनः २।६; ई. वायुरनिलममृतम् १७। आकाश एवं वायु दोनों ही नीरूप, निराकार एवं लयस्थान के रूप में सन्मात्र अथवा शुद्ध सत्ता के प्रतीक हैं। इसके अतिरिक्त आकाश और वायु (प्राण) शिव-शक्ति जैसा एक युग्म है। कोश ब्रह्मविद्या में वायु दिक्समूह या दिशाओं का वत्स है (छा. ३।१५।२)।
२. तु० प्रतर्दन का आन्तर-अग्निहोत्र कौ. २।५ प्राणापान-क्रिया का प्रथम उल्लेख ऋ. १०।१८९।२।
३. मूल में है वाक् ही नाम का 'ब्रह्म' अथवा बृहत्व का साधक है। ब्रह्म की यह व्युत्पत्ति लक्षणीय - द्र. नि. 'ब्रह्म परिवृढं सर्वतः १।८)।
४. तु 'ऋ. प्रथमच्छद् अवराँ ऑविवेश १०।८१।१; स भूमिं विश्वतो वृत्वा - ९०।१।
५. पाठान्तर 'सत्य'। तु. कौ. १।६; तै. २।६

द्वितीय अध्याय में छह ब्राह्मण सङ्कलित हैं। प्रथम ब्राह्मण में अजातशत्रु-दृप्त बालाकि-संवाद है।[१] बालाकि पुरुष की उपासना आदित्य, चन्द्र, विद्युत्, आकाश, अग्नि, अप्, आदर्श, शब्द, दिशा, छाया और देह में किया करते थे। इनमें प्रत्येक का अनुभव जाग्रत का अनुभव है, अतएव वस्तुपरक (objective) अथवा बहिर्मुख होने के कारण इसमें गहराव कम है, यह अजातशत्रु ने बतला दिया। स्वप्न और सुषुप्ति-चेतना के दो और भी स्तर हैं। जाग्रत की चेतना ज्ञान है, स्वप्न और सुषुप्ति की चेतना विज्ञान है। विज्ञान में ज्ञान मिल जाता है। स्वप्न का विज्ञान महिमा का बोध है और सुषुप्ति का विज्ञान शून्यता है। हृदय में दोनों ही आकाश का बोध है।

तब जाग्रत की चेतना नाड़ी-जगत् का सहारा लेकर आकाश में प्रत्याहृत होती है; फिर जाग जाने पर वहाँ से ही बाहर फैल जाती है। जो बाहर है, वह सत्य है। किन्तु इस आकाश में जो विज्ञानमय पुरुष है, वह सत्य का भी सत्य है। वही ब्रह्म है।[२]

द्वितीय ब्राह्मण में प्राणोपासना है। प्राण मध्यम अर्थात् देह के मध्य स्थित एक शिशु है।[३] समस्त देह ही उसका आधार है, तब भी ऋषि रूप

---

१. तु. कौ. ४। वहाँ कुछ अधिक बातें हैं।
२. बालाकि ने ब्रह्मोपासना के जिन सब आलम्बनों का उल्लेख किया है, उन्हें तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। आदित्य, चन्द्रमा और विद्युत्—ये तीनों अधिज्योतिष। आकाश, वायु, अग्नि एवं अप् अधिभूत। दिक् भी वही, क्योंकि दिक् आकाश की शक्ति है (तु. छा. ३।१५।१-२; द्र. टीका १५५)। और बाकी अध्यात्म। उसमें आत्मभाव के ज्योतिर्मय, शब्दमय, छायामय एवं अन्नमय—इन चार प्रकारों की चर्चा की जा रही है। शब्द श्वास-प्रश्वास अथवा प्राण का, जिसे तन्त्र में 'हं-सः' कहा गया है। मृत्यु में अन्नमय-शरीर नष्ट हो जाता है। किन्तु छाया-शरीर रहता है - यह विश्वास अतिप्राचीन है (तु. बृ. ३।९।१४)। 'आदर्श या दर्पण में पुरुष' - द्र. कठ.पनिषद्. २।३।५।
३. मध्यम शिशु = अङ्गुष्ठमात्र पुरुष (क. २।१।१२, १३; २।३।१७)। वह अग्निस्वरूप है, मस्तक में उसकी सप्तार्चि, सात शिखाएँ हैं (प्र. ३।५; मु. २।१।८)।

में अर्थात् चेतना के विशिष्ट प्रकाश के रूप में उसका अवस्थान शीर्ष या मस्तक में है। मस्तक एक अर्वाग्बिल, ऊर्ध्वबुध्न चमस जैसा[१] है। विश्वरूप की ईशना अथवा सामर्थ्य उसमें ही निहित है। दो चक्षु, दो श्रोत्र, दो नासारन्ध्र और मुखविवर ये सात ऋषि[२] हैं। ब्रह्म के साथ नित्ययुक्त वाक् अष्टम ऋषि है।[३] इस प्राण को जान लेने से अन्नाद हुआ जा सकता है।[४]

तृतीय ब्राह्मण में मूर्त एवं अमूर्त ब्रह्म का परिचय है। ब्रह्म के दो रूप मूर्त एवं अमूर्त हैं।[५] मूर्तरूप मर्त्य स्थावर एवं सत् है। जो अमूर्त है, वह अमृत, जङ्गम एवं त्यम् (त्यत्) है।[६] अधिदैवत दृष्टि से वायु और अन्तरिक्ष ही अमूर्त है, उसके अतिरिक्त और सब मूर्त है।[७] अमूर्त का रस अथवा सार आदित्य-मण्डलस्थ पुरुष है।[८] उसी प्रकार आध्यात्मिक-दृष्टि

---

१. मस्तक को चेतना का आधार बतलाया जा रहा है। मूल श्लोक के साथ तु० अ. स. १०।८।९। 'बुध्न' प्राचीन सञ्ज्ञा है, यह शब्द श्लिष्ट-श्लेषयुक्त है। व्युत्पत्तिगत अर्थ बोधस्थान। 'ऊर्ध्वबुध्न' तु. ऋ. 'उपरि बुध्न एषाम्' १।२४।७ और भी तु. 'अहिर्बुध्न्यः'।
२. ये सात ऋषि 'ख' हैं, किन्तु वे पराक्वृत्त या बहिर्मुख हैं (क. २।१।१)। वे अन्न का आहरण करते हैं, किन्तु वस्तुतः अन्नाद मध्यम प्राण है, जो वैश्वानर है।
३. वाक् भी अन्नाद है। अतएव प्राण और वाक् में एक मिथुन है। उसी प्रकार ब्रह्म और वाक् में एक युग्म या मिथुन है। ऋ. १०।११४।८)।
४. अन्नाद होने का अर्थ है सबको ही आग में रूपान्तरित कर देना; मृण्मय को चिन्मय कर देना। सर्वात्मभावना का भी तात्पर्य यही है।
५. तु. प्र. मूर्तिरेव रयिः' १।५। 'रयि' प्राण-प्रवेग।
६. लक्षणीय, ब्रह्म का जो रूप अमूर्त है, वह भी 'यत्' अथवा जङ्गम है। किन्तु वह 'त्यम्' अथवा अनिर्वचनीय है। तन्त्र की भाषा में शिव-शक्ति के साथ नित्य युक्त है, किन्तु लोकोत्तर है। ऋक्संहिता में भी परमतत्त्व को 'एकं सत्' एवं 'एकं तत्' दोनों ही कहा गया है (१।१६४।४६, ५।६२।२)।
७. वायु लयस्थान (द्र. टी. ५६१)।
८. तु० हिरण्मय पुरुष छा. १।६।६।

से प्राण और अन्तराकाश ही अमूर्त है, उसके अतिरिक्त और सब मूर्त है। अमूर्त का रस अथवा सार दक्षिण-नेत्रान्तर्गत (अक्षिपुरुष) पुरुष है।[१] उसका रूप बिजली की कौंध जैसा, कमल जैसा, अग्निशिखा जैसा इन्द्रगोप कीट जैसा, पाण्डुवर्ण मेष-लोम जैसा अथवा हल्दी से रँगे वस्त्र जैसा है।[२] उसे 'नेति-नेति' रूप में जाना जाता है।[३] प्राण सत्य है, वह उसका भी सत्य है। अर्थात् वह सत्य का सत्य है।[४]

चतुर्थ ब्राह्मण में विख्यात मैत्रेयी-याज्ञवल्क्य-संवाद है।[५] घर छोड़ने से पहले याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को वित्त देना चाहा, किन्तु मैत्रेयी ने उसका प्रत्याख्यान करते हुए कहा, 'मैं जिससे अमृता नहीं हो सकूँगी, उसे लेकर क्या करुँगी?[६] याज्ञवल्क्य ने प्रसन्न होकर उसे आत्मविद्या का उपदेश दिया।

---

१. बृहदारण्यक में इन्द्र (४।२।२), कौषीतकी में जो परमात्मा (३।१-२); तु. कौ. ४।१६; मै. ७।११; छा. ४।१५।१। अक्षिपुरुष भौंहों के मध्य में दो दलों (द्विदल) भागों में विभक्त हुआ है - दक्षिणभाग में इन्द्ररूप में, वाम में इन्द्रपत्नी विराट्-रूप में।

२. भ्रूमध्य में ज्योति के आविर्भाव का वर्णन। सूर्योदय के साथ उपमेय, रक्तवर्ण से धीरे-धीरे विद्युत् जैसा शुभ्र हो उठता है। तु. श्वे. २।११।

३. तु. के. १।३-८; बृ. ३।९।२६, ४।२।४, ४।२२, ५।१५; ऋ. १०।१२९।१-३। और भी तु. असद् ब्रह्मवाद।

४. जो सत्य का सत्य है, वही 'तत्' अथवा 'त्यत्'। तु. ऋ. 'सत्या सत्यस्य करणानि' २।१५।१।

५. यह संवाद पुनः है ४।५ बृ.

६. तु. कठोपनिषद् में नचिकेता का कथन - 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः' १।१।२७-२९। वित्त प्रेय है, अमृत श्रेय है। वित्त के प्रति वैराग्य से ही अध्यात्म-साधना का आरम्भ होता है। किन्तु इस उपनिषद् में ही याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मवादियों की हँसी उड़ाते हुए कहा है - 'नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मः। 'गोकामो' एव वयं स्मः' (३।१।२ ; तु. ४।१।१)। याज्ञवल्क्य काम-अकाम से परे 'सहज मानुष' हैं। दोनों कौतुकोक्तियों में उनके चरित्र की अपूर्वता स्पष्ट है।

याज्ञवल्क्य ने आरम्भ में ही कहा कि 'हमें जीवन में जो कुछ प्रिय, अच्छा-भला लगता है, वह उस वस्तु के लिए ही प्रिय लगता है, ऐसा नहीं है, बल्कि आत्मा के लिए ही प्रिय लगता है।[१] इस आत्मा को ही देखना होगा, सुनना होगा, मनन करना होगा, गहरे ध्यान में प्राप्त करना होगा। यह जो कुछ है, सभी आत्मा है।[२]'

फिर आत्मा से ही सब कुछ की उत्पत्ति हो रही है, इस तत्त्व को दृष्टान्त द्वारा समझाते हुए कहा गया, - 'मान लो, दुन्दुभि, शङ्ख अथवा वीणा के बजने की ध्वनि आ रही है, तो उस ध्वनि को पाने के लिए, वही वाद्य-यन्त्र अथवा वादन-क्रिया चाहिए।[३] भीगा काठ जल रहा है और उससे धुआँ निकल रहा है। उसी प्रकार एक महाभूत[४] के निःश्वास

---

१. अनुशासन पत्नी के प्रति, नारी के प्रति; इसलिए आरम्भ में ही पति-पत्नी पुत्र और वित्त का उल्लेख है, जिसे लेकर स्त्रियों का घर-बार है। लक्षणीय, अगली कण्डिकाओं में इनका फिर उल्लेख नहीं।

२. दर्शन, देखना, प्रत्यक्षीकरण का साधन है- श्रवण, मनन और निदिध्यासन। जिन्हें संहिता में क्रमशः श्रुति, मति और धीति कहा गया है। इसके माध्यम से साधक का अधिकार निरूपित होता है। उत्तम अधिकारी को श्रवण से ही दर्शन होता है। मध्यम अधिकारी को विचार की जरूरत पड़ती है और अधम अधिकारी को दीर्घ-कालव्यापी ध्यान की आवश्यकता होती है। मन के उस पार विज्ञान है, वही निदिध्यासन की सहज भूमि है। वहाँ का अनुभव है 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् (छा. ६।८।७.....) यही प्रचलित व्याख्या है। चिन्मय-प्रत्यक्षवाद के अनुसार पहले आदित्य का दर्शन, तत्पश्चात् आकाश का श्रवण, फिर अरूप का मनन और अन्त में लोकोत्तर में निदिध्यासन अथवा धी-योग एवं उसके फलस्वरूप विज्ञान। प्रत्येक अनुभव ही सहज है।

३. इस उपमा के लिए तु. वा. स. ३०।१९। वाद्ययन्त्र अधिष्ठान है, वादन शक्ति है, शब्द या ध्वनि परिणाम है।

४. जो 'भूतस्य पतिः' (तु. ऋ. १०।१२१।१), वही महाभूत है, क्योंकि यह सब कुछ वही हुआ है। ब्रह्म की यह सञ्ज्ञा एकमात्र याज्ञवल्क्य ने दी है (तु. मै. ६।३२ यहाँ से ही उद्धृत)। विज्ञानी के निकट इसमें जड़ और चेतन का कृत्रिम भेद लुप्त हो गया। द्वादश कण्डिका में इस बात को और भी स्पष्ट किया गया है। पञ्चभूत से पुनः पञ्चभूत में ही लय होना महासमुद्र के वक्ष में तरङ्गों जैसा है, यही

से ही वेद आदि सभी विद्याओं का आविर्भाव हो रहा है।[१] जिस प्रकार सारे जल का एकायन[२] या मिलन-स्थान समुद्र है, सारे बोधों का एकायन इन्द्रिय है, जिस प्रकार नमक का एक डला जल में डाल देने पर वह जल में मिल जाता है, उसी प्रकार यह महाभूत एक अनन्त, अपार विज्ञानघन या अतिमान-सत्तामात्र है। महाभूत का ही विकार यह पञ्चभूत है। आत्मभाव इस भूतवर्ग से उठकर फिर उसमें ही लीन हो जाता है। जिसके कारण प्रायण[३] के बाद फिर संज्ञा या चेतना नहीं रहती।[४]'

मैत्रेयी ने कहा, 'संज्ञा नहीं रहती, यह बात तो मैं समझ नहीं पाई।' याज्ञवल्क्य ने कहा, "न समझने जैसा तो कुछ कहा नहीं।' बतला ही चुका हूँ कि यह महाभूत विज्ञानघन है। जहाँ द्वैत रहता है, वहाँ ही एक अन्य, अन्य को जानता है। जहाँ सब कुछ ही आत्मा[५] हो, वहाँ कौन, किसके द्वारा, किसे जानेगा? शायद विज्ञाता ही सब कुछ जान सकता हो,

---

चिन्मयभूतवाद का चित्र है। भागवत में शुक को भी हम इसी प्रकार से सर्वभूत के साथ एक हो जाते हुए देखते हैं (१।२।२)। एक बाउल गान है कि 'चोखे देखो, गाये ठेके धूला आर माटी, प्राणरसनाय चाइख्या देखो रसेर साईं खाँटी' अर्थात आँखों से देखो, देह में धूल और मिट्टी लगाओ, प्राण की रसना से चखकर देखो कि रस का स्वामी कितना खाँटी है, खरा है।

१. विद्या का और भी उल्लेख : छा. ७।१।२, बृ. ४।१।२, ५।११, मु. १।१।५।
२. 'एकायन' विद्यास्थान भी है (द्र. टीका २३६)
३. प्रायण = प्रेति (तु. प्र. ५।१ ; द्र. टीका ३६५)।
४. तु. बौद्ध अष्टम ध्यान भूमि 'नैवसञ्ज्ञानासञ्ज्ञा आयतन' ठीक निर्वाण के पूर्व। यह ऐसा है, जैसे अस्तगामी सूर्य के दिन-रात की सन्धि या मिलनस्थान पर खड़ा होना। ध्यातव्य है – मूल में 'विनश्यति' का प्रयोग है। उसके साथ तु. ई. 'विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा' १४। वैनाशिक-बौद्धभावना का मूल यहाँ है।
५. अर्थात् विशुद्ध आत्मबोध में मात्र अवस्थान। इस बोध में पहुँचने के सोपानों को हम ईशोपनिषद् (६-७) में पाते हैं।

किन्तु विज्ञाता को कैसे जाना जाएगा? इसीलिए कहा था कि वहाँ सञ्ज्ञा नहीं रहती।'[१]

यह ब्राह्मण यहीं समाप्त होता है।[२] उसके बाद पञ्चम ब्राह्मण में मधुविद्या है।[३] इस विद्या की व्याख्या कुछ विचित्र है। मूल वक्तव्य इस प्रकार है–

मधु अमृतचेतना है।[४] यह चेतना सब कुछ को आत्मसात् किए हुए है – जिस प्रकार अधिदैवत-जगत् को, उसी प्रकार अध्यात्म-जगत् को भी।[५]

अधिदैवत, विश्व, और अध्यात्म व्यक्ति है। विश्व में जो पुरुष है, व्यक्ति में भी वही पुरुष है। वह तेजोमय है, अमृतमय है। वही आत्मा है, वही ब्रह्म है, यह सब कुछ वही है। यह परमाविद्या ही मधुविद्या है।

---

१. सञ्ज्ञा, अर्थात् विवेकज्ञान। एकरस प्रत्यय है चिन्मय अविवेक, विषय और विषयी का भेद वहाँ नहीं। इसलिए मैं भी नहीं, जगत् भी नहीं। बौद्ध अनात्मवाद और मायावाद का मूल यहाँ है।
२. बृ. ४।५ इसके साथ तुलना के लिए द्र. टीका ६९५।
३. तु. मधुविद्या छा. ३।१-११। वहाँ की व्याख्या साधना और सिद्धि की है।
४. ऋक्संहिता में मधु का एक बहुप्रयुक्त विशेषण 'सोम्य' है (द्र. ३।५३।१० टी)। सोमयाग से अमृतत्व प्राप्त होता है (ऋ. ८।४८।३)। पञ्चामृत का चौथा अमृत मधु है, जो रवादार या दानादार होने पर ही शर्करा होता है। यह सम्पूर्णतया चेतना के उत्तरायण का रूपक है। यहाँ की मधुमय चेतना का सुन्दर वर्णन हम ऋक्-संहिता (१।९०।६-८) में पाते हैं। सोमपान की फलश्रुति ९।११३ में है। इस सूक्त की अन्तिम ऋचा : – 'यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते, कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि।' अमृतत्व ही आनन्द है, वही सोम्यचेतना अथवा मधुचेतना है। जीव में यह आनन्द अन्तर्गूढ़ होकर स्थित है, इस कारण वह 'मध्वद' है। तु. तै. आनन्द मीमांसा (२।८; एतमानन्दमयमात्मानम्...३।१०)।
५. अधिदैवत दृश्य, किन्तु जड़ नहीं, बल्कि चैतन्य अथवा चेतन; और अध्यात्म दृक् अथवा द्रष्टा है।

अधिदैवत-दृष्टि में पुरुष - पृथिवी, अप्, अग्नि, वायु, आदित्य, दिक्, चन्द्र, विद्युत्, मेघगर्जन है, फिर वह धर्म, सत्य, मनुष्य और आत्मा है। अर्थात् विश्वरूप में वस्तु और भाव दोनों ही वह है। उसकी प्रत्येक दिव्यविभूति का प्रतिरूप व्यक्ति में भी - शरीर, रेत:, वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, तेज, शब्द, धर्म, सत्य, मनुष्यता और आत्मा के रूप में पाया जाता है।[१] परमात्म-रूप में वह सर्वभूत का अधिपति है, सर्वभूत का राजा है।[२] रथ की नाभि एवं नेमि में जिस प्रकार चक्र की शलाकाएँ गुँथी होती हैं, उसी प्रकार उसमें ही सब कुछ समर्पित है, ग्रथित है।[३]

इन्द्र ने यह मधुविद्या आथर्वण दध्यङ् को प्रदान किया। उन्होंने फिर अश्वमुख धारणकर अश्विद्वय को बतलाया।[४] उसका सारांश यह है

---

१. तु. ऋ. १०।९०।१३-१४। अग्नि तप: शक्ति है, उसका स्फुरण उद्दीप्त वाक् अथवा मन्त्र में होता है। आकाश की शक्ति दिक् है, स्वरूपशून्य परिव्याप्त चेतना में दिव्यश्रोत्र का आविर्भाव होता है, जो आकाश के आदिस्पन्दरूपी अनाहतनाद को सुनता है। प्राकृतचेतना का ह्रास और वृद्धि चन्द्र की तरह है, किन्तु उसकी षोडशीकला ध्रुव है।

२. संहिता में हिरण्यगर्भ भूतपति और वरुण सम्राट्। एक लोकात्मक, दूसरा लोकोत्तर है।

३. अर्थात् केन्द्र में वह स्वयम्भू और परिधि में परिभू है (तु. ऋ. १।१६४।२, १२-१४, ३६)।

४. द्र. ऋ. १।११६।१२, ११७।२२, ११९।९। इस कहानी का तात्पर्य यही है। मधुविद्या सर्वविद्या का सार है। इस विद्या को प्राप्त करने के लिए 'दध्यङ्' अर्थात् दधि अथवा विज्ञानघन चेतना में प्रतिष्ठित होना होगा (तु. 'दध्याशिर:' सोम्य:; दध्यङ्।। दधिक्रावा ऋ. ७।४४)। विद्यादाता, माध्यन्दिन, सूर्यरूपी इन्द्र हैं। मस्तक को ठीक रखकर यह विद्या दूसरों को नहीं दी जाती। केवल इन्द्र के वाहन के रूप में दी जाती है। और जिसे दी जाती है, उसके भीतर मध्यरात्रि के अँधेरे को चीरकर अश्विद्वय सूचित आदित्य-द्युति के आगमन की सूचना मिलती है। तु. पौराणिक 'हयग्रीव, हयशीर्षा अथवा हयशिरा:' - वेद के उद्धारकर्ता एवं प्रवक्ता, विष्णु के अवतार।

कि प्रत्येक आधार में वह पुर की सृष्टि करके उसमें पक्षीरूप में आविष्ट हुआ है। आत्ममाया की भूमिका में वही बहुरूपी होकर विचरण करता है। आत्मचेतना में उसका अनुभव होता है, उस अनुभव में ही सब कुछ अनुभूत होता है।[१]

षष्ठ ब्राह्मण में विद्या-वंश की विवृति देकर द्वितीय अध्याय एवं मधुकाण्ड का समापन किया गया है। इस अध्याय में हमें यह जानकारी प्राप्त हुई कि यह आत्मा ही ब्रह्म है। ब्रह्म जिस प्रकार बाहर में है, उसी प्रकार भीतर में है। मूर्त और अमूर्त उसके दो रूप हैं। 'नेति-नेति' के रूप में अमूर्त में अवगाहन किया जा सकता है। वह अवस्था सुषुप्ति जैसी होती है। वहाँ कोई भी सञ्ज्ञा या चेतना नहीं रहती, किन्तु विज्ञानघनता का अनुभव अर्थात् चेतना की सर्वतोभास्वर भूमि पर स्फुरित अनुभव रहता है। वहाँ से लौटकर आने पर सारा अनुभव ही मधुमय हो जाता है।

तृतीय अध्याय में नौ ब्राह्मण सङ्कलित हैं, जिसमें जनक-सभा में कुरु-पाञ्चाल के ब्राह्मणों के साथ याज्ञवल्क्य के ब्रह्मोद्य का विवरण है।

यज्ञ-सभा में जनक ने घोषणा की कि उपस्थित ब्राह्मणों में जो ब्रह्मिष्ठ होंगे, उन्हें एक सहस्र गौएँ प्रदान की जाएँगी। स्वयं को ब्रह्मिष्ठ कहने का साहस किसी में भी नहीं हो रहा है, यह देखकर याज्ञवल्क्य ने अपने ब्रह्मचारी 'सामश्रवा' से कहा - 'गायों को हाँक ले चलो तो।' इस बात पर वहाँ उपस्थित सारे ब्राह्मण क्रुद्ध हो गए। जनक के होता अश्वल ने कहा - 'हम सबमें क्या तुम ही ब्रह्मिष्ठ हो?' याज्ञवल्क्य ने कहा - 'ब्रह्मिष्ठ को हम नमस्कार करते हैं। मैं तो बस गायें चाहता हूँ।'

---

१. तु. ऋ. ६।४७।१८। अद्वैत अनुभव की त्रिपुटी : वही सब, मैं वही (संहिता की विभिन्न आत्मस्तुतियों में इस भाव की अभिव्यक्ति है : तु. ऋ. एवा महान् वृहद्दिवो अथर्वाऽवोचत् स्वां तन्वमिन्द्रमेव १०।१२०।९) मैं ही सब हूँ (तु. ऋ. अयमस्मि सर्व: १०।६१।१९)। 'पुरिशय': द्र. टीका ७५३।

ब्राह्मण आसानी से छोड़ने वाले लोग नहीं। तर्क-वितर्क शुरू हो गया। अश्वल ने ही पहला प्रश्न उठाया। उसका प्रश्न यज्ञ के रहस्य से सम्बन्धित था।[१] जगत् का सभी कुछ मृत्यु के वश में है, कालिक पर्याय या काल-क्रम के अधीन है।[२] यजमान किस प्रकार इनके चङ्गुल से मुक्त हो सकता है? याज्ञवल्क्य का उत्तर है - अधियज्ञ-दृष्टि को आधिदैविक एवं आध्यात्मिक-दृष्टि में रूपान्तरित करके। यजमान यदि जानता है कि मनुष्य होता, अध्वर्यु अथवा उद्गाता ही यज्ञ के प्रकृत ऋत्विक् नहीं, बल्कि अधिदैवत-दृष्टि में क्रमशः अग्नि, आदित्य एवं वायु और अध्यात्म-दृष्टि में वाक्, चक्षु एवं प्राण ऋत्विक् हैं, तो इस विज्ञान के फलस्वरूप ही यजमान मुक्ति प्राप्त करता है, अतिमुक्ति प्राप्त होती है।[३]

उसके बाद प्रश्न किया गया कि अन्तरिक्ष तो निरालम्ब है, यजमान किसके सहारे स्वर्ग जाएगा?।[४] याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं कि यज्ञ के अध्यक्ष ऋत्विक् ब्रह्मा को यदि अधिदैवत-दृष्टि से चन्द्ररूप में और अध्यात्म-दृष्टि से मनरूप में देखता है, तो वह स्वर्ग में जाएगा।[५]

---

१. कर्म की प्रतिष्ठा रहस्य-विज्ञान के ऊपर। तु. छा. तेनोभौ कुरुतः यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद, ... यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति १।१।१०।

२. कालिक पर्याय के अन्तर्गत अहोरात्र एवं पक्ष का प्रसङ्ग है। अयन का उल्लेख छोड़ दिया गया है।

३. जो अधिदैवत, वही अध्यात्म है - यह उपनिषद् का मूल सिद्धान्त है। तु. ई. १६; तै. सं. यश्चायं पुरुषे यश्चासौ आदित्ये स एकः ३।१०...) इसका बीज ऋक्संहिता के सायुज्यवाद में है (१।१६४।२०; तु. ऋ. ३।२६।७। सबके भीतर जो वैश्वानर अनुप्रविष्ट है, मैं वही हूँ)। स्रोत के प्रतिकूल बहने में मुक्ति, फिर सहज होकर अतिमुक्ति। अतिमुक्ति ही ब्राह्मण्य (द्र. बृ. ३।५)।

४. यह स्वर्ग के सम्बन्ध में प्राकृत कल्पना है।

५. ब्रह्म ही यज्ञपुरुष है। वह मनोमय है। प्रत्येक कला (चन्द्रकला) से होकर पूर्णिमा तक मनश्चेतना का विकास होता है - यह मुक्ति है और ध्रुवा सोलहवीं कला में स्थित अतिमुक्ति है (तु. बृ. १।५।१५)।

एक और प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा कि ऋक् और साम तीन प्रकार के हैं। अध्यात्म-दृष्टि से वे प्राण, अपान एवं व्यान हैं। इनके द्वारा ही तीनों भुवन पर उसी प्रकार विजय प्राप्त की जा सकती है, जिस प्रकार उज्ज्वल, अतिनादी एवं अधिशयान इन तीन आहुति के के द्वारा।[१] ब्रह्मा ही यज्ञ के रक्षक हैं। वे यज्ञ की रक्षा मन की शक्ति द्वारा करते हैं। जिस प्रकार मन अनन्त है, उसी प्रकार विश्वेदेव अथवा विश्वचेतना भी अनन्त है।[२]

अश्वल ने देखा कि यज्ञ-रहस्य याज्ञवल्क्य की मुट्ठी में है, अतएव वे ब्रह्मवेत्ता हैं। इसीलिए अश्वल चुप हो गए।

द्वितीय ब्राह्मण में प्रश्नकर्त्ता हैं– जारत्कारव आर्तभाग। उनका प्रथम प्रश्न है - कितने ग्रह और कितने अतिग्रह हैं अर्थात् इन्द्रिय एवं उसके विषय कितने हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा - 'आठ' हैं।[३]

द्वितीय प्रश्न है कि-जगत् में सभी तो मृत्यु का अन्न है, क्या मृत्यु की भी मृत्यु है? याज्ञवल्क्य ने सङ्क्षेप में कहा है– जिस प्रकार अग्नि सब की मृत्यु है, किन्तु उसकी भी मृत्यु अप् है।[४]

---

१. काण्वशाखा का पाठ असम्पूर्ण जान पड़ता है। माध्यन्दिन-शाखा के साथ मिलाकर पढ़ना अच्छा है। माध्यन्दिन-शाखा में मनुष्यलोक को अतिनादी एवं पितृलोक को अधःस्थित कहा गया है (तु. GK. Hades अधोलोक)।

२. अर्थात् यह मनश्चेतना ही विश्वचेतना में व्याप्त, विस्फारित होगी। वही यज्ञ का परम तात्पर्य है। देवयज्ञ जिस प्रकार विसृष्टि का साधन है, उसी प्रकार मनुष्य-यज्ञ अतिसृष्टि का साधन है (तु. बृ. १।४।६)।

३. इन्द्रियों में पाद, पायु और उपस्थ को छोड़ दिया गया है। किन्तु याज्ञवल्क्य ने ही अन्यत्र एकादश रुद्रों अथवा प्राणों की चर्चा की है (बृ ३।९।४)।

४. मृत्यु में विज्ञानी या तत्वज्ञ की सत्ता अग्निमय हो जाती है। अन्त्येष्टि का भी यही तात्पर्य है (तु. ऋ. 'अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः, यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामुलोकम् १०।१६।४)। अग्निचेतना आदित्यचेतना में विस्फारित होती है। उसके बाद की अवस्था जल में जल के मिल जाने जैसी होती है (क. २।१।१५)।

तृतीय प्रश्न है कि 'पुरुष की मृत्यु के पश्चात् उसके प्राणों की उत्क्रान्ति या उत्क्रमण होता है या नहीं? याज्ञवल्क्य ने कहा - नहीं, वह यहाँ ही लीन हो जाता है। मृत देह ही रह जाता है, फूल उठता है।[१] उस समय उसे छोड़कर क्या नहीं जाता? 'नाम', जिस प्रकार विश्वे देव अथवा विश्वचेतना अनन्त है, उसी प्रकार 'नाम' अनन्त है। उससे वह अनन्त-लोक को जीत लेता है।' 'वह तो ठीक है। मृतपुरुष का सभी कुछ विश्वेदेवता में लीन हो जाता है; किन्तु प्रश्न उठता है– तब भी तो वह कहीं रहता है?' याज्ञवल्क्य ने कहा - भीड़ में सबके बीच इस पर बात नहीं की जा सकती है। आओ, एकान्त में चलें।' एकान्त में जाकर उन्होंने जो कहा, उसका सार है - 'कर्म'।[२] आर्तभाग चुप हो गए।

तृतीय ब्राह्मण में भुज्यु लाह्यायनि ने प्रश्न किया कि - अश्वमेधयाजी कहाँ जाते हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा-सूर्य का रथ एक दिन जितना चलता हैं, उसका बत्तीस गुना इस लोक का परिमाण है। उसका दुगुना पृथिवी का परिमाण है। उसका भी दुगुना समुद्र का है।[३] इसके भीतर से होकर

१. 'अत्रैव समवनीयन्ते' के पश्चात् 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' माध्यन्दिन में है। उत्क्रान्ति की बात भी याज्ञवल्क्य अन्यत्र करते हैं (बृ. ४।४।२) वर्तमान। यह अनुभव उनके महाभूतवाद के अनुकूल है (बृ. २।४।१०; द्र. टीका ५८६)।

२. मृत्यु में सर्वमय हो जाना : तु. ऋ. १०।१६।३। किन्तु उसके बाद ही कहा जा रहा है जीव का 'अज भाग' 'उलोक' में अथवा परमव्योम में जाता है। यह ब्रह्मीभाव के अनुकूल है। एकान्त में कर्मानुसारी गति की चर्चा हुई। जान पड़ता है आर्तभाग ने याज्ञवल्क्य के निकट यही सुनना चाहा था। इसके पश्चात् याज्ञवल्क्य ने जनक को भी यह तत्त्व सुनाया था (बृ. ४।४।५ ; तु. छा. ५।१०।७, वहाँ प्रवाहण इसे 'गुह्यविद्या' कहने का दावा करते हैं)।

३. लोक संस्थान का विवरण सही-सही समझ में नहीं आता। द्र. शाङ्करभाष्य। यहाँ विचारणीय है : पुराण में 'लोकालोक' पर्वत का उल्लेख है। एक हँड़िया के भीतर दीप जलाने पर उसका उजाला भीतर ही रहता है, बाहर नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में भीतर में 'लोक' और उसके चारों ओर बाहर 'अलोक' है। उसी प्रकार सूर्य की रश्मियों से आलोकित पृथिवी-लोक के चारों ओर एक 'अलोक' पृथिवी है - जिसका परिमाण पृथिवी-लोक का दुगुना (३२ × २=६४ देवरथाह्न) है।

छुरे की धार की तरह अथवा मक्खी के पङ्ख जैसा सूक्ष्म आकाश का पथ है।[१] इन्द्र सुपर्णरूप में अश्वमेधयाजियों का वायु के निकट अर्पण करते हैं। वायु उन्हें अपने भीतर निहित करके वहाँ ले जाता है, जहाँ पूर्वतन या पहले के अश्वमेधयाजी हैं।[२] अतः वायु ही व्यष्टि है और वायु ही समष्टि है। यह जान लेने पर ही पुनर्मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है।[३] अपने प्रश्न का उत्तर पाकर भुज्यु चुप हो गए।

उसके चारों ओर एक अलोक समुद्र है, जिसका परिमाण लोक और अलोक पृथिवी की समष्टि अर्थात् कुल जोड़ का दुगुना ([३२+६४] × २ =१९२ देवरथाह्न) है। तो फिर सब मिलाकर २८८ देवरथाह्न (३२+६४+१९२) प्राप्त हुए। यह सङ्ख्या जगती छन्द की अक्षर सङ्ख्या अड़तालीस में छह का गुणा करने (४८ × ६) पर प्राप्त होती है। अर्थात् अलोक समुद्र से घिरे विश्व जगत् में छह जगती हैं। संहिता में हमें 'षट् ऊर्वी' का उल्लेख प्राप्त होता है - (ऋ. षळ् उर्वीर एकम् इद् वृहत् १०।१४।१६) तु. षड् भाराँ एको अचरन् विभर्ति - ३।५६।२)। उसका विस्तार अश्वमेधयाजी के आत्मप्रसारण द्वारा परिव्याप्त होता है - अर्थात् वह तब विष्णु जैसा 'बृहच्छरीरो विमिमानः' (ऋ. १।१५५।६) होता है : अपने क्रमशः वर्धमान अथवा प्रसरणशील शरीर से विश्वभुवन को आच्छादित किए रहता है। यहाँ पञ्चभूत का उल्लेख लक्षणीय - पृथिवी, समुद्र (अप्), सुपर्ण (आदित्य अथवा अग्नि = तेज), वायु एवं आकाश। प्रारम्भ के दो भूत या तत्त्व स्थूल हैं, अगले तीन सूक्ष्म हैं। यज्ञाग्नि की शिखाएँ आन्तर-भावना के फलस्वरूप सूर्यरश्मि होकर याजक को अपने भीतर से लेकर जाती हैं, एवं अन्त में उसे 'महाभूत' के साथ एकीभूत करती हैं।

१. तु. क. १।३।१४।

२. अश्वमेधयाजी की गति के लिए द्र. बृ. १।१-२; टीका. ५०७। आदित्यचेतना अथवा सद्ब्रह्म एवं मृत्युचेतना अथवा असद्ब्रह्म दोनों ही उसे प्राप्त होते हैं। इस चेतना में वह वायुफल होकर पहुँचता है। वायु विश्व-प्राण है। वह सूत्रात्मा है (बृ. ३।७।१)।

३. ब्राह्मण और उपनिषद् में बार-बार पुनर्मृत्यु-जय की चर्चा होती है। हम साधारणतया पुनर्जन्म-निरोध की बातें सोचते हैं। आपाततः पुनर्मृत्यु और पुनर्जन्म एक जैसे लगने के बावजूद दोनों में दृष्टिकोण का सूक्ष्म पार्थक्य है। मरना सबको है, किन्तु योगी की मृत्यु वैवस्वत अर्थात् आलोक-दीप्त होती है। यह मृत्यु जो प्राप्त करता है, उसकी फिर तामस-मृत्यु नहीं होती। प्राकृत जन्म-मृत्यु (वैदिक रूपक-सूर्य

चतुर्थ ब्राह्मण में उषस्त चाक्रायण ने प्रश्न किया – 'जो अपरोक्ष-ब्रह्म सर्वान्तर आत्मस्वरूप है, उसका स्वरूप क्या है?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया – 'जो प्राण आदि का प्रवर्तक है, इसके अतिरिक्त जो दृष्टि का द्रष्टा है, श्रवण का श्रोता है, मनन का मन्ता है और विज्ञान के विज्ञाता के रूप् में विशिष्ट-बोध के परे है, वही सर्वान्तर आत्मा है।'[१] फिर उषस्त ने और कुछ नहीं कहा।

पञ्चम ब्राह्मण में कहोल कौषीतकेय का भी वही प्रश्न है। याज्ञवल्क्य ने कहा – 'तुम्हारे भीतर जो भूख-प्यास, शोक-मोह, जरा-मृत्यु से परे है, वही सर्वान्तर आत्मा है। इस आत्मा को जो जानता है, वह पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा का अतिक्रमण करके 'भिक्षु' हो जाता है। फिर वह पहले पाण्डित्य, उसके पश्चात् बाल्य[२] प्राप्त करता है। उसके बाद मुनि हो जाता है।[3] अन्त में अमौन एवं मौन दोनों का अतिक्रमण करके ब्राह्मण होता है। उस समय वह चाहे जिस भी रूप में रहता हो, वह ब्राह्मण ही है।'[४] कहोल चुप हो गए।

का उदय-अस्त) तब उसके भीतर ही घटते हैं। अतएव जन्म से निष्कृति प्राप्त करने का या विस्तार का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। पुनर्जन्म प्राथमिक साध्य हो सकता है, किन्तु ब्रह्मीभूत चेतना वस्तुतः पुनर्मृत्युजित अथवा अमृतचेतना है, एवं यह चेतना सिद्धों की चेतना है। जन्म (भव) हेय है, दुःखवादी दर्शन की यह बात वहाँ उठती नहीं। तब जन्म दिव्य जन्म होता है (तु. क. २।३।४; मी. ४।५-९)

१. तु. केनोपनिषद् १।२.....; बृ. ३।७।२३, ८।११, ४।४।१८....।

२. पाण्डित्य-बुद्धिज या बुद्धिजन्य एवं बाल्य-बोधिज या बोधिजन्य। नचिकेता की तरह कैशोरचेतना को पुनः वापस प्राप्त करना होता है।

३. मुनि अकेला, निःसङ्ग (< GK. monos तु. एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति' बृ. ४।४।२२; क. मुनेर्विजानत आत्मा २।१।१५।)

४. यही अतिमुक्ति अथवा सहजस्थिति है (तु. बृ. ३।१।३-६)। ब्राह्मण अन्तर में मुनि होकर भी बाहर में 'सर्वानुभू' – सब का अनुभव करने वाला होता है (बृ २।५।१९)। याज्ञवल्क्य की उदार दृष्टि में मुनि (= श्रमण) और ब्राह्मण में कोई विरोध नहीं।

षष्ठ ब्राह्मण में गार्गी वाचक्नवी[१] ने लोकसमूह के कार्य-कारण की परम्परा या क्रम के सम्बन्ध में प्रश्न किया। अन्त में ब्रह्मलोक के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट की कि 'ब्रह्मलोक किसमें ओत-प्रोत है?' याज्ञवल्क्य ने कहा – 'यह अतिप्रश्न है।[२]' गार्गी ने फिर कुछ नहीं कहा।

सप्तम ब्राह्मण में उद्दालक आरुणि ने प्रश्न किया कि 'इहलोक, परलोक एवं सर्वभूत एकसूत्र में, एक अन्तर्यामी में गुँथे हुए हैं। मैं उस सूत्र एवं अन्तर्यामी को जानता हूँ। क्या तुम उसे जानते हो?' 'जानता हूँ', ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। उद्दालक ने कहा – 'जानता हूँ', यह सभी कह सकते हैं, किन्तु क्या जानते हो, बतलाओ तो?'

याज्ञवल्क्य ने कहा – 'वायु सूत्र है। उसमें ही सब कुछ ग्रथित है।'[3] 'ठीक है, अब अन्तर्यामी की बात कहो।'

याज्ञवल्क्य ने कहा – 'अन्तर्यामी अमृतरूप में पृथिवी, अप्, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्युलोक, आदित्य, दिक्, चन्द्र, तारा, आकाश-तमिस्रा और तेज में, सर्वभूत में तथा प्राण, वाक्, चक्षु, मन, त्वक्, विज्ञान और रेतः में स्थित है।[४] ये सब उसके शरीर हैं। इनके भीतर रहकर वह सबका नियमन करता है। ये सब उसे नहीं जानते, किन्तु भीतर से इन सबको वही नियन्त्रित करता है। तुम्हारा आत्मा ही यह अन्तर्यामी है। अदृष्ट होकर भी वह द्रष्टा है, अश्रुत होकर भी श्रोता है, अमत होकर भी मन्ता है, अविज्ञात होकर भी विज्ञाता है। उसके अतिरिक्त द्रष्टा, श्रोता, मन्ता अथवा विज्ञाता कोई नहीं।' उद्दालक चुप हो गए।[५]

---

१. द्र. ब्राह्मण की विवृति में याज्ञवल्क्य-प्रसङ्ग।

२. तु. तै. आनन्दमीमांसा २।८; वृ. ४।३।३३। 'ब्रह्मलोक' परमानन्द, उसके बाद और कुछ नहीं।

३. द्र. टीका ५६१; छा. संवर्ग विद्या ४।३।

४. लक्षणीय, अन्तर्यामी के आधार का विन्यास लोक से भूत की ओर। उसका अनुभव धीरे-धीरे ही मानो अन्तरङ्ग हो जाता है।

५. इस अन्तर्यामी-विज्ञान के साथ तुलनीय, उद्दालक का दर्शन छा. ६।

अष्टम ब्राह्मण में गार्गी ने पुनः सामने आकर ब्राह्मणों से कहा, 'मैं इनसे दो प्रश्न करुँगी। यदि ये उनका उत्तर दे सके, तो फिर मैं समझूँगी कि ब्रह्म-विचार में आप सबमें से कोई इन्हें पराजित नहीं कर सकेगा।'

गार्गी ने पहला प्रश्न किया कि 'जो द्युलोक के ऊपर है, जो पृथिवी के नीचे है, जो दोनों के मध्य में है, जो हुआ, जो हो रहा है और जो होगा, यह सभी किसमें ओत-प्रोत है?' याज्ञवल्क्य ने कहा – 'आकाश में।'[१] गार्गी ने कहा – 'ठीक है, किन्तु आकाश किस में ओत प्रोत है?'

याज्ञवल्क्य मानो तन्मय होकर बोलते गए, – "ब्रह्मवेत्ता उसे अक्षर कहते हैं।[२] उसका आकार-प्रकार अथवा विशेषण कुछ भी नहीं। वह किसी को खाता नहीं, उसे भी कोई नहीं खाता। इसके अलावा विश्व में जो कुछ सब है, इस अक्षर के ही प्रशासन में विशेष रूप से विधृत, नियन्त्रित होकर स्थित है। इस अक्षर को बिना जाने हज़ार वर्ष तक याग, होम अथवा तप करते रहने पर भी वह निष्फल होता है। इसे बिना जाने जो इहलोक से चला जाता है, वह कृपण है; और इसे जानकर जो जाता है, वही 'ब्राह्मण' है। यह अक्षर अदृष्ट होकर भी द्रष्टा है, अश्रुत होकर भी श्रोता है, अमत होकर भी मन्ता है, अविज्ञात होकर भी विज्ञाता है। उसके अतिरिक्त द्रष्टा, श्रोता, मन्ता अथवा विज्ञाता कोई नहीं। गार्गी!

१. तु. छा. आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ८।१४।१। जिसके अन्तर्गत सब है, संहिता में वह विश्वकर्मा (ऋ. १०।८२।६) है। आकाश अथवा परमव्योम उसका ही प्रतीक है (तु. ऋ. १।१६४।३९)।

२. 'अक्षर' सञ्ज्ञा श्लिष्ट है – इससे जिस प्रकार परब्रह्म का बोध होता है, उसी प्रकार शब्दब्रह्म अथवा ओङ्कार का भी बोध होता है। ऋक्संहिता में अक्षर के तीन अर्थ प्राप्त होते हैं – **अपरिणामी** (१।१६४।४२; ३९) परमव्योम का विशेषण; ६।१६।३५ परमव्योम ऊह्य अथवा अनुमेय); वाक् (कभी क्लीबलिङ्ग लिङ्ग में ३।५५।१, १।१६४।२४, १०।१३।३; कभी स्त्रीलिङ्ग में 'अक्षरा' ७।१५।९, ३६।७); धेनु (७।१।१४, १।३४।४, ३।३१।६; वाक् पुनः धेनुरूपिणी)। अतएव अक्षर से नित्यचेतन आकाश और उसके नित्यस्पन्द ओङ्कार का बोध होता है (तु. कठोपनिषद् १।२।१५-१७)।

आकाश इस अक्षर में ही ओत-प्रोत है।"

गार्गी ने कहा, 'ठीक है। ब्रह्म-विचार में आपमें से कोई भी इन्हें पराजित नहीं कर सकेगा।'

गार्गी के इस निर्णय के पश्चात् किसी को भी कुछ कहने के लिए नहीं था। तब भी शाकल्य[१] ने इस विचार या विमर्श को समाप्त होने नहीं दिया। उसके साथ नवम ब्राह्मण शुरू होता है।

शाकल्य का पहला प्रश्न है कि 'देवता कितने हैं?' याज्ञवल्क्य ने पहले तीन सौ और तीन, फिर तीन हज़ार तीन बतलाया। उसके बाद इस सङ्ख्या को क्रमशः कम करते हुए अन्त में बतलाया कि 'देवता एक ही है, जिसे प्राण अथवा ब्रह्म अथवा 'त्यत्' कहते हैं।'[२]

शाकल्य का द्वितीय प्रश्न पुरुष के सम्बन्ध में है। जिसे वे अष्टविध पुरुष रूप में जानते हैं, जो मनोज्योति एवं समस्त आत्मा का परायण, परम अयन अर्थात् परम आश्रय है। क्रमशः पृथिवी कामरूप, आकाश तमःरूप, अप् एवं रेतः उसका आयतन अर्थात् आधार है। अग्नि, हृदय, चक्षु, श्रोत्र, हृदय, चक्षु, हृदय एवं हृदय उसके लोक हैं अर्थात् उपलब्धि की भूमि या क्षेत्र हैं। क्या इन पुरुषों को याज्ञवल्क्य जानते हैं कि वे कहाँ-कहाँ हैं? एवं उनके देवता भी कौन-कौन हैं?

१. तु. श. ब्रा. ११।६।३।

२. ऋ. ३।९।९। टी.। देवता की सङ्ख्याओं को ऊर्ध्व त्रिकोण के आकार में विन्यस्त किया जाए – अर्थात् जिसके शीर्ष पर ३ और अधोरेखा पर ३००३। इससे दशमिक या दशमलवपद्धति से अङ्क के स्थानीय मान का पता चलता है। वायु के प्रति याज्ञवल्क्य का पक्षपात सुस्पष्ट है। वे शुक्लयजुर्वेद के प्रवर्तक हैं और यजुर्वेद का अधिष्ठाता वायु है। अध्यात्मदृष्टि में यह वायु प्राण है। 'त्यत्' अनिर्वचनीय (तु. ऋ. ५।६२।१) है।

याज्ञवल्क्य ने बतलाया कि वे इन पुरुषों को जानते हैं। जो क्रमशः शरीर, काम, आदित्य, श्रोत्र, छाया, आदर्श, अप् एवं पुत्र में हैं। जिनके देवता हैं अमृत, स्त्री, सत्य, दिक्, मृत्यु, असु, वरुण एवं प्रजापति।[१]

शाकल्य याज्ञवल्क्य को पराजित नहीं कर पाए। तब याज्ञवल्क्य ने विद्रूप करते हुए उनसे कहा कि इन ब्राह्मणों ने तुमको अङ्गारावक्षयण या अङ्गारे निकालने का चिमटा बना रखा है क्या?[२] शाकल्य ने झुँझलाते हुए कहा, 'कुरु-पञ्चाल के ब्राह्मणों का निरादर करते हुए जो कह रहे हो, तुम किस प्रकार के ब्रह्मवेत्ता हो?' याज्ञवल्क्य ने कहा – 'मैं देवता और प्रतिष्ठा सहित दिक्तत्त्व को जानता हूँ।'[३]

उसके बाद शाकल्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए बतलाने लगे कि 'पूर्व की ओर मैं आदित्य के साथ एक हूँ। आदित्य की प्रतिष्ठा चक्षु में है, चक्षु की प्रतिष्ठा रूप में है एवं रूप की प्रतिष्ठा हृदय में है। इसी प्रकार मैं दक्षिण में यम हूँ, पश्चिम में वरुण हूँ, उत्तर में सोम हूँ और

१. यहाँ माध्यन्दिन-शाखा की सञ्ज्ञा में एवं विन्यास में कुछ भेद है। मूल में दण्डचिह्न 'स्यात्' पश्चात् न देकर 'याज्ञवल्क्य' के पश्चात् देने पर सङ्गति बैठती। इस प्रसङ्ग को इस प्रकार समझना होगा : – पृथिवी में जो पुरुष है, देवतारूप में वह 'अमृत' है ; इस शरीर में हम उसका अनुभव 'अग्नि' अर्थात् ताप द्वारा करते हैं। उसी प्रकार कामतत्त्व में देवतारूप में वह 'स्त्री' (माध्यन्दिन दृष्टि में मन) है; अपनी काममय चेतना में हम हृदय द्वारा उसका अनुभव करते हैं। आदित्य विश्वचेतना का प्रतीक है, आदर्श आत्मचेतना का (तु. क. २।३।५)। एक ही पुरुष लोक में शरीर, रिरंसा और पुत्र रूप में है; और उसका अलौकिक अनुभव आदित्य, श्रुति, आदर्श (दर्पण) एवं छाया में होता है। छाया में अनुभव लोकोत्तर (तु. क. २।३।५)।

२. 'अङ्गारावक्षयण' का प्रयोग और कहीं नहीं है। आद्यशङ्कराचार्य ने अर्थ किया है 'चिमटा'।

३. अर्थात् ब्रह्म दिशा-दिशा में व्याप्त होकर पुनः हृदय में सिमट आया है, और वहाँ ही उसकी प्रतिष्ठा है (तु. छा. ७।२५।१, ८।३।३; ऋ. ६।१९।९, १०।४२।११..)।

ध्रुव में अर्थात् ऊर्ध्व में अग्नि हूँ।[१] अग्नि की प्रतिष्ठा वाक् में है और वाक् की प्रतिष्ठा हृदय में है। हृदय में सबकी प्रतिष्ठा या अवस्थान है।'[२]

शाकल्य ने प्रश्न किया – 'हृदय की प्रतिष्ठा कहाँ है?' याज्ञवल्क्य ने तिरस्कार करते हुए कहा – 'मूर्खों की तरह बात मत करो।'[३] किन्तु शाकल्य पीछा छोड़ने वाले नहीं। उन्होंने फिर प्रश्न किया, 'तब भी बतलाओ, तुम और आत्मा कहाँ प्रतिष्ठित हो?', याज्ञवल्क्य ने कहा – 'प्राण में।' 'प्राण कहाँ प्रतिष्ठित है?' 'अपान में।' 'अपान?' 'व्यान में।' 'व्यान?' 'उदान में।' 'उदान?' 'समान में।'[४] किन्तु आत्मा को नेति-नेति करके जानना होता है। वह अगृह्य है – जिसे ग्रहण नहीं किया जा सकता है, अशीर्य है, जो शीर्ण नहीं होता, असङ्ग है, असित है, अबन्धन है, अरिष्ट है। तुम्हारे प्रश्न के उत्तर में आठ पुरुषों के सम्बन्ध में विस्तार-पूर्वक बतलाया। ये सब पुरुष जिस औपनिषद-पुरुष से निकलकर आते हैं एवं उसीमें लय हो जाते हैं और इसके अतिरिक्त जो सबसे परे है, उसके सम्बन्ध में तुमसे पूछता हूँ। तुम क्या उसे जानते हो?[५]

१. संहिता के मित्र और वरुण क्रमशः सूर्योदय और सूर्यास्त के साथ सम्पृक्त हैं। सोम उत्तरज्योति अथवा अमृतचेतना का देवता है, विपरीत-कोटि में यम अथवा मृत्यु है। किन्तु यह यम अथवा मृत्यु वैवस्वत भी हो सकते हैं।

२. तु. छा. ८।३।३; योग का 'हार्दज्योतिः', उपनिषद् का 'हार्दाकाश', संहिता का 'हृद्य समुद्र'। याज्ञवल्क्य का झुकाव हृदय की ओर है (द्र. ४।१।७)। हृदय < हृत् (< √हृ (दीप्ति देना)।। श्रत् > श्रद्धा। द्र. टीका ३१०।

३. अर्थात् हृदय ही आत्मा है।

४. अर्थात् प्राण को अपान की सहायता से देह की गहराई में समेटकर लाना होगा। वहाँ वायु का निरोध होने पर वह व्यान रूप में समस्त देह में फैल जाएगा। तब लघुत्व के फलस्वरूप वायु की ऊर्ध्व गति होगी। उसके बाद मूर्द्धन्यलोक से सुषम सुसङ्गत होकर वह सर्वत्र फैल जाएगा।

५. अनेक के मूल में एक को जानना होगा (तु. छा. ३।१८।२-६, ४।५-८, ५।१८।१, बृ. २।१।२०, ४।१।७, कौ. ४।१८.....)।

शाकल्य का सर झुक गया।[१] तब याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मणों को सम्बोधित करते हुए कहा, अब आप सब चाहें, तो मुझसे प्रश्न कर सकते हैं। या फिर मैं ही आप लोगों से प्रश्न करूँ?'

सभी ब्राह्मण चुप रहे। याज्ञवल्क्य ने कहा – 'वृक्ष और व्यक्ति में कुछ समानता है। वृक्ष को काट देने पर भी मूल से नये रूप में पनपता है, किन्तु व्यक्ति मरने के पश्चात् किस मूल से उत्पन्न होता है? वृक्ष मरता है, फिर बीज से उत्पन्न होता है। व्यक्ति तो उस प्रकार बीज रखकर नहीं मरता। पितृरेत: व्यक्ति का बीज है, यह नहीं कहा जा सकता। रेत: तो जीवित व्यक्ति का होता है।[२] वस्तुत: व्यक्ति या पुरुष तो उत्पन्न ही हो गया है, वह नये रूप में उत्पन्न नहीं होता।[३] जो है ही, उसे फिर उत्पन्न करेगा कौन? यहाँ रहकर ही जिसने तत्स्वरूप को जाना है, उसकी परम गति, परम आश्रय विज्ञान और आनन्दरूप ब्रह्म ही है'[४] और दाता का दान भी ब्रह्म ही है।'[५]

यहाँ तृतीय अध्याय समाप्त होता है। यहाँ हमने देखा कि याज्ञवल्क्य पूर्णप्रज्ञ होने के कारण ही ब्रह्मिष्ठ हैं, वे कर्म और ब्रह्म दोनों का ही तत्त्व जानते हैं। देववाद एवं यज्ञवाद के सम्बन्ध में उनका सिद्धान्त है कि सब

१. इसके पश्चात् शाकल्य की दुर्दशा का जो विवरण दिया गया है। वह निश्चय ही बहुत पीछे की घटना है। यहाँ प्रसङ्गक्रम में उसका उल्लेख किया गया है।
२. और बीज मृत वृक्ष का भी होता है, अतएव रेत के साथ उसकी उपमा उपयुक्त नहीं।
३. क्योंकि वह आत्मा है, अतएव ब्रह्म है, अत: बृहत् की दृष्टि से देखने पर जन्म-मृत्यु का प्रश्न व्यर्थ है। छान्दोग्य में उद्दालक का सत्सम्पत्तिवाद भी इसी प्रकार का है। तु. याज्ञवल्क्य का महाभूतवाद (बृ. २।४।१२)। समुद्र का बुलबुला समुद्र में मिलकर समुद्र रूप में ही रहता है – यही सचमुच अमरत्व है। व्यष्टि की सत्ता तब रहती नहीं, जैसे सुषुप्ति में नहीं रहती। इससे बुद्ध का अनात्मवाद मात्र एक धाप है।
४. 'विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म' = चित्, आनन्द, सन्मात्र (जो है ही, अथवा शुद्ध सत्ता) = वेदान्त का सच्चिदानन्द। तु. 'सत्यं, ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म' तै. २।१; द्र. टीका. ३२१
५. यह संहिता की दानस्तुति की तरह जनक को लक्ष्य करके कहा गया है।

देवता जिस एक देवता में पर्यवसित होते हैं, वह देवता प्राण या ब्रह्म अथवा त्यत् है। देवता के उपलक्ष्य में जो यज्ञ होता है, यदि उसकी अधियज्ञ-दृष्टि को अधिदैवत एवं अध्यात्म-दृष्टि में रूपान्तरित किया जाए, तो वह भी मुक्ति एवं अतिमुक्ति का साधन हो सकता है। अश्वमेधयाजी अन्तकाल में वायु में मिल जाते हैं। वायु ही विश्व का सूत्रात्मा है। ब्रह्मवाद के सम्बन्ध में उनका सिद्धान्त है कि ब्रह्म सर्वातीत है, नेति-नेति की भूमिका में उसके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त वह सबका अन्तर्यामी है, वही सर्वान्तर आत्मा है। लोक की दृष्टि से कहा जाए, तो ब्रह्मलोक ही परम है, उसके पश्चात् और कुछ भी नहीं। आकाश ही यह ब्रह्मलोक है। अक्षरब्रह्म उसमें ही ओत-प्रोत है, परिव्याप्त है। विश्व का सब कुछ उसके ही प्रशासन में है। उसे पाने के लिए तीन एषणाओं का त्याग करके 'भिक्षु' होना होगा। प्राप्ति के भी चार सोपान हैं, जिन्हें पाण्डित्य, बाल्य, मौन एवं ब्राह्मण्य कहते हैं। जीव की उत्क्रान्ति या मृत्यु के सम्बन्ध में उनका सिद्धान्त है कि मृत्यु की भी मृत्यु है। वह है यहाँ सब कुछ के साथ मिल जाना। जो सब कुछ हुआ है, उसे जानकर उसके साथ जो एक हो गया, उसके पक्ष में जन्म, मृत्यु, उत्क्रान्ति पुनर्जन्म इत्यादि का प्रश्न अवान्तर है।

चतुर्थ अध्याय में छह ब्राह्मण सङ्कलित हैं। प्रथम चार ब्राह्मणों में जनक – याज्ञवल्क्य – संवाद है, पञ्चम ब्राह्मण याज्ञवल्क्य मैत्रेयी-संवाद का ही हेर-फेर है, एवं अन्तिम ब्राह्मण याज्ञवल्कीयकाण्ड की वंश-परम्परा है।

प्रथम दो ब्राह्मणों में जनक-याज्ञवल्क्य-संवाद का एक पर्व या अंश है। जनक आसन पर स्थित थे, तभी याज्ञवल्क्य आकर उपस्थित हुए। जनक ने कटाक्ष करते हुए कहा, 'क्या सोच कर आए? पशु या अण्वन्त?'[१]

१. अण्वन्त : 'अणु' सूक्ष्मतत्त्व (तु. क. अणुरेष धर्म: १।१।२१; अणुमेतमाप्य १।२।१३; मु. यदणुभ्योऽणु २।२।२; एषोऽणुरात्मा ३।१।९; छा. स य एषोऽणिमा ६।८।६....), 'अन्त' शेष, मीमांसा (तु. बृ. सर्वोभ्योऽन्तेभ्य: ४।३।३३; अनुरूप : वेदान्त, सिद्धान्त, कृतान्त [गीता. १८।१३], सुत्तन्त [सूत्रान्त])।

याज्ञवल्क्य ने अकुण्ठभाव से कहा, 'दोनों ही, किन्तु पिता श्री कहा करते कि उपदेश दिए बिना कुछ ग्रहण नहीं करोगे, अत: पहले सुनना चाहता हूँ कि किसने, तुमको क्या बतलाया'?'

जनक ने छह आचार्यों[१] का उल्लेख करते हुए कहा कि उन्होंने क्रमश: वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन एवं हृदय ही ब्रह्म है – यही बतलाया।[२] याज्ञवल्क्य ने कहा, 'ठीक ही बतलाया है। किन्तु यह सभी ब्रह्म का एकपाद मात्र है।[३] अच्छा, यह बताओ कि इन सबके सम्बन्ध में बतलाते हुए क्या उन्होंने ब्रह्म के आयतन, प्रतिष्ठा या अवस्थान एवं स्वरूप के सम्बन्ध में बतलाया?' 'नहीं, आप ही बतलाएँ।'

याज्ञवल्क्य ने फिर जनक को समझाया कि 'वाक् इत्यादि सभी ब्रह्म के आयतन अर्थात् आश्रय या आलम्बन अवश्य हैं, किन्तु उन सबकी ही प्रतिष्ठा आकाश में है। इस प्रतिष्ठा को जान लेने के पश्चात् उन सभी आयतनों के भीतर से ही ब्रह्म का स्वरूप प्रज्ञा[४], प्रियता, सत्य,

---

१. इनमें हमारे पूर्व परिचित सत्यकाम जाबाल और विदग्ध शाकल्य हैं।
२. ब्रह्म के पाँच द्वारपाल (तु. छा. ३।१३) हैं. इनके अतिरिक्त हम एक और 'हृदय' को प्राप्त करते हैं (द्र. टीका ३१०, ६३४)। श्रद्धा तत्त्वोपलब्धि का द्वार है। उसकी उत्पत्ति हृदय की आकूति से होती है (द्र. ऋ. श्रद्धासूक्त १०।१५१, श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु [= ज्योति:] ४; बृ. ३।९।२१)। शब्द ब्रह्मविज्ञान का द्वार; आदि में वायु एवं अन्त में श्रोत्र है। आदित्यपुरुष की उपलब्धि का द्वार चक्षु। अध्यात्म-दृष्टि से वही प्राण है (तु. ऋ. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च १।११५।१; प्र. प्राण: प्रजानामुदयत्येष सूर्य: १।८...)। इसकी अपेक्षा उन्नततर साधन है मन, मनीषा और हृदय (ऋ. १।६१।२), अथवा मन, विज्ञान और आनन्द द्र. तै. 'अन्नं, प्राणं, चक्षु: श्रोत्रं, मनो वाचमिति' उसके पश्चात् विज्ञान और आनन्द की चर्चा (३।१-६) है।
३. चतुष्पात् पूर्णब्रह्म का ज्ञान चाहिए, द्र. टी. ६३७।
४. प्रज्ञान का विषय. तु. छा. ७।१।२, २।१, ७।७।१; बृह. २।४।१०; ४।५।११ फिर अध्यात्म-दृष्टि में ऐ. ३।२।

अनन्तता, आनन्द एवं स्थिति रूप में व्यक्त होता है।[१] तुम समाहितात्मा हो, सर्वविभूतिसम्पन्न हो, सभी जानते हो, किन्तु केवल यह नहीं जानते कि यहाँ से विमुक्त होने पर कहाँ जाओगे? मैं तुम्हें वही बतला रहा हूँ।

'दाहिनी आँख में जो पुरुष है, वह इन्ध अथवा इन्द्र है और बाँयीं आँख में उसकी पत्नी विराट् है।[२] हृदय के भीतर जो आकाश है, उसमें दोनों आकर मिले हैं।[३] इस हृदय से ही अतिसूक्ष्म हिता नाड़ियाँ[४] ऊपर की ओर चली गई हैं। उसके भीतर से जो बहता जा रहा है, वह आत्मा का प्रविविक्त अथवा एकमात्र सूक्ष्म आहार है।[५] इस नाड़ी से प्रवाहित होकर चेतना के ऊर्ध्वस्रोता होने पर एक समय देख पाओगे कि तुम्हारा प्राण प्रत्येक दिशा में चारों ओर व्याप्त हो गया है।[६] उस समय का अनुभव नेति-नेति हुआ। तब कुछ और रहता नहीं, रहता है केवल आत्मा – जो अगृह्य, अशीर्य, असङ्ग, अरिष्ट, अभय है। उस अभय को तुमने आज प्राप्त कर लिया।'

---

१. ध्यातव्य है, प्राण द्वारा प्रियता और मन द्वारा आनन्द प्राप्त होता है (तु. तै. आकाशशरीरं ब्रह्म सत्यात्म 'प्राणारामं मन आनन्दम्' शान्ति समृद्धममृतम् १।६)। यहाँ हम ब्रह्म को सत्, चित्, आनन्द रूप में पाते हैं. फिर भी वह अनन्त है (तु. तै. २।१) एवं हृदय में उसकी स्थितता या विद्यमानता है (तु. छा. ८।३।३)। परवर्ती ब्राह्मण द्रष्टव्य।
२. अक्षिपुरुष द्र. छा. १।७।५, ४।१५।१, ८।७।४; बृ. २।३।५, ५।५।२....। यहाँ इन्द्र परमपुरुष है, उसकी पत्नी विराट् अथवा विश्वभुवन (तु. तस्माद् विराळजायत१०।९०।५; ६।४७।१८)। संहिता में हैं 'विराण्मित्रा वरुणयोरभिश्री:' (ऋ. १०।१३०।५)।
३. हार्दाकाश ही सङ्गमस्थान (तु. ऋ. ४।५८।११) है। धारणा के लिए हृत्पिण्ड।
४. तु. बृ. २।१।१९, ४।३।२०; कौ. ४।१९।
५. प्रविविक्त तु. माण्डूक्योपनिषद् ४। यह स्वप्न-चेतना का स्रोत है। परवर्ती ब्राह्मण द्रष्टव्य।
६. आकाश का स्पन्द ही प्राण है; उसका विच्छुरण या छितराव-फैलाव चारों ओर है, चतुर्दिक् उसकी व्याप्ति है। वही दिक् आकाश की शक्ति है। तुलनीय शाकल्य के प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य द्वारा सहज स्थिति का वर्णन बृ. ३।९।१९-२४।

जनक ने कृतार्थ होकर कहा – 'जिस अभय का सन्धान आपने मुझे दिया, उसे आप भी प्राप्त करें। मेरा यह विदेहराज्य और यह मैं. ...' – इतना कहते हुए आनन्द से उनका कण्ठ-स्वर रुद्ध हो गया।

अगले दो ब्राह्मणों में और एक दिन का संवाद है। जनक ने प्रश्न किया – 'पुरुष का साधन कौन ज्योति है?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया – 'प्रधानत: आदित्यज्योति। आदित्य के न रहने पर चन्द्र, चन्द्र के न रहने पर अग्नि, अग्नि के न रहने पर वाक्।

यदि वह भी न रहे, तो आत्मज्योति ही पुरुष का साधन है।'[१] आत्मा कौन है?' 'प्राण' एवं हृदय में अन्तर्ज्योति रूप जो विज्ञानमय पुरुष है, वही आत्मा है। बाहर मानो वह सञ्चरण कर रहा है, और भीतर मानो ध्यानमग्न है। वह जब शरीर के साथ जन्म लेता है, तब पाप[२] से जुड़ जाता है। पुन: शरीर छोड़कर उत्क्रमण करते समय पाप को भी छोड़ जाता है।

इहलोक और परलोक उसके मात्र दो स्थान हैं।[३] दोनों के सन्धि-स्थान में स्वप्नलोक है। वहाँ से वह इहलोक और परलोक दोनों ही देख पाता है। जिस क्रम को पकड़कर वह परलोक की ओर जाता है, उसके ही एक स्थान से वह एक ओर पाप और एक ओर आनन्द देखता है।[४]

१. क्रमिक अन्तरावृत्ति अथवा अन्तर्मुखता से अन्त में आत्मचैतन्य में पर्यवसान। उस समय 'यदातमस्तन्न दिवा न रात्रि' श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।१८।
२. पाप के दो लक्षण हैं : अशनाया अथवा बुभुक्षा (तु. ऐ. ब्रा. २।२) और द्वन्द्वबोध (छा. १।२)।
३. आध्यात्मिक-दृष्टि में जाग्रत और सुषुप्ति।
४. चेतना की अन्तरावृत्ति के रास्ते के बीच में ही स्वप्नस्थान है। जाग्रत में द्वन्द्व-बोधजनित पाप है, और सुषुप्ति में एकरसप्रत्ययजनित सम्प्रसाद अथवा आनन्द है।

उसका स्वप्न जब प्रस्वप्न[१] होता है, तब सर्वमय होता है।[२] इस लोक के ही एकांश के साथ स्वयं को विहतचेतनाशून्य एवं निर्मित करके स्वयञ्ज्योति रूप में फूट पड़ता है।[३] तब वह स्रष्टा अथवा कर्ता है।[४]

'आत्मा हिरण्मय – कान्तिमय पुरुष है, एक हंस[५] है, वह अकेला ही चलता है। वह स्वप्न में शरीर-चेतना को निश्चेष्ट करके अपने आप असुप्त रहकर सुप्तों को देखता चलता है।[६] उसके बाद शुक्रचेतना अथवा शुद्ध ज्योतिष्मान् चेतना के साथ वह पुन: जाग्रत में लौट आता है। उस समय वह शरीर को प्राण के द्वारा बचाए रखता है, और उसके बाहर अपनी इच्छानुसार जहाँ-तहाँ विचरण करता रहता है। उसे भय और आनन्द की विचित्र अनुभूति एवं अभिज्ञता होती रहती है। लोग उसकी क्रीड़ा का ही अनुभव करते हैं, उसका आराम ही देखते हैं, किन्तु न तो उसका अनुभव करते हैं, न उसे कोई देख पाता है।

'कोई-कोई कहते हैं कि हिरण्मयपुरुष जाग्रत में जो देखता है, यही स्वप्न में भी देखता है। किन्तु तब भी वह तत्क्षण स्वयञ्ज्योति: है।

'स्वप्न से वह सुषुप्ति के सम्प्रसाद[७] अथवा सम्यक्तया सुदीप्त एवं सुप्रसन्न परमानन्द में जाता है। वहाँ क्रीड़ा करता है, घूम-फिर कर पुण्य

१. प्रस्वप्न अर्थात् प्रकृष्ट स्वप्न, विज्ञान-भूमि का अनुभव है और प्राकृत-स्वप्न मनोभूमि का अनुभव है। विज्ञान-भूमि का पुरुष 'स्वप्नस्थानोऽन्त:प्रज्ञ' (माण्डूक्योपनिषद् ४) है। उसके स्वप्नज्ञान के आधार पर योग की साधना चल सकती है (यो. सू. १।३८।
२. मूल में 'सर्वावत' है; संहिता में इसका ही नाम 'सर्वताति' (द्र. ३।५४।१९ टी.)।
३. जाग्रत के विघात या व्याघात से स्वप्न अथवा विज्ञान का निर्माण।
४. स्वप्न में जाग्रत का इन्द्रियग्राह्य उपादान लेकर सृष्टि, और प्रस्वप्न में अतीन्द्रिय-विज्ञान अथवा मन के उस पार चेतना की सर्वतोभास्वर भूमि का उपादान लेकर।
५. एक हंस तु. ऋ. ४।४०।५ (क. २।२।२); श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।१५, १।६, ३।१८।
६. कठोपनिषद् २।२।८।
७. तु. छा. ८।३।४, १२।३

और पाप[१] को देखता है। फिर वह विपरीत-क्रम से स्वप्न में लौट आता है, फिर उसी प्रकार वहाँ से जाग्रत में, फिर जाग्रत से स्वप्न में जाता है किन्तु सभी अवस्थाओं में ही वह असङ्गद्रष्टा मात्र रहता है।

इस प्रकार आते-जाते रहने के फलस्वरूप श्रान्त होकर अन्त में चेतना की उस भूमि की ओर चला जाता है, जहाँ सुप्तावस्था में और कोई कामना भी नहीं करता और स्वप्न भी नहीं देखता।

'स्वप्न में आत्मा सूक्ष्म हिता नाड़ियों के बीच विचरण करता है। वे सब नाड़ियाँ नील, पिङ्गल, लोहित, हरित एवं शुक्लरस से पूर्ण हैं।[२] ऐसी स्थिति में जो दिखता है, उसके मूल में अविद्या अथवा विद्या रहती है। अविद्या के वश में रहकर वह जागरण के भय का ही अनुभव करता है। किन्तु विद्या के आलोक में उसे अनुभव होता है कि मैं राजा हूँ, देवता हूँ और यह सब कुछ मैं हूँ।[३] यह अन्त का अनुभव ही आत्म-चैतन्य की परम भूमि है।

'आत्मा का 'अतिच्छन्दम्' अथवा कामरहित और अपहतपाप्मा अथवा धर्म-अधर्म से रहित यह अभय रूप कैसा है? व्यवहारत: प्रिया स्त्री द्वारा सम्परिष्वक्त या आलिङ्गित पुरुष जिस प्रकार बाहर का या भीतर का कुछ भी नहीं जानता, उसी प्रकार यह पुरुष भी प्राज्ञ आत्मा द्वारा सम्परिष्वक्त होकर बाहर अथवा भीतर का कुछ ही नहीं जान पाता।[४] यही उसका आप्तकाम, अकाम, अशोक रूप है।

---

१. विद्या में पुण्य और अविद्या में पाप; तु० खण्ड २०
२. रङ्ग द्वारा चेतना के स्तरों का समझाना, तु. कौ. ४।१८ टी. ५४।
३. तु. खण्ड १५-१७। वहाँ तो पाप-पुण्य की बात कही गई है। यहाँ उसकी विवृति है। प्राकृत-निद्रा और योग-निद्रा में यही अन्तर है।
४. प्राज्ञ आत्मा = परमात्मा। इस सामरस्य का अनुभव तन्त्र में सुपरिचित है। किन्तु यहाँ विपरीत रति का आभास है, वह भी तन्त्रसम्मत है। तु. बौद्ध नैरात्म्य देवी अथवा 'प्रज्ञा' और सिद्धाचार्य (चर्यागीति), सूफ़ी-भावना।

'यहाँ आने पर सारा पार्थिव-परिचय[१] लुप्त हो जाता है। पुण्य अथवा पाप भी नहीं रहता[२], हृदय शोक से रहित होता है। किसी दूसरे के न रहने के कारण ही वहाँ देखने, सुनने अथवा कहने के लिए कुछ भी नहीं रहता; किन्तु देखना, सुनना, अथवा कहना ये सब रहते हैं - क्योंकि द्रष्टा इत्यादि रहते ही हैं।[३]

'शुद्ध सलिल जैसा[४] एक अद्वैतद्रष्टा ही तब रहता है। यह ब्रह्मलोक है, यह परम आनन्द है। यह आनन्द ही सारे विश्व में खण्ड-खण्ड रूप में व्याप्त है।[५]

'जिस प्रकार जाग्रत से सुषुप्ति में, उसी प्रकार आत्मा, प्राज्ञ-आत्मा द्वारा अन्वारुढ़ - अधिष्ठित होकर जीवन से मरण में शब्दायमान एवं ऊर्ध्वोच्छ्वासी होकर चलता है।[६] पका हुआ फल जिस प्रकार वृन्त से चू पड़ता है। उसी प्रकार वह समस्त अङ्गों से सम्प्रमुक्त होकर विपरीत-क्रम से उत्सरूपी प्राण की ओर चलता है।[७] 'देखो, ब्रह्म आ रहा है' यह कहकर उस समय समस्त भूत या प्राणी उसकी अभ्यर्थना करते हैं।[८]

---

१. मूल में श्रमण का उल्लेख लक्षणीय (तु. तै. आ. २।७।१)।
२. 'न पुण्यं न पापम्' इससे विशुद्ध अद्वयस्थिति का बोध होता है (तु. कौ. ३।१; बृ. ४।४।२२; तै. २।९)।
३. अन्तर्मुखता की स्थिति में विषय क्रमश: विषयी के सन्निकट होता है एवं अन्त में उसके साथ एकाकार हो जाता है। तब आत्मा द्वारा आत्मा को जानना और प्राप्त करना (तु. बृ. २।४।५)।
४. तु. कठोपनिषद् २।२।१५।
५. तु. आनन्दमीमांसा तै. २।८।
६. मूल में 'उत्सर्जन्' है, तु. तैत्तिरीयसंहिता 'यदन उत्सर्जति अक्रन्ददित्यन्वाह ५।२।२-३)। यह शब्द 'ब्रह्मघोष' है - हृदय से मूर्द्धा की ओर (तु. गी. ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् ८।१३, १०, १२)। ऊर्ध्वोच्छ्वास प्राण की उदान गति के कारण होता है।
७. अधिदैवत-दृष्टि से प्राण वायु है; तु. संवर्ग विद्या छा. ४।३।४; कौ. ३।३।४।
८. तु. कौ. अप्सराओं की अभ्यर्थना १।४। यहाँ तृतीय ब्राह्मण समाप्त होता है।

प्रयाणकाल में आत्मा लगता है दुर्बल एवं सम्मूढ़ हो जाता है। उस समय समस्त प्राण अन्तरावृत्त होकर हृदय में आते हैं। पुरुष उनके तेज को आकर्षित करता है, जिसके कारण हृदय का अग्रभाग प्रद्योदित हो उठता है। फिर उसे बाहर का ज्ञान नहीं रहता। तब हृदय के उस प्रद्योत से आत्मा चक्षु, मूर्द्धा अथवा शरीर के अन्य किसी भी स्थान से बाहर निकल जाता है।[१] तब वह सविज्ञान होकर ही सविज्ञान अथवा विज्ञानमय किसी भी भूमि - जैसे पित्र्य, गान्धर्व, दैव, प्राजापत्य अथवा ब्राह्म-भूमि का आश्रय लेता है।[२] मर्त्य शरीर मर जाता है, कल्याणतर रूप होता है। उसकी विद्या, कर्म एवं पूर्ण प्रज्ञा उसके ही अनुगामी होते हैं।[३]

'यह आत्मा ही ब्रह्म है। वह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, इन्द्रियमय, भूतमय काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय अर्थात् सर्वमय है।[४] वह यथाकारी है, यथाचारी है। वस्तुतः पुरुष काममय है। उसकी जैसी कामना, वैसा ही उसका क्रतु अथवा सङ्कल्प और वैसा ही उसका कर्म होता है।

'इसलिए कहा जाता है कि पुरुष का मन जहाँ निषक्त अथवा आसक्त होता है, वह कर्मफल के अनुसार वहाँ ही जाता है। फिर कर्म समाप्त होने पर वहाँ से यहाँ नये कर्म के लिए आता है।

'यह उसकी गति है[५], जो काममय है, जो कामना करता है। किन्तु

---

१. तु. गीता. ८।१०, १२, १३; ऐतरेय में ये तीन 'आवसथ' (१।३।१२) हैं। अन्य किसी स्थान से बाहर निकलने पर अधोगति होती है (द्र. छा. ८।६।४-६)।

२. तु. कठोपनिषद्, सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते २।३।४।

३. तु० क. २।२।७; ऐ. आ. यथाप्रज्ञं हि सम्भवाः २।३।२। कल्याणतर रूप के आश्रय के पश्चात् पुरुष के अनुभव का वर्णन ऋ. ९।११३।७-११)।

४. भला-बुरा सभी वह है, यह भाव सप्तशती में सुपरिस्फुट है। Problem of Evil का दूसरा कोई समाधान नहीं। यही आर्यभावना का वैशिष्ट्य है।

५. आर्तभाग के साथ याज्ञवल्क्य की गोपन वार्ता : - 'तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुः ..... बृ. ३।२।१३। संहिता में उत्क्रान्ति की छवि ही स्पष्ट है (द्र. ऋ. ९।११३, १०।१४।१६, १०।१३५)। उसे सोमयाग की फलश्रुति कहा जा सकता है। किन्तु आवर्तन का बीज संहिता में ही 'द्वे स्रुती' मन्त्र (१०।८८।१५; द्र टीका २०३)।

जो अकाम, निष्काम एवं आप्तकाम है, उसके प्राण की उत्क्रान्ति नहीं होती। वह ब्रह्म होकर ब्रह्म में ही मिल जाता है।[१] वह अमृत-अमर होकर यहाँ ही ब्रह्म का उपभोग-सम्भोग करता है। मृत शरीर ही यहाँ पड़ा रहता है, किन्तु अशरीर होकर वह अमृतप्राण होता है, ब्रह्म होता है, तेज होता है।

'वही बतला सकता है कि अणुप्रमाण, किन्तु वितत[२] अथवा विस्तृत मार्ग ने मुझे स्पर्श किया है अर्थात् सूक्ष्म, विस्तीर्ण एवं पुरातन ज्ञानमार्ग मैंने ही प्राप्त किया है। धीर ब्रह्मविद् यहाँ से विमुक्त होकर इस मार्ग से स्वर्ग की ओर उठ जाते हैं।[३] कोई-कोई इस मार्ग के नील, पिङ्गल, लोहित, हरित एवं शुक्ल वर्ण होने की बात बतलाते हैं।[४]

---

१. तु. उद्दालक का सत्सम्पत्तिवाद, याज्ञवल्क्य का महाभूतवाद; संहिता में कुमार-यागायन का 'निरयण' (ऋ. १०।१३५।६)।

२. चेतना का समूहन एवं व्यूहन साथ-साथ (तु. ई. १६), उसीसे बिन्दु का विस्फारण। गति-मार्ग जैसे इस चिह्न की तरह <, टार्च की रोशनी जैसा दिखाई देता है।

३. स्वर्ग < सुवर्ग (< √वृज् 'मोड़ फेरना') इस प्रकार चेतना का मोड़ फेरना, जिससे उसकी वृत्तियाँ या तरङ्गें सुसंहत, सुव्यवस्थित हों। आदित्यबिम्ब उसका प्रतीक है। नचिकेता ने 'स्वर्ग्य-अग्नि' का रहस्य ही जानना चाहा था। (क. १।१।१३) अर्थात् आत्मदीप्ति को आदित्यदीप्ति में रूपान्तरित करने का कौशल। उसके पश्चात् 'अपवर्ग' अर्थात् सब कुछ से एक बारगी चेतना का मोड़ फेरना। उस समय 'न तत्र सूर्यो भाति' (क. २।२।१५)। यह असद्वाद है। मुनियों का लक्ष्य 'अपवर्ग' है। यह संज्ञा संहिता में नहीं है, किन्तु यजुःसंहिता में 'स्वर्ग्य' संज्ञा है (वाजसनेय संहिता ११।२; का. १५।३४; ऋ. में हम 'सुवृक्ति' पाते हैं। श्वेताश्वतर का पाठ 'सुवर्गेय' (२।२) है। किन्तु तुलनीय 'परा-वृक्' ऋ. २।१५।७, १३।१२, ४।३०।१६, १।११२।८, (१०।६१।८) वहाँ साङ्ख्यध्वनि है।

४. यह रास्ता नाड़ीपथ है। रङ्ग के विन्यास से अँधेरे से उजाले की ओर जाने का बोध होता है। तु. बृ. ४।३।२०; छा. ८।६।१-२; कौ. ४।१९

'आत्मा को ही जानना होगा। संवत्सर से ऊपर वह ज्योति की ज्योति है, वह अमृतायु है।[१] पाँच पञ्चजन[२] एवं आकाश उसमें ही प्रतिष्ठित हैं। वह प्राणों का प्राण है, चक्षु का चक्षु है, श्रोत्र का श्रोत्र है, (अन्न का अन्न है)[३], एवं मन का मन है। आकाश के उस पार वह विरजः, महान् एवं ध्रुव है अर्थात् निष्काम, संशयहीन, सर्वात्मा, परब्रह्म है। वह विश्वकृत - विश्वकर्मा है, सारे लोक उसके हैं, वही सर्वलोक है। उसके अतिरिक्त यहाँ और कुछ भी नहीं।

'उसे जानकर प्रज्ञावान् होना होगा। झूठमूठ शब्द का अनुध्यान करने से कोई लाभ नहीं। उसे इस देह में रहकर ही जानना होगा, नहीं तो महती विनष्टि।[४] जो उसे नहीं जानता, वह मरणोपरान्त अन्धतमस से आवृत अनन्द-लोक में जाता है।[५] जो अविद्या की उपासना करते हैं, वे

१. 'संवत्सर' द्र. टीका ४९६। संवत्सर ही प्रजापति है (तु. प्र. १।९)। संवत्सर में ऋतुपरिवर्तन अर्थात् प्रकृति-परिणाम है। उसके ऊपर जाने का अर्थ है कालजित अर्थात् अमृतायु होना।

२. ऋक्संहिता में पञ्चजन की चर्चा अनेक स्थानों पर है। यहाँ पाँच पञ्चजन हैं। कोई-कोई कहते हैं, ये साङ्ख्य के पच्चीस तत्त्व हैं : पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्र, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय एवं मन से पुरुष तक पाँच चित्-तत्त्व। प्रकृति पुरुष की ही आत्म-प्रकृति के रूप में चिन्मयी है - यह दृष्टि प्राचीन है। पुरुष व्यष्टिचैतन्य अथवा आत्मा है, आकाश समष्टिचैतन्य अथवा परमात्मा है। अतएव कुल छब्बीस तत्त्व। तु. श्वेताश्वतर उपनिषद् १।५ वहाँ स्रोत, ज्ञानेन्द्रिय, योनिभूतसूक्ष्म, प्राण कर्मेन्द्रिय, आवर्तभूत - इसको लेकर वहाँ के एक-एक पर्व को क्या यहाँ का पञ्चजन कहा जा सकता है?

३. 'अन्न का अन्न' माध्यन्दिन में है। देह के अन्न रसमय होने के कारण अन्न अर्थात् जड़ भी ब्रह्म-प्राप्ति का साधन हो सकता है (तु. तै. ३।१, २।२)।

४. तु. के. २।५; श. ब्रा. तदेव सन्तः तदु तद्भवाम्, न चेदवेदी महती विनष्टिः १४।७।२।१५।

५. तु० ई० ३; क. १।१।३। माध्यन्दिन में 'असुर्याः लोकाः'। सोमलोक अमृतज्योति और आनन्द का लोक (ऋ. ९।११३।९,११) है, तो फिर अनन्दलोक उसके विपरीत है।

अन्धतमस में निश्चय ही प्रवेश करते हैं, किन्तु उनसे भी अधिक तमस में वे प्रवेश करते हैं, जो विद्या में रत रहते हैं।[१]

'मैं यह आत्मा ही हूँ - यह जो जानता है, उसके शरीर में ज्वाला और कोई जुगुप्सा[२] भी नहीं रहती।

'यह महान् अजन्मा आत्मा प्राण में विज्ञानमय है, अन्तर्हृदय में आकाश है। वह सबका ईशान है, सबके भीतर अनुस्यूत सेतु है। वह पुण्य से बड़ा नहीं होता, पाप से भी छोटा नहीं होता। यज्ञ-दान-तपस्या द्वारा ब्राह्मण उसे जानना चाहते हैं। उसके लिए प्रव्राजी त्यागी पुरुष प्रव्रजित होते हैं, और एषणात्रय अर्थात्, पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा का वर्जन करके भिक्षुक हो जाते हैं। उसे जो प्राप्त करता है, वह मुनि होता है। पाप-पुण्य का द्वन्द्व उसे अभिभूत नहीं करता।

'जो आत्मा को जानते हैं वे शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर[३] आत्मा में ही आत्मा को देखते हैं और सब कुछ को आत्मरूप में देखते हैं।[४] वे तब विपाप, विरजः अविचिकित्स अर्थात् निष्पाप, निष्काम और संशयहीन ब्राह्मण - ब्रह्मवेत्ता होते हैं। यही तो ब्रह्मलोक है। सम्राट्! इसी लोक या ब्रह्मभाव में मैंने तुमको पहुँचा दिया।

'जनक ने आवेग भरे शब्दों में कहा, 'भगवन्! यह विदेहराज्य आपको दिया और स्वयं को भी। मैं आपका दास हूँ।'

१. तु० ई० ९-१४ यहाँ सम्भूति-असम्भूति का प्रसङ्ग है, उसके अतिरिक्त सहवेदन की बात भी है। जान पड़ता है, वहाँ जैसे यहाँ के ही भाव का विस्तार है।

२. तु० ई० ६-७। 'जुगुप्सा' सङ्कोच, योग की भाषा में चेतना की क्लिष्टता।

३. ये सब आगे चलकर वेदान्त में साधन-सम्पद् हुए हैं।

४. तु० ई० ६-७।

चतुर्थ ब्राह्मण यहाँ ही समाप्त हुआ। उसके पश्चात् पञ्चम ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद की पुनरावृत्ति है।[१] फिर षष्ठ ब्राह्मण में - वंशाख्यान के द्वारा अध्याय और याज्ञवल्क्य-काण्ड भी समाप्त।

जनक-याज्ञवल्क्य-संवाद का सार यह है : वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र एवं मन - ये सभी ब्रह्म अथवा ब्रह्मोपलब्धि के द्वार हैं। किन्तु ब्रह्म का प्रकृष्टतम प्रकाश हृदयाकाश में होता है। हृदयाकाश से जो नाड़ी भ्रूमध्य के भीतर से ऊपर की ओर चली गई है, वही विमुक्ति का मार्ग है। पुरुष की ऊर्ध्वगामी चेतना उस मार्ग से सञ्चरित होकर दिशाओं में फैल जाती है और महाप्राण में मिल जाती है। पुरुष की जाग्रत-चेतना बाहर की ज्योति की अपेक्षा रखती है, किन्तु स्वप्न में एवं सुषुप्ति में वह स्वयं ज्योति है। जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति - इन तीनों भूमियों पर ही चेतना सञ्चरण करती है। उसके ऊपर पुरुष की अलक्षण अतिस्थिति है। स्वप्न और सुषुप्ति का शुद्ध रूप है। एक में सर्वात्मभाव का अनुभव होता है, और एक में सम्परिष्वक्त अथवा आलिङ्गित आनन्द का अनुभव होता है। उस समय दृश्य न रहने पर भी द्रष्टा रहता है। अन्तकाल में भी हृदय के प्रद्योतित उसी मार्ग को पकड़कर ही पुरुष की उत्क्रान्ति होती है, किन्तु विज्ञानी के यहाँ ही ब्रह्मीभूत हो जाने के कारण उसकी उत्क्रान्ति नहीं होती है। ब्रह्म को जानना होगा, नहीं तो महती विनष्टि होगी। किन्तु सावधान रहना होगा कि विद्या का अन्धतर तम पुरुष को कहीं ग्रस न

१. तु. बृ. २।४। लगता है, यह परवर्ती संयोजन हैं। यहाँ का विवरण कुछ विस्तृत है। मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी और कात्यायनी स्त्री-प्रज्ञा - यह मन्तव्य वहाँ नहीं है। वहाँ का 'उद्यास्यन्' (२।४।१) यहाँ 'प्रव्रजिष्यन्' (४।५।२)। और भी प्रिय होने पर' (४।५।५) प्रसन्नता का यह परिचय नया है। वहाँ उपसंहार नहीं है, यहाँ है - 'याज्ञवल्क्यो विजहार' (४।५।१५) माध्यन्दिन में 'प्रवव्राज' है। प्रज्ञा की बात अधिक स्पष्ट है। उपदेश में भी कुछ विस्तार है।

ले। अन्तिम बात यह है कि आत्मा में ही सब कुछ है और आत्मा ही सब है। इस अनुभव में पाप-पुण्य का कोई भी द्वन्द्व नहीं रहता।[१]

उसके पश्चात् दो अध्याय खिलकाण्ड अर्थात् परवर्ती संयोजन है। पञ्चम अध्याय में पन्द्रह ब्राह्मण हैं। चतुर्दश ब्राह्मण को छोड़कर और सभी छोटे-छोटे हैं। लगता है, सूत्ररूप में एक-एक तत्त्व की अवतारणा की गई है।

प्रथम ब्राह्मण में पूर्णता की उपनिषद् है।[२] सभी पूर्ण है। फिर कहा जा रहा है कि ब्रह्म 'खम्' अथवा आकाश है। यह आकाश वायु से अर्थात् महाप्राण से पूर्ण है। यह वेद है।

द्वितीय ब्राह्मण में देवताओं के प्रति प्रजापति का अनुशासन है कि 'दान्त बनो' अर्थात् दमनशील, जितेन्द्रिय बनो; मनुष्य के प्रति दानशील बनो, 'दान करो'। असुरों के प्रति 'दया करो'।[३]

तृतीय ब्राह्मण में कहा जा रहा है, हृदय ही ब्रह्म है, सत्य ही ब्रह्म है।[४]

१. समग्र रूप में देखने पर याज्ञवल्क्य का दर्शन एक प्राचीन भावना की ही अनुवृत्ति हैं। उस पर कुछ स्थानीय प्रभाव पड़ा है। उसके कारण ही उनका झुकाव नेतिवाद और महाभूतवाद की ओर दिखाई देता है। किन्तु नेतिवाद उनमें कभी भी बौद्ध-दर्शन की तरह उग्र हुआ नहीं। उनकी दो विशेषताएँ हैं : एक तो विनाश और सम्भूति में समन्वय स्थापित करने की साधना या प्रयत्न, दूसरी हृदय के ऊपर ज़ोर देना। उनका ही उत्तराधिकार बौद्धदर्शन को प्राप्त है, यह बात भलीभाँति समझ में आती है।

२. वह 'ईशावास्य' का शान्तिपाठ है। तु. अथर्वसंहिता. 'पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते, उतो तदद्य विद्याम् यतस्तं परिषिच्यते १०।८।२९।

३. दया, दान दम, ये भी धर्मस्कन्ध हैं। तु. छा. यज्ञ अध्ययन, दान, तप, नैष्ठिक ब्रह्मचर्य २।२३।१; तप, दान आर्जव (ऋजुता), अहिंसा सत्यवचन ३।१७।४; तै. १।९, ११; पतञ्जलि के यम-नियम। देवताओं को यम-साधना करने के कथन का अर्थ है - इहामुत्रफलभोगविराग' ले आना। तु. कठोपनिषद्, नचिकेता का दिव्य काम प्रत्याख्यान १।१।२५-२६।

४. तु. छा. ८।३।३ द्र. टीका ६४५।

चतुर्थ ब्राह्मण में है कि सत्य ही ब्रह्म है, वही प्रथमज महत् यक्ष है।[१]

पञ्चम ब्राह्मण में बतलाया जाता है कि यह सत्य ब्रह्म अधिदैवत-दृष्टि में आदित्य और अध्यात्म-दृष्टि में अक्षिपुरुष है। दोनों अन्योन्याश्रित है। जिस प्रकार आदित्य में रश्मि, उसी प्रकार अक्षिपुरुष में प्राण प्रतिष्ठित है। दोनों का ही आयतन यह तीन व्याहृति 'भूः', भुवः, स्वः', है। एक 'अहः' और एक 'अहम्' है।[२]

षष्ठ ब्राह्मण में : पुरुष मनोमय, भाः सत्य है, और सबका ईशान होकर हृदय में है।[३]

सप्तम ब्राह्मण में है, विद्युत् ब्रह्म।[४] अष्टम ब्राह्मण में है, वाक् धेनु, प्राण उसका वृष, मन वत्स।[५] नवम ब्राह्मण में अग्नि का उपदेश है कि

---

१. ब्रह्म यक्ष अथवा रहस्य ; तु. केनोपनिषद्. ३ (ऋ. ७।६१।५, 'यक्षभृत्' १।१९०।४, ४।३।१३, ५।७०।४)।
२. वह 'अहः' (आदित्य) और यह 'अहं' एक है, तु. (ई. १६; तै. २।८)।
३. तु. क. २।१।१२-१३; छा. 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः ३।१४।२। उसने मन को आलोकित कर रखा है। यह मन दिव्य है। यह सिद्धों की सहज अवस्था है।
४. तु. बृ. २।३।६, के. ४।४। विद्युत् आकस्मिक प्रकाश। उसका एक स्थान अन्तरिक्ष में है - जब वृत्र अथवा मेघ के साथ इन्द्र का युद्ध चलता है और अँधेरा चीरकर उस पार का प्रकाश दिखाई देता है। एक और विद्युत् द्युलोक के उस पार लोकोत्तर में अग्नि, सूर्य और चन्द्र के उस पार छा. ४।७।३, १३।१....है। इस विद्युत् में अमानव पुरुष दिखाई देता है (छा. ४।१५।५, ५।१०।२; बृ. ६।२।१५)। यह महाशून्य में झिलमिल-झिलमिल अव्यक्त का प्रकाश है। (तु. ऋ. सा [वां] चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद्भरन्ती प्रति वव्रिमौहत १।१६४।२९)।
५. ऋक्संहिता में दीर्घतमा ने बार-बार वाक् की कल्पना धेनु के रूप में की है (१।१६४; तु. ८।१०१।१५-१६)। पुनः धेनु-वृष भी विश्व का आदियुग्म या मिथुन है। ऋ. १०।५।७, ३।३८।७, ५६।३, ४।३।१०...)। दीर्घतमा के सूक्त में वत्स का भी अनेक बार उल्लेख है। वृषभ, धेनु, वत्स = शिव, शक्ति, जीव।

वह पुरुष के भीतर ही है।[१] दशम ब्राह्मण में उत्क्रान्ति का सङ्क्षिप्त वर्णन है कि इहलोक से वायु में, वायु से आदित्य में, आदित्य से चन्द्रमा में और चन्द्रमा से अशोक-लोक में उत्क्रान्ति होती है।[२]

एकादश ब्राह्मण में बतलाया जाता है कि व्याधि, मृत्यु-अन्त्येष्टि सभी विद्वान् के पक्ष में तपस्या है।[३] द्वादश ब्राह्मण में अन्न और प्राण अन्योन्याश्रित रूप में ब्रह्म हैं।[४] त्रयोदश ब्राह्मण में प्राण ही त्रयी है, प्राण क्षत्र है।[५]

चतुर्दश ब्राह्मण में है - गायत्री-विद्या।[६] गायत्री के तीन पद क्रमशः त्रिलोक, त्रिविद्या एवं त्रिप्राण (प्राण, अपान और व्यान) हैं। उसका चतुर्थ पद आदित्य है, जो दर्शत[७] एवं परोरजाः अथवा लोकोत्तर है। यह तुरीय पद ही सत्य एवं प्रत्यक्षगम्य है। अध्यात्म-दृष्टि से वह प्राण हैं आचार्य अन्तेवासी को सावित्री-गायत्री का ही उपदेश देंगे, सावित्री अनुष्टुभ् का नहीं। यह गायत्री एकपदी, द्विपदी, त्रिपदी, चतुष्पदी[८], फिर अपात् अथवा पदशून्या है। अग्नि ही गायत्री का मुख है।[९]

---

१. द्र. वैश्वानर सूक्त की भूमिका ऋ. ३।२।
२. तु. छा. ४।१५।५, ५।१०।२।
३. छा. ४।१५।५, विद्वान् का दाह आदि हो या न हो, उसे परमलोक की प्राप्ति होती है।
४. कौ. 'एता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः, प्रज्ञामात्राः प्राणे अर्पिताः ३।९।
५. मूल में 'उक्थ' = ऋक्। त्रयी = ऋक्, यजुः, साम = ब्रह्म। ब्रह्म एवं क्षत्र का साहचर्य निविद् में है; तु. क. १।२।२५। अध्यात्म-दृष्टि में श्रद्धा एवं वीर्य (तपः)।
६. तु. छा. ३।१२।
७. अर्थात् सूक्ष्म अग्र्या बुद्धि के द्वारा इस हृदय में दृश्य।
८. तु. वाक् : ऋ. १।१६४।४१, ४५।
९. तु. ऋ. अग्नेर्गायत्र्यभवत् १०।१३०।४

पञ्चदश ब्राह्मण के चार मन्त्र ईशोपनिषद् के अन्तिम भाग में सङ्कलित हैं।[1]

षष्ठ अध्याय में पाँच ब्राह्मण हैं। प्रथम ब्राह्मण में है प्राणोपासना।[2] प्राण मुख्य है, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन एवं रेत: उसकी वृत्ति है।[3] यह जानकर प्राण की ही उपासना करना उचित है। द्वितीय ब्राह्मण में पञ्चाग्नि-विद्या है। यह प्रसङ्ग छान्दोग्य में भी है।[4] तृतीय ब्राह्मण में श्रीमन्थ-कर्म। सङ्क्षिप्त रूप में यह भी छान्दोग्य में है।[5] चतुर्थ ब्राह्मण में पुत्रमन्थ[6] अथवा दाम्पत्य-धर्मपालन और सुप्रजनन-विद्या है। दाम्पत्य-धर्म का पालन अविद्याच्छन्न होकर नहीं, बल्कि दिव्यभाव में आविष्ट होकर करना होगा।

पञ्चम ब्राह्मण में वंशाख्यान द्वारा षष्ठ अध्याय एवं उपनिषद् दोनों का समापन किया गया है।

स्पष्ट दिखाई देता है कि इन खिलकाण्डों में अनेक प्रकीर्ण विषयों का सङ्कलन किया गया है; प्रायश: या साधारणत: इनमें कोई भी नयी बात नहीं है।

प्रश्नोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, एवं माण्डूक्योपनिषद् - ये तीन अथर्ववेद की उपनिषदें हैं। जिनमें **प्रश्नोपनिषद्** अथर्ववेद की पैप्पलाद

१. ई० १५-१८। साधारणत: उत्क्रान्ति के मन्त्र के रूप में व्याख्या की जाती है; किन्तु जीवन्मुक्ति के पक्ष में भी व्याख्या हो सकती है। द्र. टीका ४७८।
२. तु. छा. ५।१।१-५; कौ. ३।३; प्र. २।३।
३. छान्दोग्य में रेत: का उल्लेख नहीं है। प्रजनन प्राण का धर्म है; तु. वा. स. ३१।१९ (अ. स. १०।८।१३; प्र. २।७)।
४. तु. छा. ५।३-१०। बृहदारण्यक में उद्धृत ऋक् (१०।८८।१५) छान्दोग्य में नहीं है। बृ. ६।२।१५ का 'मानस' पुरुष छान्दोग्य में 'अमानव' ४।१५।५, ५।१०।२। है।
५. छा. ५।२।४-८; कौ. २।३।
६. श्रीमन्थ और पुत्रमन्थ के अतिरिक्त ऊर्ध्वमन्थ अथवा श्रामण्य है। उसमें वित्तैषणा एवं पुत्रैषणा तथा लोकैषणा भी छोड़नी पड़ती है। तु. बृ. ३।५, ४।४।२२।

शाखा के अन्तर्गत है। इसके प्रवक्ता पिप्पलाद हैं।[1] उन्होंने छह ऋषियों के छह प्रश्नों की मीमांसा की है। यह उपनिषद् गद्य में रचित है। बीच-बीच में कुछ श्लोक भी हैं।

प्रथम प्रश्न है कि प्रजासृष्टि कहाँ से हुई? इसका स्रष्टा कौन है? पिप्पलाद ने बतलाया -'स्रष्टा प्रजापति है।[2] उसने पहले प्रजा-सृष्टि की इच्छा से तप[3] द्वारा एक मिथुन या युग्म प्राण एवं रयि की रचना की।[4] इनका अधिज्योतिषरूप आदित्य एवं चन्द्रमा है। आदित्य के रश्मिसमूह में प्राण निहित है। वही प्रत्येक दिशा में प्रकाशित होता है। आदित्य ही वैश्वानर विश्वरूप प्राणाग्नि[5] है, उसका उदयन प्राण का ही उदयन है।[6] इस प्राण के भीतर मूर्त होने का संवेग ही रयि है।[7] प्राण और रयि की मिथुनलीला ही सृष्टि के मूल में है।

सृष्टि की अभिव्यक्ति काल में होती है। काल का एक पूर्ण मान हमें संवत्सर में प्राप्त होता है। संवत्सर प्रजापति का ही रूप है। उसका उत्तरायण है प्राण और दक्षिणायन रयि है। एक में प्राण का उत्तरण है

१. नाम के मूल में है ऋ. 'तयोरन्य: स्वादुपिप्पलमत्ति' १।१६४।२०।
२. तु. ऋ. प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव १०।१२१।१०। सन्तानोत्पत्ति के मूल में भी वही है : ऋ. ८५।४३, १८४।१ जिसकी आदि संज्ञा 'त्वष्टा विश्वरूप' (ऋ. ३।५५।१९, १।१३।१०); 'विश्वकर्मा' (ऋ. १०।८१, ८२, 'पुरुष' (१०।९०), हिरण्यगर्भ (१०।१२१) - ये सब उसकी दार्शनिक संज्ञाएँ हैं।
३. तप (Radiation) के फलस्वरूप सृष्टि: तु. 'ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत' १०।१९०।१; तपसस्तन्महिनाजायतैकम् १२९।३।
४. प्राण के संवेग में 'रयि' (द्र. ऋ. ३।१।१९ टी.)।
५. अग्नि परमरूप में वैश्वानर। ऋ. १०।८८ में वैश्वानर और सूर्य की अभिन्नता का सङ्केत है। यहाँ अध्यात्म-दृष्टि में वही प्राण है।
६. तु. ऋ. मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्तत: सूर्यो जायते प्रातरुद्यन् १०।८८।६।
७. इसके कारण वह विश्वरूप हुआ : तु. ऋ. महत् तद् 'वृष्णो असुरस्य नामा' विश्व रूपो अमृतानि तस्थौ ३।३८।४।

और एक में अवतरण है। अतएव एक में अनावृत्ति एवं निरोध है और एक में आवर्तन एवं प्रजासृष्टि है। तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा एवं विद्या द्वारा एक की साधना - यही देवयान है[१]; इष्टापूर्त द्वारा दूसरे की साधना - यही पितृयाण अथवा 'पितृयान' है।[२]

संवत्सर के दो अयन सङ्क्षिप्त रूप में महीने के दो पक्ष में आ जाते हैं। शुक्लपक्ष प्राण है, और कृष्णपक्ष रयि है।

दो पक्ष सङ्क्षिप्त रूप में अहोरात्र होते हैं। अहः प्राण है और रात्रि रयि है। रयि में मूर्त्तत्व की भावना है, अतएव रेतःसंयोग द्वारा जो प्रजासृष्टि होती है, उसका प्रशस्तकाल रात्रि है। रेतः जो अन्न का विकार है, वह भी प्रजापति है। इसलिए रेतःसंयोग द्वारा जो मिथुन (पुत्र-पुत्री) का उत्पादन करते हैं, वे प्रजापति के ही व्रत का अनुसरण करते हैं। यहाँ का यह ब्रह्मलोक उनका ही होता है; क्योंकि वे तपस्या ब्रह्मचर्य एवं सत्य में प्रतिष्ठित होते हैं।[३]

और वह ब्रह्मलोक उनका ही होता है, जिनके मन में कौटिल्य, अनृत अथवा माया नहीं।[४]

---

१. मूल में है 'निरोध' अथवा अपुनरावृत्ति (तु. छा. ८।६।५, वहाँ 'विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम्')। यही देवयान है। उद्धृत यह मन्त्र ऋ. १।१६४।१२।

२. किन्तु ऋक्संहिता में हम पाते हैं : सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्। हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः १०।१४।८। यहाँ इष्टापूर्त की साधना को निकृष्ट नहीं बतलाया जा रहा है। वस्तुतः गति का भेद विद्या और अविद्या में होता है (तु. ऋ. १०।८५।३)। द्र. टीका २०३।

३. सुप्रजनन विद्या अथवा पुत्रमन्थ के लिए द्र. ६।४; ऋ. गर्भाधान मन्त्र १०।१८४; १८३। और भी तु. कौ. १।२। गार्हस्थ्य निन्दनीय नहीं। ब्रह्म यहाँ भी है। ब्रह्मचर्य की अर्थव्याप्ति लक्षणीय है।

४. इस ब्रह्मलोक से ही उस ब्रह्मलोक में जाना। दोनों में विरोध नहीं। 'माया' यहाँ दार्शनिक सञ्ज्ञा नहीं।

द्वितीय प्रश्न है कि ऐसे कौन-कौन देवता हैं, जो प्रजा को धारण किए हुए हैं? प्रजा के निकट इस जगत् को जो व्यक्त या प्रकाशित करते हैं, वे कौन-कौन देवता हैं? अन्ततः उनमें श्रेष्ठ कौन है? पिप्पलाद ने बतलाया कि आकाश ही वह देवता है।[१] पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों ने और वाक्, मन, चक्षु, श्रोत्र इन इन्द्रियों[२] ने दृग्-दृश्य भाव को व्यक्त करके कहा-हम ही इस बाण[३] को धारण किए हैं। प्राण ने कहा, नहीं, मैंने ही धारण किया है। उन सबने वह विश्वास करना नहीं चाहा। किन्तु देखा गया कि प्राण की उत्क्रान्ति के साथ ही उनकी उत्क्रान्ति होती है, और प्राण की प्रतिष्ठा में उनकी प्रतिष्ठा होती है। तब सबने प्राण की स्तुति करना आरम्भ किया।[४]

प्राण ही प्रजापति है। प्राण सर्वदेवमय है और प्राण में ही सब कुछ प्रतिष्ठित है। प्राण ही व्रात्य है, प्राण ही एकर्षि है, प्राण ही अन्नाद है, प्राण ही मातरिश्वा है। वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन में प्राण की ही तनु (सूक्ष्म-रूप) प्रतिष्ठित है। प्राण ही प्रज्ञा एवं श्री का विधाता है।[५]

तृतीय प्रश्न : प्राण की उत्पत्ति कहाँ से होती है? कैसे शरीर में आता है? उसके क्या-क्या विभाग हैं? इसकी उत्क्रान्ति किस प्रकार होती है? बाह्य एवं अध्यात्म-जगत् को वह कैसे धारण करता है?

---

१. आकाश एक ओर परमदेवता है और दूसरी ओर भूतादि। तु. छा. 'पुरुष आकाशात्मा' ३।१४।२; 'आकाशो ब्रह्म' ३।१८।१; 'आकाशः परायणम्' १।९।१. ..(तु. ऋ. अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः १।१६४।३९)।

२. सबके अधिपति के रूप में प्राण। ब्रह्म 'प्राण शरीर.....आकाशात्मा' छा. ३।१४।२।

३. वाण, शरीर। तु. अथर्वसंहिता. 'को बाणं को नृतो दधौ' १०।२।१७; उसके साथ तु. ऋ. 'धमन्तो बाणं' (वंशी १।८५।१०)। शीर्षण्य-प्राण के सात छिद्र। उससे ही क्या?

४. तु. अथर्वसंहिता. प्राणस्तुति ११।४।

५. आकाश द्वारा आरम्भ और प्राण द्वारा अन्त। आकाश और प्राण दोनों एक मिथुन अथवा युग्म हैं। तु. ब्र. सू. आकाशस्तल्लिङ्गात्, अतएव प्राणः १।१।२२-२३।

पिप्पलाद ने कहा – कह सकते हो कि आत्मा से ही प्राण की उत्पत्ति होती है। पुरुष में जिस प्रकार छाया, उसी प्रकार आत्मा में यह प्राण प्रसारित है।[१] मन के कर्म से वह इस शरीर में आता है।[२] प्राण स्वयं चक्षु और कर्ण में रहता है तथा पायु एवं उपस्थ में अपान रूप में रहता है, मध्यभाग में समान रूप में रहकर अन्न के समानयन (assimlation) द्वारा चेतना की अग्निशिखा को प्रज्ज्वलित करता है, हृदय से फैलकर हजारों नाड़ियों[३] के भीतर व्यानरूप में सञ्चरण करता है और एक ऊर्ध्वगामी नाड़ीमार्ग[४] से उदान रूप में उत्क्रान्ति का कारण बनता है।

यह प्राण ही बाहर में आदित्य, पृथिवी में अपान, अन्तरिक्ष में समान, वायुरूप में व्यान एवं तेजरूप में उदान है।[५]

मृत्युकाल में इन्द्रियाँ मन में मिल जाती है, और मन प्राण में मिल जाता है। प्राण तेजोमय होकर आत्मा के साथ जीव को सङ्कल्पित लोक में ले जाता है।[६]

चतुर्थ प्रश्न : इस पुरुष के भीतर कौन सोता है? कौन जागता रहता है? कौन स्वप्न देखता है? कौन सुख प्राप्त करता है? कौन सब कुछ की प्रतिष्ठा है? पिप्पलाद ने कहा-सोते समय समस्त इन्द्रियाँ[७] मनोरूपी परमदेवता[८] में एकाकार हो जाती हैं। तब देहपुर में केवल पाँच प्राण रूप में प्राणाग्नि जागता रहता है। उस समय अग्निमय शरीर में अपान

१. तु. कौ. स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः ३।९।
२. मूल में 'मनःकृतेन' आदिशङ्कराचार्य का पाठ। तु. बृ. मनः अकुरुत १।२।१ (= ऐक्षत)।
३. तु. बृ. २।१।१९ बहत्तर हजार नाड़ियों का उल्लेख वहाँ भी है।
४. छा. ८।६।६।
५. विराट्-पुरुष की कल्पना।
६. तु. छा. ६।८।६, १५।२।
७. यहाँ पञ्चज्ञानेन्द्रिय और पञ्चकर्मेन्द्रिय का उल्लेख प्रचलित-रीति के अनुसार है।
८. तु. ब्र. ४।४।२।

गार्हपत्य, प्राण आहवनीय, व्यान अन्वाहार्यपचन होता है। समान श्वास-प्रश्वास में समानयन करता है और उदान इस प्राणन-यज्ञ के यजमान मन को ब्रह्म में ले जाता है।[१] इस ब्रह्म में आकर मनोदेवता स्वप्नकाल में आत्ममहिमा का अनुभव करता है। यहाँ जिस प्रकार जाग्रत के ज्ञान का अनुवर्तन हो सकता है, उसी प्रकार फिर अज्ञात का भी यहाँ ही ज्ञान होता है। वह यहाँ सब होकर सब देखता है।[२] उसके बाद परमतेज से अभिभूत होकर मनोदेवता तब स्वप्न भी नहीं देखता। उस समय इस शरीर में महासुख की अभिव्यक्ति होती है।[३]

पञ्चभूत और उनके विकार[४] हैं, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, अन्तःकरण तेज, प्राण एवं उनके विषय सभी आत्मा में प्रतिष्ठित हैं। विज्ञानात्मा[५] अक्षर परमात्मा में प्रतिष्ठित है। यह अक्षर अच्छाय-छायारहित, अलोहित शुभ्र[६], अशरीर है। उसे जो प्राप्त कर लेता है, वह सर्वज्ञ, सर्वरूप होता है।

१. तु. छा. ८।३।२; बृ. ४।३।२१-२२; माण्डूक्योपनिषद् ५। अगले दो खण्डों में ब्रह्मलोक की चर्चा विस्तारपूर्वक है। उदान ऊर्ध्वस्रोता है, वही मनश्चेतना को लोकोत्तर में ले जाता है। नींद में मन जो स्वभावतः वृत्तिशून्यता की ओर प्रवृत्त होता है, उसे उदान की सहायता से ऊपर की ओर ठेल देना योग का एक रहस्य है (द्र. यो० सू० १।३८)।
२. योगनिद्रा द्वारा स्वप्न में महिमा का दर्शन होता है (तु. बृ. यत्र देव इव राजेव अहमेवेदं सर्वोऽस्मि इति मन्यते ४।३।२०)। सब होकर, सब देखना – तु. छा. सर्वं ह पश्यः पश्यति ७।२६।२; बृ. – अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः २।५।१९।
३. सुख = सम्प्रसाद, आनन्द। योगी की देह उस समय आनन्दघनविग्रह होती है (तु. बृ. तद् यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्य वेद किञ्चन....प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः; 'प्राज्ञ आत्मा' माण्डूक्य में 'सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन, आनन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः' ५)।
४. मूल में मात्रा = विकार; तु. 'भूतमात्रा' 'प्राणमात्रा' 'प्रज्ञामात्रा', कौ., 'मात्रास्पर्श' गीता – २।१४।
५. तु. 'ज्ञान आत्मनि' क. १।३।१३। तु. बृ. ४।३।७, ४।२२।
६. अर्थात् तमः और रजोगुणशून्य शुद्धसत्त्व।

पञ्चम प्रश्न : मृत्युकाल तक ओङ्कार के अभिध्यान या ध्यान-प्रार्थना से किस लोक पर विजय प्राप्त की जा सकती है? पिप्पलाद ने कहा - ओङ्कार की तीन मात्राएँ क्रमशः ऋक्, यजुः एवं साम की स्वरूप-शक्ति हैं।[१] ओङ्कार की एक मात्रा के अभिध्यान के फलस्वरूप जो संवित्-ज्ञान उत्पन्न होता है, वह व्यक्ति को जगती के साथ एक कर देता है। वह तब मनुष्यलोक में तप, ब्रह्मचर्य एवं श्रद्धा के फलस्वरूप महिमा का अनुभव करता है। दो मात्राओं से मन के साथ एक हो जाता है, और अन्तरिक्ष स्थित सोमलोक में विभूति का अनुभव करते हुए पुनः लौट आता है।[२] तीन मात्राओं से परमपुरुष के अभिध्यान में वह तेजःस्वरूप सूर्य के साथ एक होकर ब्रह्मलोक में उतर जाता है। यह ब्रह्मलोक अथवा आदित्यमण्डल जीवघन अर्थात् विश्व प्राण का घनीभूत रूप है, जो अनन्त जीव व्यक्ति में प्रकाशमान है।[३] उससे भी परं जो पुरिशय[४] पुरुष है, उसका दर्शन तब वह करता है।[५] ओङ्कार की तीनों मात्रा ही

१. तु. छा. त्रयी विद्या का सार व्याहृति, व्याहृति का सार ओङ्कार २।२३।२-३।
२. यह सोम आदित्य के नीचे है, उसकी पन्द्रह कलाओं का ह्रास-विकास है। वही मनश्चेतना का प्रतीक है (तु. ऋ. १०।९०।१३)।
३. जीवघन = प्राणघन (जिस प्रकार 'विज्ञानघन' श. ब्रा. १४।५।४।१२ = 'प्रज्ञानघन' बृ. ४।५।१३)। सूर्य = प्राण (प्र. १।८; तु. ऋ. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च १।११५।१; जीव असुर्न आगात् ११३।१६।)।
४. तु. बृ. 'पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्'। वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्यु पुरिशयः' २।५।१८ (तु. तै. ब्रा. हिरण्मयः शकुनिर्ब्रह्म नाम ३।१२।९।७; बृ. हिरण्मयः पुरुष एकहंसः ४।३।११,१२ ऋ. हंसः शुचिषद् वसुः ४।४०।५; तै. पुरुष की उपमा पक्षी के साथ २।१-६)। वह परात्पर होकर भी पुनः यहाँ अन्तर्यामी रूप में है।
५. यह दर्शन चतुर्थ मात्रा के अभिध्यान का फल है। माण्डूक्य में उसका अनुभव 'प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवम् अद्वैतम्। किन्तु वह उनका ही कल्याणतम रूप है, जो हिरण्मयपात्र का आवरण हटाकर दिखाई देता है। (ई. १५, १६); हिरण्मयपुरुष के रूप में वह आलोक और अन्धकार दोनों ही है (छा. १।६।६)। संहिता में वही मित्रावरुणरूपी देवताद्वन्द्व है।

विनाशक हैं; किन्तु परस्पर सम्बन्धित समाहरण (Integration) से बाह्य, आभ्यन्तर एवं मध्यम[१] -क्रिया में सम्यक् प्रयुक्त होने पर वे विज्ञानी को अटल करती हैं, वह कभी विचलित नहीं होता।

षष्ठ प्रश्न : षोडशकल पुरुष[२] कहाँ है? पिप्पलाद ने कहा - वह इस शरीर में ही प्राण का आश्रय लेकर है। प्राण, श्रद्धा आकाशादि पञ्च महाभूत, इन्द्रिय, मन एवं अन्न; फिर वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक एवं नाम - ये उसकी सोलह कलाएँ हैं।[३] ये समस्त कलाएँ जब उसमें अस्तमित या विलीन हो जाती हैं, तब वह अकल-कलारहित होता है। उस समय फिर उसके अन्तर्गत नाम-रूप नहीं रहता।[४] उसे प्राप्त कर लेने पर ही मनुष्य अमृत होता है।

१. बाह्यक्रिया जाग्रत में, मध्यमक्रिया स्वप्न में और आभ्यन्तरक्रिया सुषुप्ति में (तु. माण्डूक्य ९-१२)। मन, विज्ञान एवं आनन्द क्रमशः प्रयोजक या अनुष्ठाता।
२. तु. छा. ६।७।१; बृ. १।५।१४; मुण्डक. ३।२।७। अन्यत्र भी नाना प्रकार से सोलह कलाओं का उल्लेख किया गया है। लक्षणीय है - सोमयाग में सोलह ऋत्विक्, ऋक्संहिता के पुरुषसूक्त में सोलह ऋक् और दोनों मीमांसाओं में सोलह अध्याय इत्यादि।
३. प्राण से अन्न तक दश कलाओं में विसृष्टि होती है। प्राण पञ्चभूत के भीतर से होकर अन्न अथवा जड़-मूर्ति तक उतर आया (उसमें हम आठ कला अथवा अवरार्ध पाते हैं) उसमें इन्द्रिय एवं मन का उन्मेष हुआ। उसके ही द्वारा प्राकृत मनुष्य तक सृष्टि हुई। किन्तु उसके जन्म के मूल में श्रद्धा अथवा चिदावेश रहा है (द्र. छा. ५।४।२, बृ. ६।२।९)। उसके बाद यथासमय अतिसृष्टि का काम शुरू हुआ। श्रद्धा अङ्कुरित - विकसित हुई - वीर्य, तपस्या, मनन एवं साधना अथवा कर्म से। फलस्वरूप लोकद्वार अपावृत (उद्घाटित) हुआ, संहिता की भाषा में 'अनिबाध उरुलोक' की प्राप्ति हुई। अन्त में नाम अथवा ऋतम्भरा वाक् का उद्भव हुआ; संहिता में जिसका नाम है 'अपीच्य' (गुह्य ऋ. १।८४।१५), 'गुह्य' (९।८७।३), किन्तु 'चारु' (१।२४।१, २)। नाम ब्रह्म की ही ठोस अभिव्यक्ति है।
४. तु. छा. ६।९।१०.....।

यहाँ ही यह उपनिषद् समाप्त होती है। जीव-जन्म, प्राणतत्त्व, सुप्ति-विज्ञान, ओङ्कारोपासना एवं षोडशकल-पुरुष-विद्या, यही सब उसके प्रतिपाद्य हैं।

मुण्डकोपनिषद् : तीन मुण्डकों में सङ्कलित है। प्रत्येक मुण्डक में दो खण्ड हैं। इसके प्रवक्ता अङ्गिरस और श्रोता शौनक हैं। उपक्रम एवं उपसंहार के सामान्य-अंश के अतिरिक्त यह आरम्भ से अन्त तक पद्य में रचित है।[१]

शौनक का प्रश्न था कि किसको जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है? अङ्गिरा ने कहा - विद्या दो प्रकार की होती है, एक का नाम परा है और एक का नाम अपरा है। वेद-वेदाङ्ग अपरा विद्या है। जिस विद्या द्वारा अक्षर-अविनाशी परब्रह्म प्राप्त किया जाए, वही परा है। अक्षर, अतीन्द्रिय, अवर्ण, किन्तु सर्वगत एवं भूतयोनि अथवा समस्त प्राणियों का परम कारण है। अक्षर से ही विश्व की उत्पत्ति होती है - जैसे मकड़ी से मकड़जाल, पृथिवी से ओषधि, पुरुष से केश-लोम।[२] अक्षर-ब्रह्म के ज्ञानमय तपःशक्ति की वृद्धि से अन्न उत्पन्न होता है, उससे प्राण, मन, सत्य, लोक, कर्म की उत्पत्ति होती है और कर्म के फल से अमृत[३] प्राप्त होता है। यह नाम-रूप भी ब्रह्म है।

---

१. उपनिषत्-तालिका में मुक्तिकोपनिषद् का नाम 'मुण्ड' है। मुण्डितमस्तक संन्यासी की भी सञ्ज्ञा मुण्ड है। संन्यास योग का स्पष्ट उल्लेख है (३।२।६), कर्म के प्रति विमुखता का परिचय भी प्राप्त होता है (१।२।७-१०; तु. अ. स. व्रात्य काण्ड १५)।

२. शौनक का प्रश्न : तु. छा. ६।१।३-६; अक्षर से विश्व की सम्भूति (मु. १।१।७); तु. असत् से सत् की उत्पत्ति (ऋ. १०।७२।२, ३ ; १०।१२९); फिर सत्-असत् दोनों ही परमव्योम में (१०।५।७)।

३. 'तपसा' द्र. टीका ७२२। अन्न से प्राण मनः तु. तै. २।१-३। यह प्राकृत-चेतना की सीमा है (तु. टीका ७५७)। उसके पश्चात् सत्य के अवलम्बन से कर्म एवं उसके फलस्वरूप अमृतत्व की प्राप्ति (तु. ऋ. ८।४८।३)। एवं ऊर्ध्वलोक में गति (तु. छा. २।२४)। सत्य की प्रशंसा, मुण्डक. ३।१।५-६ (तु. ऋ. १०।८५।१)।

अक्षर-ब्रह्म का परिचय देकर अङ्गिरा बतलाते हैं कि त्रयी में जो उपदेश है, वह भी सत्य है और उसका भी यथायथ रूप में सम्पादन करना उचित है। ऐसा करने पर अग्नि की सप्तजिह्वा[१] में प्रदत्त आहुतियाँ सूर्यरश्मि होकर यजमान को ब्रह्मलोक में ले जाती हैं, जहाँ देवताओं का वह स्वामी है।[२] अठारह लोगों[३] द्वारा मिलकर जो कर्म किया जाये, वह यदि अवर[४] अथवा नीची श्रेणी का होता है, तो फिर उसके अनुष्ठान से जरा-मृत्यु के हाथ से कोई बच नहीं सकता। इसे ही जो श्रेय मानते हैं, वे अविद्याग्रस्त हैं, मोहासक्ति के कारण वे परमतत्त्व को नहीं जान सकते। इसलिए इष्टापूर्त के बाहर कुछ भी श्रेय नहीं रह सकता, जो यह

---

१. तु. ऋ. सप्तरश्मिमग्निम् १।१४६।१; [illegible]: सप्तजिह्वा: ३।६।२। ये सात जिह्वाएँ पूर्व श्लोकोक्त सात लोकों से युक्त हैं। प्रथम दो लोकों में अन्न एवं प्राण की प्रधानता के कारण चेतना आच्छन्न रहती है। उसके बाद मन जाग्रत होता है। चतुर्थ भूमि पर आलोक दिखाई देता है। लाल प्रकाश क्रमशः शुभ्र होकर सब कुछ को उद्भासित कर देता है (तु. बृ. २।३।६। काले, लाल, सफ़ेद में भोर के उजाले के फूटने की ओर गुणों के ऊर्ध्वपरिणाम की भी छवि है।

२. 'देवानां पतिरेक:' = आदित्य। संहिता में 'मित्र'; किन्तु उसके भी परे वरुण है। इसलिये बतलाया जा रहा है कि कर्म के सत्याश्रित होने पर भी फलस्वरूप जो लोक प्राप्त होता है, वह परमलोक नहीं। सूर्यद्वार को भेद करके जाना होगा। (मु. १।२।११)।

३. 'अष्टादशोक्तम्' अष्टादशभ्य उक्तं विहितं। सोमयाग में सोलह ऋत्विक् तथा यजमान एवं उसकी पत्नी - इन्हें लेकर अठारह। कर्मों में सोमयाग ही श्रेष्ठ है। Limaye & Vadekar अनुमान करते हैं : मु. १।१।५ : Four Vedas × 3 (संहिता + ब्राह्मण + सूत्र) = 12 + Six Vedangas = 18 ? किन्तु कल्प के अन्तर्गत ही सूत्र है, और ब्राह्मण के अन्तर्गत जो उपनिषत् हैं, वह तो विशेष रूप से कर्मपरक नहीं।

४. 'अवरं' ज्ञानवर्जितम् (शङ्कर) ; तु. गी. दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगात् २।४९; ऋ. १०।८५।३। तो फिर कर्म के साथ विद्या का विरोध नहीं होता, द्रव्ययज्ञ को ज्ञानयज्ञ में रूपान्तरित किया जा सकता है, जिसका उल्लेख ब्राह्मण में भी है।

मानते हैं, वे कर्म-फल के कारण 'नाक' में जाकर भी पुनः यहाँ ही लौट आते हैं।[१]

किन्तु अरण्य में जो श्रद्धा एवं तप का अनुष्ठान करते हैं, वे भिक्षु सूर्यद्वार के भीतर से होकर उस अव्ययात्मा अमृतपुरुष के निकट चले जाते हैं।[२]

अतएव तत्त्वज्ञान के लिए निर्विण्ण अथवा निर्वेदयुक्त पुरुष का समित्पाणि होकर ब्रह्मनिष्ठ गुरु के निकट जाना उचित है एवं उपयुक्त जिज्ञासु को ब्रह्मविद्या का उपदेश देना गुरु के लिए भी उचित है।

यहाँ प्रथम मुण्डक समाप्त होता है। द्वितीय मुण्डक में अङ्गिरा बतलाते हैं कि एक और सत्य है, उसे सुनो।[३] जिस प्रकार आग से उसकी हज़ारों चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार अक्षर से अनेक प्रकार के भावों-पदार्थों की उत्पत्ति होती है, और फिर उसीमें वे विलीन हो जाते हैं। जो कुछ है, उसके बाहर-भीतर एक शुभ्र, अमूर्त, दिव्यपुरुष है, जो प्राणरहित और मनरहित है, जो सर्वातीत है, अक्षर से भी परे है।[४] उससे ही भूत, प्राण, इन्द्रिय, मन इत्यादि की उत्पत्ति होती है। वही विश्वरूप[५] है। सर्वभूत, सर्वदेवता और सर्वयज्ञ उसी में ही निहित हैं। जो

---

१. यहाँ से कर्म और ज्ञान में विरोध की सूचना। किन्तु संहिता में 'नाक' सर्वोत्तम लोक (द्र. ऋ. ३।२।१२ टी.)। तु. ऋ. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्, ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः १०।९०।१६। वे साध्य-गण देवोत्तम (द्र. छा. ३।१०।१)।

२. तु. छा. ५।१०।१-२; तृतीय धर्मस्कन्ध २।२३।१; बृ. ६।२।१५। यहाँ भैक्ष्यचर्या के साथ विशेष सम्बन्ध लक्षणीय (तु. बृ. ३।५।१, ४।४।२२)।

३. कर्म के सत्य के पश्चात् ज्ञान का सत्य।

४. अक्षरात् परतः तु. साङ्ख्य का अव्यक्त। कठोपनिषद् का अव्यक्त, किन्तु महान् आत्मा के पश्चात् अव्यक्त आत्मा (२।३।७-८, १।३।१०-११) = याज्ञवल्क्य का 'अक्षर' (बृ. ४।४।२२)।

५. तु. छा. ५।१८।२; परवर्ती अंश के साथ तु. ऋ. १०।९०।

सात लोकों में सप्तगुणित सात प्राण हृदयरूपी गुफा में शयन करने वाले विचरण करते हैं, वे भी उसीसे ही उत्पन्न होते हैं। वह पुरुष ही सब कुछ हुआ है।[१] कर्म भी वही है, तप भी वही है।[२] वह प्रत्येक जीव में गुहाहित है। उसे जान लेने से ही अविद्या-ग्रन्थि खुल जाती है।

वह आविः स्वरूप है।[३] वह गुहाचर है, इसलिए वह अत्यन्त निकट है।[४] फिर वह परमपद है। वह अणु से भी अणु है, किन्तु सर्वलोक उसमें ही निहित है। यह सत्य वही है, वह अमृत है, उसे ही विद्ध करना होगा।[५] इसलिए उपनिषत् को धनुष करना होगा एवं उपासनानिशित तद्गत चित्त को शर करना होगा।[६] अथवा प्रणव धनुष और आत्मा शर होगा। शर जैसी तन्मयता के साथ अप्रमत्त आत्मा द्वारा ब्रह्मरूप लक्ष्य को विद्ध करना होगा।

इस दिव्य ब्रह्मपुर के अन्तर्गत इस हृदय में जो आकाश है[७], जहाँ रथनाभि में चक्रशलाका की तरह नाड़ियाँ आकर संहत हुई हैं।[८] वहाँ वह अन्न में प्रतिष्ठित होकर मनोमय प्राण-शरीर के नेता रूप में स्थित है। ओङ्कार रूप में उसका ध्यान करना होगा, उसके आनन्द रूप एवं उसकी अमृतविभा को देखना होगा। उसे देखने पर हृदयग्रन्थि खुलती है, सारे संशय दूर हो जाते हैं और सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं। वह एक साथ परावर है।[९] अर्थात् कार्य-कारण स्वरूप परात्पर पुरुषोत्तम है।

---

१. तु. ऋ. १०।९०।२।

२. जिसके कारण दोनों ही सत्य। तु. इष्टापूर्त एवं श्रद्धा तपः।

३. तु. अ. स. आविः सन्निहितं गुहा जरन्नाम महत् पदम् १०।८।६; के. तस्यैष आदेशः, यदेतद् विद्युतो व्यद्युतद् आ ४।४।

४. तु. अ. स. अन्ति सन्तं न जहाति, अन्ति सन्तं न पश्यति १०।८।३२।

५. मूल में 'वेद्धव्यम्' : तु. ऋ. कस्मै देवाय हविषा विधेम १०।१२१।१

६. मूल में 'सन्धयीत' = सन्दधीत।

७. तु. छा. ८।१।१

८. तु. बृ. २।१।१९, ४।२।३, ३।२०; कौ. ४।१९

९. समाहार में एकवचन लक्षणीय।

हिरण्मय परकोश[१] में वह विरज निष्कल ब्रह्म है। वहाँ वह ज्योति की ज्योति है, अग्नि, विद्युत्, सूर्य, चन्द्र, तारा किसी की ज्योति वहाँ नहीं पहुँचती, इनके भीतर उसकी ही अनुभा है।[२]

वहाँ से वापस आकर देखते हैं कि वह आगे-पीछे, उत्तर-दक्षिण ऊपर-नीचे सर्वत्र व्याप्त है। वही यह विश्व है।[३]

द्वितीय मुण्डक यहाँ समाप्त होता है। तृतीय मुण्डक में अङ्गिरा कह रहे हैं कि एक ही वृक्ष पर दो पक्षी रहते हैं, एक स्वादु पिप्पल खाता है और एक बिना खाए केवल देखता रहता है।[४] ईशना अथवा अकुण्ठ-सामर्थ्य के अभाव में पुरुष आसक्त होकर शोक करता है, किन्तु दूसरे एक की[५] महिमा को देखने पर ही वह वीतशोक होता है और निरञ्जन होकर परम साम्य प्राप्त करता है। उस प्राणस्वरूप को[६] जो जानते हैं, वे ही ब्रह्मविदों में वरिष्ठ हैं, वे आत्मरत, आत्मक्रीड़ एवं क्रियावान् हैं।[७]

इस आत्मस्वरूप को सत्य, तपस्या, ब्रह्मचर्य एवं सम्यक् ज्ञान के द्वारा प्राप्त किया जाता है। सत्य की ही विजय होती है। देवयान का मार्ग सत्य से परिपूर्ण है, आवृत है।[८]

---

१. तु. ईशोपनिषद् १५ = बृ. ५।१५।
२. तु. कठोपनिषद् २।२।१५; श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।१४।
३. तु. छा. ७।२५।१,२।
४. तु. ऋ. १।१६४।२०; द्र. टी. ४५०।
५. तु. ऋ. अन्यदन्तरम् १०।८२।७।
६. उपनिषद् में प्रायः सर्वत्र प्राणवाद का प्राधान्य लक्षणीय। तु. शिवसूत्रविमर्शिनी में क्षेमराज का मन्तव्य : 'शरीर-प्राण-बुद्धि-शून्यानि लौकिक चार्वाक वैदिक योगाचार माध्यमिकाभ्युपगतानि....' (सू. १)।
७. जिस प्रकार श्रीकृष्ण आत्माराम होकर रासचक्र में आत्मक्रीड़ और कुरुक्षेत्र में क्रियावान्।
८. 'देवयान्' जिस मार्ग से देवता उतरते हैं, ऋषि भी उसी मार्ग से ऊपर उठ जाते हैं (द्र. टीका २०३)।

वह बृहत् है, वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतर है, दूर भी है, पास भी है। वह अन्य किसी माध्यम से नहीं, बल्कि केवल ध्यान में ही दिखाई देता है। चित्त विशुद्ध होने से ही आत्मा प्रकाशित होता है।[१] और उसे प्राप्त कर लेने पर ही सब प्राप्त होता है।[२]

पुन: यह भी सत्य है कि कामना से ही जन्म होता है; अतएव उसे प्राप्त करके जो आप्तकाम, पूर्णकाम हो चुके हैं उनकी और कोई कामना नहीं शेष रहती।

बलहीन इस आत्मा को नहीं प्राप्त कर सकता, प्रमाद अथवा अलिङ्ग तप द्वारा भी उसे नहीं प्राप्त किया जा सकता।[३] प्रशान्त और वीतराग होकर जो उसे प्राप्त करते हैं, वे सब प्रकार से उसे प्राप्त करके सबके भीतर आविष्ट होते हैं।[४]

जो विज्ञानी हैं, जो संन्यास-योग के फलस्वरूप शुद्धसत्त्व यति हैं[५], वे अन्तकाल में ब्रह्म के भूमि समूह में फैल जाते हैं।[६] उनकी मनश्चेतना

---

१. तु. छा. ७।२६।२।
२. तु. छा. ८।१।६, ७।१।
३. 'लिङ्ग' निश्चायक, 'अलिङ्ग' उसके विपरीत। तामस तप अलिङ्ग तपः तु. गी. 'मूढग्राहेणात्मनो यत् पीड़या क्रियते तपः परस्योत्सादनार्थं वा तत् तामसमुदाहृतम्' १७।१९। यहाँ प्रमाद अथवा अलिङ्गतप दोनों ही आत्मप्राप्ति के विरोधी बतलाए गए हैं। धर्मचक्र प्रवर्तन के समय बुद्ध का उपदेश : कामवासना एवं आत्मपीड़न - इस दो अन्त का ही परिहार करना होगा और मध्यम प्रतिपद का सहारा लेना होगा (महावग्गो १।१।६)।
४. संहिता में 'सर्वताति' - सब के साथ एक हो जाना।
५. 'संन्यास' का प्रथम उल्लेख। किन्तु भिक्षाचर्य का प्रसङ्ग बृहदारण्यक में है। यति का अनुकूल उल्लेख ऋ. ८।३।९; प्रतिकूल उल्लेख तै. सं. ६।२।७।५, ता. ब्रा. ८।१।४; कौ. ३।१ (द्र. टीका ४८)।
६. 'ब्रह्मलोकेषु' तु. क. 'सर्गेषु लोकेषु' २।३।४-५; बृ. ४।४।४। यही देवयान में शुक्ल गति है, संहिता में देव-पितृगण की स्रुती' ऋ. १०।८८।१५।

की पन्द्रह कलाएँ प्रतिष्ठा में मिल जाती हैं[१], देवतागण प्रतिदेवताओं में[२] मिल जाते हैं। उनका कर्म एवं विज्ञानमय आत्मा परम अव्यय में एक हो जाता है।[३]

इस प्रकार विद्वान् परात्पर दिव्यपुरुष को प्राप्त करते हैं।[४]

इस परमब्रह्म को जो जानते हैं, वे ब्रह्म ही होते हैं।[५] उनके कुल में कोई अब्रह्मवित् नहीं होता।

यह ब्रह्म-विद्या उनको ही प्रदान करोगे, जो क्रियावान् श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, श्रद्धा से अपने आप ही एकर्षि में आहुति देते हैं एवं जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रत का आचरण किया है।[६]

तत्पश्चात् बारह मन्त्रों में **माण्डूक्योपनिषत्** है। प्रवक्ता का नाम नहीं। चरणव्यूह के अनुसार ऋग्वेद के एक शाखा-प्रवर्तक माण्डूकायन हैं। ऋग्वेद के आरण्यकों में भी माण्डूकेयों का उल्लेख हैं।[७] उपनिषद् का प्रतिपाद्य चतुर्मात्र ओङ्कार है।

इस प्रसङ्ग में ये कई समीकरण प्राप्त होते हैं : ओङ्कार ही सब कुछ है, यह आत्मा ही ब्रह्म है, ओङ्कार आत्मा है।[८]

आत्मा चतुष्पात् है - जाग्रत में बहिःप्रज्ञ एवं स्थूलभुक् वैश्वानर है, स्वप्न में अन्तःप्रज्ञ एवं प्रविविक्तभुक् तैजस है, सुषुप्ति में प्रज्ञानघन एवं

१. ध्रुवा कला ही उनकी प्रतिष्ठा है (बृ. १।५।१४)।
२. तु. ब्र. अग्निं वागप्येति...३।२।१३; ऋ. १०।१६।३।
३. तु. छा. ६।१५।२; बृ. ४।४।२।
४. 'परात् परं पुरुषम्' तु. मु. २।१।२
५. वैदिक सायुज्य ; दो पक्षी 'सयुजौ' ऋ. १।१६४।२०; वह पुरुष और यह पुरुष एक ई. १६, तै. २।८....।
६. एकर्षि द्र. टीका ४७४। 'शिरोव्रतम्' शिरसि अग्निधारण लक्षणम् (शङ्कर); तु. ऋ. त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ६।१६।१३।
७. द्र. ऐ. आ. ३।१।१; शा. आ. ७।२, ११, १२, १३...।
८. इन तीनों समीकरण के लिए क्रमशः द्र. छा. २।२३।३, ३।१४।१, बृ. २।५।१९।

आनन्दभुक् प्राज्ञ है; तुरीय में अव्यवहार्य, अव्यपदेश्य - 'प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवम् अद्वैतम्' है।[१]

जिस प्रकार आत्मा चतुष्पात् है, उसी प्रकार ओङ्कार भी चतुर्मात्र है। अ, उ, म ये तीन मात्राएँ[२] आत्मा के तीन पाद के अनुरूप हैं। चतुर्थ मात्रा उसी प्रकार अव्यवहार्य प्रपञ्चोपशम, शिव एवं अद्वैत है।[३]

यहाँ ही यह उपनिषद् समाप्त।

इसके साथ प्राचीन बारह उपनिषदों का परिचय भी समाप्त हुआ। इनके अतिरिक्त यजुर्वेद के ब्राह्मण-भाग से जुड़ी **नारायण** अथवा याज्ञिकी, ये दोनों उपनिषद् ही अर्वाचीन हैं, किन्तु वैदिक-धारा के साथ युक्त हैं। सङ्क्षेप में उनका परिचय दिया जा रहा है।

तैत्तिरीय-आरण्यक का दशम प्रपाठक एक खिलग्रन्थ है। यह तैत्तिरीयोपनिषद् का परिशेष है। यही नारायण अथवा याज्ञिकी उपनिषद् के नाम से प्रचलित है। द्राविड़ में उसकी अनुवाक सङ्ख्या ६४, कर्नाटक में ७४ और अन्यत्र ८० है। सायण ने द्राविड़-ग्रन्थ का भाष्य किया है। उनके भाष्य के अनुरूप ८० अनुवाकों का भाष्य भी पाया जाता है।

प्रथम अनुवाक विस्तृत है। उसमें प्रसिद्ध सावित्री-गायत्री के समान बारह गायत्री-मन्त्र हैं। जिनके देवता क्रमशः रुद्र, रुद्र, गणपति (दन्ति), नन्दि, कार्तिक (षण्मुख), गरुड़, ब्रह्म, विष्णु, नरसिंह, आदित्य, अग्नि,

१. तु. छा. ८।७-१२; बृ. ४।३।९...। यहाँ प्राकृत-चैतन्य की भूमि का प्रसङ्ग नहीं, बल्कि आत्मचैतन्य का प्रसङ्ग है। इन भूमियों को योग के आलम्बन के रूप में ग्रहण करना औपनिषद-भावना की एक विशिष्ट कीर्ति है। 'प्राविविक्तभुक्' द्र. बृ. ४।२।३; 'एकोनविंशतिमुखः' तु. प्र. ४।८।
२. ऐ. ब्रा. 'अकार उकारो मकार इति तानेकधा समभरत्, तदेतदोमिति ५।३२।
३. तु. गायत्री विज्ञान बृ. ५।१४।३-७।

एवं दुर्गा (दुर्गि) हैं। ध्यातव्य है कि यहाँ तन्त्रोक्त सभी पञ्च देवताओं का उल्लेख है। द्वितीय अनुवाक में एक दुर्गामन्त्र भी है।[१] त्रयोदश अनुवाक में हृत्पद्म में नारायणोपासना का कुछ विस्तृत विवरण है। इस अनुवाक से ही उपनिषद् का नामकरण हुआ है, यद्यपि विषय-वस्तु की दृष्टि से याज्ञिकी नाम ही उपयुक्त है। सत्रहवें से इक्कीसवें तक पाँच अनुवाकों में पञ्चवक्त्र शिव[२] के पाँच मन्त्र हैं। अगले अनुवाक में उन्हें 'अम्बिकापति, उमापति, और पशुपति कहा गया है। चौंतीस से छत्तीस अनुवाक तक गायत्री-उपासना का प्रसङ्ग है। बासठवें अनुवाक में है : 'मन्युरकार्षीन्मन्युः करोति नाहं करोमि' इत्यादि। वैदिक-धर्मबोध के स्वरूप-निर्णय में यह मन्त्र सहायता करता है। मैं पुरुष हूँ, और मन्यु प्रकृति है, मैं मन्यु का अनुमन्ता होकर भी उससे पृथक् हूँ, अतएव स्वरूपतः मैं अपापविद्ध हूँ - यह साङ्ख्य-भावना इस मन्त्र में स्पष्टतया प्रतिबिम्बित हुई है। ऋक्संहिता में भी हमें ऐसी भावना मिलती है।[३] सतहत्तर से अस्सी अनुवाक तक संन्यास-प्रशस्ति है। संन्यास को 'न्यास' कहा गया है। सत्य, तप, दम, शम, दान, धर्म, प्रजनन, अग्नि की उपासना, अग्निहोत्र, यज्ञ, मानस-उपासना, सभी ज्ञान के उत्कृष्ट साधन हैं, किन्तु संन्यास

---

१. दुर्गा गायत्री इस प्रकार है - 'कात्यायनाय विद्महे कन्याकुमारि धीमहि, तन्नो दुर्गिः प्रचोदयात्। दुर्गा-मन्त्र इस प्रकार है - तामग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीं वैरोचनीं कर्म फलेषु जुष्टाम्, दुर्गां देवीं शरणमहं प्रपद्ये। उसके पहले एक एवं बाद में दो आग्नेयी ऋक् हैं। उसमें अग्नि को 'दुर्गहा' कहा गया है एवं प्रार्थना की गई है कि वे हमें 'दुर्गाणि' अथवा 'दुरितानि' के उस पार ले जाएँ। 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथः' कठोपनिषद् में भी पाते हैं (१।३।१४)। देवी के दुर्गा नाम एवं अग्नि के साथ उनके सम्बन्ध का सङ्केत यहाँ प्राप्त होता है। वे पर्वतवासिनी होने के कारण ही क्या दुरारोहा दुर्लभा, अतएव दुर्गा हैं? ऋग्वेद में विष्णु को 'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः (१।१५४।३)। कहा गया है दुर्गा भी पर्वतवासिनी सिंहवाहिनी हैं। भावना का सादृश्य लक्षणीय।

२. सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष एवं ईशान।

३. तु. ऋ. ७।८६।६ (लक्षणीय 'अचित्ति' एवं 'स्वप्न')।

सभी को पीछे छोड़ गया। संन्यासी यज्ञ न करके भी यज्ञमय होता है - उसका आत्मा यजमान है, श्रद्धा पत्नी और मरण अवभृथ है।

सात प्रपाठकों में **मैत्रायणी** उपनिषत् अथवा आरण्यक है। यह कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी-संहिता का परिशिष्ट है। राजा बृहद्रथ एवं मुनि शाकायन्य के संवाद के रूप में ब्रह्मविद्या इस उपनिषद् की विषय-वस्तु है। बृहदारण्यक, छान्दोग्य, कठ, प्रश्न, श्वेताश्वतर से अनेक उद्धरण लिए गए हैं। भाषा में अर्वाचीनता की छाप सुस्पष्ट है। षष्ठ प्रपाठक में सावित्री-गायत्री की व्याख्या की गई है।

औपनिषद-भावना की प्राचीन-धारा का अन्त हम यहाँ ही मान ले सकते हैं।[१] नई धारा में इस भावना की अनुवृत्ति इतिहासपुराण की परिधि में होती रही है, यह हम पहले ही बतला चुके हैं।

---

१. सम्प्रति आविष्कृत 'जैमिनीयोपनिषत्' सामवेद के अन्तर्गत एक प्राचीन ग्रन्थ है। केनोपनिषत् उसके अन्तर्गत है। समग्र जैमिनीयोपनिषत् की विस्तृत आलोचना अपेक्षित है।

वेदाङ्ग

[१]

श्रुति, स्मृति एवं न्याय-वैदिक-भावना के ये तीन प्रस्थान हैं। जो वेद-विद्या मन्त्रब्राह्मणात्मक है, उसकी संज्ञा श्रुति है। श्रुति की सीमा उपनिषत् तक विस्तृत है।

वेदपन्थियों का कथन है कि श्रुति अपौरुषेय है। दिव्यवाक् ही श्रुति है, किन्तु वाक् तो सबकी पकड़ में नहीं आती। वह जिसे चाहती है, उसे ही वह सुमेधा ऋषि बना देती है। उसके ही निकट अपनी देह को निरावृत करती है, अतएव उसकी श्रुति अलौकिक एवं अतीन्द्रिय है।[१]

श्रुति का साधन बोधि है। बोधि आवेश का परिणाम है।[२] आवेश स्थायी नहीं होता, बल्कि बिजली की तरह कौंधकर लुप्त हो जाता है।[३] किन्तु चित्त में उसकी स्मृति रहती है। यह स्मार्तज्ञान पौरुषेय है। वह लोक-व्यवहार का प्रवर्तक है।[४] प्रामाण्य की दृष्टि से श्रुति अथवा अपरोक्ष ज्ञान की अपेक्षा नगण्य होने पर भी वह इस समय तर्कातीत है।[५] बोधि ही अभी मन का शास्ता है।[६]

---

१. तु. ऋ. देवीं वाचमजनयन्त देवाः ८।१००।११, वदन्ती अविचेतनानि (जो कहती है, वह रहस्यमय होने कारण समझ में आता नहीं, तु. १।१६४।४५)। १०; १०।७१।४; १२५।५।

२. तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टां १०।७१।३।

३. तु. के. ४।४; ऋ. सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद् भवन्ती प्रति वव्रिमौहत १।१६४।२९।

४. तु. तै. १।११।३-४ (ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः)।

५. √स्मृ (< √मृ 'झिलमिलाना' तु. 'मर्य' 'मरुत') 'झिलमिला उठना'; तु. ऋ. प्रति स्मरेथां तुजयद्भिरेवैः ७।१०४।७।

६. तु. बोधिन्मनस् (अश्विद्वय ५।७५।५, इन्द्र ८।९३।१८) चिकित्वमनस् (अग्नि ५।२२।३)।

उसके भी एक धाप नीचे मन की क्रिया है। मन में विचिकित्सा या सन्देह है। उसके आधार पर भावना में तर्कबुद्धि अथवा न्याय उदित होता है। जिसे वैदिकों ने 'ओह' अथवा 'मीमांसा' का नाम दिया था। इतने समय तक तत्त्व-समीक्षा में खण्डन-मण्डन का प्रयास नहीं था, वह इस बार दिखाई पड़ा।

यदि वेद अपौरुषेय श्रुति है, तो पौरुषेय स्मृति, और न्याय-प्रस्थान का सब कुछ ही वेदाङ्ग है, यह मानना असमीचीन नहीं। तब भी अति प्राचीनकाल से शिक्षा प्रभृति छह विद्याओं की ही गणना वेदाङ्ग के रूप में होती आई है। वेदविद्या के अनुशीलन से ही वेदाङ्ग की उत्पत्ति हुई, अतएव उसका मूल वेदों के ब्राह्मणों में है। उसके अतिरिक्त ब्राह्मण-ग्रन्थों की सुमित अथवा सङ्क्षिप्त-संयत गद्यवाचनभङ्गिमा ही वेदाङ्ग सूत्रों की रचना-शैली की प्रवर्तक है - यह आसानी से ही समझ में आता है। वैदिकों द्वारा उद्भावित या परिकल्पित होने पर भी सूत्र-साहित्य का आदर्श धीरे-धीरे आर्यमनीषा के अनेक क्षेत्रों में सङ्क्रामित हुआ है।

छह वेदाङ्गों की प्राचीनतम सूचना षड्विंश-ब्राह्मण में प्राप्त होती है।[१] सर्वप्रथम मुण्डकोपनिषद् में उनके नामों का उल्लेख प्राप्त होता है।[२] आलोचना की सुविधा के लिए मुण्डक के क्रम का अनुसरण न करके हम नामों को इस प्रकार क्रमबद्ध कर सकते हैं– शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष एवं कल्प। इनमें प्रथम दो वेदाङ्ग स्वाध्याय के प्रयोजन की दृष्टि से, द्वितीय दो अर्थविज्ञान के प्रयोजन की दृष्टि से, एवं तृतीय दो कर्मानुष्ठान के प्रयोजन की दृष्टि से रचे गए।[३]

अब अलग-अलग प्रत्येक का सङ्क्षिप्त परिचय प्राप्त करना है।

---

१. 'चत्वारोऽस्यै (स्वाहायै) वेदाः शरीरं षडङ्गान्यङ्गानि ४।७ तु. गौतम-धर्मसूत्र, आपस्तम्बधर्मसूत्र १०।१०।२८।२१, २।४।८।१०।

२. १।१।५; तु. छा. वेदानां वेदम् ७।१।२।

३. तु. स्वाध्याय : ऋ. १०।९०।९ (ऋक्, साम, यजुः और छन्द का उल्लेख)। अर्थविज्ञान ऋ. १।१६४।३९, १०।७१ सूक्त वि. १।१८-२०। कर्मानुष्ठान : ऋ. १०।९० (विश्वयज्ञ) १०।१३०।१,२,६,७।

[२]

वेदविद्या के अनुशीलन के लिए सर्वप्रथम वेदाध्ययन की आवश्यकता है। अध्ययन की एक विधि थी। आचार्य जब उत्तर पूर्व दिशा अथवा अपराजिता की ओर मुख करके आसन ग्रहण करते, तब शिष्य उनसे सुनकर वेद की शब्दराशि को ग्रहण किया करते।[1]

इस विधि को 'पारायण' अथवा 'शिक्षा' की सञ्ज्ञा दी गई थी। जिस शास्त्र में इस शिक्षा के विषय की आलोचना की गई है, वह भी **शिक्षा** है - जो स्वभावत: वेदाङ्ग का आदि है।[2]

शिक्षा का सर्वप्रथम उल्लेख तैत्तिरीयोपनिषद् में प्राप्त होता है। वहाँ शिक्षा के विषय-वस्तु की एक तालिका है; जिसमें दिखाई देता है कि संहिता को ही प्रधानता दी गई है।[3]

---

१. समस्त कर्मों में ही दिग्विज्ञान आवश्यक। पूर्वदिशा में सूर्योदय होता है और उत्तरायण में सूर्य का प्रकाश बढ़ता जाता है। अतएव ये दोनों दिशाएँ प्रशस्त हैं। पूर्वोत्तर दिशा 'अपराजिता'।

२. < √शक् + स (पा. ७।४।५८)। ऋक्संहिता में इस धातु के जो सब प्रयोग हैं, उससे 'समर्थ होना', 'सामर्थ्य सञ्चार करना' - यही अर्थ प्राप्त होता है। शिक्षा की व्युत्पत्ति में यह अन्त का अर्थ ही उपयुक्त है। वेदमन्त्र के पारायण के समय आचार्य अन्तेवासी के भीतर शक्ति का सञ्चार कर दिया करते थे। इसीलिए 'शिक्षा' का नाम दिया गया। यह शिक्षा ही दीक्षा है। तु. क. वेद के सार ओङ्कार में नचिकेता की दीक्षा १।२।[illegible]। शिक्षा का साधारण लक्षण : 'वर्णस्वराद्योच्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा' (सायण ऋ. भा. उपोद्घात पृ. २५ तिलक मन्दिर संस्करण)।

३. उपनिषद्-परिचय में तै. १।१ और टीका। वाक् सर्वशक्तिमयी (तु. ऋ. राष्ट्री देवानाम् ८।१००।१०, इषमूर्जं दुहाना ११; वाक्सूक्त १०।१२५), अतएव मन्त्र वर्ण की एक निजी शक्ति है। इसलिए उसके उच्चारण की विशुद्धता जरूरी है (द्र. सायण ऋ. भा. वही)। ऋक्संहिता में भी अध्ययन की प्रशंसा है ९।६७।३१-३२। तु. ऐ. ब्रा. न्यूङ्ख विधि; स्वर, ऊष्म और स्पर्शवर्ण की उच्चारण विधि छा. २।२२।३-५।

संहितापाठ को तोड़कर पदपाठ होता है। संहितापाठ में जो 'अव्याकृत' है, वह पदपाठ में 'व्याकृत' होता है। यहाँ ही शिक्षा में व्याकरण का अनुप्रवेश होता है। संहितापाठ के साथ पदपाठ के सम्बन्ध का निरूपण करने की चेष्टा में 'प्रातिशाख्य' ग्रन्थों का उद्भव हुआ। अनेक विद्वानों के विचार से इन्हें ही आदिमशिक्षा-ग्रन्थ के रूप में मान्यता प्राप्त है।[1]

प्रत्येक वेद के प्रातिशाख्य रचे गए हैं। ऋग्वेद के **शाकल प्रातिशाख्य** के रचयिता शौनक हैं। सम्भवत: आरम्भ में यह सूत्र-ग्रन्थ था, तदनन्तर इसे छन्द का रूप दिया गया। सामवेद के प्रातिशाख्य ग्रन्थ हैं - **सामप्रातिशाख्य, पुष्पसूत्र, पञ्चविधसूत्र, ऋकतन्त्र-व्याकरण।** कृष्णयजुर्वेद का **तैत्तिरीय प्रातिशाख्य सूत्र** और शुक्लयजुर्वेद का कात्यायन रचित **वाजसनेय प्रातिशाख्य सूत्र**। अथर्ववेद के दो प्रातिशाख्य उपलब्ध हैं - **अथर्ववेद प्रातिशाख्य सूत्र** एवं **शौनकीय चतुरध्यायिका।**

प्रातिशाख्य के पश्चात् ही छन्द में रचित अनेक शिक्षाग्रन्थ पाए जाते हैं। उनमें इतने सब प्रधान है : ऋग्वेद एवं यजुर्वेद की **पाणिनीय-शिक्षा**[2], सामवेद की **नारदशिक्षा**, कृष्णयजुर्वेद की **व्यासशिक्षा**, शुक्लयजुर्वेद की **याज्ञवल्क्यशिक्षा**, अथर्ववेद की **माण्डूकशिक्षा**।

शिक्षा में शब्दविज्ञान के अनुशीलन से आर्य-मनीषा का अति उज्ज्वल परिचय प्राप्त होता है।

[३]

शिक्षा के साथ स्वाभाविक रूप से युक्त एक अन्य वेदाङ्ग 'छन्द:'[3]

---

१. प्रातिशाख्य के 'शाख्य' से साधारणत: प्रत्येक वेद की विभिन्न शाखाओं का बोध होता है। कोई-कोई बतलाते हैं कि चारों वेद एक ही वेद की चार शाखाएँ हैं।

२. **डॉ. मनमोहन घोष** मानते हैं कि यह शिक्षा प्रातिशाख्य के भी पहले की है। द्र. (Pāṇinīya śikṣā CALCUTTA 1938)।

३. साधारण निर्वचन < √छद् 'आच्छादन करना' : तु. तै. सं. ५।६।६।१ ; श. ब्रा. ८।५।२।१; छा. १।४।२; नि. ७।१२। किन्तु ऋक्संहिता में 'आविर्भूत होना' इस अर्थ में यह धातु पाई जाती है : १।१३२।६, १६३।४, १०।३२।३। कवि-चित्त में छन्द उद्भासित होता है, अतएव यह अर्थ ही ठीक है।

है। ऋक्संहिता एवं अथर्वसंहिता के प्राय: सारे मन्त्र ही छन्दोबद्ध हैं। गद्य में रचित यजु: की भी गणना छन्दोबद्ध रूप में की गई है।

ऋषिगण कवि थे। छन्द को लेकर उनके उल्लास की जैसे कोई सीमा नहीं। संहिता, ब्राह्मण एवं उपनिषद् में अनेक स्थलों पर अनेक रूपों में छन्द का प्रसङ्ग है।[१]

शाकल-प्रातिशाख्य के अन्त में तथा सामवेद के निदानसूत्र में, शाङ्खायन-श्रौतसूत्र में, एवं विभिन्न अनुक्रमणिकाओं में वैदिक छन्द का विवरण है। किन्तु साधारणतया पिङ्गल के छन्द:सूत्र की ही गणना वेदाङ्ग के रूप में की जाती है। उसके प्रथम चार अध्याय के कुछ अंश तक वैदिक छन्द का प्रसङ्ग है, उसके बाद ही अनेक लौकिक छन्दों का विवरण है।

[४]

तृतीय वेदाङ्ग **व्याकरण** है। तैत्तिरीय-संहिता के अनुसार[२] वाक् अव्याकृता थी, उसे देवताओं के अनुरोध से इन्द्र ने व्याकृता किया अर्थात् वाक्य, पद, प्रकृति एवं प्रत्यय इत्यादि में विश्लिष्ट किया। संहिता पाठ को पदपाठ का रूप देने के लिए यह करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त यज्ञ में वेदमन्त्रों का प्रयोग करते समय प्रसङ्गत: किसी-किसी पद के लिङ्ग, विभक्ति आदि को परिवर्तित करना पड़ता है। पद के स्वरूप को जाने बिना अर्थज्ञान भी सुकर, सुसाध्य नहीं होता। अपभाषा

१. द्र. ऋ. १।१६४।२३, १०।१४।१६, ११४।९, १३०।४-५ सात प्रधान छन्द (पङ्क्ति के बदले 'विराट्') हैं और उनके अधिष्ठात्री देवता का उल्लेख....; अ. ८।९,१०; श. ब्रा. ३।९।४।१०, ८।१।१-२.....में प्राप्त होता है। छन्दों में गायत्री का एक विशेष स्थान है। वे देवी हैं, वे ही गन्धर्वलोक से सोम आहरण करके लाती हैं। छन्द ज्ञान के ऊपर विशेष बल द्र. छ. ब्रा. ३।७।५।

२. ६।४।७।३; द्र. सायण ऋ. भा. वही २६।

का वर्जन करके भाषा को विशुद्ध रखना भी जरूरी है। इन सभी कारणों से अति प्राचीनकाल में ही व्याकरण का उद्भव हुआ था।

पतञ्जलि के अनुसार ऋक्संहिता के 'चत्वारि शृङ्गा:' आदि मन्त्र[१] व्याकरण का सङ्केत देते हैं। वह जो भी हो, किन्तु व्याकरण की जो परिभाषा जिस रूप में ब्राह्मणों, उपनिषदों एवं प्रातिशाख्यों में अनेक स्थलों पर बिखरी पड़ी है, उससे व्याकरण के अनुशीलन की जो एक दीर्घ परम्परा थी, उसका आसानी से ही बोध होता है। शब्दविज्ञान एवं अर्थ विज्ञान दोनों के साथ ही व्याकरण का सम्बन्ध है, इसलिए उसका स्थान शिक्षा एवं निरुक्त-इन दो वेदाङ्गों के मध्य में है।

अन्त में व्याकरण की दीर्घवाही आलोचना पाणिनि की विख्यात अष्टाध्यायी में पर्यवसित हो गई। यह आठ अध्यायों में सूत्राकार वैदिक एवं लौकिक-भाषा की विवृति है। यद्यपि अष्टाध्यायी को ही साधारणतया वेदाङ्ग के रूप में मान्यता प्राप्त है, तथापि उसमें लौकिक-भाषा का परिचय वैदिक-भाषा का अतिक्रमण कर गया है। पाणिनि ने अपने सूत्र में चौंसठ पूर्वाचार्यों का नामोल्लेख किया है। उससे ही समझ में आता है कि उस युग में व्याकरण की आलोचना कितनी व्यापक थी।

[५]

चतुर्थ वेदाङ्ग **निरुक्त** है। इस सञ्ज्ञा का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है-तोड़ कर बतलाना।[२] व्याकरण भी पद को तोड़ता है, निरुक्त भी तोड़ता है। किन्तु दोनों में अन्तर है। व्याकरण शब्दानुशासन है और निरुक्त

१. ४।५८।३

२. तु. श. ब्रा. वाचा निरुक्तं क्रियते १।४।४।२। वेदवाणी गुहाहित है, अतएव 'निर्वचन' (तु. ऋ. १।१८९।८, ५।४७।५, ९।९७।२, (१०।११३।१०); आचार्यमुख से व्यक्त होने पर 'प्रवचन' जिसप्रकार शिक्षा में ; और उसका अर्थाविष्करण है 'निर्वचन' और 'मीमांसा'.

अर्थानुशासन है।[1] किन्तु शब्द एवं अर्थ जब परस्पर सम्पृक्त होते हैं, तब व्याकरण के साथ निरुक्त का अन्तरङ्ग-सम्बन्ध होता है। उस स्थिति में पद को तोड़ने पर अर्थान्वेषण करना सहज होता है। इसलिए निरुक्त को पद-पद पर व्याकरण का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है तब भी पद का विश्लेषण एक बहिरङ्ग-प्रक्रिया है और अर्थबोध अन्तरङ्ग-प्रक्रिया है। इसलिए वेदार्थ-निरूपण के पक्ष में निरुक्त व्याकरण का सम्पूरक है। एवं उसका अधिकार भी विस्तृततर है।[2]

---

१. तु. नि० दुर्ग : – तस्मात् स्वतन्त्रमेवेदं विद्यास्थानम् अर्थनिर्वचनम्, व्याकरणं तु लक्षणप्रधानम् १।१५। प्रकृति-प्रत्यय का विश्लेषण करके शब्द की व्युत्पत्ति दिखाना – व्याकरण का कार्य है; और उसके विभिन्न अर्थों के आग्रह की भूमिका में उसे तोड़ना निरुक्त का कार्य है। वहाँ के मर्मज्ञों, रहस्यविदों में अब तक यह रीति प्रचलित है – जैसे श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे "मानुष उसे ही कहता हूँ, जिसका मान है और हूँश (होश) है।" लोकनिरुक्ति होने पर भी शब्द के अर्थविज्ञान की दृष्टि से यह उपेक्षणीय नहीं। यास्क ने अपने निरुक्त में वैयाकरण एवं लौकिक दोनों शैलियों का ही प्रयोग किया है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'देव' शब्द में केवल 'दिव्' धातु है, किन्तु अर्थवैचित्र्य की ओर दृष्टि रखकर यास्क को कहना पड़ा, 'देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा' (नि. ७।१५)। इस शैली की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्वयं ही स्पष्ट भाषा में कहा, 'तद् येषु पदेषु स्वर संस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्; अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽअर्थनित्य: परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन; अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्; न त्वेव न निर्ब्रूयात्, न संस्कारमाद्रियेत' (नि. २।१।१-४)। उसके बावजूद यास्क के निरुक्त के प्रति आधुनिक शब्दविज्ञानियों द्वारा कटाक्ष करना अन्याय है।

२. तु. नि. 'अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थ प्रत्ययो न विद्यते अर्थम् प्रतीयतो नात्यन्तं स्वरं संस्कारोद्देश:, तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्न्यं स्वार्थसाधकं च' (१।१५)। अनेक वैदिक शब्द ही पारिभाषिक है, आजकल की वैज्ञानिक सञ्ज्ञाओं की तरह। निरुक्ति की सहायता से उनकी व्यञ्जना का आविष्कार करना पड़ता है। इसीलिए वेदार्थ-अवधारण के पक्ष में निरुक्त की उपयोगिता का अन्त नहीं।

अन्यान्य वेदाङ्गों की तरह निरुक्त का उत्स या स्रोत ब्राह्मण हैं।[1] विभिन्न ब्राह्मणों में प्राय: ६०० शब्दों का निर्वचन प्राप्त होता है।[2] ऋक्संहिता में भी कुछ-कुछ निर्वचन दिखाई पड़ता है।[3]

निरुक्त वस्तुत: 'निघण्टु' की व्याख्या है। निघण्टु वैदिक शब्द-सङ्ग्रह है। नैरुक्तों के ऐसे एकाधिक सङ्ग्रह थे।[4] उनमें सम्प्रति केवल एक अवशिष्ट है। उस निघण्टु के भाष्य का नाम 'निरुक्तम्' है जिसके रचयिता यास्क हैं।[5]

निघण्टु के तीन काण्डों में पाँच अध्याय हैं। प्रथम तीन अध्यायों में 'नैघण्टुक' काण्ड है, उसमें एकार्थवाचक पर्याय शब्दों का सङ्कलन किया गया है।[6] चतुर्थ अध्याय 'ऐकपदिक' अथवा 'नैगम' काण्ड है– जिसमें

---

१. विशेष रूप से शतपथ-ब्राह्मण एवं ऐतरेय-ब्राह्मण, ऐतरेय-आरण्यक। यास्क ने स्वयं अनेक स्थलों पर ब्राह्मण से उद्धरण दिया है।

२. यह निर्वचन अनेक क्षेत्रों में रहस्यवादियों के निर्वचन जैसा प्रासङ्गिक है। यास्क ने इस धारा की उपेक्षा नहीं की, बल्कि स्वतन्त्र आलोचना द्वारा निर्वचन को वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है।

३. जिस प्रकार 'जातवेदा:' ७।१०।२; 'माया' १।१५९।४, 'मातरिश्वा' ३।२९।११; पुरोहित, १।१३१।१, ३।२।५, ४।५०।१, ५।१६।१, ६।१७।८, २५।७, ८।२२, १०।१८०।६.....।

४. तु. नि. 'तानप्येके समामनन्ति' ७।१३।९, १२।

५. सम्भवत: **निघण्टु एवं निरुक्त** एक ही व्यक्ति की रचना है। द्र. विष्णुपद भट्टाचार्य (yāska's Nirukta (1958) See. III.

६. यह अंश ही वास्तविक 'निघण्टु' है, शेष अंश में सञ्ज्ञा उपचरित। निघण्टु में दिया गया अर्थ सामान्य बोधक है। किन्तु पर्याय शब्द विशिष्ट अर्थ के बोधक हैं। उस अर्थ का निरूपण निर्वचन, प्रकरण इत्यादि द्वारा करना होता है। जिस प्रकार पृथिवी जिस अर्थ में 'अदिति' उस अर्थ में 'निर्ऋति' नहीं, जिस अर्थ में 'पूषा' उस अर्थ में 'रिप:' नहीं। ये दो अर्थ प्रत्यय के दो मेरु या छोर के बोधक हैं।

एकार्थक एक-एक शब्द का सङ्कलन किया गया है। पञ्चम अध्याय 'दैवत' काण्ड है - जो वेदोक्त देवताओं के नाम का सङ्ग्रह है।[१]

निरुक्त के दो षटकों में बारह अध्याय हैं। प्रथम षटक में निघण्टु के प्रथम दो काण्ड की एवं द्वितीय षटक में दैवतकाण्ड की व्याख्या है। प्रत्येक षटक के आरम्भ में विस्तृत उपोद्घात है, जिसमें शब्द, अर्थ, निर्वचन एवं देवता के प्रसङ्ग में महत्त्वपूर्ण विषय की आलोचना है। गार्ग्य के अतिरिक्त सभी निरुक्तविदों एवं व्याकरणविदों में एक मात्र शाकटायन का विचार है कि समस्त 'नाम' अथवा सञ्ज्ञा शब्द ही 'आख्यात' अथवा धातु से व्युत्पन्न हैं। यास्क स्वयं नैरुक्त होते हुए भी इसे शह देने के पक्ष में नहीं। इस विषय में उनकी सम्मति-असम्मति अत्यन्त तर्कनिष्ठ है।[२] 'मन्त्रसमूह अर्थहीन है' - कौत्स के इस मतवाद का भी उन्होंने अनेक युक्तियों द्वारा खण्डन किया है।[३]

---

१. आधुनिक पण्डितों के मतानुसार ऐकपदिक काण्ड के अधिकांश शब्द ही वेद के अर्वाचीन भाग से लिए गए हैं। देवताओं के नाम को विशेष रूप से निघण्टु के अन्तर्गत करने से वैदिक-भावना में देववाद का प्राधान्य सूचित होता है; जैसे वेदार्थ का पर्यवसान देवताओं में ही है। शब्द-सङ्ग्रह में ऋक्संहिता ही यास्क का प्रधान अवलम्बन है।

२. द्र. नि. १।१२।१४।

३. द्र. नि. १।१५-१६ तु. पू. मी. सू. १।२।३१-४५ (आम्नाय क्रियार्थ मात्र १।२।१) कौत्सवाद की युक्ति यह है : अपौरुषेय वेदमन्त्र का एक स्वकीय सामर्थ्य है, जो फलप्रसू होने में अर्थ की अपेक्षा नहीं रखता। आदि वाक् अनिरुक्ता 'वदन्त्य विचेतनानि' (ऋ. ८।१००।१०), उसके अर्थ की तलाश में उस परमव्योम में जाना होगा, जहाँ वह सहस्राक्षरा है (ऋ. १।१६४।३९,४१)। वह अर्थ आकाश का छन्दःस्पन्द है। उसे वैखरी वाक् द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। यही है - साम का 'अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोमः सञ्चरो हुङ्कारः' (छा. १।१३।३; टीका द्रष्टव्य)। फिर यही सर्ववेदसार ओङ्कार है। वही शब्द-ब्रह्म है। अर्थ मनःकल्पित है, उसका वर्जन करके विशुद्ध शब्द का अनुध्यान करना होगा। ये सभी भावनाएँ कौत्सवाद तथा 'शिक्षा' और साधना की भी भित्ति हैं। किन्तु तु. छा. 'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद, नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (१।१।१०)।

वैदिक शब्दों के निर्वचन के उद्देश्य से यास्क ने प्रायः छह सौ वेदमन्त्रों का उद्धरण देते हुए सारे मन्त्रों की ही व्याख्या की है। अतएव वेद के व्याख्याकारों में यास्क ही अभी प्राचीनतम हैं[१], जबकि नैरुक्तों में वे कनिष्ठ हैं।[२] वेदव्याख्या की एक धारा जिस प्रकार नैरुक्तों की थी, उसी प्रकार एक और धारा ऐतिहासिकों की थी। यास्क ने उनका भी उल्लेख किया है।[३] दो अध्यायों में निरुक्त का एक परिशिष्ट है, जो स्पष्टतया परवर्ती संयोजन है। उसमें आध्यात्मिक-दृष्टि से वेदमन्त्रों की व्याख्या का प्रयास है।[४]

[६]

पञ्चम वेदाङ्ग **ज्योतिष** है। सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन के विचारानुसार वैदिकों का एकमात्र देवता 'सूर्य' है, अन्य देवतागण उसकी ही विभूति हैं।[५] देवता सर्वव्यापी होने पर विशेष रूप से वह द्युस्थानीय है। आदित्यज्योति देवता का प्रत्यक्ष रूप है। इस आधार में जो पुरुष है और आदित्य में जो पुरुष है, दोनों ही एक हैं। सविता ही जीव की धीवृत्ति का प्रचोदक अथवा प्रेरक है। सूर्य-रश्मि के सहारे ही उसे ऊर्ध्वगति प्राप्त होती है। वेद की इन सारी भावनाओं में ज्योति का ही प्राधान्य है।[६]

---

१. कुछ-कुछ मन्त्रव्याख्या ब्राह्मण में भी है। किन्तु वह व्याख्या प्रायः क्रिया के अनुसार है। यास्क की व्याख्या स्वतन्त्र है, यहाँ उसकी उत्कृष्टता का परिचय मिलता है। किन्तु रहस्य अथवा उपनिषत् उनकी भी व्याख्या का लक्ष्य नहीं। परवर्ती भाष्यकारों के आदर्श यास्क हैं।

२. यास्क ने चौदह पूर्वाचार्यों का नामोल्लेख किया है। उनमें औपमन्यव, और्णवाभ, कात्थक्य, गार्ग्य एवं शाकपूणि मुख्य हैं।

३. द्र. नि. २।१६, १२।१, १२।१०। निरुक्तकारों के मतानुसार वेद के उपाख्यान रूपक हैं। अनेक स्थलों पर यास्क की व्याख्या भी ऐतिहासिक है, जैसे २।२५-२७, ३।१७, ४।६..... (द्र. YĀSKA'S Nirukta See. IX).

४. निरुक्त के एक स्थल पर परिव्राजकों की व्याख्या का उल्लेख है (२।८)। सम्भवतः इनकी व्याख्या भी राहस्यिक अथवा रहस्यात्मक है (द्र. दुर्गटीका)।

५. द्र. सर्वानुक्रमणी, परिभाषाकाण्ड २।१५।१८। तु. ऋ. १०।१७०।३।

६. तु. ऋ. एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे.....सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति १०।११४।४, ५ (द्र. १।१६४।४६);

यज्ञ का अनुष्ठान मुख्यत: इस ज्योति को प्राप्त करना है।[१] जो अनुष्ठाता है, वे 'ऋत्विक्' अर्थात् 'ऋतुयाजी' हैं।[२] ऋतु - काल का छन्द है। यह छन्द ज्योति का उपचय सूचित करता है। इसलिए यज्ञ का काल मुख्य रूप से दिनमान, शुक्लपक्ष और उत्तरायण को लक्ष्य करके निरूपित होता है। अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतुपरिवर्तन, अयन, संवत्सर - इन सबका परिगणन इस कारण ऋत्विक् के पक्ष में अपरिहार्य है।[३] इससे वेदाङ्ग-ज्योतिष का उद्भव हुआ।

संहिता, ब्राह्मण एवं उपनिषद् में ऋषियों के ज्यौतिषिक पर्यवेक्षण के अनेक निदर्शन प्राप्त होते हैं।[४] लगध के **'वेदाङ्गज्योतिष'** में वह शास्त्ररूप ग्रहण करता है। याजुष एवं आर्च-भेद से उसकी दो शाखाएं हैं। एक आथर्वण-ज्योतिष भी प्राप्त होता है। पण्डितगण उसे परवर्ती काल की रचना मानते हैं।

अक्षरे परमं व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदु: १।१६४।३९; 'योऽसावसौ पुरुष: सोऽहमस्मि' ई. १६ (तु. तै. २।८); ऋ. एवा महान् बृहद्दिवो अथर्वाऽवोचत् स्वां तन्वमिन्द्रमेव १०।१२०।९।; ३।६२।१०; १।५०।३; अभी ये सप्त रश्मयस्तत्रा मे नाभिरातता १०५।९....।

१. ऋ-उद्वयं तमस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्, देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्' १।५०।१०; 'अपाम सोमममृता अभूमागन्म 'ज्योतिरविदाम देवान्' ८।४८।३...।

२. तु. ऋ. विद्वाँ ऋतूँर्ऋतुपते (अग्ने) यजेह १०।२।१; यज्ञस्य देवमृत्विजम् (अग्निम्) १।१।१; देवान् यजन्तावृतुथा (दैव्यौ होतारौ) समञ्जतो नामा पृथिव्या 'अधि सानुष' त्रिषु २।३।७....।

३. द्र. सायण ऋ. भा. वही पृष्ठ २९।

४. द्र. ऋ. मलमास १।२५।८; सौर और चान्द्रवर्ष का समाधान ४।३३।७; पूर्णग्रास सूर्यग्रहण ५।४०; नक्षत्रनाम अ. सं. १९।७।८, तै. सं. ४।४।१०; नक्षत्रदर्श वा. सं. ३०।१०; नक्षत्रविद्या छा. ७।१।२....।

[७]

षष्ठ वेदाङ्ग **कल्प** है। वेद के शुद्ध उच्चारण और छन्दज्ञान पर अधिकार प्राप्त हुआ, अर्थबोध तथा देवताओं का परिचय प्राप्त हुआ। इस बार ज्योतिर्विद्या के पश्चात् वेदोक्त यज्ञों के प्रयोगविज्ञान और उसी यज्ञ-भावना के आदर्शानुसार जीवन और समाज को गढ़ने की तैयारी - यह सब कल्प के अन्तर्गत है।[१]

कल्पों की रचना सूत्ररूप में हुई है। अन्यान्य वेदाङ्गों की तरह ही इनका उत्स ब्राह्मणों और आरण्यकों में है।[२] यज्ञ-भावना ब्राह्मणों में विवृतिधर्मी रूप में बिखरी पड़ी है और कल्पसूत्रों में वह प्रयोग के उद्देश्य से सङ्क्षिप्तरूप में विन्यस्त है। इसके अतिरिक्त इनमें हमें वैदिकों के जीवन-दर्शन का एक पूर्णाङ्ग परिचय प्राप्त होता है, जो ब्राह्मणों में नहीं है।[३]

---

१. कल्प < √क्लृप (आकार देना, रूप गढ़ना; तु. सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् १०।१९०।३)। इस शब्द का प्रथम उल्लेख हमें ऋक्संहिता में प्राप्त होता है - 'अवा कल्पेषु न: पुमस्तमांसि सोम योध्या' ९।९।७। यहाँ 'कल्प' स्पष्टतया यज्ञानुष्ठान है। कल्प में किसका रूप दिया जाता है? उसका उल्लेख प्राप्त है - ऋ. 'यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्र: सह चीक्लृपाति' १०।१५७।२। सोमयाग के फलस्वरूप यजमान का देवजन्म होता है, इसलिए दीक्षणीयेष्टि में यजमान को नवजन्म का अभिनय करना पड़ता है। इस प्रकार यजमान को दिव्यरूप प्रदान करना ही कल्प है। अथर्वसंहिता में कल्प का उल्लेख है, पाठान्तर 'रूपम्' (८।९।१०)।

२. ऋक्संहिता में यद्यपि सोमयाग का प्राधान्य है, तथापि उसके सारे मन्त्र ही क्रियार्थक नहीं। क्रियार्थक मन्त्रों का सङ्कलन यजु:संहिता एवं सामसंहिता है। अथर्वसंहिता के मन्त्रों का प्रयोग गृह्यकर्म में अधिक होता है। इनके साथ कल्पसूत्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

३. ब्राह्मण अपौरुषेय श्रुति है, इसलिए उसमें श्रौतकर्म ही प्रधान है। श्रौतकर्म का मुख्य लक्ष्य नि:श्रेयस, और स्मार्तकर्म का अभ्युदय है। नि:श्रेयस की साधना को अभ्युदय के उद्देश्य से भी प्रयोग में लाया जा सकता है। उससे श्रौत काम्य-कर्म की उत्पत्ति होती है। किन्तु इन्हें पतञ्जलि की भाषा में मूल लक्ष्य का उपसर्ग कहा जा सकता है। कल्पसूत्र का अधिकार स्वाभाविक रूप से ब्राह्मण की अपेक्षा विस्तृत है। उसमें नि:श्रेयस एवं अभ्युदय दोनों की ही बातें हैं।

कल्पसूत्रों के कुल चार भाग हैं – श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र एवं शुल्बसूत्र।

ब्राह्मणों की गणना श्रुति के अन्तर्गत है; उनमें जिन सब यज्ञों का विवरण हमें प्राप्त होता है, उसकी सुदृढ़ व्याख्या श्रौतसूत्रों में है। सात हविर्यज्ञ और सात सोमयाग – ये ही चौदह श्रौतयज्ञ हैं।[१]

उनके लिए विशेष रूप से गार्हपत्य, आहवनीय एवं दक्षिणाग्नि – इन तीन अग्नियों का आधान करना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त शेष सब 'स्मार्त' याग हैं। उनकी विवृति अथवा व्याख्या हमें गृह्यसूत्र में प्राप्त होती है। वहाँ औपासनहोम, वैश्वदेव इत्यादि[२] सात पाकयज्ञों का विधान है। उसके अतिरिक्त गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक मनुष्य के समस्त जीवनव्यापी अनुष्ठेय अनेक 'संस्कारों' की विवृति है।[३] उनमें जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, उपनयन, विवाह एवं अन्त्येष्टि हमारे सुपरिचित संस्कार हैं। शान्ति, पौष्टिक इत्यादि कर्म भी स्मार्तकर्म हैं। सारे स्मार्तकर्मों का अनुष्ठान स्मार्त-अग्नि से ही करने की विधि है।[४] विवाह के समय अथवा पिता

---

१. किन्तु ऐ. आ. में है – 'स एष यज्ञः पञ्चविध; अग्निहोत्रं दर्श पूर्णमासी चातुर्मास्यानि पशुः सोमः (२।३।३)।

२. श्रौत अग्निहोत्र का ही स्मार्तरूप औपासन-होम है। सन्ध्या और प्रातःकाल में होम करना होता है; प्रधान देवता क्रमशः अग्नि एवं सूर्य है। वैश्वदेवकर्म का और एक नाम पञ्चमहायज्ञ है – 'देवयज्ञो भूतयज्ञः पितृयज्ञो मनुष्ययज्ञो ब्रह्मयज्ञः' (श. ब्रा. ११।५।६।१)। दोनों ही नित्य सपत्नीक यावज्जीवन अनुष्ठेय।

३. संस्कार से पापों का क्षय होता है। स्वाध्याय, व्रत, होम, महायज्ञ इत्यादि से ब्राह्मी-तनु प्राप्त होती है (तु. मनु. २।२६-२८)। यही कल्प का तात्पर्य है। तु. भूतशुद्धि के परिणामस्वरूप योगाग्निमय शरीर प्राप्त होता है (श्वे. २।१२)

४. 'कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही, दायकालाहृते वापि श्रौतं वैतानिकाग्निषु' याज्ञवल्क्यस्मृ. १।९१।

की मृत्यु के पश्चात् अथवा सम्पत्ति का बँटवारा हो जाने पर इस अग्नि का आधान करना पड़ता है। स्मार्त-अग्नि के अन्य नाम हैं – वैवाहिक, गृह्य, अवसथ्य अथवा औपासन-अग्नि। कई यागों के श्रौत एवं गृह्य दोनों ही रूप हैं।[१] याग का गृह्यरूप अपेक्षाकृत सरल है एवं वह एकमात्र अग्नि से किया जाता है, और श्रौतयाग तीनों अग्नियों से किया जाता है – अन्तर केवल इतना ही है। किन्तु श्रौत पितृयाग केवल दक्षिणाग्नि से ही किया जाता था।

गृह्यसूत्र के अनुरूप धर्मसूत्र है। गृह के बाहर उसका अधिकार समग्र समाज में व्याप्त रहा। यहाँ अनुष्ठान का नहीं, बल्कि आचारण का प्राधान्य है। इसलिए धर्मसूत्र का और एक नाम 'सामयाचारिक-सूत्र' (समय = सर्वसम्मत अनुशासन) है। यह समय एवं आचार समाजस्थिति के मूल में है। आर्यसमाज की वर्णव्यवस्था एवं आश्रमव्यवस्था को धारण करने के कारण वह 'धर्म' है।[१]

निश्चित रूप से वेदविद्या ही समस्त धर्मों का उत्स है। इसके सम्बन्ध में प्राचीन धर्माचार्यों की उक्तियाँ प्रणिधान योग्य हैं। उन्होंने आचार को स्वातन्त्र्य के अपघातक बन्धन के रूप में अथवा किसी सम्प्रदाय की स्वार्थपरता के रूप में चित्रित नहीं किया।[२]

---

१. जैसे अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, पशुयाग, पितृयाग इत्यादि। किन्तु सोमयाग सब समय श्रौत है; क्योंकि उसका मुख्य लक्ष्य अमृतत्वप्राप्ति अथवा निःश्रेयस है।

२. तु. ऋ. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् १।१६४।५०, १०।९०।१६। सृष्टि के मूल में यज्ञ है, अतएव वही पहला धर्म है। इस धर्म के द्वारा चेतना के उदात्तीकरण से हम जिस प्रकार देवता का सायुज्य प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार फिर उसकी विभूति से आविष्ट भी होते हैं। प्रथम अवस्था श्रौतसूत्र के अधिकार में है, और दूसरी गृह्यसूत्र एवं धर्म-सूत्र के अधिकार में है। विश्व के साथ योगयुक्त होना ही समय एवं आचार का लक्ष्य है।

३. तु. वशिष्ठ धर्मसूत्र– 'श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः' तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्, शिष्ट पुनरकामात्मा'१।४।६ (तु. तै. १।११।३-४); मनु. 'वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्, आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च' २।६; या. स्मृ. 'श्रुति स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मानः, सम्यक् सङ्कल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्' १।७।

कल्पसूत्र का चतुर्थ विभाग **शुल्बसूत्र** है। ये श्रौतसूत्र के साथ साधारणतया युक्त रहते हैं। 'शुल्ब' का अर्थ है - जमीन नापने की डोरी या रस्सी। शुल्बसूत्र में भिन्न-भिन्न आकार की यज्ञवेदी के परिमाण इत्यादि स्थिर करने की विधि दी गई है। ये सूत्रग्रन्थ भारतीय-ज्यामिति के आदिग्रन्थ हैं।

प्रत्येक वेद के कल्पसूत्रों का एक सामान्य परिचय :

[क] - ऋग्वेद के दो श्रौतसूत्र उपलब्ध हैं (१)- शाङ्खायन-ब्राह्मण से सम्बन्धित **शाङ्खायन श्रौतसूत्र** एवं ऐतरेय-ब्राह्मण से सम्बन्धित (२) **आश्वलायन श्रौतसूत्र**।[१] सम्भवत: शाङ्खायन श्रौतसूत्र ही प्राचीनतर है।

ऋग्वेद के दो गृह्यसूत्र हैं - **शाङ्खायन गृह्यसूत्र** एवं **आश्वलायन गृह्य सूत्र**। शाङ्खायन-शाखा का एक और गृह्यसूत्र **शाम्बव्य गृह्यसूत्र** है।

ऋग्वेद के धर्मसूत्र[२] अथवा शुल्बसूत्र उपलब्ध नहीं।

[ख] सामवेद के प्रधान श्रौतसूत्र तीन हैं - पञ्चविंश ब्राह्मण से सम्बन्धित **मशक** (नामान्तर 'आर्षेय-कल्प') एवं **लाट्यायन श्रौतसूत्र**। पहला ही प्राचीनतर है। और राणायणीय-शाखा का **द्राह्यायण श्रौत सूत्र**। मशककल्प का परिशिष्ट **क्षुद्रसूत्र** है। जैमिनीय-शाखा का एक खण्डित श्रौतसूत्र भी उपलब्ध है। पतञ्जलि के नाम से प्रचलित **निदान-सूत्र** में छन्द और व्याकरण का भी प्रसङ्ग है।

इस वेद के गृह्यसूत्र हैं - **गोभिल गृह्यसूत्र**; अत्यन्त प्रामाणिक एवं पूर्णाङ्ग रूप में उपलब्ध है। राणायणीय-शाखा का **खादिर गृह्यसूत्र** और जैमिनीय-शाखा का **जैमिनीय गृह्यसूत्र**।

---

१. सम्बन्धित है, किन्तु उसके कारण ब्राह्मण का सार-सङ्क्षेपमात्र नहीं। द्र. WINTERNITZ, History of Indian Literature, Vol I, P. 271 (N.2) ।

२. ऋग्वेदी विद्वान् वसिष्ठ- धर्मसूत्र को अपने धर्मसूत्र के रूप में मानते हैं। किन्तु द्र. KANE, HD, VOL. 1. See 9|.

राणायणीय शाखा का गौतमधर्मसूत्र (साधारणत: 'धर्मशास्त्र' नाम से परिचित) सम्भवत: धर्मसूत्रों में सर्वप्राचीन है।

सामवेद का कोई शुल्बसूत्र उपलब्ध नहीं।

[ग] - कृष्णयजुर्वेद की विभिन्न शाखाओं को मिलाकर अनेक कल्पसूत्र उपलब्ध हैं। तैत्तिरीय-शाखा के श्रौतसूत्र छह हैं : १. **बौधायन श्रौतसूत्र** - सूत्रसाहित्य के अन्तर्गत यही सम्भवत: सर्वप्राचीन; रचना शैली ब्राह्मण जैसी; रचयिता की आख्या 'प्रवचनकार'; २. **वाधूल श्रौतसूत्र** - खण्डित, किन्तु विषय-वस्तु का अनेकांश सम्भवत: बौधायन से भी प्राचीन; ३. **भारद्वाज श्रौतसूत्र** - खण्डित; ४. **आपस्तम्ब श्रौत-सूत्र** - पूर्ण एवं विस्तृत; ५. **हिरण्यकेशि श्रौतसूत्र** (नामान्तर सत्याषाढ़) - तथा: ६. **वैखानस श्रौतसूत्र**।

इसके अतिरिक्त उपलब्ध है : काठक-शाखा का **काठक श्रौत-सूत्र** - जो खण्डित है; मैत्रायणी-शाखा का **मानव श्रौतसूत्र** - जो अत्यन्त प्राचीन है, एवं **वाराह श्रौतसूत्र** सम्भवत: उससे ही सम्बन्धित।

गृह्यसूत्रों में तैत्तिरीय-शाखा का **बौधायन गृह्यसूत्र**, **वाधूल गृह्यसूत्र** (खण्डित), **भारद्वाज गृह्यसूत्र**, **आपस्तम्ब गृह्यसूत्र** **हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र** एवं **वैखानस गृह्यसूत्र** ; काठक-शाखा का **काठक गृह्यसूत्र** ; मैत्रायणी-शाखा का **मानव गृह्यसूत्र** एवं **वाराह गृह्यसूत्र** उपलब्ध हैं।

धर्मसूत्रों में तैत्तिरीय-शाखा के **बौधायन**, **आपस्तम्ब**, **हिरण्यकेशि** एवं **वैखानस धर्मसूत्र** उपलब्ध हैं।

शुल्बसूत्रों में तैत्तिरीय-शाखा के **बौधायन**, **आपस्तम्ब**, एवं **हिरण्यकेशि** - तथा काठक-शाखा के **काठक** एवं मैत्रायणी-शाखा के **मानव** एवं **वाराह शुल्बसूत्र** उपलब्ध हैं।

[घ] - शुक्लयजुर्वेद के **कात्यायन श्रौतसूत्र**, **पारस्कर गृह्यसूत्र** एवं **कात्यायन शुल्बसूत्र** उपलब्ध हैं।[१]

---

१. सुना जाता है कि वाजसनेयी-शाखा में अधुना लुप्त शङ्खलिखित का धर्मसूत्र प्रचलित था। द्र. KANE वही, See १२ ।

[ङ] - अथर्ववेद के दो कल्पसूत्र हैं - **वैतान सूत्र** (श्रौत) और **कौशिक सूत्र** (गृह्य)। ये अन्यान्य वेदों के सूत्रों जैसे नहीं हैं। कौशिक-सूत्र मिश्रप्रकृति का है, उसमें अनेक तन्त्र-मन्त्र (टोने-टोटके) आदि की चर्चा भी है।

[८]

कल्प सूत्रों के परिशेष रूप में हमें विभिन्न **पितृमेध सूत्र** प्राप्त होते हैं। जैसे **बौधायन-, हिरण्यकेशि-,** एवं **गौतम पितृमेध सूत्र;** विभिन्न **श्राद्धकल्प** - जैसे मानव-, कात्यायन-, शौनक-, पैप्पलाद-, श्राद्धकल्प; विभिन्न **परिशिष्ट** - जैसे आश्वलायन गृह्यपरिशिष्ट, गोभिल का कर्म-प्रदीप, गोभिलपुत्र का गृह्यसङ्ग्रह, बौधायन का परिशिष्ट, अथर्ववेद परिशिष्ट इत्यादि। शौनक के **बृहद्देवता** एवं ऋग्विधान के सम्बन्ध में पहले ही बतला चुके हैं। उसके बाद भी अनेक **प्रयोग, पद्धति** एवं **कारिका** ग्रन्थ हैं। इस प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड का आलोचन - अनुशीलन आधुनिकयुग तक होता आया है। एवं धर्मसूत्र का अनुवर्तन **धर्मशास्त्र** एवं **स्मृति** में निरन्तर होता आ रहा है।

वेदाङ्ग का एक और परिशेष विभिन्न संहिताओं की **अनुक्रमणी** के रूप में उपलब्ध है। ये मुख्यत: सूचीग्रन्थ हैं। ऋक्संहिता की छह अनुक्रमणियाँ शौनक द्वारा रचित हैं - जो ऋषि, छन्द, अनुवाक, पाद, सूक्त और देवता की अनुक्रमणी के रूप में परिचित हैं। कात्यायन की सर्वानुक्रमणी की विषय-वस्तु उसके नाम से ही समझ में आती है। यही सर्वाधिक प्रचारित है। इसके अतिरिक्त सामसंहिता की दो, कृष्णयजु:संहिता की दो, शुक्लयजु:संहिता की एक एवं अथर्वसंहिता की एक अनुक्रमणी है। इन अनुक्रमणियों से समझ में आता है कि अतिप्राचीनकाल से ही वेद की संहिताएँ सम्प्रति जिस रूप में उपलब्ध हैं, प्राय: वैसी ही थीं, हज़ारों वर्ष के व्यवधान के बावजूद उनमें अति सामान्य पार्थक्य रहा है। वैदिक-भावना में श्रुति के साथ प्रत्यक्षत: अन्वित या युक्त स्मृतिप्रस्थान का यहीं अन्त है।

[९]

स्मृति के पश्चात् न्याय-प्रस्थान है। न्याय का एक और नाम 'मीमांसा' है। यह नाम ही प्राचीन है।[१] मीमांसा का उद्भव ब्रह्मोद्य से हुआ। जब वेद-प्रतिपादित क्रिया अथवा वेदार्थ को लेकर ब्रह्मवादियों में मतभेद हुआ करता, तब इस उपलक्ष्य में ब्राह्मण-परिषद् में जो आलोचना होती, उसी का नाम 'मीमांसा' है। आपस में जो मीमांसा होती। उसमें तर्क की विशेष गुंजाइश नहीं थी। अनुकूल विचारों द्वारा तत्त्व का अवधारण या निर्द्धारण ही उसका लक्ष्य था। ब्राह्मण और उपनिषद् में हम मीमांसा के इस रूप को ही देख पाते हैं।

किन्तु विरोध उनके ही साथ हुआ करता, जो हैतुक एवं वेद निन्दक थे।[२] इस कारण मीमांसा में तर्क का अनुप्रवेश हुआ। वैदिक-

---

१. और भी प्राचीन नाम है 'ओह' वा 'ऊह' < √ऊह 'भावना करना, विचार करना'। अतएव आदिम अर्थ 'भावना' या विचार है (तु. गी. २।६६; GK. eucha. 'Prayer'); तु. ऋ. १।६१।१, १८०।५, ४।१०।१ ओह ब्राह्मण : १०।७१।८, 'प्र यद् वां मित्रा वरुणा स्पूर्धन प्रिया धाम युवधिता मिनन्ति, न ये देवास 'ओहसा' न मर्ता अयज्ञसाचो अँप्यो न पुत्रा: ६।६७।९। (देवता भी नहीं, मर्त्य भी नहीं, अतएव असुर जो उपनिषद् में विरोचन की प्रजा [द्र. छा. ८।७,८ विशेषत: शेषांश]; यहाँ भी अयज्ञ, अदेव, भोगमत्त असुरों का उल्लेख पाते हैं, जो हैतुक हैं; 'ओहस्' यहाँ कुतर्क के अर्थ में व्यवहृत हुआ है)। ब्राह्मणों और उपनिषदों में अनेक स्थानों पर 'मीमांसा' का उल्लेख है। 'न्याय' द्र. ऐ. ब्रा. शौद्रान्न्यात् ७।१७। 'तर्क' द्र. क. १।२।९ टीका। 'मीमांसा' अनुकूल तर्क; और 'तर्क' अनुकूल अथवा प्रतिकूल दोनों ही हो सकता है। इसीसे मीमांसा-प्रस्थान और तर्क-प्रस्थान का भेद आरम्भ होता है।

२. तु. मनु. 'यो अवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विज:, स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दक: (२।११)। यहाँ स्पष्टत: दिखाई देता है कि द्विजों में भी हैतुकों का अभाव नहीं था। यह नितान्त स्वाभाविक है। मीमांसा और तर्क एक ही आर्य चिन्तन-मनन की दो धाराएँ हैं।

दर्शन अथवा मीमांसा-प्रस्थान की सृष्टि हुई। उसमें अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों प्रकार के तर्क को स्थान प्राप्त है।

वैदिकों की दो मीमांसा - एक पूर्वमीमांसा अथवा कर्ममीमांसा एवं दूसरी उत्तरमीमांसा अथवा ब्रह्ममीमांसा, दोनों ही सूत्रग्रन्थ हैं। पूर्वमीमांसा के सूत्रकार जैमिनि हैं, और उत्तरमीमांसा के बादरायण हैं। पूर्वमीमांसा का आधार वेदों के ब्राह्मण और उत्तरमीमांसा का उपनिषदें हैं। ब्राह्मण में कर्म का प्राधान्य है और उपनिषत् में तत्त्व का। इसीसे धीरे-धीरे पूर्व-मीमांसा कर्मकाण्ड के और उत्तरमीमांसा ज्ञानकाण्ड के दर्शन के रूप में सामने आईं। दोनों में क्रमशः एक विरोध भी दिखाई पड़ा, जो दार्शनिक-भावना में ज्ञान-कर्म के असमुच्चयवाद में परिणत हुआ। इस विरोध के मूल में तार्किकों का प्रभाव था, ऐसा कहना ही अत्युक्ति होगी।

पूर्वमीमांसा-सूत्र के बारह अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। केवल तृतीय, षष्ठ एवं दशम अध्याय में पादों की सङ्ख्या दुगनी है। उत्तरमीमांसासूत्र के चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। दोनों मीमांसासूत्रों में कुल सोलह अध्याय हैं। यह आकस्मिक नहीं, यह पहले ही बतलाया गया है।[१]

पूर्वमीमांसा-दर्शन के केवल दो प्रस्थान हैं, जिनके प्रवर्तक प्रभाकर एवं कुमारिल हैं। किन्तु उत्तरमीमांसा दर्शन अथवा वेदान्त अनेक प्रस्थानों

---

१. 'साधारण परिचय' टी. २४। अनेक विद्वानों का मत है कि दर्शन-सूत्रों में पूर्व-मीमांसा आदिम है और उत्तरमीमांसा अन्तिम है। तो फिर भारतवर्ष की समस्त भावनाओं का स्थान इन दो दर्शनों की परिधि के भीतर है। किन्तु अधुना प्राप्त ब्रह्मसूत्र गीतोक्त 'हेतुमत् ब्रह्मसूत्रपद' (१३।५) अथवा पाणिनि का 'पाराशर्य-भिक्षुसूत्र' (४।३।११०) नहीं भी हो सकता है। इस देश में सम्प्रदाय-क्रम से समस्त शास्त्र ही पुष्ट एवं प्रचारित होते हैं, जहाँ शिष्य - प्रशिष्य अपने सम्प्रदाय-प्रवर्तकों के मध्य स्वयं को विलीन कर देते हैं।

में विभक्त है। वैदिक को छोड़कर शैव, वैष्णव, साङ्ख्य, यहाँ तक कि आधुनिककाल में शाक्तसम्प्रदाय द्वारा रचित वेदान्तभाष्य भी उपलब्ध है। आज भी भाष्य-रचना की दिशा में कोई विराम नहीं। कहा जाए तो वैदान्तिक विचारों एवं भावनाओं का ही सम्प्रति भारतवर्ष के दार्शनिक चिन्तन जगत् में एकछत्र राज है। यहाँ तक कि एक समय बाहर से आए इस्लाम को भी इस भावना का आश्रय लेना पड़ा था। बौद्धभावना तो बहुत पहले ही इसके भीतर जीर्ण हो गई।

इस प्रकार वेदसंहिता से लेकर मीमांसासूत्र तक वैदिक-साहित्य का विपुल विस्तार सहस्राब्दियों से भारतवर्ष की बहुमुखी भावना को ब्रह्मसूत्र में गूँथकर परम समन्वय की ओर लिए जा रहा है। आज भी वह साधना अपने ईप्सित-इच्छित सागर-सङ्गम तक नहीं पहुँच पाई है। हमारी आशा है कि एक दिन अवश्य पहुँचेगी।

[१०]

वैदिक-भावना की एक और शाखा **इतिहास-पुराण** का परिचय न देने पर इस साहित्य की रूपरेखा अधूरी रह जाएगी। **तन्त्र** को भी हम उसके अन्तर्गत मान ले सकते हैं।

अभी तक हमने जिस साहित्य का समीक्षण प्रस्तुत किया, वह समाज के अभिजात-वर्ग की कीर्ति है। क्षत्रियों की पोषकता अथवा संरक्षण में ब्राह्मणों ने इस साहित्य का निर्माण किया है। वे ही त्रयीविद्या के धारणकर्ता हैं। ब्राह्मणों और क्षत्रियों से अलग विशाल जनसमाज रहा है। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार कहा जाए तो उसके अन्तर्गत वैश्य एवं शूद्र हैं। स्त्री-शिक्षा का प्रसार धीरे-धीरे कम होते जाने के कारण अभिजात-वर्ग का भी स्त्री-वर्ग है। और भी हैं, जो वैदिक-भावना के अनुगामी नहीं। व्यास की भाषा में कहें तो स्त्री, शूद्र एवं द्विज-बन्धुप्रत्यक्षतः त्रयीविद्या में जिनका अधिकार नहीं, अथवा जो उस विद्या के विरोधी हैं।[१]

---

१. भागवत १।४।२५

यह जनसमाज निश्चिन्त अथवा निश्चल नहीं रहता। अभिजात-समाज के अनुकूल अथवा प्रतिकूल दो प्रकार की भावनाओं द्वारा ही वह आन्दोलित होता है। उसके अतिरिक्त उसकी निजी भावनाएँ और सीमाएँ भी हैं, उसे वह लोकोन्मुख दर्शन और साहित्य में रूप देता है। विपरीत-क्रम में ये फिर अभिजात-समाज को भी प्रभावित करते हैं। समाज के उच्चवर्ग एवं निम्नवर्ग में इस प्रकार भावना का एक आदान-प्रदान होता रहता है, जबकि मुख्यत: अभिजात-वर्ग ही पूरे समाज का नियामक होता है।

ब्राह्मण्य-समाज मुख्यत: रक्षणशील अथवा पुराणपन्थी है, किन्तु ऐसा होने पर भी उसमें अपनी उदारता के गुणों द्वारा पराये को आत्मसात् करके रूपान्तरित करने की एक स्वाभाविक प्रवणता है। प्राकृत या अमार्जित को संस्कृत करना, परिमार्जित करना उसका एक वैशिष्ट्य है। इस प्रकार उसने बहुत कुछ को अपने रङ्ग में रँग लिया है। अभिजात-भावनाओं, विचारों के प्राकृतीकरण एवं प्राकृत-भावना के आभिजात्य-करण की भूमिका में युगों से क्रियाशील ब्राह्मण्य-समाज की इस प्रचेष्टा का परिणाम इतिहास, पुराण और तन्त्र है। ये सब भी वैदिक-भावना के संवाहक हैं एवं वेदार्थ के आविष्करण में इनकी उपयोगिता भी नितान्त कम नहीं, इसलिए गौणदृष्टि से इन्हें वेदाङ्ग के रूप में मान लिया जाए।[१]

इतिहास का प्राचीनतम उल्लेख अथर्वसंहिता के व्रात्यकाण्ड में पाया जाता है।[२] ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं उपनिषदों में भी उसका

१. तु. सायण : 'षडङ्गवत् पुराणादीनामपि वेदार्थ ज्ञानोपयोग: इत्यादि (ऋ. भा. वही २९-३०)।

२. १५।६।११,१२। साथ-साथ पुराण, गाथा एवं नाराशंसी का उल्लेख भी लक्षणीय। ये सभी जनसाहित्य अथवा गणसाहित्य के अन्तर्गत हैं।

उल्लेख है।[१] इतिहास के साथ-साथ सभी स्थानों पर पुराण का भी उल्लेख प्राप्त होता है। छान्दोग्योपनिषद् के सप्तम अध्याय में इतिहास-पुराण को 'पञ्चमवेद' कहा गया है। यह विशेषण व्यञ्जनावह है।

इतिहास का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ पुरावृत्त है। शतपथब्राह्मण और निरुक्तकार इतिहास का जो उदाहरण देते हैं, उससे जान पड़ता है कि उनकी दृष्टि में इतिहास अलौकिक अथवा लौकिक दोनों हो सकता है। देवताओं के साथ असुरों का जो युद्ध हुआ था, यह भी जिस प्रकार इतिहास है, उसी प्रकार त्रित ऋषि कुएँ में गिर पड़े थे, यह भी इतिहास है। अर्थात् उनकी दृष्टि में दोनों ही सत्य घटनाएँ हैं। शतपथब्राह्मण के सङ्केत से लगता है कि देवासुर-सङ्ग्राम को बहुत लोग इतिहास नहीं मानते थे, बल्कि वे कहा करते थे कि वह अन्वाख्यान अथवा गल्प है[२]

धीरे-धीरे इतिहास की विषय-वस्तु का विन्यास लौकिक पुरावृत्तों में किया गया। इस दृष्टि से भारत-युद्ध का वृत्तान्त जो **महाभारत** में है, वह इतिहास है। उसी प्रकार रामायण भी इतिहास है। किन्तु इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी (वीरप्रशस्ति) के सन्निकट रहने से सहज ही उनके अधिकारों में अन्योन्य सङ्क्रमण हुआ है।

इतिहास की हैसियत से महाभारत का स्थान सर्वोपरि है। उसे भारतवर्ष का जीवनवेद कहा जा सकता है।

१. तु. श. ब्रा. ११।५।६।८, ७।९, १३।४।३।१२, ११।१।६।९ (यहाँ इतिहास और अन्वाख्यान में अन्तर दिखाया गया है); तै. आ. २।९।१, १०।१, ११।१; बृ. २।४।१०, ४।१।२, ५।११; छा. ३।४।१,२, ७।१।२, ४, २।१, ७।१। निरुक्त में ऐतिहासिकों का उल्लेख - २।१६, १२।१० १२।१, ब्रह्म इतिहासमिश्रम् ४।६।

२. देवासुर-सङ्ग्राम यदि दो संस्कृतियों का टकराव या आपसी विरोध रहा हो (द्र. टी. ५४), तो फिर उसका एक ऐतिहासिक आधार है। लगता है, शतपथ-ब्राह्मण का सङ्केत इस ओर ही है। वैसा न होने पर वह अन्वाख्यान है। ऐतिहासिकों ने देवताओं को 'पुण्यकृत राजा' समझा था। इसमें आधुनिकता का आभास अधिक है।

इतिहास का सहयात्री **पुराण** है। पुराण के पाँच लक्षण हैं।[१] जिनमें सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (प्रलय) एवं मन्वन्तर ये तीन लक्षण सार्वभौम हैं। यही पुराण का वैशिष्ट्य है; वंश और वंशानुचरित पुराण के अन्तर्गत इतिहास का अनुप्रवेश है। भागवतपुराण में पुराण के दश लक्षण हैं, किन्तु उनमें वंश और वंशानुचरित का उल्लेख नहीं है।[२]

अध्यात्म-भावना की प्रधानता होते हुए भी पुराण के विषयवैचित्र्य का जैसे कहीं अन्त ही नहीं। दर्शन, विज्ञान, राजनीति, वर्णाश्रमधर्म, पूजा-पार्वण, तीर्थ-माहात्म्य, शिल्प, स्थापत्य, सङ्गीत किसीकी भी चर्चा पुराण से छूटी नहीं है। इस दृष्टि से पुराणों को ब्राह्मण्य-भावना का विश्वकोश कहा जा सकता है।

इतिहास और पुराण को स्मृतिप्रस्थान के अन्तर्गत माना जाता है। दीर्घकाल से वेदपन्थी समाज में ये सब समाजव्यवस्था के शास्ता या उपदेष्टा, सम्प्रदाय-भेद से अध्यात्म-भावना और साधना के दिग्दर्शक एवं लोक-शिक्षा के वाहन होते आए हैं।

मूल पुराणों की सङ्ख्या अठारह है। उसके अतिरिक्त कितने उप पुराण भी हैं? सारे पुराण ही कृष्णद्वैपायन के नाम से प्रचलित हैं। वेद-विभाग एवं इतिहास-पुराण की रचना उनकी अक्षयकीर्ति है। ये द्वैपायनकृष्ण जो भी रहे हों; किन्तु वैदिक आर्यों की समस्त भावना उनका ही आश्रय लेकर संहत अथवा एकत्रीभूत हुई हैं, इस कारण वेदपन्थी समाज में आज भी वे गुरुरूप में पूजित हैं। व्यासचेतना वस्तुत: उत्तरायण के परमबिन्दु की चेतना है, अखण्ड महाभारत की चेतना है।

इतिहास-पुराण के इर्द-गिर्द ही तन्त्र की धारा प्रवाहित होती रही है। पुराणों के साथ तन्त्र का सम्बन्ध अत्यन्त ही घनिष्ठ है। वेद के साथ

१. 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च, वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्।' सायण का कथन है कि वेद के उपाख्यानों से ही इतिहास और उपनिषद् के सृष्टि-स्थिति-लय आदि तत्त्वों से पुराणों की रचना हुई (ऋ. भा. वही)।

२. भागवत: २।१०।१-९।

कल्पसूत्रों का जो सम्बन्ध है, पुराणों के साथ तन्त्र का भी कुछ वैसा ही सम्बन्ध है। तन्त्र मुख्यत: साधना का विज्ञान है, जब कि उसके भीतर दार्शनिक-भावना का भी अनुप्रवेश स्वाभाविक रीति से ही हुआ है। पुराणों की तरह ही तन्त्र सर्वजनीन है, किन्तु वह स्मृति नहीं, श्रुति है।[१]

तन्त्र के अर्थ में हम साधारणत: केवल शक्ति-उपासना ही समझते हैं। किन्तु यह धारणा गलत है। वस्तुत: तन्त्र विष्णु, शिव, शक्ति, गणपति और सूर्य-अर्थात् इन पाँच देवताओं की उपासना है। सूर्य को स्वीकार करके तन्त्र वैदिक-साधना को भी अपना अङ्ग बना लेता है।[२] वेद के अन्यान्य देवता भी अपरिचित नहीं हैं।[३] तन्त्र की दार्शनिकता का आधार

१. तु. कुल्लूक: 'अतएव हारीत:। अथातो धर्मं व्याख्यास्याम:। श्रुतिप्रमाणको धर्म:। श्रुतिश्च द्विविधा, वैदिकी तान्त्रिकी च' (मनु. २।१ टी.)। हारीत एक सुख्यात धर्मसूत्रकार (द्र. KANE HD, Vol I, Sec, 8)। अनेक साम्प्रदायिक उपनिषदें भी श्रुति। श्रुति सञ्ज्ञा की यह अर्थव्याप्ति प्राण का लक्षण है।

२. द्र. शारदातिलकम् १४।२७.....। वैदिक साधना गायत्री-उपासना में पर्यवसित। तैत्तिरीयारण्यक के खिलकाण्ड में हम सावित्री-गायत्री के अतिरिक्त अन्यान्य गायत्री भी पाते हैं। यह तान्त्रिक प्रभाव के कारण हुआ। सभी पञ्चदेवता वहाँ हैं।

३. पहले ही हमने देखा है कि शिव व्रात्यों के देवता हैं; विष्णु आदित्य के ही लोक-प्रचलित रूप हैं, वह बाद में देखेंगे। ऋक्संहिता में बृहस्पति गणपति (गणानां त्वा गणपतिं हवामहे २।२३।१); फिर इन्द्र भी गणपति (नि षु सीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् १०।११२।९); यजु:संहिता में देखते हैं 'रुद्रस्य गाणपत्यम्' वा. ११।३५), काठ. १६।१, १९।२); एक स्थान पर है 'गणपतये स्वाहा' (वा. २२।३०), भाष्यकारों के विचार में गणपति यहाँ लोकपाल। 'गणपति' के सदृश सञ्ज्ञा 'गणश्री' है); ऋक्संहिता में वह दो स्थलों पर मरुद्गण का विशेषण है (१।६४।९, ५।६०।८), और एक स्थान पर अग्नि का (८।२३।४)। तो फिर हम देखते हैं कि ऋक्संहिता में प्रधान गणपति बृहस्पति हैं, उनके गण 'ऋक्वान' हैं (ऋक्वता गणेन.....वलं रुरोज ४।५०।५) इस गण का निस्सन्देह मरुद्गण (जो इस कारण ही 'गणश्री') और ऋक् अथवा अर्क के साथ सम्बन्ध भी घनिष्ठ है (१।३८।१५, ८५।२, ८८।१, ६।६६।१०)। इन्द्र का गाणपत्य औपचारिक है, बृहस्पति के साथ एक होने के कारण (तु. ४।४९; बृहस्पति भी वृत्रहा पुरन्दर

साङ्ख्य एवं वेदान्त है।[१] अतएव तन्त्र की भावना और साधना को वेदबाह्य अथवा बहिरागत कहना तर्कसङ्गत नहीं लगता। पौराणिक-भावना की तरह ही तान्त्रिक-भावना की परिधि अत्यन्त विस्तृत है, तन्त्र

६।७३।२, इन्द्र के पश्चात् ही बृहस्पति तै. २।८)। यजुःसंहिता में गाणपत्य रुद्र का है। यास्क के अनुसार बृहस्पति एवं रुद्र दोनों ही मध्यस्थान देवता हैं और मरुद्गण भी वही। इसके अतिरिक्त ऋक्संहिता में मरुद्गण रुद्रपुत्र (१।१६४।२,१२, ८५।१, २।३४।१०, ६।६६।३...)। अतएव रुद्र के गण भी मरुद्गण हुए। इस दृष्टि से बृहस्पति एवं रुद्र में साम्य दिखाई देता है। रुद्र का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है 'गर्जनकारी' गर्जन करने वाला। बृहस्पति के भी आराव (ध्वनि) की बात ऋक्संहिता में बार-बार उल्लिखित हुई है (४।५०।१,५,६।७३।१, १०।६७।५....)। व्युत्पत्ति के अनुसार बृहस्पति वाक् के अधिष्ठाता; और रुद्र अन्तरिक्षस्थान होने के कारण ही प्राण के अधिष्ठाता; और (बृ. ३।९।४) बृहस्पति अन्तरिक्षस्थान होने पर भी संहिता के अनुसार 'प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्' (ऋ. ४।५०।४)। यह ज्योतिः बृहस्पति की प्रज्ञा की ओर सङ्केत देती है। इसके अतिरिक्त संहिता में उनका शक्तिरूप ही उजागर हुआ है, उस क्षेत्र में वे रुद्र के समानधर्मा हैं। पौराणिक (अतएव तान्त्रिक) गणपति में बृहस्पति और रुद्र दोनों ही आकर मिल गए। पुराण में वे रुद्र (शिव) के पुत्र ज्ञानदाता विघ्ननाशन हैं। इन्द्र के साथ उनके सम्बन्ध की रक्षा की गई है ऐरावत के मस्तक द्वारा (ऐरावत, मेघ अथवा वृत्र शक्ति है, किन्तु रूपान्तरित अतएव शुभ्र; तु. सप्तशती के 'शुम्भ-निशुम्भ' < √शुभ्।। शुम्भ, जो शिवम्मन्य के प्रतीक है; अध्यात्मदृष्टि में यह शुभ्रता पार्थिव-चेतना का दिव्य रूपान्तर; वही सिद्धिदाता गणपति की मारुती सिद्धि है द्र. छा. ३।९)। संहिता में इन्द्र को कवियों में विप्रतम कहा गया है (ऋ. १०।११२।९), यही लक्षणीय है। द्र. KALI KUMAR DUTTA, Date of Ganeś a worship Indian History of Congress (BOMBAY 1960) PP 150 FF, ...वेद में शक्ति-उपासना की अप्रतुलता या अभाव नहीं, इसलिए कि शाक्तधर्म, वस्तुतः सर्वजनीन है। अतएव पञ्चदेवता की उपासना का मूल हम वेद में ही पाते हैं।

१. साङ्ख्य का प्रकृति-पुरुष तत्त्व तन्त्र में परमतत्त्व का युगनद्ध-रूप है। विष्णु और श्री में, शिव और शक्ति में उसकी अभिव्यक्ति होती है। वैदान्तिकभावना का प्रतिरूप हमें शिवाद्वैतवाद में, प्रत्यभिज्ञादर्शन में प्राप्त होता है।

एक विराट् समन्वय और समावेशन का साधन है। इसलिए उसके भीतर बहिरागत भावना अथवा विचारों का कुछ-कुछ अनुप्रवेश होना असम्भव नहीं। किन्तु ब्राह्मण्य-भावना ने उसे इस प्रकार आत्मसात् कर लिया है कि उसे अलग करके पहचान पाना कठिन है।

तन्त्र का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है 'पट' अथवा वस्त्र-कपड़ा। वेद में कपड़ा बुनने के साथ अनेक स्थलों पर यज्ञानुष्ठान की तुलना की गई है। उससे तन्त्र का अर्थ 'अनुष्ठान-परम्परा' हो सकता है।[१] तन्त्रशास्त्र के चरित्र के साथ इस अर्थ का अधिक मेल है।

अथर्ववेद को तन्त्र-विद्या का उत्स कहा जा सकता है। अथर्ववेद में जिस प्रकार हमें ब्रह्मोपदेश प्राप्त होता है, उसी प्रकार 'माया' अथवा जादू-टोने का भी विधान प्राप्त होता है। तन्त्र में भी वही है। हम तन्त्र के षट्कर्म का आदिरूप अथर्ववेद में ही पाते हैं। तन्त्र का एक नाम 'मन्त्रशास्त्र' है; वैदिक-कर्मकाण्ड भी वैसे एक प्रकार से मन्त्रनिर्भर है। तन्त्र की 'यन्त्र रचना' वैदिक वेदिरचना के ही अनुरूप है। इस दृष्टि से यजुर्वेद के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। वेदों के आरण्यक की तरह तन्त्र भी रहस्यविद्या है।[२] जिस वामाचार को हम शाक्ततन्त्र में एक

---

१. तु. वा. सं. 'सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिण ऊर्णा सूत्रेण कवयो वदन्ति, अश्विना यज्ञं सविता सरस्वतीन्द्रस्य रूपं वरुणो भिषज्यन् (१९।८०; उव्वट : 'यज्ञः पटेन रूप्यते')। और भी तु. ऋ. सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः १०।७१।९। तन्त्र के अनुरूप 'तन्तु'। ये उपमाएँ लक्षणीय हैं। ऋ. 'मा तन्तुश्छेदि वयतो धियं मे (२।२८।५; नि. में 'धी' से प्रज्ञा एवं कर्म दोनों का ही बोध होता है अर्थात् ज्ञान-यज्ञ एवं कर्मयज्ञ दोनों ही); 'यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तुन्तुर्देवेष्वाततः' १०।५७।२; 'यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्ततः एक शतं देवकर्मेभिरायतः। इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते १३०।१; 'नाहं तन्तुं न वि जानाम्योतुं न यं वयन्ति समरेऽतमानाः' ६।९।२; 'स इत् तन्तुं स वि जानात्योतुं'३। मध्ययुगीन रहस्यविदों में भी कपड़ा बुनने की उपमा प्रचलित थी। तु. कबीर : 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया'; बङ्गाल के 'जोगी' (योगी) एवं 'जूगी'।

२. शाम्भवीविद्या 'गुप्ता कुलवधूरिव'। वेदविद्या भी ऐरे-ग़ैरे को नहीं देना चाहिए। (तु. नि. २।४।१)।

विशिष्ट-रीति या पद्धति के रूप में जानते हैं, उसका निदर्शन हमें वैदिक-महाव्रत के अनुष्ठान में एवं छान्दोग्य के वामदेव्य-व्रत में प्राप्त होता है।[१] वैदिक-अनुष्ठान में नारी का एक विशिष्ट स्थान है; शाक्ततन्त्र के अनुष्ठान में भी नारी को वही मर्यादा प्राप्त है। तन्त्र के युगनद्धवाद अथवा सामरस्यवाद के अनुरूप भावना हमें बृहदारण्यकोपनिषद् में सुस्पष्ट दिखाई देती है।[२] सोमयाग वैदिक यागों में श्रेष्ठ है, और सोम एक मादक द्रव्य है। शाक्ततन्त्र में सुरा ने सोम का स्थान ग्रहण कर लिया है।[३] सोमयाग में पशु-मांस एवं धाना (भुना हुआ कोई अनाज), करम्भ (आटा या अन्य भोज्य पदार्थ, जिसमें दही मिला हो) इत्यादि शस्यजात उपचार स्वभावतः मांस एवं मुद्रा का स्मरण दिला देते हैं।[४] इन सबसे तन्त्र अर्वाचीन नहीं मालूम होता। लगता है इतिहास-पुराण की तरह यह भी एक अतिप्राचीन लोक-प्रचलित धारा है।

---

१. महाव्रत में द्रष्टव्य तै. सं. अन्तर्वेदि मिथुनौ सत् भवतः ७।५।९।११; जै. ब्रा. मागधं च **पुंश्चलींच** दक्षिणे वेद्यन्ते मिथुनीकारयन्ति २।४०५.....। वामदेव्य-व्रत छा. २।१३।२।

२. तस्मादिदमर्धवृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव १।४।३; ४।३।२१ : ६।४।२०।

३. वैदिक सौत्रामणी-याग एवं वाजपेय-याग में सुरा का प्रयोग होता था। सुरा का व्यवहार एवं तज्जनित प्रमाद का उल्लेख प्राप्त है ऋ. ७।८६।६। तु. अ. सं. व्रात्यकाण्डः 'स विशोहनु व्यचलत्, तं सभा च समिति च सेना च सुरा चानु व्यचलन् १५।९ विश् अथवा जनसाधारण के साथ सुरा का सम्बन्ध लक्षणीय।

४. तु. ऋ. आ त्वा वहन्तु हरयो.....सोमपीतये.....इमा धाना घृतस्नुवः १।१६।१-२; पिबास्यन्धः .....अद्धि धानाः ३।३५।१,३; सुत इन्द्र सोमः ....कृता धाना अत्तवे ते ७; धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तम्....जुषस्व नः ५२।१ इत्यादि (सम्पूर्ण सूक्त ही द्रष्टव्य)।

ब्राह्मणों ने इसे भी संस्कृत करके धीरे-धीरे आत्मसात् कर लिया। आज मुक्त रूप से कहा जा सकता है कि वैदिक-धर्म आभिजात्य की ऊँचाई से उतरकर इतिहास-पुराण और तन्त्र के भीतर से इस देश के सर्वसाधारण के बीच फैल गया है।[१]

वैदिक-साहित्य का एक सङ्क्षिप्त इतिहास यहाँ समाप्त हुआ, अर्थात् गङ्गोत्री से आकर गङ्गासागर के तट पर खड़े हुए। साहित्य तभी सार्थक होता है, जब उसका आदर्श जीवन में रूप धारण करता है। इस दृष्टि से इस साहित्य का निरूपण हम वैदिक-जीवन के प्रसङ्ग में अगले एक अध्याय में करेंगे।

---

१. सङ्क्षेप में कहें तो वैष्णव तन्त्र का आकर 'संहिता' है, शैवतन्त्र का आकर 'आगम' है, एवं शाक्ततन्त्र का आकर 'तन्त्र' है। बौद्धतन्त्र हिन्दू-तन्त्र से पृथक् जैसा कुछ नहीं। एक सर्वजनीन तन्त्र को ही हिन्दू एवं बौद्ध दोनों सम्प्रदायों ने ग्रहण किया है। जैसे हम देखते हैं कि बाउलों में वैष्णव, सहजिया, योगी, सूफ़ी सभी हैं।